GL SAN 615 MAD स्त्री राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी l Academy of Administration मसरी MUSSOORIE पुस्तकालय LIBRARY 125787 अबाप्ति संख्या Accession No. वर्ग संख्या 

Book No. MAD HEG

पुस्तक संख्या

#### ॥ भाः ॥

#### श्री माधवकर प्रग्रीतं

# माधवनिदानम्

'सर्वाङ्गसुन्दरी' हिन्दी व्याख्या विभूषितम् ।

व्याख्याकारः—

पं॰ लालचन्द्र वैद्यशास्त्री श्रायुर्वेदाचार्य B. A. P. प्रधानाध्यापक झा॰ वि॰ प्र॰ पाठशाला, काशी ।



#### प्रकाशकः

जयकृष्णदास-हरिदास गुप्तः-चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस विद्यावितास प्रेस, बनारस [ अस्य पुनर्भ्रद्रणायधिकाराः श्रीकृपाशंकरशुक्षमहोदयेन स्वायलीकृताः ]

गुद्रक---

विद्यावितास प्रेस,

बनारस

9940

## पूज्य पिताजी

à

चरण कमलो

ř

श्रद्धा एवं मक्ति

2

साथ समर्पित



विनम्र

लाल चन्द्र वैद्य

#### प्रस्तावना

किसी भी दुःखकारक कारण के उपस्थित होने पर ही उसके विनाश का उपाय भी मनुष्य खोजने लगता है। यों तो पुराणों में ऐसी अनेक कथाएँ पाई जाती हैं को सृष्टि के रचयिता, रक्षक और संहारकर्ता हैं, उनको भी व्याधि ने नहीं छोड़ा। तो फिर मनुष्य की कथा ही क्या ? ऐसी दशा में बिना किसी शंका-समाधान और तर्क-वितर्क के यह मान ही लेना पड़ेगा कि संसार की सबसे प्राचीन चिकित्सापद्धति और विकित्साशास्त्र हमारा आयुवेंद हो है।

श्राज-कल नवीन चिकित्साशाल-वेत्तागण श्रपने श्राविष्कारों पर फूले नहीं समाते. उनसे मैं साग्रह-सानुरोध निवेदन कहँगा कि जिस बात को श्राप अपने उर्वर मस्तिष्क की श्राश्चर्यमयी उपन समभ्त रहे हैं. उसकी श्रान से कई हजार वर्ष पूर्व हमारे त्रिकालक्षानी महर्षियों ने रच ढाला था। किन्तु उस पर हम इतने फल गए थे. इतने उन्मत्त हो गए थे कि उस उन्मादजन्य-निद्र। में श्रचेत हो गए, हमारे घर में लूट होने लगी और हम सोते ही रह गए। हमारी ही चीज जरा तहकभदक के साथ हमारे सामने रखी जाती है और कहा जाता है कि-देखों, मैंने कितना सुन्दर श्चाविष्कार किया है, श्रव तुम भी इससे लाभ उठाश्रो । हमारी इसी चेतना-हीनता के कारण आज हमारी अनेक संहितायें अप्राप्य हैं, कुछ अधूरी हैं, कुछ तुलसीकृत रामायण की भांति खेपकयक्त मिल भी रही हैं। हमारी इतनी बढ़ी वैज्ञानिक चिकित्सा-पद्धति का कोई प्रामाणिक इतिहास नहीं मिलता, यह कितनी लजास्पद कथा है। तथापि श्राज श्रपनी इस गई-गुजरी दशा पर भी महर्षियों के श्रक्षय ज्ञान-भण्डार और उनके श्राशीनीद के बल पर मैं उन्नतमस्तक होकर कह सकता हैं कि श्राज भी हमारे श्रायुर्वेद में जो कुछ है, वह कहीं नहीं है । संसार की सर्वोचत कोई भी विकित्सापद्धति श्रभी हमारे श्राय्वेंद की तलना में नहीं था सकती । इसका ज्व-लन्त उटाहरण श्रभी 'नालन्दा विरव-विद्यालय' की खोदाई होने पर उपस्थित हुआ या । उसमें शह्यशास सम्बन्धी अनेक ऐसे अख-शस मिले थे. जिनके विषय में वैज्ञानिकों ने कहा या कि हम असमर्थ हैं यह बतलाने में कि इन शस्त्रों का उपयोग कहां और किस समय किया जाता है। अस्त ।

सबसे बढ़े आश्वर्य की बात तो यह है कि इस पर अनेकानेक अयंकर प्रहार हुए, तथापि आजतक यह इतनो बढ़ी शिंक के साथ संसार-चेत्र /में डढा. हुआ है। बौद-कालीन भारत तथा यवन-साम्राज्य में इतने बढ़े अयंकर आक्रमण हमारे आयुर्वेद पर हुए कि दोनों शिंक्यों ने इसे डिज्ञ-भिन्न करने में कोई कोर-कसर नहीं रखी। ययि अनेकानेक शिंक्यों ने अपने-अपने समय पर प्रहार किया और शान्त हो गई। खेकिन उसके बाद बहुत दिनों से डट कर उसके विनाश का उपाय कियक जाने लगा। जो कुछ बचे-बचाए संहिता प्रन्थ थे, उनको खेकर आचार्य पदवी के इच्छुक महानुभावों ने उनके अनेक स्थलों से छांट छांट कर संप्रह प्रंथों की स्रष्टि आरम्भ कर दी। सुलभ साधनों के मिलने से लोगों ने संप्रह-प्रंथों का अपनाना आरम्भ किया। फलतः धीरे-धीरे संहिता प्रंथों का 'पठन-पाठन शिथिल गति को आस हुआ। यदि यहाँ तक रहता, तो भी कुछ गनीमत थी। खेकिन इससे भी लोगों को संतीय न हुआ। कमशा स्वयंभू बिद्वानों की सिष्ट-रचना का श्रीयग्रेश हुआ, और आज तो इतनी बढ़ी संख्या इस भारत के महान् उदर में सिश्वित है, बिसकी ठीक-ठीक संख्या। निर्धारित करना असंभवप्राय है।

प्रस्तुत माधव-निदान भी उसी समय के संप्रह प्रंथों में से एक बहा उपयोगी:
और ज्ञानवर्षक भंय है। माधवाचार्यजीने इतनी छोटी-सी पुस्तक में गागर में सागर
सर देने का सफल प्रयत्न किया है। आयुर्वेद्द्व संसार ने इस भंय को अपनाकर
सस्तव में बहा मारी न्यायपूर्ण कार्य किया है। किन्तु यदि इस भंय के अध्यापन के
साथ-साथ अध्यापकगण विद्यार्थियों को तत्स्यलीय संहिता अंगों का भी निदश कर
दिया करें, तो विद्यार्थियों की समम्म में यह भलीभांति आ जावेगा कि वास्तव में
मूल तो संहिता अंग ही हैं। यह तो माधवाचार्य जो के अध्यक परिश्रम और उर्वरज्ञान
का सुन्दर फलमान है। ऐसा करने से विद्यार्थियों की विद्य अनायास ही संहिता
अंगों की ओर हो जावेगी। यों तो अनेकानेक टीकायें माधव-निदान की प्रकाशित हो
कुकी हैं और होती रहेंगी। किन्तु प्रस्तुत टीका माधवनिदान की एक उत्तम टीका
की अंगियों में रखी जा सकती है। प्रस्तुत टीका के निर्माता हमारे मित्र अधित पंजालवन्त्रजी आयुर्वेदाचार्य एक सफल अध्यापक और यशस्त्री विकासक हैं। काशी
के तत्कालीन विद्वाद वैद्य और विकासक स्वर्गीय आयुर्वेदमार्गेक पं- अर्जुनकी
सिक्षक आप प्रधान और अन्तरंग शिष्य हैं, और उन्हों की संस्थापित श्री आयुर्वेद-

विधा-प्रवोधिनी पाठ्याला में आप लगभग दस वर्षों है प्रवानाध्यापक-पद वर वर्षों से प्रायनसाय आपने विशद अञ्चमन भी प्राप्त कर रहे हैं और अध्यापन कार्य के साय-साथ आपने विशद अञ्चमन भी प्राप्त किया है तथा उसी पाठ्याला के आन्तर्गत दातन्य औष्मालय के आप प्रवान चिकित्सक भी हैं। ईश्वर की हुंगा से आप आयुर्वेद के अयोग्य बिहाल और यशस्त्री चिकित्सक हैं अतः इस प्रंथ की टीका प्रस्तुत करने के आप स्वतन्धित अधिकारी हैं। वास्तव में विद्वान टीकाकार ने मववा-मूल, विडोजा-टीका वाली नीति से काम नहीं लिया है। यथासाध्य गहन विषय को भी बड़ी सरलता के आय बिस्तार-पूर्वंक समस्त्राने का प्रयत्न किया है, और अपने प्रयत्न में एक सीमातक सकल भी हुये हैं। हां, यत्र-तत्र भावाशीधिक्य और प्रसुर पंजावीयन अवस्य है। किन्तु वह प्रांतीयता हमारे मित्र की अपनी निज की सम्पत्ति है। विसका आना अनिवार्व ही है।

में अपने सहयोगियों, वैद्य-बन्धुओं और अध्यापकाण्यें है सानुरोध निवेदन करूँगा कि वे माधवनिदान की इस टीका को अपनावें और टीकाकार महोदय के उत्पाद को बढ़ावें, जिसमें वे उत्पाहपूर्वक आयुर्वेद-साहित्य की अधिकाधिक सेवा कर सकें।

महाराक्ति चौषधालय, बुलानाला, बनारस सिटी १५-७-३७

ानवदक— हनूमानप्रसाद शर्मा, वैश्वशासी

## निवेदन

ता॰ ३० माह नवस्वर सन् १९३६ को प्रकाशक महोदय ने प्रस्तुत पुस्तक का हिन्दी अनुवाद करने की प्रेरण की। वस उसी दिन से कार्यारम्भ कर दिया; ला॰ २५ अप्रैल सन् १९३७ (चैत्र शुक्ला पूर्णिमा) को ईश्वर की कृपा से कार्य पूर्ण हो गया। पाठशालीय कार्य-वाहुल्य एवं घरेलू मंम्मटों के कारण को कुछ भी लिखा गया सब शीधतापूर्वक, अतः भूलों तथा शुटियों का रह जाना अनिवार्य ही है इसके लिए क्षमाप्रार्थी हूँ।

### उद्देश्य

मेरा उद्देश्य केवल कास को खांसी या हिका को हिचकी लिखने का नहीं था अपितु अध्यापकों में तथा विद्यार्थिकों में किम् (क्यों) कथम् (कैसे) और कुतः (किस कारण) की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देने एवं शन्दों के मूल तक पहुँचने की उत्कट अभिलाषा को उत्पन्न करने का था, परख अपनी अल्पभुतता तथा अल्पम्रता के कारण इस कार्य में कुछ सफल हुआ हूं कि सर्वथा विफल, इसका निर्णय माननीय विद्वान ही करेंगे। तो भी यदि इस अनुवाद से पाठकों को थोड़ा भी लाभ हुआ तो मैं अपने परिश्रम को सफल सम्भूगा। मैं अर्थना करता हूं कि विद्वान सरल एवं विशद टीकाएँ लिखने का कष्ट उठावें और आशा है कि मेरी इस प्रार्थना पर अवश्य ध्वान दिया जायगा।

## अध्यापकों से पार्थना

आप जानते ही हैं कि वर्त्तमान पठन-पाठन-प्रणाली के अनुसार "माधवनिदान"
प्रथम श्रेणी में पदाया जाता है अतः आप चरक विमान अध्याय ८ सूत्र १ से १२ पर्यन्त एवं सु॰ स्॰ स॰ र को पहले ही समस्ताकर पदा दीजिये कापी पर नोट करा दोजिये तथा स्पष्ट कह दोजिये कि "श्रहं वा त्विय सम्ययवर्त्तमाने यदि अन्यथा-दर्शी स्थाम एनोभाग्भवेयं अफलविश्वल" अर्थात् यदि में तुम्हारे डवित आचरण करने पर भी कपट रखूं तो पापी होऊँ तथा मेरी विद्या अस्पत्ल हो जाय। ऐसा करने पर भी कपट रखूं तो पापी होऊँ तथा मेरी विद्या अस्पत्ल हो जाय। ऐसा करने पर आप अपने उत्तरदायित्व से मुक्त हो सकोंगे और हो सकोंगे पुष्य तथा कर के अधिकारी।

आपको भली माँति झत है कि संस्कृत भाषा के सभी राष्ट्र सार्वंक हैं; अपने वाच्य को या तास्पर्य को पूर्णत्या अपने में निहित रखते हैं। इन्हें प्रायः इसरे साधनों की सहायता अपेक्षित नहीं है। ये स्वयं सिद्ध हैं अतएव राज्य को मक्क ( शहर , बका ) या ईरवर ( सामर्थ्यवान , राकिमान ) कहा गया है अतः आप अपने शिष्य को राज्य न महा की उपासनाया चिन्तन या विचार करने का अभ्यास करावें और प्रत्येक राज्य की ऐसी व्याख्या ( यथासम्भव ) करें कि उसके भीतर छिपी हुई अर्थीनिध प्रत्यक्ष दिखाई पढ़ने लगे। शिष्यों के सामने अपने हृदयगत भावों को स्पष्ट रूप से रख दीजिये और घो डालिये उस कलंक कालिमा को जो अध्यापकों के मुख पर उनके "गोपनीय गोपनीयं" के कारण पुती हुई ( कुळ अंशों में सही भी है ) है। विचारिये कि जो मनुष्य अपने बीवन के बहुमूल्य भाग को बढ़ी बढ़ी आशाएं लिए हुए आपकी सेवा में बिता रहा है वह फिर कब और किसके पास जाकर सीखेगा और कृपया कभी मत कहिये कि अमुक बात फिर बतलाएंगे । इससे होगा यह कि छात्रों में आप के प्रति सद्धावना एवं श्रद्धा उत्पन्न होगी और उनका उत्साह भी बढ़ेगा।

कृपया एक काम और यह कीजिये कि छात्रों में ठायोगी विषयों को नोट करने करने की प्रवृत्ति को उत्पन्न कीजिये तािक वे यह समभने लगें कि दिन भर भी पकाई में कौन बात उक्षेखनीय एवं स्मरणीय तथा विचारणीय है या कौन ऐसा शब्द या वाक्य है कि जिसके पूर्णतया समम्म खेने या मन में विठा खेने से सब का सब पाठ या विषय समम्म में या मन में बा जायगा और बैठ जायेगा। कुछ दिनों ऐसा करने पर आपके विद्यार्थी स्वयं सोचने विचारने एवं समम्मने के अभ्यासी हो जायेंगे और हो जायेंगे नीर-धीर-विवेकी।

### शिष्यों को शिक्षा

प्यारे विद्यार्थियों ! तुम पहले-पहल जिस दिन अध्यापक महोदय की सेवा में उपस्थित हो पहिले अध्ययन विधि पदी , उसमें लिखे हुए सभी नियमों का मली

१--विद्यार्थी का सम्पूर्ण भविष्य आपके हाथ में है आप ही उसके अभिभावक, संरक्षक एवं प्रथप्तर्शक हैं।

२--- यदि अध्यापक महाराम न पदार्वे तो अनुरोध करके पढ़ो, परञ्च पद्दो अवस्य ।

मोंति पालन करो और उन वार्तों को सदैव स्मरण रखो तथा अध्यापक की सभी आक्षाओं का पालन शुद्ध इदय से करो वशतें कि वे (आक्षाएँ) धार्मिक राजा के धाथ क्रेष करने के लिये, किसी के प्राण इरने के लिये, बहुत बड़े ( योड़े भी ) अधर्म के लिये एवं किसी प्रकार के अनर्थ के लिए नहीं।

एक बात और—िकसी भी शब्द को, वाक्य को तथा रहीक को स्मरण करते ( बोबते, रटते ) समय उसके अर्थ को या तात्पर्य को भली प्रकार विचारो और मनन करो थोड़ा सा परिश्रम पूर्वक । अभ्यास करने पर शब्द ब्रह्म की प्रकाशमान ज्योतिः आपके हृदय मन्दिर को प्रकाशित कर देगी और आपको ब्रह्मानन्द का अञ्चमव होने लगेगा ।

एक बात और—अपनी पाठ्य-पुस्तकों के साथ साथ आधुनिक (इधर के संक-लित ) पत्र पत्रिकाओं तथा आधुर्वेदिक प्रन्यों का अध्ययन करो एवं अपनी पुस्तकों के साथ मिलान करी और देखों कि कहाँ कहाँ समता है और कहाँ कहाँ विवमता अथवा निरोध । पूर्णतया विचार के बाद जो भी अञ्छी बात पाओ उसे महण कर लो क्योंकि (परेभ्योऽपि अगमिताव्यम् तथा कृत्स्नो हि लोको बुद्धिमतामाचार्यः रात्रुखाबुद्धिमताम् च० व० अ० ८) अर्थात् बुद्धिमानों का सारा संसार ही आचार्य है, गुरु है, अध्यारक हैं एवं शिक्षक हैं और मूर्खों का शत्रु ।

एक बात और—तुम कटिवद है होकर आयुर्वेद का अध्ययन करो क्योंकि यह विषय अनन्त एवं व्यापक है अतः सर्वसाधारण की बातों पर भी पूर्णकप से ध्यान हो अर्थात तुम देखोगे कि तुम्हारे नगर के निवासी ऊँच भीच सभी लोग रोगविनि-ध्यय के सरल सूत्र उनकी अस्यन्त सरल चिकित्सा एवं रोगी के गृत्युस्चक तथा आरोग्यस्चक लक्षण आदि बातों को कितनी अच्छी तरह खानते हैं कि तुम देख सुनं कर आध्ययंचिकत हो जाओगे। बंस, तारपर्य यह कि उनकी बातों पर खुव

१ — यह मत समभी कि संस्कृत भाषा में लिखे हुए पुराने प्रन्य ही "आयुर्वेदिक प्रय" हैं। नहीं, प्राणी के शरीर का, शरीर के रोगों का एवं रोगों के उपायों का चाहे किसी भी पुस्तक में या किसी भी भाषा द्वारा वर्णन किया हो बस वही "आयुर्वेद" हैं।

२ — "परं अवत्वमाति हेत्साणदः स्माद् यथा कृणाम्" सर्वात् इतना प्रवत्न करो कि द्वम प्राणिमात्र के प्राणदाता बन सको ।

ध्यान दो; मूर्खों की बार्ते जानकर उपैक्षा मत करो । वे ग्राप को एक प्रच्छा विकि स्सक वना देंगे; यही है इस विषय को प्रानन्तता तथा व्यापकता ।

एक बात और—इस पुस्तक में रोग जानने के ही उपाय बतलाए गये हैं रोगीः जानने के नहीं। झिनये "दर्शनस्पर्शनअरनैः परीचेताथ रोगिणम्" (ना॰ स्॰ झ॰ १) अर्थात् उपस्थित व्यक्ति को दर्शन (उसके शरीर आदि की दशा देवकर ) से, स्पर्शन (उसके शरीर की सरदी गर्मी एवं मुद्धता कठिनता आदि देख कर ) से और अरन (कहां पर शूल है दाह है कण्डू है इत्यादि पूछकर ) से जान लो कि वह रोगी है या नहीं। यदि रोगी है तो फिर डक्त निदान पूर्वक्पादि उपायों से रोग का विनिश्चय करो तत्यश्चात् करो विधिपूर्वक विकित्सा। बस तुम्हारा कर्तन्य पूरा हो गया "कर्मग्योवाधिकारस्ते मा पर्लेख कदानन।" गीता।

बस एक बात और—हमारे संस्कृत के प्रन्य ऐसे उत्तम ढंग से लिखे गये हैं कि तनके प्रकरणों की परम्परा भी बहे से बहा अर्थ रखती है तथा उनका एक एक राज्द वह अर्थ रखता है जो बही से बहा ज्याख्या द्वारा प्रकट किया जा सकता है । , उदाहरण—उपलब्ध प्रंथों में सम्भवतः कहीं नहीं लिखा कि ऑतिहयों ( अन्त्रों ) में एक प्रकार की गति सर्वदा होती रहती हैं किन्तु उसके लिये "अम गती" धातु से निर्मित "अन्त्र" शब्द का प्रयोग कर के महामान्य महर्षियों ने खुपके से बतला दिया कि अन्त्रों में सर्वदा गति होती रहती है ऐसी र अनेक बातें जानने के लिये बाहरी पुस्तकों को पढ़ने की मेरी सम्मति अनुपयुक्त अथवा व्यर्थ नहीं समभी जायगी। मेरी हद धारणा होती जा रही है कि यूनानी तथा पाश्वास्य विद्वानों ने केवल मारतीय आयुर्वेदिक अन्यों की व्याख्या की है। इस कार्य के लिये वे अन्य-बाद के पात्र हैं। यही नहीं संसार के वे सभी विद्वान् जिन्होंने इनवृद्धि करके

१—यह वात असस्य नहीं; कितने लोग प्रन्थों का नाम तक नहीं आनते और उसकोठि के चिकित्सक हैं।

२—यथा प्रहणी के बाद ऋराः पढ़ने का तात्पर्य है कि प्रायः प्रहणी रोग वालों को ऋरों हो जाती है, इत्यादि ।

३—सम्भव है कुछ नई खोज भी की हो क्योंकि उनके हदय में भी बही झान-ज्योतिः जग रही थी या जग रही है जिसके लिये भगवान कुष्ण ने कहा है—ईश्वरम् सर्वभूतानां हृदेयोऽर्जुन तिष्ठति । गीता बा॰ १५ स्टो॰ ६१

-मानव जाति का कुछ भी उपकार किया है जाहे वे देशीय हों या विदेशीय धन्यवाद के, अद्धा के, भक्ति के, प्रेम के तथा आदर के पात्र हैं। सर्वेभ्यो विद्वद्वरणो नमः।

#### %तज्ञता मकाशन

मैं अपने उन माननीय मित्रों को हृदय से धन्यवाद देता हूँ जिन्होंने इस पुस्तक के लिखने में प्रोत्साहन, सहायता एवं बहुमृश्य सम्मातयां देकर मुझे अनुग्रहीत किया है। मैं उनके आदरणीय शुभ नामों का उन्लेख करना अपना कर्तव्य समभता हूँ, यया— सर्व श्री पं॰ सत्यनारायण शास्त्री ग्रें। हि॰ वि॰ वि॰ काशी, पं॰ दुर्गोदत्त की शास्त्री, मारवाडी हिन्दू अस्पताल, पं॰ हनुमानप्रसादजी वैशास्त्री, बुलानाला, पं॰ युजमोहन जी दीक्षित रसशाला काशी, पाठशालीय छात्र पं॰ ताराशंकर जी मिश्र आयुर्वेद शास्त्री ने मेरी बहुत बड़ी सहायता की है। अतः मैं क्ष्रिय से प्रार्थना करता हूँ कि उनका भविष्य उज्जवल हो। पं॰ शम्भुनाथ जी भी अपनी दौड़ भूप के लिये धन्यवाद के पात्र हैं। पं॰ हरिनारायण जी शर्मा वैय (काशी) एवं स्वर्गीय त्रिलोकीनाथ जी वर्मा की पुस्तकों से मुझे बड़ी सहायता मिली है, उनके लिये भी श्रदाखिल अर्पित करता हूँ।

#### शुभ कामना

सर्वे भद्राणि परयन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः । सर्वे कुशलिनस्सन्तु मा कविदःलभाग्भवेत् ॥

इति शम्

<sub>विदम</sub> लालचन्द्र वैद्य

१--इन्हीं की विशेष कृपा से पुस्तक इतनी बाच्छी प्रस्तुत हो सकी है।

## ॥ श्रीः ॥

# विषयसूची

विषयाः पृष्ठ	<b>121:</b>	विषयाः	रहाझाः
पारिभाषिकं पञ्चनिदानलच्या	7 1	सिवातस्वरक्षणम्	₹•
अथ प्रन्थकर्तुं मेंक्स्काचरणम्	`,	सिवातज्वरस्यासाध्यक्षवणम्	29
प्रन्थस्यास्योत्कृष्टस्वम्	₹	सिवातावधिः	<b>२</b> २ .
रोगविज्ञाने पञ्जोपायाः	,,	सम्बिपातोपदवाः	35-
निद्दानपर्यायास्तल चणञ्च	3	अभिन्यासज्वरङ्कणम्	58.
पूर्वरूपञ्चणम्	8	आगन्तुःवरविवरणम्	1).
रूपस्य रूपणम्	,,	विषजन्यागम्तु उवरळ चणम्	₹8
<b>डपश्चयानुपश्चयी</b>	9	औषधगन्धज्ञत्रदर ,,	,,
सम्प्राप्तिल्चणम्	۷	कामज्बर ,,	98
सम्प्राप्तिभेदास्तद्विवरणं च	5	भयशोककोधजज्वर "	24
सर्वरोगाणां सामान्यं कारणम्	13	अभि चाराभिशावज्ञवर ,,	1>
रोगाणामपि कादाचित्कंनिदानत्वम्	15	भूताभिषक्रजन्वर "	,, ,,,
भन्नोदाहरणानि	38	विषमञ्बरस्य संप्राप्तिः	,,
रोगसाङ्कर्यम्	18	विषमञ्बरभेदाः	98
उक्तनिदानपञ्चकस्यावरयज्ञेयस्वम्	,,	विषमज्वराणां दृष्यधातवः	,,
ज्बरनिदानम् ।	,,	सन्ततज्वरसम्प्राप्तिः	,,
ज्यरानदानम् । ज्यरस्योश्यसिर्मेदाश्च		सम्ततःवरञ्चणम्	20
ज्यस्यात्पात्तमद्वास	" 99	सततान्येगुष्कव्यर ,,	
ज्वरस्य सम्प्राप्तिः		तृतीयकचतुर्थकःवर "	"
"सामान्यल्चणम्	"	वितासक वर्षीयकावर भ	"
"सामान्यं पूर्वरूपम्	34	विषमज्वरस्य भुताभिषङ्गस्यम्	<b>?</b> =
,, विशिष्टम् "	30	तुतीयकचतुर्थं क्योर्छं चणान्तरम्	
वातज्वरक्षणम्	))	चतुर्थकविपर्ययः	95
पित्तज्वर "	"	वातवलासकावरकवणम्	
कफज्बर "	٤٣	प्रखेपकञ्चर "	₹0
बातपित्तज्वर "	19	देहाईजातज्वर "	. 9
वातकपञ्चर "	29	शीतपाजिपाद्ज्वर "	1
पित्तकफावर "	99	डब्जपाणिपादुव्यर ,,	21

विषयाः	पृष्ठाङ्काः	विषयाः	प्रशक्षाः
शीतदाहपूर्वज्वरयोर्ल् <b>य</b> णम्	38	त्रिदोषजातिसार छच्चणम्	8.6
एतयोः साध्यासाध्यविवेकः	38	शोकजातिसार "	,,
रसंधातुगत <b>ः</b> वरळ <b>च</b> णम्	33	भामातिसार "	88
रक्तघातुगत ,,	,,	आमपकपुरीष "	<b>४</b> ६
मांसघातुगत "	38	असाध्यातिसार "	,,
मेदोधातुगत ,,	,,	रकातिसार "	800
अस्थिघातुगत "	,,	प्रवाहिकावाः सम्प्राप्तिः	,,
मजाधातुगत "	38	सर्वासां प्रवाहिकानां पृथक्	"
शुक्रधातुगत ,,	,,	पृथग् छच्चणानि	11
<b>९षां</b> साध्यासाध्यस्वम्	11	<b>मुक्तातिसार</b> ङचणम्	86
प्राकृतवैकृतज्वरकथनम्	३४	ग्रहणीरोगनिदानम्।	
<b>प्राकृत</b> ज् <b>दराणामु</b> त्वत्तिक्रमः	,,	प्रहण्याः संप्राप्तिः	88
काळसम्प्राप्तिः	3,4	संग्रहण्याः सामान्यलचणम्	- 1
उपश्चयानुपश्चयाभ्यां व्याधिज्ञानम	<b>ų</b> "	प्रहणीरोगपूर्वरूपम्	" "
अन्तर्वेगज्वरस्य छच्णम्	,,	वातिकप्रहण्या निदानपूर्विका	,•
बहिर्गेवज्वरस्य "	ફ્રું છ	संप्राप्तिः छन्नणं च	
भामदवर ,,	"	पैतिकप्रहण्या हेतवो छक्षणानि	"
पष्यमानज्वर "	"	संप्राप्तिश्च	99
परिपक्कउवर ,,	홍드	स्टेष्मिकसंप्रहण्याः " "	
साध्यज्वर "	,,	साम्रिपातिकसंग्रहणीनिर्देशः	" 9
असाध्यज्वर ,,	,,	संब्रह्महणीलक्षणम्	,,
गम्भीरञ्चर ,,	38	घटीयन्त्राख्यप्रहुणीरोगस्य	,,
अपरमसाध्यज्वर "	"	<b>ल्ज्णम्</b>	43
ज्बरमुक्तेः पूर्वरूपम्	80	. अहण्यामामपकदोषपरिज्ञानम्	,,
व्वरमुक्तस्य छच्णम्	"	असाध्यप्रहणीरोगळच्चणम्	ષષ્ઠ
श्रविसारनिदानम्।		वयोभेदेन प्रहण्याः साध्यासाध्य-	•
अतिसारस्य हेतवः	83	स्वादिविज्ञानम्	**
,, सम्प्राप्तिः	४२	अशीनिदानम् ।	
सर्वेषामतिसाराणां पूर्वरूपाणि	"	अर्शसां संख्या सम्प्राप्तिश्च	**
बातातिसारल <b>इ</b> णम्	"	वातार्शसां हेतवः	29
पित्तातिसार "	83	पैत्तिकाशौनिदानानि	<b>48</b>
कफातिसार "	"	कफार्शसां हेतवः	"

विषयाः	पृष्ठाङ्काः	विषयाः प्र	अहाः
<b>इन्द्र</b> जाशीं विज्ञानम्	+ৰ	अजीगेद्भिवा विस्च्यादयो रोगाः	६९
ब्रिदोषजाशां निदानम्	"	विसुच्या निरुक्तिः	,,
बातार्शेसां छच्चणानि	40	सामान्यङ्कणम्	<b>60</b>
पित्तार्शसां ,,	*6	अछसकरोग ः,	,,
कफजाशौंलक्षणानि	ধৎ	विस्तिका ,,ू	93
सान्निपातिकानां सहजाशंसां च		भामस्य कार्यान्तरम्	,,
<b>उच्</b> णम्	ξo	विसूच्यळसकयोरसाध्यळचणानि	७२
रक्तार्शसां छच्चणानि	,,	विसू <b>ष्या</b> सुपद्रवाः	٠,
रक्तार्शसि वातानुबन्धलक्णम्	Ęş	सामान्याजीर्णस्य छच्चणम्	98
श्रेष्मानुबन्धरक्ताशील वणम्	33	जीर्णाहारस्य ,,	,,
अर्शना पूर्वरूपाणि	,,	किमिनिदानम् ।	
अर्शसामुत्पत्ती सर्वदोषप्रकोपः	42	किमिभेदाः	,,
सुखसाध्यार्शसां छच्चणानि	,,	बाद्धाः क्रिमयः	80
कृष्ट्साध्यर्शसां "	99	आभ्यन्तरिक्रमीणां सम्प्राप्तिः	& Ug
असाध्याशीलचणानि	€3	निदानभेदात् क्रिमिभेदाः	,,
असाध्येष्वपि याच्यवत्यास्येयभेव	ţ: ,,	आभ्यन्तरकिमि <b>ल्य</b> णम्	,,
<b>ए</b> षामुपद्रवादसाध्यत्व <b>म्</b>	"	कफजिकिम "	,,
मेढ्जादीनां छच्णम्	६४	रक्तजातिकमि "	90
चर्मकीलस्य संप्राप्तिः	,,	शकुरजातिकसि "	96
वातादिभेदेन तन्नज्ञणम्	,,	पण्डु-कामला-कुम्भकामल	<b>(</b>
श्रश्निमान्याजीर्ण-विस्चिव	<b>ना</b> ऽ	हलोमकरोगनिदा <b>नम्</b> ।	
लसक-विलम्बिका निदान	<b>रम्</b> ।	पाण्डुरोगस्य भेदाः	60
<b>अग्नेश्च</b> तुर्विधत्वम्	<b>E</b> &	,, हेतवः सम्प्राप्तिश्च	,,
विषमाग्न्यादीनां छन्नणानि	,,	" पूर्वरूपाणि	,,
<b>अ</b> जीर्णनिदानम्	88	वातिकपाण्डुरोगङ्कणम्	59
अजीर्णस्य कारणानि	ह७	पैत्तिकपाण्डु "	79
भामाजीर्णस्य छच्चणानि	80	कफजपाप्डु "	"
विदग्धाजीर्णस्य "	"	असाध्यपाण्डु "	62
विष्टब्धाजीर्णल् <b>ष</b> णम्	,,	मृत्तिकाभच्रणजपाण्डुरोगस्य संप्राप्ति	ı ,,
रसशेषाजीर्ण "	"	मृदुत्पन्नपाण्डुरोगळचणम्	,,
अजीर्णोपद्रवाः	६१	असाध्यपाण्डु "	,,
अतिमात्रभोजनस्य विशेषकारण	खम् "	पाण्डुभेदकामलारोगस्य लक्कणम्	۶8

विचयाः १	खाङ्काः	विषयाः	Saist:
कुम्मकाम <b>लारोगल्</b> चणम्	64	मार्गशोषिणो छच्चणम्	60
कामछाया असाध्यल <b>इ</b> णानि	,,	न्यायामशोषिणो "	,,,
कुम्भकामलायाः "	,,	व्रणकोषिणो ,,	19
<b>ह</b> लीमकरोगलचणम्	,,	उरः इतस्य हेतवो लड्डणानि च	96
पाण्डुरोगोपद्रवाः	<b>=</b> ٤	" पूर्वं≰पम्	33
रक्तपित्तनिदानम्।		उरःचत-बीणयोर्मुख्यळचणानि	900
रक्तवित्तस्य निदानं संप्राप्तिश्च	<b>=</b> 6	अनयोः साध्यासाध्यत्वविचारः	,,
" पूर्वरूपणि	59	कासनिदानम्।	
श्लैध्मिकरक्तिपत्तस्य <b>ल</b> चणम्	66	कासस्य हेतु-सम्प्राप्तिपूर्वकं छन्न	ाम् १० <b>०</b>
वातिकपित्तस्य ,,	93	कासभेदाः	909
पैत्तिकरक्तापित्तस्य "	,,	कासस्य पूर्वरूपम्	"
द्वित्रिदोषजरक्तपित्तस्य "	19	वातजकासळ 🕶 गम्	,,
ऊर्ध्वाधोमार्गभेदेन रक्तपित्तस्य		वित्तजकास ,,	१०२
<b>है</b> विध्यम्	,,,	कफजकास ,,	,,
अस्य साध्ययाप्यासाध्यत्वम्	"	चतजकास "	,,
,, सुखसाध्यञ्चणभ्	91	च्यजकास ,,	103
,, दोषभेदात्साध्यासाध्यस्वर	₹ <b>८</b> ९	एषां साध्यासाध्यत्वविचारः	3 = 8
रक्तपित्तस्योपद्रवाः	"	हिका-श्वास-निदानम् ।	
रक्तपित्तस्य।साध्यल्जणम्	"	हिका <b>श्वासयोनिंदाना</b> नि	304
राजयदम-स्रत-स्रीण-निदानम्	1	हिकानां स्वरूपं निरुक्तिश्र	,,
राजयचमणो निदानानि	९१	,, भेदाः सम्प्राप्तिश्च	9 c 8
चयरोगस्य सम्प्राप्तिः	,,	,, पूर्वरूपाणि	,,
यसमणः पूर्वस्पाणि	,,	अञ्चनाया छच्णम्	,,
स्वस्य त्रीणि छत्तणानि	<b>९</b> ₹	यमलाया ,,	**
सीधुतानिषट "	۶۶	चुद्राया कचणानि	"
चयस्यैकादश रूपाणि	"	गम्भीराया रुचणम्	१०७
<b>असाध्यच्च</b> यल <b>च</b> णानि	88	महत्या "	"
अधास्य चिकित्स्यत्वम्	१४	हिकानामसाध्यलचणानि	"
चयस्यान्ये प्रकाराः	१६	श्वासरोगनिदानम्।	
न्यवायकोषिणो छक्तणम्	"	श्वासरोगस्य भेदाः	305
शोकशोषिणो "	,,	अथेषु वातादीनां सम्बन्धः	,,,
बराशोषिणो "	80	श्वासरोतस्य पूर्वस्पम्	108

विषयाः	पृष्ठाङ्काः	विषयाः	पृष्ठाङ्काः
श्वासरोगस्य सम्प्राप्तिः	308	साश्चिपातिकच्छ्रहेंळ्चणानि	120
महाश्वासस्य ळचणानि	*,,	<b>छ</b> हैरसाध्य <del>ळच</del> णानि	"
<b>ऊर्ध्वश्वासस्य लक्षणम्</b>	310	आगन्तुजच्छ्रदेर्ल्चणानि	923
छिष्णधासस्य "	,,	क्रिमिजच्छदें "	39
तमकश्वासस्य ,,	999	छुईः साध्यासाध्यविवेकः	11
प्रतमकश्वास "	112	छुर्दिरोगस्योपद्रवाः	998
बुद्धासस्य लच्चणानि	993	तृष्णानिदानम् ।	
अथैवां साध्यासाध्यविचारः	318	तृष्णारोगस्य सम्प्राप्तिः	१ <b>२३</b>
अथैपां मार <b>क्</b> रवृम्	,,	अधासां भेदाः	"
स्वरभेदनिदानम्।		वातिकतृष्णाया खत्तणानि	१२३
स्वरभेदस्य निदानपूर्विका संप्राहि	F: 998	पैत्तिक ,, ,,	,,
वातिकस्वरभेदस्य लक्त्रणम्	119	रहैष्मिक,, ,,	,,
पैत्तिकस्वरभेदस्य ,,	99	चनत ,, ,,	11
कफजस्वरभेदस्य "	,,	च्चयज ,, "	358
सन्निपातिकस्वरभेदस्य "	"	आमज "	"
चयजस्वरभेदस्य ,,	998	अञ्ज ,, ,,	"
मेदोजस्वरभेदस्य "	,,	उपसर्गज,, "	
स्वरभेदस्यासाध्यळचणानि	"	,, " असाध्यस्वम्	<b>3</b> 29
श्ररोचकतिदानम्।		ं मूच्छो-भ्रम-निद्रा-तन्द्रा-	संन्यास-
अरोचकरोगस्य निदानानि	995	निदानानि ।	
वातिकारोचकस्य छच्चगम्	330	मुच्छरिगस्य निदानपूर्विका	
पैतिकारोचकस्य "	, ,,	संगक्षिः	9 २५
रलैष्मिकारोचकस्य ,,	,,	मुरुर्ज्ञायाः पूर्वरूपाणि	125
भागन्तुजारोचकस्य "	"	वातजमुरुर्जाया छच्णम्	99
साक्षिपातिकारोचकस्य ,,	11	वित्तजमुब्रज्ञीया "	350
अरोचकस्य छत्त्रणान्तराणि	११८	कफजम्बर्जीया "	,,
छुद्दिरोगनिदानम् ।		साधिपातिकमुच्छीया "	,,
छदिरोगस्य सनिर्वचनं निदानम्	335	रक्तजमूर्द्धायाः सम्प्राप्तः	170
छुद्देः पूर्व रूपाणि	119	विषमचजमूच्छीया छच्चणम्	,,
वातिकच्छदेर्लज्ञणानि	11	रक्तजाया "	178
पैत्तिकच्छ्रदं "	<b>\$</b> ₹0	मण्जमूर्ख्या "	,,
कफजब्बुई "		विषजमुष्क्षीया "	99
२ मा॰			

विषया:	प्रश्रहा:	विषयाः		पृष्ठाङ्काः
मृञ्ज्ञांभ्रमनिद्रातग्द्रासु दोषः	-		उ <b>च</b> णस्	350
गुणविशेषाद् भेदाः	129	वित्तजदाहस्य	"	"
श्रमरोगस्य छचणम्	,,	तृषानिरोधजदाहस्य <b></b>	,,	,,
तम्द्राया "	180	शस्त्राचातजदाहस्य	"	136
संन्यासस्य मुर्च्छादिस्यो भेदः	,,	धा <b>तु</b> च्यजदाहस्य	"	•
संग्वासरोगस्य छत्रणम्	,,	मर्माभिघातजदाहस्य	"	"
पानास्यय-परमद्-पानाजी	_	उन्माद्नि		"
_	4-	उन्मादशब्दस्य निरुष		१३८
पानविभ्रम-निदानम्।	1	उन्मादस्य प्रकाराः	.4.7-	125
<b>महा</b> त्ययनिदानम्	353	" सामान्यहेतवः		-
मचस्य स्वभाववर्णनम्	39	,, सम्प्राप्तिः		"
विधिनोपयुक्तस्य मचस्य गुणाः	१३२	,, सामान्यरूपाणि		380
प्रथममदस्य छचणम्	,,	वातिकोन्मादस्य विशेष	क्रम्बनाय जि	
द्वितीयमदस्य "	,,	पैत्तिकोन्मादस्य हेतवी		,, { <b>83</b>
वृतीयमदस्य गु	353	श्रुविमकोन्मादस्य "		185
चतुर्थमदस्य ,,	,,	सानिपातिकोन्मादस्य	**	
अवैधमधपानस्य विकारान्तर-		शोकजोनमादस्य सम्प्रा		"
कर्तृत्वस्	,,			"
कीरशानां जनानां मधपानं		" विषजोन्मादस्य लक्तणः		185
रोगोरपादकम्	158	उन्मादस्यासाध्यक्षण	_	•
मधविकाराणां नामतो विवरणम्	,,	भूतोनमाद्दस्य सामान्य	_	"
वा तकमदात्ययस्य छत्रणम्	"	देवप्रहगृहीतस्य छत्रण		988 "
पैचिकमदात्ययस्य "	19	असुरप्रहगृहीतस्य छन्न		,,
क्षेदिमकमदात्ययस्य ,,	१३६	गन्धवंप्रहगृहीतस्य	,,	,,
साजिपातिकमदात्ययस्य "		य च प्रह गृहीतस्य	,,	"
परमदस्य लचणानि		पितृप्रहगृहीतस्य	,,	,,
पानाजीणेस्य "		सर्प्रहगृहीतस्य	"	
वानविश्रमस्य "	135	राज्ञसम्रहगृहीतस्य	,,	18£ "
मदात्ययस्यासाध्य "	,,	विशाचप्रहुगृहीतस्य	"	,,
मदास्ययरोगस्योपद्रवाः	"	प्रहगृहीतस्यासाध्य <b>ल</b>	_	"
दाहरोगनिदानम्।		देवादीनां प्रहणकालाः		180
मचबदाहस्य छत्तणम्	134	ग्रहावेशानुपलब्धावु <b>द</b>		33

	पृष्ठाङ्काः	विषयाः	पृष्ठाङ्काः
श्रपस्मारनिदानम् ।		आचेपकस्य वायोर्छक्रणम्	190
भपस्मारस्य निरुक्तिसम्प्राप्ती	380	अपतन्त्रापतानकयोः "	91
,, सामान्यलक्णम्	186	दण्डापतानकस्य ,,	946
" पूर्वंरूपणि	**	धनुःस्तम्भस्य "	33
वातिकापस्मारस्य ल्चणम्	**	आभ्यन्तरबाह्यायामयोः ,,	"
वैत्तिकापस्मारस्य ,,	१ <b>४९</b>	आचेपकस्य लच्चणान्तरम्	360
स्टेब्मकापस्मारस्य "	,,	असाध्यापतानकस्य छत्रुणम्	"
नान्निपातिकापस्मारस्य ,,	,,	पचवधस्य छक्तणानि	,,
भपस्मारस्य असाध्यळचणम्	"	पत्तावातस्य साध्यासाध्यत्वम्	949
ग्पस्मारस्य वेगकालाः	990	अर्दितरोगस्य लच्चणम्	,,
अपस्मारस्य सर्वदा वेगाकरणे		अर्दितस्य पूर्वरूपम्	142
सोदाहरणः प्रभावः	"	,, असाध्यळचणम्	••
वातव्याधिनिदानम् ।	1	आचेपकादिवातरोगाणां वेगित्वम	.,,
गतन्याधेः सम्प्राप्तिपूर्वकं निदान	मृ १५०	हनुप्रहस्य छत्तणम्	१६
वातब्याचेः पूर्वरूपाणि	999	मन्यास्तम्भस्य ,,	"
वातप्रकोपेण सम्भवन्तो रोगाः	,,	जिद्वास्तरभस्य "	,,
कोष्ठाश्रितकुपितवातलज्ञणम्	<b>१५</b> २	सिराग्रहस्य ,,	358
नर्वाङ्गकुपितवातलचणम्	,,	गृधसीरोगस्य "	,,
दुस्थितवातस्य "	"	,, विशेषलक्षणानि	"
अामाशयगत <b>कु</b> पितवातस्य छच्चण		विश्वाचीरोगस्य लक्षणम्	184
पकाशयस्थवातस्य लच्चणम्	,,	कोष्ट्रकशीर्षस्य ,,	"
श्रोत्रादिगतवातस्य " (	,,	खान्ज्यपाङ्करुवयोः ,,	,,
वगतवातस्य छत्त्रणानि	,,	कञायखझस्य ,,	"
(क्तगतवातस्य "	198	वातकण्टकरोगस्य छत्त्रणम्	988
मांसमेदोगतवातस्य "	"	पाददाहस्य "	"
मजास्थिगतवातस्य ,,	"	पादहर्षस्य ,,,	,,
शुक्रधातुगतवातस्य "	"	अंसशोषस्य "	,,
सिरागतवातस्य छत्त्रणम्	399	अववाहुकस्य "	350
स्नायुगतवातस्य "	"	मुकादीनां "	,,
सन्धिगतवातस्य ,,	,,	त्नीरोगस्य ,,	,,
पित्तकफाञ्चतानां प्राणादिवायूनां		प्रतित्नीरोगस्य "	. ,,
<b>उच्चणानि</b>	146	आध्मानरोगस्य "	9६=

विषयाः	Saizi:	विवयाः पृष्ठाङ्काः
प्रस्याध्मानस्य छत्त्रणम्	186	श्रामवातनिदानम् ।
वाताष्ठीलारोगस्य "	"	आमवातरोगस्य निदानपूर्विका-
प्रस्यष्ठीलाया ,,	"	संप्राप्तिः १७७
मूत्रावरोधस्य ,,	188	,, पूर्वरूपाणि १७८
वेपथुरोगस्य "	1)	आमवातस्य सामान्यलच्चणानि १५९
खन्नीरोगस्य ,,	,,	भतिबृद्धस्यामवातस्य छत्त्रणानि "
ऊर्ध्ववातस्य ,,	,,	भामवातस्योपद्रवाः "
अनुक्तानां वातरोगाणां स्चनम्	900	वित्तादियुक्तस्य विशेषलक्षणानि १८०
वातरोगाणां साध्यासाध्यत्वम्	,,	अस्य साध्यासाध्यविचारः "
वातोपद्रवाः	,,	शूल-परिणामशूलान्नद्रवशूल-
वातव्याधेरसाध्यत्वम्	,,	निदातम्।
प्रकृतिस्थस्य वायोर्ङचणम्	101	श्रूलरोगस्योत्पत्तिक्रमः १८०
वातरक्तनिदानम् ।		वातश्रुटस्य निदानानि १८१
वातरक्तस्य कारणानि	303	पैत्तिक्शूलस्य " १⊏२
,, सम्प्राप्तिः	१७२	रलैब्सकगुलस्य "
,, पूर्वरूपाणि	,	सान्निपातिकशुलस्य लच्चणानि १८३
व।ताधिकवातरवतस्य उत्तणम्	308	आमशूलस्य " "
रक्ताधिकवातरक्तस्य "	19	त्रिदोषात्पन्नशृखस्य छत्रणानि "
वित्ताधिकवातरक्तस्य "	,,	शुल्रोगस्य साध्यासाध्यत्वम् १८४
कफाधिकवातरक्तस्य "	108	परिणामशूलस्य सम्प्राप्तिः "
द्वि-त्रि-दोषजवातरक्तस्य ,,	99	वातादिदोषजपरिणामशुळस्य छच्णम् "
वातरक्तस्य प्रसारः	,,	ह्नि-त्रिदोषजपरिणामगुलस्य ,, १८५
वातरक्तस्यासाध्यळचणानि	"	अञ्चद्रवाष्यशुरुस्य रुच्चणानि "
वातरक्तस्योपद्रवाः		
वातरक्तस्य साध्यासाध्यत्वम्	366	् उदावर्तनिदानम् ।
_	-	उदावर्तरोगस्य कारणानि १८६
<b>ऊरुस्तम्भनिद्।नम्</b> ।		वातोदावर्तरोगस्य छच्णम् "
ऊरस्तम्भस्य निदानपूर्विका		मलावरोधजस्य ,, १८७
संप्रक्षिः	305	मूत्ररोधजस्य ,, ,,
,, पूर्वह्वाणि	308	जुम्मोपधातजस्य " "
,, ভল্লগানি	2)	अश्रुदावर्तस्य " "
,, असाध्यङ्कणानि	100	छिकोदावर्तस्य " १८८

विषयाः	पृष्ठाङ्काः	विषयाः	पृष्ठाकाः
उद्गारोदावर्तस्य लक्षणम्	156	वातिकहृदोगस्य छचणम्	350
छ्यंदावर्तस्य ,,	,,	पैत्तिकहृद्रोगस्य "	39
शुकोदावर्तस्य ,,	91	रलैष्मिकहृद्रोगस्य "	11
चुदुदावर्तस्य "	169	सिकमिजसाश्चिपातिकहृदीगस्य	
तृष्णोदावर्तस्य "	,,	<b>छन्न</b> णम्	996
श्वासोदावर्तस्य "	"	अथैषामुपद्रवाः	,,
निद्रोदावर्तस्य "	,,	मृत्रकृच्छुनिदानम् ।	
कुवितवातजोदावर्तस्य निदानानि	ł "	सूत्रकृष्ट्रस्य निदानानि	196
अस्य सम्प्राप्तिः	,,	नुत्रक्रच्छ्रय ।नदाना।न ,, सम्प्राप्तिपूर्वकं छत्त्रणम्	
आनाहरोगस्य छत्त्रणानि	980	2"	
आमजानाहस्य छत्रणम्	,	वातिकम्बहुरुङ्स्य ,,	"
पुरीपरोधजानाहस्य "	,,	पैत्तिकमूत्रकृष्ट्रस्य "	" २००
गुल्मनिदानम् ।		कफजम्ब्रह्रच्छ्स्य "	
गुरुमरोगस्य सम्प्राप्तिः	989	साधिपातिकसूत्रकृष्ट्रस्य "	"
,, सामान्यं रुचणम्	,,	शस्यजम्त्रकृष्ट्रय "	"
"संख्यारूपा संप्राप्तिः	१९२	पुरीषजम्त्रकृच्छ्स्य " अश्मरीजमूत्रकृच्छ्स्य "	<b>२</b> ०१
,, પૂર્વહવાળિ	39	WITTOWE WITH	-
गुल्मस्य साधारणं रूपम्	,,	अश्मरीशर्करयोभेंदः	**
वातगुरुमस्य हेतवो छत्रणानि च		अरमर्था उपद्रवाः	११ २०२
पैत्तिकगुल्मस्य निदानानि	183		1-1
,, रूक्षणानि	٠,	मूत्राघात्रनिदानम्।	
रलैध्मिकगुरुमस्य निदानानि '	१६४	मुत्राचातस्य सम्प्राप्तिः	२०२
साबिपातिकगुरुमस्य "	"	वातकुण्डलिकायाः संप्राप्तिः	
रलेष्मिकगुरुमस्य छक्षणानि	,,	पूर्वकं निदानम्	"
इन्ह्रजगुरुमस्य ,,	"	अष्ठीलारोगस्य लच्चणम्	₹•३
साम्निपातिकगुल्मस्य "	"	वातभस्तिरोगस्य "	"
रक्तगुरुमस्य सम्प्राप्तिः	184	मूत्रातीतरोगस्य "	"
,, लचणान	"	मूत्रजठररोगस्य "	508
गुरुमस्यासाध्यलचणानि	"	मूत्रोःसंगरोगस्य "	"
हृद्रोगनिदानम्।		मूत्रचयरोगस्य "	"
इदोगस्य निदानानि	384	मूत्रप्रनिथरोगस्य "	२०५
"संप्राप्तिपूर्वकं कचणम्	150	मूत्रशुकरोगस्य "	59

विषयाः	रष्टाङ्काः	विषयाः	पृष्ठाङ्काः
उष्णवातस्य छच्णम्	405	वातादिमेहानामुपद्रवाः	२१८
मूत्रसादरोगस्य "	<b>२</b> ०६	प्रमेहस्यासाध्यलक्णम्	33-
विड्विघातरोगस्य "	39	प्रकारान्तरेणासाध्यल <b>प</b> णम्	23.
बस्तिकुण्डलरोगस्य "	,,	मधुमेहस्य ल्इणम्	298
वातस्य दोषान्तरानुबन्धवशाद्		प्रमेहिप दकानिदानम्	250
विशेषळच्चणानि	300	सर्वासां प्रमेहिवडकानां छक्तणानि	229
षुतस्य साध्यासाध्यत्वम्	,,	विदकानामुत्वत्तौ कारणानि	२ <b>२</b> २
<b>कुण्ड</b> लीभूतस्यास्य ल <b>च</b> णम्	206	असाध्यविद्यानां छच्नणानि	>>
ऋश्मरीरोगनिदानम् ।		<b>पि</b> ढकानामुपद्रवाः	,,
अश्मरीरोगस्य विवरणम्	२०८	मेदोरोगनिदानम्।	
,, सम्प्राप्तिः	,,	मेदोरोगस्य हेतुसम्प्राप्तिल्खणानि	<b>२२</b> ३
अश्मर्यामनेकदोषाश्रयत्वम्	"	अतिस्थूललक्षणम्	278
अरमरीरोगस्य पूर्वरूपम्	,,	उदररोगनिदानम्।	
" सामान्यल्ज्णम	२०९	उदररोगस्य मुख्यं कारणम्	<b>२२</b> ४
वातजारमरीरोगस्य लच्चणम्	"		<b>२</b> २४
पेत्तिकारमरीरोगस्य ,,	530	***************************************	
कफजारमरीरोगस्य "	"	,, सामान्यक्ष्मणान ,, संख्यासम्प्राप्तिः	", ૨ <b>૨૬</b>
भासां बालेषु प्रायिकत्वम्	"	वातोदरस्य छत्त्रणानि	
युकारमर्याः सम्प्राप्तिः छच्नणं च	₹99	<del></del>	"
शकरारोगस्य छत्त्रणम्	"	कफोदरस्य ,,	२२७
,, सम्प्राप्तिः	٠,	सम्बिपातोदरस्य "	,,,,
<b>अर</b> मरीशर्करयोरुपद्रवाः	" २१२	प्लीहोदरस्य "	२२८
<b>अ</b> नयोरसाध्यलचणम्		अत्र दोषाणां सम्बन्धः	223
मेह-प्रमेहपिडकानिदानम्		बद्धगुदोद्रस्य छत्रणानि	,,
प्रमेहरोगस्य हेतुसप्राप्ती	₹₹	परिस्नाग्युदरस्य ,,	<b>\$</b> \$0
त्रिदोषजमेहानां क्रमेण सम्प्राप्तयः	515	जळोदरस्य "	,,
सर्वमेद्दानां दोषदूष्यसंग्रहः	538	उदररोगस्य साध्यासाध्यत्वम्	₹\$
प्रमेहस्य पूर्वरूपाणि	,,	साध्यानामप्यवस्थाविशेषेण	
"सामान्यल्जणम् श्लेष्मिकाणां दशमेहानां लच्चणानि	" १२१५	असाध्यस्बम्	,,
Anna territ	29 <b>8</b>	शोथनिदानम् ।	
	290	शोथस्य सम्प्राप्तिः	२३३
वातिकसहाना चतुर्गा ,,	`••		.,,

विषयाः	वृद्धाङ्काः	विषयाः	रहाइ।:
संस्थासम्प्राप्तः	238	कफजप्रन्थेः छच्चणानि	<b>3</b> 88
शोथरोगस्य पूर्वरूपाणि	<b>253</b>	मेदोजप्रन्थेः "	"
,, कारणानि	,,	सिराजप्रम्थेः "	**
" सामान्यलचणानि	"	अर्बुद्रोगस्य सम्प्राप्तः	२४५
वातजशोथस्य छत्त्रणानि	238	रक्तार्बुदस्य छत्त्रणानि	₹8€
पित्तजशोधस्य ,,	,,	मांसाबुँदसम्प्राप्तिः	"
कफजनोथस्य "	,,	अर्बुदस्य साध्यासाध्यत्वम्	"
द्र-त्रि-दोषजशोधस्य ,,	२३४	अध्यर्बुद्रोगस्य कत्रणम्	580
अभिघातजशोथस्य "	,,	अर्बुद्स्यापाके कारणानि	11
विषजशोथस्य ,,	**	श्ठीपदरोगनिदानम् ।	
शोथस्य स्थानानि	285	श्रीपदस्य संप्राप्तिः	२४७
" साध्यासाध्यत्वम्	11	वातजश्रीपदस्य छत्त्रणम्	586
वृद्धिरोगस्य निदानम	1	पित्तजश्रीपदस्य ,,	**
बृद्धिरोगस्य सम्प्राप्तिः	े २३७	कफजस्डीपदस्य "	11
., संख्यासम्प्राप्तिः	286	एषामसाध्यश्वम्	17
वातजादिमूत्रजान्त्र <b>मृ</b> द्धीनां	•	शीपदेषु कफस्य प्राधान्यम्	<b>२</b> ४ <b>९</b>
क्रमेण छत्त्वणानि	,,	श्ळीपदरोगस्योत्पत्तौ देशविशेषाः	"
अन्त्रबृद्धेर्रुचणानि	238	रछीपदरोगस्य पुनरप्यसाध्यस्यम्	, ,,
गत्नगण्ड-गराडमालाऽप	ची-	विद्रधिनिदानम्।	
ग्रन्थ्यर्युद्रोगाणां निदान		विद्विधिरोगस्य संप्राप्तिः	२४९
	. ५ <b>४७</b> ।	संस्यासम्प्राप्तिः	३,५०
गळगण्डरोगस्य निदानम् ,, सम्प्रक्षिः		वातजविद्वधेर्लज्ञणानि	"
•	31	विसजविद्ये ,,	11
वातिकगलगण्डस्य लच्चणम्	583 "	क्फजविद्धधे "	२४१
कफजगलगण्डस्य "		पाकानन्तरं संजातास्मवस्य छक्	गम् "
मेदोजगळगंडस्य ,,	"	साम्निपातिकविद्रभेर्छमणानि	11
गळगण् <b>डस्या</b> साध्यळचणानि गण्डमाळारोगस्य <b>ळच</b> णानि	<b>7</b> 87	अभिघातजविद्ये "	,,
शपचीरोगस्य छच्चणम्		रक्तजविद्वये "	298
अपचारागस्य छच्चन प्रस्थिरोगस्य निदानम्	ર <b>છ</b> ફ	अन्तर्विद्वधेर्ठचणानि "	99
आन्यरागस्य । नदानम् बातजप्रन्थेर्छम्णानि	"	बिद्धीनां द्वावमार्गाः	
पित्तज्ञप्रन्थेः ,,	588	साध्यासाध्यत्वञ्च	२१३

विषयाः	पृष्ठाङ्काः	विषयाः	पृष्ठा <b>द्वाः</b>
वणशोधनिदानम् ।		कोष्ठभेदस्य छत्त्रणम्	२६६
वणशोधस्य लच्चणम्	२४४	असाध्यकोष्ठभेदस्य "	२६७
,, वातादिभेदेन विशेषळचणानि	799	मांसशिरास्नाय्वस्थिसन्धिमर्मसु	
भामवणशोधस्य छन्नणानि	,,	जातानां चतानां सामान्यलक्ष	गनि,
पच्यमानवणशोथस्य "	,,	ममरहित्सिरादीनां विद्वलचणानि	ŧ,,
परिपक्कमणशोथस्य ,,	२५६	एषां मर्मविद्धानां छच्चणातिदेशः	३६९
पाककाले दोषाणां सम्बन्धः	२५७	मांसदतस्य उच्चणम्	"
निःशेषानिःसृतप्यस्य दोषः	,,	सर्वेषां व्रणानां सामान्योपद्रवाः	,,
वणस्यामपकादिज्ञानाज्ञाने		भग्नतिदानम् ।	
गुणदोषी	₹4=	भद्मस्य भेदाः	<b>२</b> ६९
शारीरव्रणनिदानम् ।		सन्धिभप्तस्य रुचणानि	200
वणस्य भेदाः	296	उत्पिष्टादीनां ,,	"
व्रणे दोषाणां सम्बन्धः	રષદ	काण्ड-भग्नस्य भेदा उच्चणानि च	<i>₹७</i> 9
व्रणानां साध्यासाध्यत्वम्	,,	,, नामानुसारि रुचणम्	,,
दुष्टवणस्य छच्णम्	२६०	,, कष्टसाध्यत्वम्	२७२
शुद्धवणस्य ,,	,,	,, असाध्यत्वम्	,,
रह्ममाणवणस्य ,,	,,	सर्वेषां भग्नानामनवधानादसाध्य	वम् "
सम्यमृदस्य "	२६१	अस्थिविशेषेण भग्नविशेषः	२७३
व्रणानां क्रब्ल्साध्यत्वस्	**	नाडीव्यर्गनदानम् ।	
व्रणानां गन्धविशेषेणासाष्यत्वम्	२६ <b>२</b>	नाडीव्रणस्य संप्राप्तिः	२७३
वणानामसाध्यलकणानि	"	नाडीशब्दस्य निरुक्तिः	,,
सद्योवणनिदानम् ।		नाडीव्रणस्य संख्या	₹७४
आगन्तुव्रणानी छत्त्रणानि	२६ <b>२</b>	वातजनाह्य। छच्णम्	,,
छित्रवणस्य छच्णम्	२६३	पित्तजनाडवा "	,,
भिष्णवणस्य छच्णम्	"	कफजनाड्या "	**
अवयवविशेषाणां कोष्ठसंज्ञा	"	त्रिदोषजनाडवा "	1)
कोष्ठस्था विकाराः विद्धपणस्य छत्रणम्	२६४ २६४	शरयजनादया ,,	२७१
		नाडीव्रणस्य साध्यासाध्यत्वम्	"
चतवणस्य ,, पिचितवणस्य ,,	" ₹ <b>६</b> ६	भगन्दरनिदानम् ।	
CONT.	"	भगन्दरस्य पूर्वरूपम्	399
www.Brauman		शतपोनकमगन्दरस्य छचणम्	ર હદ્
स्रश्चनमणस्य ,,	,,	· sent contract and sent and sent	

विषयाः	प्रहाङ्काः	विषयाः	<i>বিপ্তা</i> ক্সাঃ
परिस्नाविभगन्दरस्य छत्रणम्	२७६	तिलकालकस्य लच्चणम्	२८४
शम्बूकावर्तस्य "	२७७	पुष्वसाध्यरोगाणां नामानि	11
उन्मागिणो "	,,	कुष्ठरोगनिदानम् ।	
भगन्दरस्य साध्यासाध्यत्वम्	,,	कुष्टनिदानम्	**
,, असाध्यळचणानि	"	कुष्टरोगे दोषदृष्याणां संग्रहः	<b>3</b> 26
उपदंशनिदानम् ।		महाकुष्ठानां सप्त भेदः	२⊏६
उपदंशस्य कारणानि	२७८	कुष्ठस्य पूर्वरूपम्	19
वातिकोपदंशस्य लच्चणानि	,,	सप्तमहाकुष्ठानां छइणानि	,,
पैत्तिकोपदंशस्य "	39	एकादशच्चद्रकुष्ठानां "	966
रौधिरोपदंशस्य "	,,	वातजादिकुष्ठानां "	280
साञ्चिपातिकोपदंशस्य "	२७९	रसादिसस्थातुगतकुष्टानां "	"
असाध्योपदंशस्य छच्चणानि	,,	कुष्ठस्य साध्यादिभेदाः	<b>२</b> ९ <b>२</b>
ळिङ्गवरर्याख्यरोगस्य "	,,	कुष्ठेषु दोषाणां सम्बन्धः	13
शूकदोषनिदानम् ।		किलासकुष्टस्य लज्ञणम्	२९३
श्चकरोगस्योत्पश्चिकमः	260	अस्य साध्यासाध्यत्वम्	,,
सर्पविकाया छच्णम्	2=3	संकामकरोगाणामुपसंख्यानम्	२९४
अष्ठीलिकाया ,,	"	शीतपित्तीदुर्दकोठनिदान	<b>म्</b> ।
ग्रथितस्य "	,,	शीतिपत्तरोगस्य संप्राप्तिः	**
कुश्भिकाया "	"	,, पूर्वरूपाणि	294
अळज्या "	"	उद्देशगस्य लक्षणानि	,,
मृद्दितस्य "	>>	कोठरोगस्य उच्चणानि	२९६
संमृढविडकाया "	٠,		
अधिमन्थस्य "	२८२	श्रम्लिपत्तनिदानम्।	
पुष्करिकाया "	,,	अम्छिवतस्य सहेतुकं स्वरूपम्	33
स्पर्शहान्याख्यशुकरोगस्य,,	,,	" छत्त्रगानि	77
उत्तमाया "	"	अधोगताम्छपित्तस्य छत्तृणानि	280
शतपोनकस्य ,,	79	ऊर्ध्वरामिनोऽम्कपित्तस्य "	"
स्वक्पाकस्य "	25	अग्लिपतस्य साध्यासाध्यत्वम्	२१८
शोणितार्बुदस्य "	11	अत्र वातश्चेष्मणोः सम्बन्धः	300
मांसार्डुदस्य ,,	,,	कफवित्तरोगस्य छत्तणम्	२९९
मांसपाकस्य "	, 19	विसर्परोगनिदानम्।	
विद्रभ्यास्य शुकरोगस्य "	, ,,	विसर्परीगस्य हेतवो भेदाध	19

बिषयाः प्र	श्रद्धाः	विषयाः	प्रशाहाः
विसर्पाणां समुत्वचौ दोषदूष्य-		यवप्रस्याया लक्षणम्	828
सम्बन्धस्तरुष्ठचणानि च	Boo	अन्त्राह्याः ,,	,,
अग्निविसर्पस्य छत्त्रणानि	,,	विद्युताया ,,	818
ब्रन्थिविसर्पस्य ,,	308	कच्छपिकाया ,,	"
कर्दमविसर्पस्य ,,	,,	वरमीकस्य "	,,
चत्रविसर्पस्य "	<b>३</b> ०३	इन्द्रविद्वाया "	<b>३</b> 99
विसर्पस्य साध्यासाध्यत्वम्	308	गर्दभिकाया "	"
विस्फोटनिदानम् ।		पाषाणगर्दभस्य "	"
विश्फोटकरोगस्य हेतवः	3)	पनसिकाया "	"
विस्फोटकानां छत्त्रणानि	804	जालगर्दभस्य ,,	388
साम्निपातिकविस्कोटकस्य छत्त्रणानि		इरिवेरिछकाया छच्चणम्	19.
रक्तजविस्फोटकस्य छत्तृणानि	,,	कत्ताया छच्चणम्	"
विस्फोटानां साध्यासाध्यत्वम्	"	गन्धमालाया छच्चणम्	19-
,, उपद्रवाः	"	अग्निरोहिस्थीरोगस्य छत्त्रणम्	399
मसुरिकानिदानम्।		चिष्पारुयरोगस्य छत्त्रणम्	"
मसुरिकारोगस्य निदानपूर्विका		अनुश्रयिरोगस्य उत्तणम्	"
संप्राक्षि	३०७	विदारीरोगस्य छत्त्वाम्	396
मस्रिकायाः पूर्वरूपाणि	"	शर्करास्यच्चद्ररोगस्य छच्चणम्	13
वातजमसूरिकाया लज्ञणानि	"	पाददार्या छत्तणम्	"
पित्तजमस्रिकाया ,, .	३०४	कदरस्य लच्चणम्	318
रक्तजमसूरिकाया "	,,	अलसस्य छत्तणम्	**
कफजमसुरिकाया छत्रणानि	"	इन्दलुप्तस्य छत्त्रणम्	,,
साश्चिपातिकमसूरिकाया "	३०९	दारुणकस्य छत्रणम्	340
रोमान्तिकाया "	. ,,	अरूषिकाया छत्त्रगम्	"
रसादिसस्थातुगतमसूरिकाणां "	,,	पछितस्य छत्त्रणम्	**
सुखसाध्यमसूरिकाणां निर्देशः	833	युवानपिडकाया लच्चणम्	<b>2</b> 25
असाध्यमस्रिकाणां छच्चणानि	Ŧ.,	पश्चिनीकण्टकस्य छत्त्रणम्	**
सर्वासां मसुरिकाणामावस्थिक ,,	३१२	जतुमणेर्जचणम्	,,
मस्रिकायाः सामान्यासाध्यळक्ष	۰,,	सषकस्य छत्त्रणम्	"
मस्रिकाया उपद्रवाः	"	तिलकालकस्य लक्षणम्	<b>३</b> २२
क्षुद्ररोगनिदानम्।		न्यब्द्रस्य छत्त्रणम्	17
अजग्राह्यकारोगस्य छत्रणम्	292	स्यङ्गस्य <b>छच्</b> णम्	19

विषया:	प्रवाह्यः	। विषयाः	पृष्ठा <b>ङ्काः</b>
नीलिकाया उत्तणम्	325	क्रिमिद्न्तकस्य छत्रणम्	331
परिवर्त्तिकाया छत्त्रणम्	,,	भक्षनकस्य छन्नणम्	3 <b>3</b> 3
अवपाटिकाया लक्षणम्	\$8\$	दम्तहर्षस्य छत्त्रणम्	39
निरुद्धप्रकशस्य छत्त्रणम्	318	दन्तशर्कराया छत्त्रणम्	29 -
सम्बद्धगुद्दय छत्त्रणम्	"	कपाछिकाया उत्तणम्	३ <b>३६</b>
अहिपूतनस्य लज्ञणम्	,,	श्यावदन्तस्य छत्त्रणम्	"
<b>बृ</b> षणक•छ्वा उत्तणम्	8:4	दन्तविद्रधेर्लंचणम्	19
गुद्भाशस्य छत्त्रणम्	39	जिह्नारोगाणां लचणानि	**
शूकरदंड़कस्य छत्तणम्	,,	अष्ठासरोगस्य छत्त्रणम्	<b>\$</b> 38
		उपजिह्वाया स्वणम्	,,
मुखरोगनिदानम् ।		कण्ठशुण्ड्या लक्षणम्	,,
मुखरोगस्य हेतवः	३२६	तुण्डिकेयां उत्तणम्	389
वातजीष्ठरोगस्य छत्तणम्	,,,	अधुषस्य छन्नणम्	,,
पैत्तिकौष्टरोगस्य लचणम्	19	कष्छपस्य लच्चणम्	**
कफजीध्दरोगस्य टक्तणम्	,,	तात्वबुंदस्य लचणम्	33.
त्रिदोषजीष्ठरोगस्य लच्चणम्	३२७	तालुपुप्पुटस्य रुज्ञणम्	₹ <b>8</b> €
रक्तजीष्ठरोगस्य रुक्तणम्	,,	रो हणीरोगस्य सप्राप्तः	99
मेदोजीष्ठरोगस्य लक्षणम्	"	वातजादिरोहिणीनां छत्रणम्	३३७
भभिषातजौष्ठरोगस्य लच्चणम्	324	कण्ठशालकस्य लचणम्	,,
शीतादस्य छत्त्रणम्	33	अधिजिह्नकस्य छत्त्रणम्	386
दन्तपुष्पुटकस्य लक्षणम्	३२१	वलयस्य लज्ञणम्	,,
ब्न्तवेष्टस्य छत्त्रणम्	• ,,	बळास्स्य लच्चणम्	13
शौषिरस्य छत्त्रणम्	,,	एकवृन्दस्य छचणम्	31
महाशोषिरस्य छत्त्रणम्	,,	बृन्दस्य लक्षणम्	338
परिदरस्य छत्रणम्	99	शतझीरोगस्य छत्तणम्	,,
उपकुशस्य छत्तणम्	\$ <b>80</b>	गळायुरोगस्य ळचणम्	"
वैदर्भस्य लच्चणम्	,,	गळविद्रथेळॅचणम्	"
खिळवर्द्धनस्य छत्रणम्	"	गडौबस्य छक्षणम्	\$80
करालस्य लज्ञणम्	19	स्वरप्रस्य छच्णम्	**
अधिमांसकस्य लचणम्	333	मसितानस्य छचणम्	39
दन्तनाडीनां छडणम्	"	विदायों कचणम्	583
दालनस्य छत्रणम्	"	सर्वसरस्य छत्रणम्	15

विषयाः	पृष्ठाङ्काः	विषयाः	प्रशहाः
असाध्यमुखरोगाणां छत्त्रणानि	385	नासास्रावस्य छत्त्रणम्	341
कर्णशेगनिदानम्।	•	नासाशोषस्य उत्तणम्	•
कर्णशुरुस्य लच्चणम्	<b>\$85</b>	भामपकपीनसयोर्छज्ञणम्	" 34₹
कर्णनादस्य लक्षणम्	383	प्रतिश्यायरोगस्य संप्राप्तिः	<b>3</b> 98
बाधियस्य छद्मणम्		,, पूर्वरूपाणि	
कर्णववेडस्य लचगम्	"	वातजादिपतिश्यायानां लच्चणानि	"
कर्णसावस्य छत्त्रणम्	"	साम्बिपातिकप्रतिश्यायस्यळज्ञ०	₹48
कर्णकण्ड्यादिरोगाणां छत्त्वणानि	<i>388</i>	दुष्टप्रतिश्यायस्य लक्त्रगम्	1,
कर्णपतिनाहस्य छत्त्वम्	•	रक्तजपतिश्यायस्य टक्कम्	399
क्रिमिकर्णकस्य छत्त्रणानि	,,	असाध्यप्रतिश्यायस्य लचणम्	,,
कर्णप्रविष्टकीटानां छत्त्रणानि	इ४५	प्रमुद्धप्रतिश्यायानां विकासन्तर-	•
कर्णविद्येशेर्रुज्ञानि	91	कर्तृत्वम्	244
कर्णपाकस्य छत्त्रणम्	"	अन्येऽपि नासारोगाः	99
पुतिकर्णस्य छत्त्रणम्	<b>3</b> 88	नेत्ररोगाणां निदानम्	
कर्णशोथ-कर्णार्जुद-कर्णार्शयां	39	नेत्ररोगस्य हेतवः	296
<b>ल्यानि</b>	"	अभिष्यन्दरोगस्य प्रकाराः	340
चरकोक्तकर्णरोगचनुष्टस्य लक्षणानि	, r	वाताभिष्यन्दस्य छत्त्रणम्	"
परिपोटकस्य छत्त्रणम्	\$80	पैत्तिकाभिष्यन्दस्य उत्तरम्	,,,
उत्पातस्य छत्त्रणम्	,,	श्लेष्मकाभिष्यन्दस्य उत्तरम्	39=
उन्मन्यक-दुःखवर्धनयोर्ल्जणानि	"	अधिमन्थस्य निदानम्	"
परिलेहिनो छच्चयम्	<b>3</b> 82	अथास्य उच्चणान्तरम्	17
नासारोगनिदानम् ।	•	अथात्र दोषभेदेन काळाविधः	३५१
		सामनेत्ररोगस्य छत्त्रणम्	"
पीनसरोगस्य छत्त्वणम्	588	निरामनेत्ररोगस्य छत्तणम्	39
पूतिनस्यस्य छत्त्वम्	388	सशोधान्त्रिपाकस्य उत्तरम्	३्६०
नासापाकस्य छत्तणम्	"	हताधिमन्यस्य लच्चणम्	"
प्यरकस्य छत्रणम्	» »	वातपर्ययस्य लचगम्	३ <b>६ १</b>
च्चवथुरोगस्य छच्चणम् आगन्तुजच्चवथोर्जचणम्	३५●	शुक्काचिपाकस्य छच्चणम्	33
अंशथुरोगस्य छत्त्वणम्	"	अन्यतो वातस्य लचणम् अम्लाध्युषितस्य लचणम्	33
दीष्ठस्य <b>छत्त्रणम्</b>	,, इ <b>१</b> ३	सरोत्पातस्य छन्नणम् सरोत्पातस्य छन्नणम्	" 3 <b>६</b> २
प्रतीनःहस्य छच्चणम्		सिराप्रहर्षस्य छन्नणम्	•
attended a said	19	MILIAGACA CONTRA	"

विषयाः	प्रष्ठा 🖀 :	विषयाः	रष्टा 🕿 ।
सवणशुक्तस्य छत्त्रणम्	<b>३</b> ६२	रक्तामंणो छचणम्	201
" साध्यासाध्यत्वम्	263	अधिमांसार्मणो छच्चणम्	,
अवणशुक्कस्य लच्चणम्	"	स्राय्वर्मणो छत्रणम्	*
" कृच्छसाध्यत्वम्	.,	शुक्तिरोगस्य छच्चणम्	91
अथास्यासाध्यळच्चणानि	<b>३६</b> ४	अर्जुनस्य छच्चणम्	3:
अधिपाकास्ययस्य लच्चणम्	,,	विष्टकस्य छच्चणम्	,
अजकाजातस्य छत्त्राम्	,,	जाळास्यनेत्ररोगस्य ळचणम्	३७०
प्रथमपटलस्थदोषाणां लक्त्रजानि	<b>३६</b> ५	सिराजपिडकाया छच्चणम्	,
द्वितीयपटलस्थदोषस्य लच्चणम्	19	बलासप्रथितस्य लक्तणम्	9:
तृतीयपटलगतदोषस्य लक्षणम्	<b>३६</b> ६	पूयाळसस्य छन्नणम्	,
अथान्येऽपि इष्टिविकाराः	**	श्चेष्मोपनाहस्य लच्चणम्	808
चतुर्थपरलगतदोषस्य लक्षमानि	३६७	चतुर्णी सावाणां छच्नणानि	,
तस्यैव छिङ्गनाशस्य नामान्तरम्	99	प्यास्नावस्य लक्षणम्	9:
दोषभेदाद विचित्ररूपदर्शनम्	,,	कफलावस्य छक्णम्	31
परिम्छायिसंज्ञकतिमिरस्य		रक्तस्रावस्य उच्चणम्	· ·
<b>रुच्चणम्</b>	3,60	जलसावस्य लच्चणम्	300
तिमिरस्य षाष्ट्विध्यम्	8्द ९	पर्वणीरोगस्य छच्चणम्	•
वातादिरोगोहेशः	,,	अलजीरोगस्य लच्चणम्	,
वातिकरागस्येव वैशिष्टयम्	"	क्रिमिग्रन्थेर्छक्षणम्	
परिम्लायितिमिरस्य विशेष-		उत्सङ्गविडकाया लच्चणम्	; 304
् <del>छत्त</del> ुगानि	, ,,	कुरभीकाया छत्तणम्	,
लिङ्गनाशस्य विशिष्टलचणानि	् ३७०	वोधकीनां छच्चणम्	
<िहारोगाणां प्रिगणनम्	39	वर्भशकेंशया छच्णम्	,
वित्तविद्य <b>ध्रष्टेश्चणानि</b>	\$ <b>9 3</b>	अशीवस्मनो छच्चणम्	20 <b>9</b>
<b>श्चे</b> र्माबद्यघ <b>र</b> ध्टेर्ज्जणानि	"	शुकार्शील्यणम्	•
धूमदर्शिनो लचगानि	33		,
हरवजाड्यरोगस्य लक्तणम्	\$ 0.5	अञ्जननामिकाया छत्त्रणम्	,
नकुलान्ध्यरोगस्य लक्षणम्	99	बहुलवर्सनो छच्चणम्	9/3
गम्भीरिकाया छचणम्	"	वरमेंबन्धनस्य छ <b>च</b> णम्	\$C:
आगन्तुजलिङ्गनाशस्य लच्चणानि	"	क्किष्टवर्श्मनो लच्चणम्	91
अमरोगस्य पञ्चभेदास्तत्र		वर्श्मकर्दमस्य छत्तणम्	99
प्रस्तार्यमेणो छचणानि	इ७इ	श्याववर्गनो छचणम्	19
<b>ग्रह</b> ार्मणो क्र <b>प</b> णस्	"	प्रक्रियवर्सनो छच्चमम्	**

विषयाः	प्रशाक्काः	विषयाः	प्र <u>वाक्</u> याः
अपरिक्किसवर्सनो छत्रणम्	161	वातिकानामुद्दावर्तादियोनि-	
वातहतवर्सानो छन्नणम्	**	<b>ब्यापत्तीनां</b> छत्त्वणानि	<b>३</b> ९१
<b>अ</b> र्बुद्स्य लक्षणम्	19	रक्तज्ञवादीनां पैत्तिकव्यापत्तीनां	
निमेषस्य लचणम्	**	<b>छत्त्</b> णानि	३१२
शोणिताशंसो छचणम्	इदर	अत्यानन्दादिश्चष्मिकयोनिन्या-	
स्राणस्य स्वणम्	99	पदां उच्चणानि	"
विसवस्मैंनो <b>छच</b> णम्	,,	षण्डवादिसाश्चिपातिकव्याप <b>दां</b>	
कुञ्चनस्य छत्त्रणम्	808	<b>ल्ज्</b> णानि	३९३
पचमकोपस्य छंसणम्	,,	योनिकन्दनिदानम्।	
पचमशातस्य छत्तणम्	۱ ,	योनिकन्दस्य सम्प्राप्तिः	<b>ર૧</b> ૪
शिरोरोगनिदानम् ।	:	वातजादिभेदेनास्य लच्चणानि	* 10
शिरोरोगस्य भेदाः	\$58	मूढगर्भनिदानम् ।	
वातिकशिरोरोगस्य छत्तणम्	"		
पैत्तिकशिरोगस्य छत्रणम्	"	गभैपातस्य निदानपूर्विका सम्प्रा	सः ३६५
श्कृष्मिकशिरोगस्य छत्त्रगम्	इ८४	गर्भविद्ववपातयोः कालभेदान्नेदः	33
साम्निपातिकशिरोगस्य लच्चणम्	,,	गर्भस्याकाळपाते सहेतुकं निदर्श	नम् "
रक्तप्रशिरोगस्य छत्त्वणम्	,,	मूटगर्भस्य निदानम्	"
चयजिशरोरोगस्य लच्चणम्	,,	मूढगभंस्याष्टी गतवः	३१६
किमिजशिरोगस्य छच्लम्	366	सकीलकादीनां लच्चणानि	380
सूर्यावर्तरोगस्य छचणम्	,,	असाध्य-मूहगर्भ-गर्भिण्योर्छन्नणं	,,
अनन्तवातिकारोगस्य सम्णम्	<b>७</b> ८६	मृत्गर्भस्य छत्तणम्	३९८
अर्घावभेदकस्य छत्त्णम्	,,	गर्भस्य मरणकारणानि	3)
शङ्ककस्य लचणानि	<b>8</b> ==	गिभण्या अपराण्यप्यसाध्यः	17
श्र <b>स्</b> ग्दरनिदानम् ।		<b>उन्न</b> णानि	33
प्रदररोगस्य सम्प्राप्तिः	300	मकत्त्ररोगस्य उच्चणम्	"
,, सामान्यङचणम्	369	स्तिकारोगनिदानम् ।	
<b>अतिप्रवृत्तस्यार्तवस्योपद्रवाः</b>	,,	सुतिकारोगस्य छत्रणम्	३९९
प्रदरस्य विशेषछत्त्रणानि	,,	" हेतवः	,,
विशुद्धार्तवस्य रुचणम्	360	स्तनरोगनिदानम्।	
योनिव्यापन्निदानम् ।	İ	स्तनरोगस्य संप्राप्तिः	800
योनिष्यापद्रोगस्य हेतवः	3 <b>3</b> 8	अस्यातिदेशिकं लच्चणम्	"
•		•	

विषयाः	वहाद्धाः ।	विषयाः	प्रहाहः
स्तन्यदुष्टिनिद्।नम्		सर्पाणां कतिचित्रेदाः	833
स्तन्यदुष्टेः सम्प्राप्तिः	800	सर्पदंशेषु वातादीनां छत्तजानि	815
,, रुचाणानि	803	विशिष्टदेशादिषु दृष्टस्यासाध्य-	
विशुद्धस्तन्यस्य छत्तृणानि	,,	<b>ल्ज्ञ्</b> णानि	,,
बा <b>ल</b> रोगनिदानम् ।	"	फणिविषस्य काळवद्यादाशुचातित्व	म्,
वातादिदुष्टस्तन्यपानाज्ञातानां		अपराज्यप्यसाध्यक्षचणानि	,,
बाळरोगाणां छत्त्रणानि	४०३	सर्पंदष्टस्य सर्वथा वर्जनीय-	
वक्तमशकशिशोर्वेदनाविज्ञानम्		<b>ल्यानि</b>	865
कक्णकरोगस्य उत्तणम्	४०इ "	दूषीविषसंज्ञा	818
पारिगर्भिकस्य छत्त्रणानि	-	दूषीविषस्य लच्चणानि	,,
तालुकण्टकस्य छत्त्रणानि	gog "	एतस्य स्थानविशेषस्थित्या	
महापद्मविसर्पस्य उच्चणानि	,,	विशिष्टल्सणानि	836
अजगरूर्यहरूतनयोबीलकेषु	"	रसादिधातुगतदूषीविषस्य	
प्रभाववश्वम्	,,	<b>ल्ह्मणानि</b>	,,
अन्येषामपि रोगाणां बालकेष्वः		नानाविधविषस्यानेकविकारः	
तिदेशः	809	कर्तृत्वम्	838
स्कन्दादिबालप्रहगृहीताना <u>ं</u>		दूषीविषशब्दस्य निरुक्तिः	,,
शिशूनां सामान्यल्ज्णानि	,,	कृत्रिमविषस्य छत्त्रणानि	,,
एपां विशेषङचगानि	४०६	ळूतानामुत्पत्तिः	830
स्कन्दापस्मारस्य लज्ञणानि	,,	ऌतादंशस्य सामान्यलचणानि	,,
शकुनीप्रहृगृहीतस्य शिशो-		द्षीविषाख्यस्तानां दंशस्त्रणानि	886
र्लचणानि	73	प्राणहरॡतानां दंश <b>लच</b> णानि	,,
रेवत्यादिबालप्रहगृहीतानां		आखुदूषीविषस्य छत्त्रणानि	,,
शिश्नां उच्चणानि	800	प्राणहरम्पकविषस्य छच्चणानि	886
विषरोगनिदानम् ।		कृक्छासदृष्टस्य छत्त्रणम्	**
विषस्य द्वैविध्यम्	800	बृश्चिकविपस्य छत्त्रणानि	,,
जङ्गमविषस्य सामान्यलक्षणम्	,,	कणभदृष्टस्य छच्चणानि	,,
स्थावरविषस्य सामान्यलक्णम्	806	उच्चिटिङ्गदष्टस्य छत्त्रणम्	"
विषदातुः पुरुषस्य लच्चणम्	,,	सविषमण्ड्कदष्टस्य छत्रणम्	**
मूळादिविषाणां ठचणानि	830	मत्स्यविष्ठज्ञणम्	,,
विषाक्षशस्त्राचातस्य ल्याना	92	गृहगोधिकादष्टस्य उत्तणम्	853
विषयीतस्य छत्रणम्	811	शतपदीदष्टस्य ळज्जम्	,

### ( २० )

विषयाः	प्रहा <b>ड</b> ाः	, विषयाः	पृष्ठाङ्काः
मश्चक्दष्टस्य छत्त्रणम् सविषमात्रकादष्टस्य छत्त्रणम् नखदन्तयोः सामान्यविष- छत्त्रणम् ध्याघ्रादिहिस्रजन्तुनां विषछत्त्रणानि अळकोदिदण्टस्य मरणचिह्नानि	४ <b>२१</b> " " " १ ४२२ "	माध्यनिदानस्य स्रायुकनिदानम् फिरक्रनिदानम् सोमरोगस्य निदानम् श्रीत्छानिदानम्	કરફ ઇર <b>૬</b> ઇ <b>ર</b> ૦
निर्विषमनुष्यस्य छत्त्रणानि विषयानुकमणिका प्रन्थकारस्यान्तिमं निवेदनम्	<b>४२३</b> "	वातरोगनामानि पित्तरोगनामानि कफरोगनामानि	8 <b>54</b> 8 <b>54</b>

# शांतिस्थानम्— चौखम्बा-संस्कृत-पुस्तकालय, बनारस—१

### श्री रोगविनिश्रयः

# माधव-निदानम्

पश्चलक्षणिनदानम् । प्रसम्य जगदुत्पत्तिस्थितिसंहारकारसम् । स्वर्गापवर्गयोद्वीरं त्रैलोक्यशरणं शिवम् ॥ १ ॥ नानाम्रुनोनां वचनैरिदानीं समासतः सद्भिषजा नियोगात् । सोपद्रवारिष्टनिदानलिङ्गो निवध्यते रोगविनिश्रयोज्यम् ॥ २ ॥

श्रर्थ-में (माधवाचार्य) संसार की उत्पत्ति, पालन-पोषण तथा वि-नाश के कारण, सुख और मोत्त के प्रदाता तीनों लोकों मे व्यापक भग-वान् शंकर (परमेश्वर) को प्रणाम करके अनेक महर्षियों (चरक, सु-श्रुत तथा वाग्मट आदि) के कथनानुसार, माननीय चिकित्सकों की आज्ञा से सब संत्रेप में उपद्रवें, अरिष्टं, निदान एवं लिंग से युक्त इस "रोगविनिश्चय" नामक प्रन्थ की रचना (संग्रह् ) करता हूं।

वक्तव्य—प्रायः प्रत्येक लेखक को अपने प्रन्थ के, लोगों द्वारा आहित एवं प्रमाणित होने में सन्देह रहता है, अतएव माननीय माधव जी ने "नानामुनीनां वचनैः" के द्वारा सूचित कर दिया है कि यह प्रन्थ

<sup>9-&</sup>quot;त्रैलोक्यशरणं", "शरणं गृहरक्षित्रोः" "इत्यमरः" के श्रनुसार तीनों लोकों में है घर जिसका या तीनों लोकों का जो घर है ऋर्यात सर्वव्यापकम् ।

२-- श्रथवा इदमेव कर्तव्यमिति नियोगः-- सु० उ० त० श्र० ६५ के श्रनुसार।

२—रोगारम्भकदोषप्रकोपजन्योऽन्यविकार उपद्रवः ऋर्यात् रोगोत्पादक दोष के प्रकोप से उत्पन्न होने वाला कोई श्रौर रोग "उपद्रव" कहलाता है।

४—निश्चित काल में या श्रवरयं—भावी मृत्यु का सूचक लक्षण "श्रिरिष्ट" कहलाता है। ५ —रीगोत्पादक हेतु को "निदान" कहते हैं।

६—रोग ख्यापक पूर्वरूपादि को "हिंग" कहते हैं।

मेरे मन की कोरी कल्पना नहीं है; अपितु अद्भेय चरक-सुश्रुत आदि महषियों के वाक्यों का संग्रह मात्र हैं। "इदानी" शब्द से स्पष्ट ज्ञात होता
है कि इसके पूर्व इस प्रकार का कोई संगृहीत ग्रन्थ नहीं था। यही
कारणा है कि सम्पूर्ण भारत के विद्वानों ने ही इसका अपूर्व आदर नहीं
किया, अपितु विदेशियों ने भी इस पर मुग्ध होकर अपनी भाषा में
इसका अनुवाद करके लाभ उठाया है। और इस प्रन्थ पर अनेक
भाष्य एवं टीका टिप्पणियों के अतिरिक्त घर र में इसका प्रचार ही
इसकी उत्तमता का ज्वलन्त उदाहरण है। इस पुस्तक का वास्तविक नाम
"रोग विनिश्चय" है "माधवनिदान" तो केवल प्रन्थकर्ता के प्रति सम्मान
एवं कृतज्ञता प्रकट करने के लिये इसारे पूर्वजों द्वारा चलाया हुआ
नामान्तर है। यही वात अन्यान्य प्रन्थों के नामकरण के विषय में
देखी जाती है।

नानातन्त्रविहीनानां भिषजामल्पमेथसाम् ।

सुखं विज्ञातुमातङ्कमयमेव भविष्यति ॥ ३ ॥

ऋर्य-अनेक तन्त्रों द्यर्थात् चरकादि संहिताओं के ज्ञान से विहीन अत एव अल्प बुद्धिवाले वैद्यों को सरलता से रोगों का ज्ञान कराने के लिये यही प्रन्थ सहायक होगा।

वक्तव्य—उपर्युक्त तीनों स्होकों द्वारा नमस्कार, वस्तु-निर्देश एवं ड्या-शीर्वादात्मक मंगलाचरण द्वारा शिष्टाचार की प्रणाली का पालन भी किया गया है ।

निदानं पूर्वरूपाणि रूपाण्युपशयस्तथा ।

. संप्राप्तिश्चेति विज्ञानं रोगाणां पश्चधा स्मृतम् ॥ ४ ॥

अर्थ-निदान, पूर्वरूप, रूप, उपशय एवं संप्राप्ति यह रोगों का नि-अय करने के पांच उपाय या साधन हैं।

वक्तव्य—ये पांचों ही पृथक् २ एवं सब मिलकर रोग जानने के साधन हैं। निदान—जिस से रोगकी उत्पत्ति होती है। पूर्वरूप— भावी रोग का सूचक लज्ञ्या। रूप—वर्त्तमान रोग का निश्चायक लज्ञ्या। उपशय—गृद्ध या अनिश्चित रोग का परिचायक उपाय जो कि केवल

उस रोग के लच्च्णों को ध्यान में रख कर किया जाता है। स्मरण् रिखये कि उपशय तथा चिकित्सा में यही थोड़ा सा भेद है। अर्थात् चिकित्सा निश्चित रोग की निष्टृत्ति के उपाय का नाम है। अर्थात् चिकित्सा निश्चित रोग की निष्टृत्ति के उपाय का नाम है। अर्थात् उपशय को रोगज्ञान के उपायों में गिना है सुखप्रद देश एवं काल को भी उपशय में गिन लेना चाहिये। यथा—यहमा के लिये पावत्य (पहाड़ी देश) प्रदेश या रक्त रोगों के लिये मरु देश एवं रक्त पित्त के लिये शीत काल या श्वास के लिये उष्ण काल। इसे रोगी ही वैद्य के पास आकर कहा करता है कि अमुक अमुक औषध आदि से मुझे आराम मिलता है। बस वैद्य को इतने ही से रोग विनिश्चय में सहायता मिल जाती है। सम्प्राप्ति—रोग को उत्पत्ति का प्रकार, प्रत्येक रोग की उत्पत्ति का प्रकार मिन्न—सिन्न होता है, यही कारण है कि केवल तीन ही दोषों से अनेक रोग उत्पन्न होती है।

निमित्तहेत्वायतनपत्ययोत्थानकारणैः।

निदानमाहुः पर्यायैः,—

अर्थ—निमित्त, हेतु, आयतन, प्रत्यय, उत्थान एवं कारण् ये सब निदान के पर्याय या नामान्तर हैं।

वक्तत्य - निमित्त—राकुन अर्थात् अपराकुन । हेतु—प्रयोजक कर्ता या प्रेरक जैसे पाएडु रोग में दोषों को प्रेरित करने वाली मृत्तिका या मिट्टी । आयतन—स्थान जैसे उड़ीसा की भूमि रक्त विकारों को कर देती है अथवा प्रयत्न या साहस जिस से उर जत हो जाता है। प्रत्यय—विश्वास इस से भी रोग हो जाते हैं जैसे—विषवेग । उत्थान-उद्गम अथवा उत्सर्ग दोषों धातुश्रों एवं मलों का उभरना जैसे शीत-पित्त या रक्तपित्ती में ज्ञण भर के लिये रक्त का उबाल या विषम उबरों या अन्यान्य वेगवान् (दौरे वाले) रोगों का वेग होना अथवा उक्त दोष धातु मलों का उभर कर (उत्थाय) रक्त जाना (स्थानं ष्टागति-निवृत्ती धातु ) इस से उदावत्त हो जाता है । कारण्—अभिधातादि । इस प्रकार ये शब्द भिन्न-भिन्न अथों के वाचक होते हुए भी रोगोत्पा-दक होने के कारण परस्पर पर्याय हैं और साथ ही भिन्न-भिन्न प्रकार के हेत होने के सचक भी हैं।

## —पाग्रूपं येन लक्ष्यते ॥ ५ ॥ टोषविशेषेणानधिष्ठितः ।

उत्पित्सुरामयो दोषविशेषेणानिधिष्ठितः।

लिङ्गमन्यक्तमल्पत्वाद्वचाधीनां तद्यथायथम् ॥ ६ ॥

त्रर्थ—िकसी दोष विशेष से थोड़ा सम्बन्ध रखने वाला उत्पित्स त्रर्थात भावी रोग जिस लत्त्रण से जाना जाता है उसे प्राप्नृप या पूर्वरूप कहते हैं। त्रथवा व्याधि के त्राल्प (क्रम वा कुछ प्रकट) होने के कार्ण उस के त्रपने ठीक ठीक न प्रकट हुए लत्त्रण भी पूर्वरूप

कहे जाते हैं।

बक्तव्य—भावि व्याधि बोधकं लिंगं पूर्वरूपं, तथा पूर्वरूपं प्रागुत्प-तिलक्षणं व्याधे: (चरक) इन दोनों वाक्यों को भली भांति हृदय में बैटा लेना चाहिये। "प्रामुण्यास्या मिटिटाः" पर्यन्त उस पूर्वरूप का वर्णन हैं जो रूपावस्था में निश्चित रूप से नहीं रहता जैसे ऋतिसार का पूर्वरूप 'विट्संग" ( नलावरोध ) रूपावस्था ( मलिनःसरण् ) के समय नहीं रहता तथा "लिंगाय्यथयम्" पर्यन्त उस पूर्वरूप का वर्णन है जो पूर्णतया व्यक्त हो कर "रूप" कहलाता है जैसे "अव्यक्तं लक्षणं तस्य पूर्वरूपिमित स्मृतम्" (उरःच्त ) इत्यादि । तात्पर्य यह है कि कुछ पूर्वरूप व्याधि के प्रकट होने पर शान्त हो जाते हैं और कुछ श्रीर भी बलवान् होकर रूप बन जाते हैं।

तदेव व्यक्ततां यातं रूपामत्यभिधीयते ।

संस्थानं व्यञ्जनं लिङ्गं लक्षणं चिह्नमाकृति: ॥ ७ ॥

श्रर्थ—वही ( श्रल्प होने के कारण व्याधि का श्रपना रूप) पूर्वरूप पूर्णतया प्रकट होकर "रूपें" कहलाता है। संस्थान, व्यञ्जन, लिंग, लज्त्या, चिह्न, एवं श्राकृति उस ( रूप ) के पर्याय हैं।

१—यह स्मरण रिखये कि पूर्वरूप ही व्यक्त होकर "रूप" होता है इतना नहीं; श्रिपितु कुछ नवीन एवं पूर्वरूप के सर्वथा निरुद्ध भी लक्षण उत्पन्न होते हैं। ज्वर के पूर्वरूप में ज्वर या सन्ताप नहीं पढ़ा गया है एवं श्रितसार में "विट्सून के विरुद्ध विट्सूस के वि

वक्तव्य-संस्थान-सन्निवेश श्रर्थात् स्थान विशेष से रोग की विवे-चना करना जैसे हृदयशूल, वस्तिशूल श्रथवा श्रामाशयशूल । व्यञ्जन--विशिष्ट व्यक्तित्व जैसे ज्वर में सन्ताप, गुल्म में गोला ऋथवा ऋश्मरो में पथरी इत्यादि । अर्थात् रोग का विशिष्ट लज्ञ्ण । लिंग-जिसका अनु-भव रोगी ही को होता है दूसरे लोग केवल उसके कथनानुसार उसका अनुमान ही करते हैं जैसे वेदना, कएडू एवं शूल इत्यादि । लच्चण-सहयोगी लुचाए जो कि मूल व्याधि के साथ साथ रहते हैं। इन सबका रहना आवश्यक नहीं है जैसे विसूची में मुरुर्झा इत्यादि एवं सब लच्चण तब ही उत्पन्न होते हैं जब रोग श्रसाध्य हो जाता है। चिह्न-( चह-परिकल्कने "धातु" भिन्न-भिन्न प्रकार की ध्वनियां जैसे अन्त्रकृजन अर्थात् अति हों में कुलल कुलल शब्द होना या "कपोत इव कूजें ।" त्रपतन्त्रक में । त्राकृति—त्राकार जैसे कापालकृष्ट या मण्डलकृष्ट अथवा शतपोनक भगन्दर या उट्टमीव भगन्दर अर्थात् जिसे नेत्र द्वारा प्रत्यन्त कर लिया जा सकता है । इन प्रकारों से रोग का जो निरूपण होता है उसे "रूप" कहते हैं एवं इन्हीं के पहिले प्राग वा पूर्व या इसी प्रकार के अर्थ वाले अन्य शब्दों का प्रयोग होता है तो उसे "'पूर्वरूप" कहते हैं । हां, यहाँ पर "रूप" शब्द केवल चक्षम्रीहा गुण का वाचक नहीं है श्रिपतु पश्च ज्ञानेन्द्रिय ब्राह्म शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध" का वाचक है अतः चिकित्सक का कर्तत्र्य है कि वह आवश्यकता या सुविधा के अनुसार विवेचन करे । यथा-राब्द—उस उस रोग में यथा सम्भव भिन्न २ प्रकार की ध्वनियाँ सुने यथा गुल्म में अन्त्रकूजन । स्पर्श-मृदुता कठिनता त्रादि हाथ से स्पर्श करके जाने । रूप-कामला पाण्ड त्रादि में या रक्तिपत्त में रक्त के वर्णों पर दृष्टिपात करे। रस-प्रमेह आदि में मुत्र के रसकी विवेचना । श्राप उसे चख कर रसास्वादन कर सकते हैं ! (हंसिये) नहीं २ इस विज्ञान यग में इसके भी साधन बन गये हैं (देखिये प्रमेह निदान) अथवा चीटियों द्वारा मधुरता का ज्ञान एवं हरिद्रा द्वारा उसकी चारता का ज्ञान कर सकते हैं। गन्ध-विविध प्रकार को गन्धों का जानना। तात्पर्य यह कि रोग का रोगी के शरीर पर कहाँ २ एवं कैसा प्रभाव पड़ा है। इसका भली भाँति विचार कर लेना चाहिये।

١	ĺ	,
į		
Į		,

						(1)
विहार	दिवाशयन जन्य कफ रोग में विपरीत श्रावरण रात्रि जागरण	उदावर्तमं अधोवायु निकालने के लिये कांखना	दिनारायन जन्य तन्द्रा में:- तन्द्रा से विषरीत स्विग्धता- नाराक हक्ष रात्रि जागरण ।	वातजन्य उन्माद् में त्रास देना।	छदि रोग में गत्ने में हाथ की उंगली या कमलनाल डातकर बमन करना।	दण्डनसरत इत्यादि व्यायामाँ से बरमक वात रोग में अस में तैरना स्कल्प व्यायाम करना कि से बनना कर हेख लें।
স্থল	श्रम तथा बात जन्य रोग में मांस रस एवं भात	श्रतिसार में मलाबरोधक प्रथ्य मसूर आदि	वान कक जन्य संप्रहणी में तक पान । कार कक एवं संप्रहणी नाशक ।	पच्यमान व्रण शोथ में दाहकारक. श्रन्न का भोजन करना।	श्रतिसार में रेवक दुग्ध।	मयेपान जन्य मदात्यय मॅ मदका(क मय पान। मी वन सकता है। श्रपने श्रध्याप
ऋोषधि	शीतज्वर में उष्ण झोषधि -शुण्ठी	अतिसार में मलावरोधक श्रीषधि पाठा इत्यादि	वात जन्य शोथ में:-दरामृत काथ। वायु एवं शोथ दोनों का परिहारक है।	पित्त प्रथान वण शोथ में पित्त- कारक उष्ण पिण्डी वांधना।	छोर्ट् रोग में वमनकारक मैनप्त ।	ह्याधि आदि का लें। या 'विषस्य मंदान्त्रय मदान्त्रय दष्डकत्तरत हत्यादि ह्यादि हार्थेकारी विषस्य मंगदकारक मंगदकारक से अन्यकात रोग में मदकारक विषमीष्यम्' मध्य पान। तेर्गा सक्तर न्यायाम नीट – इसी प्रकार का चक्र अन्यस्ययं का भी वन सकता है। अपने अध्यापक से बनवा कर हेख लें
नाम	हेतु विपरीत ।	व्याधि विपरीत ।	हेतु न्याधि विपरीत	हेतु विपरीतार्थ कारी	न्याधि विप- रीतार्थनारी	हेतु त्याधि विपरीतार्थकारी नोट – इसी

हेतुन्याधिविपर्यस्तविपर्यस्तार्थकारिणाम् । त्र्योषधात्रविहाराणाम्रुपयोगं सुखावृहम् ॥ ८ ॥ विद्यादुपशयं न्याधेः स हि सात्म्यमिति स्मृतः ।

अर्थ — हेतु (कारण या निदान) से तथा व्याधि (रोग) से अथवा दोनों से विपरीत (प्रतिकूल) एवं विपरीत के अर्थ (प्रयोजन) को करने वाले औषध (हरीतकी, गुडूची तथा काथ चूर्ण आदि) अन्न (खाद्य, पेय पदार्थ जो कि पथ्य में बतलाते जाते हैं) एवं विहार (नहाना, धोना, सोना, जागना एवं घूमना या वैठना) के सुखदायक उपयोग (सेवन) को "उपराय" या व्याधि का सात्म्य कहते हैं।

विपरीतोऽनुपञ्चयो व्याध्यसात्म्याभिसंज्ञितः ॥ ९ ॥

श्रर्थ—उपर्युक्त उपराय से विपरीत श्रमुपराय तथा व्याधि का श्रम् सात्म्य कहा जाता है श्रर्थात् हेतु श्रीर व्याधि के श्रथवा दोनों के श्रमु-कूल श्रथवा श्रमुकूल के श्रर्थ को करने वाले श्रीषध, श्रम्न एवं विहार के दुःखदायक उपयोग को "श्रमुपराय" कहा जाता है।

वक्तन्य—सीधी बात यह है कि जिस श्रीषध, श्राहार एवं विहार से रोगी को स्थायी श्राराम मिलता है वह उपशय श्रीर जिससे कछ बढ़ता है वह अनुपशय कहलाता है। कुछ ऐसे उपशय भी होते हैं जिनसे

<sup>9—</sup>तात्पर्य यह है कि विपरीत न होते हुए भी त्रायांत हेतु-व्याधि के अनुकूल होते हुए भी विपरीत अर्थ को करने वाले औषधादि का सेवन भी उपशय होता है। जैसे साधारण जले हुए स्थान को सेंका या तापा जाता है—एवं दौड़ कर आये हुए घोड़े को धीरे २ टहलाया जाता है क्योंकि ऐसा करने से लाभ होता है अतः इसे उपशय कहा जाता है। हमारे विचार में 'होमियो पैष्टिक' विकित्सा का विशाल भवन इभी 'विपरीतार्थकारी' सिद्धान्त की नींव पर खड़ा किया गया है। उक्त विकित्सा प्रणाली का सिद्धान्त यही है अर्थात 'रोगजनक द्रव्य ही रोग नाशक होता है।'' विशेष जानने के लिए उक्त विषय की पुस्तक पढ़िये। मानव समाज का कर्त्त्य है कि वह होमियोपैयी के आविष्कर्त्ता उस चतुर चिकित्सक श्री है निमेन महोदय को धन्यवाद दें जिसने इस सिद्धान्त को सफल बनाया है।

तत्काल तो कष्ट होता है किन्तु उनका फल सुखदायक होता है जैसे थोड़ेर वमन में भली प्रकार वमन करवा देना तथा इसी प्रकार कुछ अनुप-शय भी ऐसे होते हैं जो तत्काल तो सुख देते हैं किन्तु उनका फल दुःख-दायक होता है जैसे उवर की प्यास में शीतल जल का सेवन। शेप को-ष्ठक से समिभिये। आत्मा-प्रकृति-स्वभाव या शरीर के अनुकूल औष-धादि-का सेवन सात्म्य' कहलाता है।

यथा दुष्टेन दोषेण यथा चानुविसर्पता । निर्वेत्तरामयस्यासा संगाप्तिर्जातिरागितः ॥१०॥

श्चर्य—जिस प्रकार दुष्ट हुये श्चीर जिस प्रकार शरीर में गति करते हुये दोष से रोग की उत्पत्ति होती है उसे सम्प्राप्ति कहा जाता है। जाति श्चीर श्चागति उसके पर्याय हैं!

वक्तव्य—संग्राप्ति को भली प्रकार समम लेने से चिकित्सा में सुविधा तो होती ही है, ऋषितु रोग जानने में भी पर्याप्त सहायता मिलती है, यथा-दोष किस प्रकार दुष्ट हुआ अर्थात् किस धातु या मल के साथ मिल कर उसमें विकृति आ गई है और दोष किस स्थान से चल कर कहाँ गया किस मार्ग से गया इत्यादि बातों को जान लेने से रोग की तह का पता चल जाता है। मेरे विचार में इसके पर्यायों में कुछ तात्पर्य है यथा-सम्प्राप्ति दोष की वह गित जिसे रोगी ही अनुभव करता है, जैसे-आमातिसार में मरोड़ या अपतन्त्रक में वायु उद्धर्यगमन।

जाति—प्रादुर्भाव —दोषों की वह गति जिसे दूसरे भी देख सकते हैं जैसे पादगत शोथ का मुख की ऋोर जाना ।

त्रागति — ऋागमन—दोष का स्थानांतरित होना, यथा−तूनी प्रतितूनी में बायु की उद्धर्षाधः गति के भेद से वे दो रोग माने जाते हैं।

संख्याविकल्पप्राधान्यवल्याल्विशेषतः ।

<sup>9--</sup>श्रीर सास्म्य ही उग्शय (उपशेते) श्रर्थात् शरीर में शयन कर सकता है या व्यास हो सकता है: क्योंकि जो शरीर में रहने योग्य नहीं उसे तो स्वभाव या प्रकृति शीघ्र ही बाहर निकालने का यज करती है यदि नहीं निकाल सकती तो रोग हो जाता है।

### सा भिद्यते यथाऽत्रैव वश्यन्तेऽष्ट्री ज्वरा इति ॥ ११ ॥

अर्थ—उक सम्प्राप्ति संख्या, विकल्प, प्राधान्य, बल एवं काल की विवेचना के भेद से पांच प्रकार की होती है ( अर्थात् रोगों की संख्या आदि का जो विचार किया जाता है वह सब सम्प्राप्ति के ही अन्तर्गत हो जाता है। अतः सिद्ध हो गया कि रोग जानने के पाँच ही उपाय हैं अधिक नहीं) संख्या सम्प्राप्ति—जैसे उवर आठ, अतिसार छः, कास पाँच एवं प्रमेह बीस होते हैं। इत्यादि अर्थात् रोगों की संख्या का निर्देश संख्या-सम्प्राप्ति कहलाती है।

वक्तव्य—संख्या का निर्देश भिन्न २ विचार से भिन्न २ होता है। इसका निश्चय प्रायः दोपों के अनुसार किया जाता है; किन्तु कहीं २ विश्वष्ट कारणों के अनुसार भी मान लिया जाता है। यथा—आगन्तुः ज्वर या शोकातिसार या मृतिका जनित पाण्डुरोग इत्यादि।

दोषाणां समवेतानां विकल्पोंऽज्ञांज्ञकल्पना । स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्याभ्यां व्याधेः प्राधान्यमादिशेत ॥ १२ ॥

श्रर्थ—संपितित दोषों के न्यूनाधिक्य का विचार कर निश्चय करना "विकल्प सम्प्राप्ति" एवं व्याधि की स्वतन्त्रता तथा परतन्त्रता का विचार करके उसकी प्रधानता ऋथवा ऋप्रधानता का निश्चय करना "प्राधान्य सम्प्राप्ति" मानी जाती है।

वक्तव्य—तारपर्य यह कि सिम्मिलित दोपों का विभागशः विचार करना अर्थात् कीन दोप प्रवल है या कीन छवल है या कीन बढ़ा हुआ है या कीन घटा है इसका विचार ही "विकल्प सम्प्राप्ति" और मिली हुई व्याधियों की प्रधानता या अप्रधानता का विचार करना "प्राधान्य सम्प्राप्ति" कहलाती है। यह स्मरण रखना चाहिये कि "न रोगोप्येकरोष्ठाः" कोई भी रोग एक दोष से उत्पन्न नहीं होता अर्थात् प्रत्येक रोग की उत्पत्ति में सब दोषों का हाथ रहता है इसी प्रकार व्याधियों का भी संकर या मिश्रण होता है। प्रत्येक रोग लत्त्रणों के रूप में यथा-पित्त उवर में अतिसार कफ उवर में कास अथवा कभी दे दो या कई रोग भी उत्पन्ति स्व

न्न हो जाते हैं जैसे श्रशं के साथ गुल्म या उदर बस विकल्प सम्प्राप्ति एवं "प्राधान्य सम्प्राप्ति" द्वारा ही चिकित्सक किसी भी रोग को वातज, पित्तज त्र्यादि तथा उवर या श्रशं त्र्यादि कहा करता है । श्रन्यथा उसके पास यह कहने के लिये दूसरा कोई साधन नहीं है ।

# हेत्वादिकात्स्न्यावयवैर्वलावलाविशेषणम् । नक्तंदिनर्तुभ्रकांशैर्व्याधिकालो यथामलम् ॥ १३ ॥

श्रर्थ—िनदान पूर्वरूप श्रादि की सम्पूर्णतया या बलवत्ता से एवं उनकी श्रपूर्णता या दुर्बलता से रोग की प्रबलता श्रथवा दुर्बलता की जो विवेचना की जाती है वह क्रमशः "बल सम्प्राप्ति" श्रोर श्रबल सम्प्राप्ति कही जाती है तथा रात्रि, दिन, ऋतु एवं मुक्तश्राहार के पाक काल के विभागानुसार कुपित होने वाले दोष को देख कर जो निश्चय किया जाता है वह "काल सम्प्राप्ति" मानी जाती है।

वक्तव्य—एक ही रोग के निदान पूर्वरूप तथा रूप च्यादि कभी बड़े ही प्रवल होते हैं च्योर कभी दुर्वल होते हैं, यथा—कभी खोया (जो च्रात गुरु हैं) खाने से भीषण हुआ भिपायूदरकुं चतोद च्यादि पूर्व रूपों के अनन्तर व्यतिसार हो गया जिस से रोगी को २४ घण्टे में २४ बार टट्टी जाना पड़ा खौर कभी दुग्ध (जो साधारण गुरु हैं) पीने से साधारण पूर्वरूप के व्यनन्तर व्यतिसार हो गया जिससे २४ घण्टे में ६ बार टट्टी जाना पड़ा बस यह कमराः प्रवल एवं दुर्वल व्यतिसार माना जाय-गा। व्यव काल संप्राप्ति के विषय में भी सुनिये च्रात के द्वारा उस २ समय में उत्पन्न होने एवं बढ़ने वाला रोग उस २ दोष का सममा जाता है यह समरण रखिये कि रात्रि दिन व्यादि को तीन तीन भागों में विभक्त कर लिया जाता है वस उन्हीं विभागों में दोषों का वेग होता है जिस से रोग की उत्पत्ति या दृष्टि होती है यह प्राकृतिक नियम है। इसे च्याप कोष्ठक से भली प्रकार समम लेंगे। बस इन सब बातों को भली भांति व्यवगत कर लेने पर ही चिकित्सा की सफलता निर्भर है।

## **\*कोष्ठ**क

दोषः-	क्तफ	पित्त	वात	
समयः-	त्र्यादि	मध्य	ग्रन्त	४-४ विभ
रात्रिः-	,,	,,	,,,	
दिनः-	,,	٠,	,,	
भुक्तः-	,,	,,	19	भोजन परिपान
ऋतुः-	हेमन्त,वसन्त	वर्षा शरद्	प्रीष्म प्रावृद्	

४-४ **ष**ण्टे के विभागानुसार

भोजन के श्रनन्तरसे परिपाककालपर्यंत

इति प्रोक्तो निदानार्थः तद्भ व्यासेनोपदेश्यते ।

अर्थ-यह सब रोगविनिश्चय के उपायों का तात्पर्य कह दिया है ऋौर ऋागे विस्तार से रोगविनिश्चय का उपदेश किया जायगा।

वक्तन्य—यहाँ पर निदान शब्द का श्रिभिप्राय केवल निदान या हेतु से नहीं "श्रिपितु निश्चित्य दीयते प्रतिपाद्यते न्याधिः श्रानेन इति निदानम्" के श्रानुसार निदान पूर्वरूप एवं रूप श्रादि रोग जानने के सभी उपायों से हैं जिनका तात्पर्य श्रव तक कहा जा चुका है क्योंकि रोग जानने के यही उपाय हैं। श्रागे पुस्तक भर में उन्हीं का प्रत्येक रोग के श्राधिकार या प्रकरण में विस्तारपूर्वक वर्णन किया जायगा।

सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कुपिता मलाः ॥ १४ ॥ तत्प्रकोपस्य तु प्रोक्तं विविधाहितसेवनम् ।

क्षो० ४ से १४ तक वा॰ नि॰ अ॰ १ अर्थ—कुपित या दुष्ट हुए मल अर्थात् वातादि दोव ही सब रोगों

 <sup>\*</sup> नोट—इसी सम्प्राप्ति के बल पर कुशल वैद्य रोग के घटने बढ़ने एवं रोगी
 की मृत्यु तक का समय पहिले ही बतला देते हैं।

का कारण 'या हेतु होते हैं और उन वातादि दोषों के कुपित होने का कारण होता है अनेक प्रकार का ऋहित अर्थात् प्रकृति विरुद्ध आहार-विहारों का उपयोग या सेवन।

वक्तन्य — यह पाठ श्री वाग्भट ने महिष् सुश्रुत के सारगिर्भत पाठका श्रानुकरण करके निर्मित किया है इस में श्रागन्तुक रोगों का भी समाविश हो जाता है श्रर्थात् रोग रुक रजा, न्याधि उपताप श्रादि दोप-विकृति के बिना कदापि नहीं हो सकते। ध्यान दीजिये जिन रोगों को हम श्रागन्तुक कहते हैं उन में भी श्रीभधात श्रादि के श्रनन्तर रुजा (पीड़ा) सन्ताप एवं शोथ वात, पित्त एवं कफ के प्रकोप से ही होता है; क्योंकि यदि श्रीभधातादि की चिकित्सा तत्काल कर दी जाती है तो रुजा श्रादि लक्षण उत्पन्न ही नहीं होने पाते। बस निध्कर्ष यह है कि दोप कोप से ही सब रोग होते हैं श्रन्यथा नहीं। श्रहित सेयन रोग का विप्रकृष्ट कारण होता है इस का काम है दोषों को विकृत कर देना श्रीर दोप रोग का सन्निकृष्ट कारण होते हैं जिन से रोग उत्पन्न होता है।

निदानार्थकरो रोगो रोगस्याप्युपजायते ॥ १५ ॥ तद्यथा ज्वरसन्तापादक्तिपत्तसुदीर्यते । रक्तिपत्ताज्ज्वरस्ताभ्यां शोपश्चाप्युपजायते ॥ १६ ॥ स्रोहाभिष्टद्रया जटरं जटराच्छोथ एव च । अशोभ्यो जाटरं दुःखं गुल्मश्चाप्युपजायते ॥ १७ ॥ प्रतिश्यायादयो कासः कासात्संजायते क्षयः । क्षयो रोगस्य हेतुत्वे शोषस्याप्युपजायते ॥१८॥ च० नि० अ० ८

श्रर्थ—कभी २ रोग भी रोग के निदान या कारण का कार्य करने वाला हो जाता है अर्थात् रोग से भी रोग उत्पन्न हो जाता है। यथा— ज्वर के सन्ताप से "रक्त पित्त" उभर श्राता है। रक्त पित्त से ज्वर हो

९ यह प्रतितंत्र सिद्धान्त है । वातादिकृताः सर्वविकारा यथाऽन्यत्र वातादिकृताः भूतकृतास्त्र प्रसिद्धाः ।—च० वि० ख० ८

जाता है, उक्त दोनों रोगों से "शोष रोग" उत्पन्न हो जाता है। प्लीहा के बढ़ने से "उदर रोग" तथा "उदर रोग" से "शोथ रोग" हो जाता है। बवासीर से "उदर रोग" अथवा "गुन्म रोग" हो जाता है। प्रतिश्याय (जुकाम) से कास (खांसी) तथा कास से च्रय रोग (यच्मा) हो जाता है च्रय से शोष रोग हो जाता है।

वक्तव्य—माननीय माधव जी ने यह पाठ चरक संहिता से उद्धृत किया क्योर "सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कुपिता मलाः" पाठ सुश्रुत से । श्रुतः यह भावना-वैचित्र्य स्रथवा "श्रुत्यो विभिन्नाः" इत्यादि के कारण ऐसा होता है । किन्तु सचाई दोनों में हैं श्रीर हमें दोनों मत माननीय भी हैं । माधवजी ने इसी लिये प्रारम्भ में "नाना मुनीनां वचनैः" कहकर यह स्चित कर दिया कि जहाँ पर मत भिन्नता हो वहाँ दोनों का प्रमाण मान लेना चाहिये अथवा यथा—"यत्र द्वयोविरोधः स्यात् तत्र धर्मां वुभौ स्मृतौ । सम्भवत्येकवाक्यार्थे हार्थभेदो न चेष्यन्ते।" एकवाक्यता करने के लिये हम रोगों का विष्रकृष्ट कारण मानकर दोषों को ही रोगों का कारण (सन्निकृष्ट)मान सकते हैं इत्यलं विस्तरेण।

ते पूर्वं केवला रोगाः पश्चाद्धेत्वर्थकारिएाः । च० नि० अ० ७

ऋर्थ—उपर्युक्त ' कथन के ऋनुसार ऋन्यान्य रोगों को उत्पन्न करने वाले वे रोग पहिले तो केवल रोग ही होते हैं बाद में निदान के ऋर्थ को करते हैं ऋर्थान् रोग की उत्पत्ति का कारण बन जाते हैं।

कश्चिद्धि रोगो रोगर्स्य हेतुर्भूत्वा प्रशाम्यति ॥१६॥ न प्रशाम्यति चाप्यन्यो हेतुत्वं कुरुतेऽपि च । ऋर्य—कोई' २ रोग, रोग की उत्पत्ति का कारण बनकर स्वयंशान्त

९— दैवदत्त श्रपने पुत्र की उत्पत्ति के पूर्व पुत्र होता है बाद में पिता बन जाता है ठीक इसी प्रकार जो पहिले देवल रोग कहलाता है वही किसो रोग को उत्पन्न करके हेतु या निदान कहलाने लगता है।

२ — जैसे बीज पौघे को उत्पन्न करके स्वयं नष्ट हो जाता है तथा मनुष्य एवं पशु-पक्षी श्वादि सन्तानोत्पत्ति करके भी स्वयं नष्ट नहीं होते बस इसी प्रकार कुछ रोग दूसरे रोग को उत्पन्न कर स्वयं शान्त हो जाते हैं श्वीर कुछ बने रहते हैं।

हो जाता है (जैसे ज्वर को उत्पन्न करके विसूची शान्त हो जाती है । त्र्यार कोई २ रोगों का हेतु बनकर भी शान्त नहीं होता। जैसे अर्श (बवासीर) गुल्म को भी उत्पन्नकर देता है श्रीर स्वयं भी बनारहता है।

एवं कुच्छुतमा नृणां दृश्यन्ते व्याधिसंकराः ॥२०॥

च० नि० अ०८

ऋर्थ—इस प्रकार ( उपयंक्त प्रकार से ऋथवा "प्रयोग परिशुद्धत्वा-त्तथा चान्योन्यसम्भवात्" च० नि० ऋ०८ ऋर्थात् उचित चिकित्सा न होने ऋथवा परस्पर रोगों के उत्पन्न होने के कारण्) प्राणियों को सम्मिलित रोग होते देखे जाते हैं। जो कि कष्टप्रद होते हैं।

तस्माचरनेन सद्वैचैरिच्छद्भिः सिद्धिमुद्धताम् ।

ज्ञातव्यो वक्ष्यते योऽयं ज्वरादीनां विनिश्चय: ॥२१॥ माधवस्य अर्थ — इस लिये (उपर्युक्त हेतु से) उत्तम सिद्धि श्चर्यात् यथेष्ठ सफ-लता चाहने वाले वैद्यों को ज्वर श्चादि का जो विनिश्चय या निर्णय इस प्रन्थ में कहा जायाा द्यतः यत्नपूर्वक जानना चाहिये।

वक्तन्य—पुयोग्य वैद्य बनने के लिये रोगों का निर्णय करने के लिये विशेष परिश्रम करना चाहिये; क्योंकि रोग का ठीक २ निर्णय होने पर ही चिकित्सा की सफलता निर्भर है यथा—"आदौ निदानविधिना विद्ध्याद्वयाधिनिश्चयम्। ततःकर्मभिषक्षश्चात्ज्ञानपूर्वं समाचरेत्।" इति।

# ज्वरनिदानम् ।

दक्षापमानसंक्रुद्धस्द्रनिःश्वाससंभवः ।

ज्वरोऽष्ट्रधा पृथग्द्वन्द्वसंघातागन्तुजः स्मृतः ॥१॥ ( माधवस्य )

अर्थ—दत्त प्रजापित के द्वारा किये गये अपमान से अत्यन्त कुद्ध रुद्र (भगवान् शिव) के नि:श्वास (क्रोध से निकले ख्रोफ्) से ज्वर की उत्पत्ति (प्रारम्भ में) हुई थी। वह ज्वर आठ प्रकार का माना गया

९—यहाँ पर "निदान" शब्द का श्रमिप्राय "विनिश्वय" से है केवल कारण ्से नहीं । इसी प्रकार "श्रतिसार निदान" श्रादि झें भी समक्त खेळ आहिये हैं ार

है। यथा—वातज, पित्तज, कफज, वात पित्तज, वात कफज, पित्त कफज, त्रिदोषज एवं त्रागन्तज।

वक्तन्य—यह अन्यान्य रोगों के समान ज्वर रोग की आदिम उत्पत्ति का उल्लेख किया गया है। रद्र भगवान के कुद्ध होनेके शाखों में भिन्न २ कारण बतलाए गये हैं तदलमित विस्तरेण । सम्भवतः इसका रहस्य यह है कि ज्वरोत्पादक कीटागुओं (जिन्हें रुद्रगण कहा गया हो) अथवा शक्ति (क्योंकि संहारकर्ता देव का नाम रुद्र हैं) की शरीर रक्तक की-टागुओं या शिक (जिसे प्रजापित कहा गया हो) पर प्राप्त की हुई विजय का परिणाम ज्वर है। अथवा "क्रोधात्पित्तम्" के अनुसार पित्त (गर्मा) की वृद्धि को ज्वर का कारण कहा हो; क्योंकि "ऊष्मा पित्ताद् ऋते नास्ति ज्वरो नास्त्यूष्मगाविना।" अर्थात् पित्त (गर्मा) की वृद्धि से ही ज्वर होता है इसो श्लोक से संख्या सम्प्राप्ति भी कह दी गई है।

व्वरस्य सम्प्राप्तिः ।

मिथ्याहारविहाराभ्यां दोषा ह्यामाशयाश्रयाः । वहिर्निरस्य कोष्ठाश्रि ज्वरदाः स्यू रसानुगाः ॥२॥

श्चर्य—मिथ्या (देश, काल एवं प्रकृति विरुद्ध ) श्राहार (खाने के सभी पदार्थों) विहार (सभी प्रकार की शारीरिक एवं मानसिक चेष्टा-श्चों) के सेवन से श्रामाशय में श्चाश्वित वातादि दोष रस के श्रनुगामी (रस में मिलकर) होकर एवं उदर की श्रग्नि (पाचक पित्त) को बाहर निकाल कर (शरीर में फैलाकर) ज्वर को उत्पन्न कर देते हैं।

वक्तव्य—यहाँ मिध्याहार-विहार तथा दोष क्रमशः विप्रकृष्ट एवं स-न्निकुष्ट निदान तथा ज्वर की सम्प्राप्ति का वर्णन कर दिया गया है।

ज्बरसामान्यलत्तराम्।

स्वेदावरोधः संतापः सर्वाङ्गग्रहणं तथा । युगपद्मत्र रोगे च स ज्वरो व्यपदिश्यते ॥ ३ ॥

सु॰ उ॰ अ॰ ६६

त्रर्थ-जिस रोग में पसीना का रुक जाना, शरीर का ताप बढ़

जाना एवं सब श्रङ्गों का जकड़ जाना यह तीनों एक साथ ही हो जाते हैं, उसे ज्वर कहा जाता है।

वक्तन्य-"स्वेदावरोध" वाक्य के अर्थ करने में कुछ लोग सन्देह उत्पन्न कर देते हैं किन्तु इसका "पसीना रकना" हा सही अर्थ है । क्योंकि "रस स्वेद प्रवाहिणाम् । मार्गमावृत्य" (सु० उ० अ० ३६) "रसवहानि स्रोतांसि पिधाय" (च०नि०अ० १) एवं "ततः स्वेदो न जायते" (वा०नि० अ० २) से भी यही बात प्रमाणित होती है । सन्ताप नपाप कयन्त्र (धर्मामिटर) से तथा स्पर्श से ज्ञात हो जाता है । (६७.५° फ. अथवा ६८५° शरीर की साधारण गर्मा होती है ! किन्तु उवर में बढ़कर वह १०७-१०८ तक हो जाती है । सर्वाङ्गमह—सम्पूर्ण शरीर एवं मन में शिथिलता आ जाती है । कुछ लोग पित्त उत्रादि में अति व्याप्ति का ख्याल करते हैं उन्हें "युगपद" शब्द पर ध्यान देना चाहिये और यह भी न भूलना चाहिये कि यह सामान्य लक्तण है । सामान्य लक्तण बहु-व्यापक होता है, पर सर्वव्यापक नहीं ।

्वरस्य सामान्यं पूर्वरूपम् । श्रमोऽरतिर्विवर्णात्वं वैरस्यं नयनप्तवः । इच्छाद्वेषां मुहुश्चापि शीतवातातपादिषु ॥ ४ ॥ जृम्भाञ्क्रमर्दो गुरुता रोमहर्षोऽरुचिस्तमः । श्रमहर्षश्च शीतं च भवत्युत्पत्स्यति ज्वरे ॥ ५ ॥ सामान्यतो—–

श्रर्थ—श्रनायास थकावट, वेचैनी, कान्ति का मिलन होना, मुख का स्वाद बिगड़ जाना, श्राँखों में से पानी जाना, शीत, (स्थानादि) बायु एकं धूप श्रादि में वैंटने की वार २ इच्छा होना तथा वार २ उनका बुरा लगना, जम्माई, शरीर में पीड़ा एवं भारीपन, रोमाख्व होना, श्ररुचि तथा श्राँखों के सामने श्रन्धेरा श्रा जाना, किसी भी प्रकार श्रानन्द का

१—यही ज्वर का व्याजन है । यथा-'ज्वरप्रत्यात्मिकं लिंगं सन्तापो देह-मानसः' (व॰ चि॰ इप० ३)

अनुभव न होना एवं शीत लगना यह सब ज्वर के सामान्य (बहु ठ्या-पक ) पूर्वरूप हैं।

ज्वरस्य विशिष्टं पूर्वेरूपम्। —विशेषात् जुम्भाऽत्यर्थं समीरणात् । पित्तात्रयनयोद्दिः कंफादन्नारुचिर्भवेत् ॥ ६ ॥ रूपैरन्यतराभ्यां तु संसृष्टेईन्द्रजं विदुः। सर्वितिङ्गसमावायः सर्वदोषप्रकोपने ॥७॥ ४-७ सु॰ उ॰ अ॰ ३९

अर्थ-विशेष ( अल्पव्यापक ) पूर्वरूप यह है-वातःवर का जंभाई अधिक आना, पित्तज्वर का आँखों में जलन होना तथा कफज्वर का **अन्न में अरु**चि होना विशेष पूर्वरूप **होता है ।** उक्त दो दो संमिलित लक्तरण द्वन्द्वज ज्वर का एवं सब लक्तरणों का एक साथ उत्पन्न होना त्रिदोषज ज्वर का पूर्वरूप होता है ।

वातःवरतत्त्रागम् ।

वेपथुर्विषमो वेगः कण्ठौष्ठपरिशोषणम् ।

निद्रानाशः क्षवस्तम्भो गात्राणां रौक्ष्यमेव च ॥ ८ ॥

शिरोहृद्वात्ररूवक्त्रवैरस्यं गाढविट्कता ।

श्रूलाध्माने जुम्भर्णं च भवन्त्यनित्तजे ज्वरे ॥९॥ सु० उ० ४० १९

श्चर्य-वातज्वर के ये लज्ञ्गा हैं । यथा-शरीर का (हृदय का भी ) काँपना, ज्वर का अनियमित घटना-बढ़ना, कएठ एवं ओठों ( मुख का भी ) का सूखना, नींद न आना, छींक न आना, अङ्गों में रूखापन ( खुश्की ), शिर हृदय एवं अंगों में दर्द, मुख में फीकापन, पुरीष का सूख जाना, पेट में शूल तथा श्रफरा खीर जम्भाई श्राना।

पित्तज्वरलज्ञ्याम्।

वेगस्तोक्ष्णोऽतिसारश्च निद्राल्पत्वं तथा विमः। कण्ठौष्टमुखनासानां पाकः स्वेदश्र जायते ॥ १० ॥

## पतापो वक्त्रकडुता मूर्च्छा दाहो मदस्तृषा । पीतविष्मूत्रनेत्रत्वं पैत्तिके भ्रम एव च ॥ ११ ॥

श्रर्थ—पित्त-ज्वर के लक्त्या ये हैं—ज्वर का तीक्या वेग (१०४ डिगरी के ऊपर), श्रतिसार, नींद कम श्राना, के होना (इस में खट्टा, कड़ुआ एवं हरा-पीला पित्त निकलता है। इस के निकल जाने से रोगी को कुछ आराम भी मिलता है) कण्ठ, श्रोठ, मुख एवं नाक का पकना, पसीना आना, श्रग्ट-सण्ट बकना, मुख में कडुआपन, मूर्छा, दाह, मद (जैसे कोई मादक द्रज्य सेवन किया हो) प्यास, पुरीष, मूत्र एवं आंखों (त्वचा पर भी) में पीलापन एवं चकर आना!

#### कफज्बरलच्चणम्।

स्तैमित्यं स्तिमितो वेग त्रालस्यं मधुरास्यता । शुक्रमृत्रपुरीषत्वं स्तम्भस्तृप्तिरथापि च ॥ १२ ॥ गौरवं ज्ञीतमुक्तकेदो रोमहर्षोऽतिनिद्रता ।

प्रतिश्यायोऽरुचिः कासः कफ्जेऽक्ष्णोश्र शुक्कता ॥१३॥ सु॰व॰ल॰३३

श्रर्थं—कफ-ज्वर के ल्ल्या वे हैं—शरीर का गीले कपड़े से हँका-सा ज्ञात होना (त्वचा में गीलापन था गिजगिजाहट), ज्वर का मन्दवेग (प्रायः १०२ डिगरी तक) श्रालस्य, मुख में मीठापन, मूत्र-पुरीष (त्वचा पर भी) में श्वेतता, शरीर में जकड़न, पेट भरा-सा ज्ञात होना, शरीर में भारीपन, शीत लगना, जी मिचलाना, रोमाश्च होना, नींद श्रिक श्राना, जुकाम, श्रहचि, खांसी एवं श्रांखों में सफेदी।

किन्तु अन्य ज्वरों के समान पसीना होने पर भी ज्वर नहीं उतरता ।

२---नात्युष्णगात्रता छर्दिरंगसादोऽविपाकता । स्रोतोरोधो रुगश्पत्वं प्रसेको लवणास्यता ॥

इस पाठ से कफज्वर के लक्षणों की तुलना करके देखने से केवल शब्दपरि-वर्तन के अतिरिक्त अधिक भेद नहीं है।

वातपित्तज्वरलज्ञराम् ।

तृष्णा मूर्च्छा श्रमो दाहः स्वप्ननाज्ञः शिरीरुजा । कण्डास्यज्ञोषो वमथु रोमहर्षोऽरुचिस्तमः ॥ १४ ॥

पर्वभेदश्च जूम्भा च वातिपत्त ज्वराकृति: । स॰ ड॰ अ॰ ३९

श्रर्थ—वातिपतं ज्वर का लज्ञण यह है-प्यास, मूर्झी, चक्कर, दाह, नींद का श्रभाव शिर में दर्द, कण्ठ एवं मुख का सूखना, के, रोमाश्च, श्रहचि, श्रांखों के सामने श्रंवेरा श्राना, जोड़ों में फटने की-सी पीड़ा एवं जम्भाई श्राना।

वातकफज्बरलच्चणम्।

स्तैमित्यं पर्वाणां भेदो निदा गौरवमेव च ॥ १५ ॥

शिरोग्रहः प्रतिश्यायः कासः स्वेदापवर्तनम् ।

संतापो मध्यवेगश्च वातश्लेष्मज्वराकृतिः ॥ १६ ॥ सुः उ॰ अ॰ ३३

अर्थ —वातकक ज्वर का लत्ताण यह है —शरीर में गिलगिलाहट, पोरों (गांठों) में फटने की सी पीड़ा, नींद की अधिकता, शरीर में भारी-पन, शिर की जकड़न, जुकाम, खांसी, पसीने की अधिकता, हाथ-पांव में गर्मी एवं ज्वर का मध्यम वेग (प्रायः १०२ से १०४ डिगरीं तक)।

पित्तकफज्वरलच्चाम् ।

लिप्ततिक्तास्यता तन्द्रा मोहः कासोऽरुचिस्तृपा । मुहुर्दाहो मुहुः शीतं श्लेष्मिपत्तज्वराकृतिः॥१७॥ मु• उ० अ० ३९

अर्थ-पित्तकफ ज्वर के लज्ञ्या यह हैं-मुख में चिपचिपाहट

<sup>9—</sup> इन्द्रज रोगों में प्रायः वे ही लक्षण पाये जाते हैं, जो पृथक् २ दोषों के होते हैं, किन्तु कुछ विलक्षण लक्षण भी उत्पन्न हो जाते हैं। जैसे हल्दी श्रौर चूना मिलाने से उनका मिश्रण रक्तवर्ण का तैयार होता है। इसी प्रकार दोषों के मिश्रण में भी एक नई बात हो जाती है। यह बात सर्वत्र लागू होती है। उदाहरण श्राय खोजिये।

(कफ से ), तथा कडुवापन (पित से ), उँघाई, बदहोशी, खांसो, अ-कचि, प्यास, बार २ दाह एवं बार २ शीत का श्रनुभव।

सन्निपातज्वरलज्ञ्णम्।

क्षणे दाहः क्षणे जीतमस्थिसन्यिज्ञिरोक्ना ।
सास्रावे कलुषे रक्ते निर्मुग्ने चापि लोचने ॥ १८ ॥
सस्वनो सरुनो कणौ कण्डः श्रूकेरिवादृतः ।
तन्द्रा मोहः प्रलापश्च कासः श्वासोऽरुचिश्चमः ॥१६॥
परिदग्या खरस्पर्ज्ञा जिह्वा सस्ताङ्गता परम् ।
ष्ठीवनं रक्तपित्तस्य कफोनोन्मिश्रितस्य च ॥२०॥
श्विरसो लोठनं तृङ्णा निद्रानाज्ञो हृदि व्यथा ।
स्वेदमूत्रपुरीपाणां जिराहर्ज्ञनमल्पज्ञः ॥ २१ ॥
कृजत्वं नातिगात्राणां प्रनतं कण्ठज्ञनम् ।
कोठानां श्यावरक्तानां मण्डलानां च दर्ज्ञनम् ।
मूकत्वं स्रोतसां पाको गुरूत्वसुदरस्य च ।

चिरात्पाकश्च दोपाणां सन्निपातज्वराकृति: ॥२३॥ च० च० अ० ३

श्रथं—सिन्नपात या त्रिदोषज ज्वर का लत्त्रण यह है—त्त्रण भर में दाह एवं त्र्ण भर में शीत का श्रनुभव, हिंडुयों, सिन्ध्यों तथा शिर में पीड़ा, श्रांखें श्रथ्नपूर्ण, मेली (निस्तेज) लाल एवं कुटिल (बाहर निकली सी श्रथवा घँसी सी श्रथवा भयावनी) हो जाती हैं, कानों में सांय २ शब्द तथा पीड़ा होती हैं, कएठ में कांटे पड़ जाते हैं, उंघाई, बदहोशी, प्रलाप (बड़बड़ाना), खांसी, श्वास (कष्टपूर्वक सांस श्राना), श्रक्ति, चक्कर, जीभ जली सी (काली) एवं खरदरी हो जाती हैं। शरीर श्रद्धन्त शिथिल हो जाता है, शूक में कफमिश्रित रक्तपित्त निकलता है, रोगी शिर को इधर-उधर हिलाता रहता है, प्यास, नींद का श्रभाव, हृदय में वेदना, पसीना, मृत्र एवं पुरीष बहुतदेर में (दोष पाक

की श्रवधि के बाद ) होते हैं श्रथवा थोड़े २ होते भी रहते हैं, रारीर श्रधिक कृश नहीं होता, रोगी निरन्तर कहरता ( ऊँह ऊँह करता ) रहता है, काले २ लाल २ गोल २ चकत्ते (धष्फड़) देखे जाते हैं, रोगी मूक हो जाता है (बोलता ही नहीं), नाक, मुख एवं गुद श्रादि स्रोतों का पाक हो जाता है, पेट में भारीपन, दोषों का चिरकाल में ( १२ वें दिन के बाद से ४२ दिन तक ) पकना ।

वक्तन्य—''महानिद्रा जागरणं निशि । सदा वा नैव वा निद्रा महास्वेदोऽति नैव वा । गीतनर्त्तनहास्यादि विकृतेहाप्रवर्त्तनम्" । (वा॰ नि॰ अ॰ २) प्रायः सभी सन्निपातों में यह प्रसिद्ध लच्चण अवस्य पाए जाते हैं। उठ २ कर दौड़ना, कपड़े फाड़ना, उतारना, फेंकना आदि विकृतेहाप्रवर्त्तनम् ही है।

सन्निपातज्बरस्य श्रसाध्यत्तत्त्रणम् । दाषे विवद्धे नष्टेऽय्रो सर्वसंपूर्णतन्नसणः । सन्निपातज्वरोऽसाध्यः, कृच्छुसाध्यस्ततोऽन्यथा ॥ २४ ॥ श्रर्थ—यदि सन्निपात ज्वर में सब दोष सर्वथा रुक जाय श्रर्थात्

श्रर्थे—यदि सन्निपात ब्वर में सब दोष सर्वथा रुक जाय श्रर्थात् दोष प्रवृत्ति ' न हो, जठराग्नि नष्ट श्रर्थात् श्रत्यन्त मन्द हो जायँ एवं

१ - मुकत्व स्त्रीर प्रलाग दोनों वैकल्पिक लक्षण हैं।

२—निरामज्वर का लक्षण ही दोषपाक का लक्षण है। श्रीर दोषों की जगह धातुश्रों का पाक हो जाता है, तो रंगी मर ही जाता है। धातुपाक का लक्षण यह है—निद्रानाशो हिंद स्तम्भो विष्म्मो गौरवारुवी। श्रारिर्वलहानिक धात्नां पाक लक्षणम्॥ नामेरूक्षें हृदोऽधस्तात पीडिते चेद्वयथा भवेत्। धातोः पाकं विजानीया-दन्यथा तु मलस्य च !!

३—उद्गार एवं अधोवायु के रूप में वायु, मूत्र-पूरीब एवं स्वेद के साथ पित्त तथा खाँसी खखार आदि के द्वारा कफ प्रत्येक प्राणी को सर्वदा निकलते रहते हैं। अतएव वह निरोग बना रहता है, किन्तु जब उत्तदोष नहीं निकलते तो रोग उरपन्न कर देते हैं। बस जब सिन्नपात में या किसी भी रोग में यह प्राकृतिक किया रुक जाती है, तो रोग असाध्य समभा जाता है।

सभी लच्चएा बलवान हो जायँ तो रोग श्रसाध्य हो जाता है। यदि उक्त लच्चणों में कुछ लच्चणों की कमी हो तो भी सन्निपात कष्टसाध्य श्रवश्य होता है।

( सप्तमे दिवसे पाप्ते दशमे द्वादशेऽपि वा । एनघोरतरो भूत्वा पशमं याति हन्ति वा ॥ १ ॥ सप्तमी द्विगुणा चैव नवम्येकादशी तथा । एषा त्रिदोपमर्यादा मोक्षाय च वधाय च ॥२॥) व• वि० ७००

श्रर्थ—सिन्नपात ज्वर सातवें, दशवें एवं बारहवें दिन श्रीर भी बढ़-कर शान्त हो जाता है श्रथवा रोगी को मार डालता है। श्रथवा चौदह, श्रठारह तथा बाईस दिन तक सिन्नपात की श्रविध होती है। इस श्रविध में रोगी (दोषपाक होने से) बच जाता है श्रथवा (धातुपाक होने से) मर जाता है।

बक्तव्य—यहाँ जिस प्रकार प्रथम श्लोकोक्त मर्यादा को द्वितीय श्लोक द्वारा दुगुना कर दिया गया है, उसी प्रकार उसे भी दूना कर देना चा-हिये, क्योंकि कहीं २८, ३६ एवं ४४ दिन तक भी सन्निपात की श्रविध देखी जाती है।

#### सन्निपातोपद्रवः।

सन्निपातज्वरस्यान्ते कर्णमूले सुदारुणः।

शोथः संजायते तेन कश्चिदेव प्रमुच्यते ॥ २५ ॥

श्रर्थ—सन्तिपात ज्वर के श्रन्तिम दिनों किसी २ रोगी के कान की जड़ में दु:खदायक शोथ हो जाता है । इससे कोई २ रोगी बचता है श्रर्थात प्राय: मर जाते हैं।

[ अत्र वैषयिकसप्तमी ]

९—सिंतपात ही क्या किसी भी रोग में यदि उसके सब लक्षण अरी तरह प्रवल हो आयँ तो उसे श्रसाध्य ही समस्तना चाहिये। परख ईस्वर की कुना से प्रायः ऐसा नहीं होता यही कारण है कि रोगी रोग से छुटकारा पा जाते हैं।

#### श्रभिन्यासञ्बरतज्ञणम् ।

( त्रयः प्रकुपिता दोषा उरःस्रोतोऽनुगामिनः । श्रामाभिद्यद्या ग्रथिता बुद्धीन्द्रियमनोगताः ॥ १ ॥ जनयन्ति महाघोरमभिन्यासं ज्वरं दृढम् । श्रुतौ नेत्रे प्रसुप्तिः स्यान्न चेष्टां काश्चिदीहते ॥ २ ॥ न च दृष्टिर्भवेत्तस्य समर्था रूपदर्शने । न ग्राणं न च संस्पर्शं शब्दं वा नैव बुध्यते ॥ ३ ॥ शिरो लोठयतेऽभीक्ष्णमाहारं नाभिनन्दति । क्रजति तुद्यते चैव परिवर्तनमीहते ॥ ४ ॥ श्रव्यतं प्रभाषते किंचिद्भिन्यासः स उच्यते । प्रत्याख्यातः स भूयिष्टः कश्चिदेवात्र सिध्यति ॥ ५ ॥ )

श्रथं—तीनों दोष श्रत्यन्त कुपित होकर हृदय के रक्तवाही स्रोतों हारा सारे शरीर में फैल कर श्राम दोष की श्रिधिकता से सङ्गठित होकर बुद्धि इन्द्रियें तथा मनोवाही स्रोतों में जाकर श्रत्यन्त भयानक तथा बल-वान् श्रीमन्यास नामक ज्वर को उत्पन्न कर देते हैं। इसके लक्तण इस प्रकार हैं—सुनने एवं देखने की शिक्त का ह्रास, शारीरिक एवं मानिसक सभी चेष्टाश्रों का विनाश श्रर्थान् रोगी की दृष्टि देखने में समर्थ नहीं रहती तथा रोगी गन्ध-स्पर्श तथा शब्द को भी जानने में श्रसमर्थ हो जाता है। सिर को इधर-उधर चलाता रहता है। भोजन की इच्छा नहीं करता, कहरता है, सूई के चुभने की पीड़ाका श्रतुभव करता है। केवल करवट बदलना चाहता है। श्रथवा थोड़ा-बहुत कुछ (जिसे कोई समभ नहीं सकता) बोल लेता है। बस यही 'श्रीमन्यास' ज्वर है। प्रायः यह श्रसाध्य होता है लाखों में कोई श्रच्छा भी हो जाता है।

श्चागन्तुकव्वरलच्चयाम्। अभिभाताभिचाराभ्यामभिन्नापाभिषङ्गतः। आगन्तुर्जायते दोषेर्यथास्वं तं विभावयेत् ।।२६॥ सु॰ उ॰ अ॰ ३१ अर्थ—विविध प्रकार की चोट लगने से, अभिचार से, गुरुजनों के (पीड़ितों, ताड़ितों या सताए हुओं के) शाप से तथा काम, शोक, भय एवं क्रोध, अथवा भूतों के आवेश होने से जो ज्वर होता है, उसे "आगन्तुरू" कहा जाता है। इसमें भी भिन्न भिन्न दोषों के लच्चगों को जान लेना चाहिये।

वक्तव्य—अभिघातादि कारणों से जो भी रोग होता है, उसे "आ-गन्तुज" कहा जाता है। यद्यपि उक्त कारणों से भी वायु आदि ही कुपित होकर रोग को उत्पन्न करते हैं। परश्च विप्रकृष्ट कारणों से भी रोगों की संख्या मानी जाती है। जैसे—मृत्तिकाजनित पार्खुरोग दोषज होते हुए भी "पाचवाँ" गिना गया है।

### विपज्जवरलच्याम्।

श्यावास्यता विषक्तते तथाऽतीसार एव च ।

भक्तारुचि: पिपासा च तोदश्च सह मूर्च्छ्या ॥२०॥ छ॰ उ॰ अ॰ ३९ अर्थ—विषज ज्वर के लच्चए यह हैं—चेहरे पर कालापन, अति-सार, भोजन में अरुचि, प्यास, सुईयों के चुभने की सी पीड़ा एवं मूर्च्छा ।

#### गन्धजज्वरलच्चाम्।

त्रोषधोगन्धने मृच्छा शिरोरन्यमथुः क्षवः । सु॰ उ॰ अ॰ ३९ अर्थ—तीत्र जहरीली श्रोषधियों का गन्ध द्वारा शरीर में प्रवेश होने से जो ज्वर हो जाता है उसका लच्चण यह है-मूर्झा, शिर में दर्द, कै तथा क्षीकें श्राना।

#### कामज्वरलत्तराम्।

कामजे चित्तविभ्रंशस्तन्द्राऽञ्ज्लस्यमभोजनम् ॥ २८ ॥ ( हृदये वेदना चास्य गात्रं च परिशुष्यति । ) द्व॰ उ॰ ४० ३१ श्रर्थ—कामज्वर के लच्चण—चित्तया मन का विभ्रंश (भ्रष्ट ) होना

श्रथं —कामज्वर के लच्चाए — चित्तया मन का विश्रेश (श्रष्ट ) होना श्रर्थात् लज्जा –बुद्धि एवं धैर्य श्रादि का नाश, उँघाई, श्रालस (रोगी सब कर्त्तव्यों को छोड़ बैठता है ) भोजन भी अच्छा नहीं लगता, हृदय में वेदना ( दर्दें दिल यही है। ) एवं शरीर सूखता जाता है।

भय-शोक-कोधजज्वरलचणम् ।

भयात्प्रलापः शोकाच भवेत्कोपाच वेपशुः । सु॰ ड॰ अ॰ ३६ अर्थ-भय एवं शोक से जो ज्वर होता है उसमें प्रताप एवं कोधज ज्वर में कम्प अधिक होता है।

श्रभिचार-श्रभिशापजज्वरल त्राम्।

श्रभिचाराभिशापाभ्यां मोहस्तृष्णा च जायते ॥२९॥ छ० अ० ३९ श्चर्थ-श्वभिचारज एवं श्वभिशापज ज्वर में बदहोशी एवं प्यास अधिक होती है।

भूताभिषङ्गज्ज्वरत्तत्त्त्रणम् । भूताभिषङ्गादृद्देगो हास्यरोदनकम्पनम् । सु० व० अ० ३९

श्रर्थ - भूतावेश से जो ज्वर होता है उसमें व्यर्थ हँसना एवं रोना, घबड़ाना, कांपना यह लच्चण होते हैं।

कामशोकभयाद्वायुः क्रोधात्पित्तं, त्रयो मत्ताः ॥ ३० ॥

भूताभिषङ्गात्कुप्यन्ति भूतसामान्यलक्षरााः। च० चि• अ० ३

अर्थ-काम, शोक एवं भय से वायु कुपित होता है, क्रोध से पित्त तथा भूतावेश से तीनों दोष, कुपित हो जाते हैं; किन्तु भूतज ज्वर में भूतों के विशेष लच्चण ( हास्यादि ) भी होते हैं।

विषमज्वरस्य सम्प्राप्तिः।

दोषोऽल्पोऽहितसंभूतो ज्वरोत्सृष्टस्य वा पुनः ॥ ३१ ॥

धातुमन्यतमं प्राप्य करोति विषमज्वरम् । सु॰ ड॰ ब॰ ३९

अर्थ-ज्वर मुक्त ( जिसे ज्वर आकर हट गया हो ) अथवा प्रारम्भ से भी मनुष्य का निर्वल वात आदि दोष हानि कारक आहार विहार के सेवन से बढ़ कर एवं रक्तादि सातों धातुत्रों में से किसी धातु में

१ नोट--उपर्युक्त सब ज्वर श्रभिषातज हैं।

जाकर 'विषम' ज्वर' को उत्पन्न कर देता है। विषमज्वरभेदाः।

( सन्तत: सततोऽन्येद्युस्तृतीयकचतुर्थको । ) द्यु॰ उ॰ अ॰ ३१ ऋर्थ—विषम ज्वर के भेद यह हैं-१-सन्तत, २—सतत, ३—ऋन्ये-द्य, ४—तृतीयक, ४—चतुर्थक ।

वक्तव्य—यह विषम ज्वर तथा श्रान्यान्य प्रलेपकादि सभी ज्वर उक्त श्रष्टविध ज्वरों में पृथक नहीं है। केवल वेग, शीत, दाह एवं साम-निरामादि भेद से उन्हीं के श्रवस्थान्तर हैं। कभी २ इन ज्वरों में यह बात देखी जाती है-ज्वर सर्वथा न उतर कर मन्द २ बना रहता है श्रौर समय पर दूसरा ज्वर बड़े वेग के साथ चढ़ जाता है।

सन्ततादिज्वराणां प्रतिनियतदृष्यान् धातूनाह । सन्ततं रसरक्तस्थः सोऽन्येद्युः पिश्चिताश्रितः ॥ ३२ ॥ मेदोगतस्तृतोयेऽह्नि, त्वस्थिमज्जगतः पुनः ।

कुर्याचतुर्थे के घोरमन्तकं रोगसंकरम् ॥ ३३ ॥ छ० ७० ७० ६० अर्थ—रस धातु में स्थित दोष सन्तत ज्वर को, रक्तधातु में स्थित दोष सन्तत ज्वर को, मेदो गत दोष त्रतियक को एवं अस्थि तथा मजागत दोष चतुर्थक ज्वर को उत्पन्न करता है। यह ज्वर बड़ा ही भयंकर यमराज के समान हिंसक एवं उन्मादादि रोगों का उत्पादक होता है।

सन्ततज्वरस्य सम्प्राप्तिः । ( स्रोतोभिर्विसृता दोषा गुरवो रसवाहिभिः । सर्वदेहानुगाः स्तब्धा ज्वरं कुर्वन्ति सन्ततम् ॥ )

९—कभी २ प्रारम्भ से भी विषम ज्वर उत्पन्न हो जाते है। जैसे वर्षा तथा शरद ऋतु में वर्षेया या शीतज्वर या मलेरिया।

२—प्रायः यह सद्योमारक नहीं होता। भ्रौर प्रायः श्रच्छ। भी हो जाता है फिर न जाने 'छन्तक'' विशेषग क्यों हिया गया है।

त्रर्थ—वातादि दोष रसवाही स्नोतों ढारा सम्पूर्ण शरीर में फैल कर गुरु (विलम्ब से पकने वाले ) त्रत एव स्तब्ध (जकड़े हुए) होने के कारण सन्तत ज्वर को कर देते हैं।

सन्ततःवरलच्चगम्।

सप्ताहं वा दशाहं वा द्वादशाहमथापि वा।

सन्तत्या योऽविसर्गी स्यात्सन्ततः स निगद्यते ॥३४॥५० उ० अ० ६९

ऋर्थ — जो ज्वर सात, दश एवं बारह दिन तक निरन्तर ऋटल बना रहे उसे "सन्तत" कहा जाता है ।

व कव्य—उस सन्तत ज्वर की गणना "मुक्तानुवन्धित्वं विषमत्वं" के अनुसार विषम ज्वरों में नहीं होनी चाहिए जैसा कि महर्षि खरनाद ने कहा है—

ज्वराः पूर्वं मयोक्ता ये पक्च सन्ततकादयः। चत्वारः सन्ततं हित्वा ह्रोयास्ते विषमज्वराः।

परन्तु भगवान् चरक के "विसर्गं द्वादशे कृत्वा दिवसेऽब्यक्तत्त्त्त्रणः । दुर्लभोपशमः कालं दीर्घमप्यनुवर्त्तते ।" इस कथनानुसार इसे विषम ज्वर मानना श्रमुचित नहीं ।

सततकान्येद्युष्कःवरलत्त्वणम् । अहोरात्रे सततको द्वौ कालावनुवर्तते । अन्येद्युष्कस्त्वहोरात्रं एककालं प्रवर्त्तते ॥३५॥ सु॰ उ० अ॰ ३६

तृतीयक-चतुर्थकज्वरत्तच्णम् ।

तृतीयकस्तृतीयेऽहि, चतुर्थेऽहि चतुर्थेकः । सु० ३० अ० ३० अथं—जो ज्वर दिन रात में (एक बार दिन में एवं एक बार रात में ) दो वार आता है उसे "सततक ज्वर" कहा जाता है । जो ज्वर दिन रात में एक बार आता है, उसे "अन्येद्युष्क" या "नेतकी" कहा जाता है । जो ज्वर तीसरे (एक दिन बीच में छोड़ कर ) दिन आता है उसे "तृतीयक" या "तेइया" या "तिजारी" कहा जाता है एवं जो ज्वर चौथे दिन आता है उसे "चतुर्थंक" या "चौश्वया" कहा जाता है ।

वक्तव्य — उक्त ज्वरों का वेग उक्त समय दोष की प्रवलता के अनुसार होता है अर्थात् दोष अपने नियत समय में वेग करते हैं। और तृतीयक एवं चतुर्थक ज्वर में प्रायः वायु प्रवल रहता है। यथा—वाता-धिकत्वात्प्रवद्गित तज्ज्ञा तृतीयकं चापि चतुर्थकं च। औपत्यकं (पर्वतों की तराई में होने वाले) मद्यसमुद्भवे च हेतुं ज्वरे पित्तकृतं वद्ग्ति। सु० उ० अ० ३६।

केचिद्गभूताभिपङ्गोत्थं ब्रुवते विषमज्वरम् ॥३६॥ सु॰ उ॰ अ॰ ३९ ऋर्थ-कोई २ त्र्याचार्य विषम ज्वर का कारण ( उत्थान ) भूता-वेश मानते हैं ।

वक्तन्य—"जब कि दोष शरीर में विद्यमान हैं तो सर्वदा ज्वर क्यों नहीं होता ?" इस सन्देह की निर्मुत्ति के लिये महर्षियों ने कई प्रकार के जत्तर दिये हैं—? "श्रहोरात्रादहोरात्रात्स्थानात्स्थानं प्रपद्यते । ततश्रामान्श्यं प्राप्य दोष: कुर्याज्वरं नृणाम् । २—परो हेतुः स्वभावो वा विषमे किश्चिदुदाहतः । श्राग्नुश्चानुबन्धो हि प्रायशो विषमंज्वरे । ३-रात्र्यहोः पर्सु कालेषु कीतितेषु यथा पुरा । प्रसद्ध विषमोऽभ्येति मानवं बहुधा ज्वर: । ४—देवे वर्षत्यिप यथा भूमो बीजानि कानिचित् । शरिद प्रतिरोहित तथा व्याधिसमुच्छ्यः, श्रस्तु । विषम ज्वरों के सम्बन्ध में एक वात समरणीय यह है कि:—सचापि विषमो देहं न कदाचिद् विमुश्चति । ग्लानिगौरवकाश्चेभ्यः स (रोगी) यसान्न प्रमुच्यते । केवल —वेगे नु समतिकानते गतोऽयमिति लद्द्यते ।" तात्पर्य यह है कि दोष धानुश्चों में लीन रहता हो है । समय पर उभर श्चाता है । विषम ज्वरों में भूता-भिषंग को हेतु मानने का कारण सम्भवतः यह है कि प्रायः विषम ज्वर मन्त्र-यन्त्र या भाड़-पूर्क श्चादि से श्वच्छे हो जाते हैं किन्तु इस विचार के सर्वसम्मत न होने का कारण श्चीषध चिकित्सा की सफलता है ।

तृतीयकचतुर्थकयोर्छज्ञणान्तरम्।

कफपित्तात्त्रिकग्राही पृष्ठाद्वातकफात्मकः । वातपित्ताच्छिरोग्राही त्रिविधः स्यानृतीयकः ॥३७॥ श्चर्य — तृतीयक ज्वर कफ एवं पित्त की श्वधिकता से पहले कमर में पीड़ा करके चढ़ता है। वात कफ की श्वधिकता से पीठ में पीड़ा करके चढ़ता है एवं वात पित्त की श्वधिकता से शिर में पीड़ा करके चढ़ता है इस प्रकार उक्त ज्वर तीन प्रकार का होता है।

चतुर्थको दर्शयति प्रभावं द्विविधं ज्वरः।

जङ्घाभ्यां श्लैष्मिक: पूर्वं शिरस्तोऽनित्तसंभव: ॥३८॥व० वि० अ० ३

अर्थ—चतुर्थक ज्वर दो प्रकार का प्रभाव दिखलाता है यथा-कफ को अधिकता से पहिले जाँघो (पिंडिलियों) से तथा वायु की अधिकता से पहिले शिर से प्रारम्भ होकर चढता है।

वक्तव्य-चतुर्थक ज्वर में पित्त सवधा हीन बना रहता है ऋतएव उसका उल्लेख नहीं किया।

चतुर्थकविपर्ययमाह ।

विषमज्वर एवान्यश्रतुर्थकविपर्ययः।

स मध्ये ज्वरयत्यही आदावन्ते च मुञ्जित ॥३९॥ च० च० क० ६ अर्थ—एक और "चतुर्थक विपर्यय" अर्थात् (चतुर्थक से विपर्तित) ज्वर होता है वह विचले दो दिन ज्वर करता है और आदि अंत का एक दिन छोड़ता है (एक ही दिन को आदि अंत का मान लिया जाता है) एवं "द्वयहं ज्वरयित दिनमेकं च मुद्धति।" (वा० नि० अ०२) पर भी ध्यान दीजिये।

वातवलासकज्वरलच्चणम् ।

नित्यं मन्दज्वरो रूक्षः शूनकस्तेन सीद्ति ।

स्तव्याङ्गः श्लेष्मभूयिष्ठो नरो वातवलासकी ॥४०॥ इद वामट अ० ६ अर्थ—वातवलासक ज्वर का लत्त्या यह है—सर्वदा मन्द २ ज्वर बना रहता है, शरीर में रूचता (खुश्की), सूजन, सुजन होने से रोगी विशेष रूप से शिथिल हो जाता है, शरीर जकड़ जाता है और कफ बढ जाता है।

वक्तव्य-कहा जाता है कि यही ज्वर वह "बेरी बेरी" नामक

प्रसिद्ध रोग है, जो सन् १९३४ में काशी की जनता में प्रचंड रूप से फैला था। इस में हृदयक धड़कन एवं शोथ प्रधानतया पाए जाते थे।

प्रलेपकःवरलत्तराम्।

प्रलिम्पन्निव गात्राणि घर्मेण गौरवेण च ।

मन्दज्वरविलेपी च सञ्चीतः स्यात्प्रलेपकः ॥ ४१ ॥ ५० वा॰ वा॰ वा॰

श्रर्थ—प्रलेपक ज्वर का लत्त्रण यह है—सम्पूर्ण शरीर पसीने से लिपा सा रहता है ( सम्भवतः पसीने में नसीका श्रादि पिन्छिल पदार्थ निकलते हैं), शरीर में भारीपन का श्रनुभव होता है, सदैव मन्द २ ज्वर बना रहता है। श्रोर शीत लगता है।

वक्तव्य-प्रलेपकं वातवलासकं वा कफाधिकत्वात्मवद्नित तज्ज्ञाः।
मृच्छांनुबन्धा विषमज्वरा ये प्रायेगा ते द्वन्द्वसमुत्थितास्तु । सु० उ० द्या
३९ । प्रलेपक ज्वर प्रातःकाल कुछ कम रहता है द्योर उसी समय पसी-ना भी द्यधिक द्यात। है ख्योर दोपहर बाद एवं रात में ज्वर बढ़ जाता है।

देहार्द्धजातज्वरलत्त्रणम् । विदग्धेऽन्नरसे देहे श्लेष्मिपत्ते च्यवस्थिते । तेनार्घं ज्ञीतलं देहे चार्घं चोष्णं प्रजायते ॥ ४२ ॥

ऋर्थ-शरीर के भीतर जब ऋाहार का रस दूषित हो जाता है एवं कफपित ज्वर करने के लिये तैयार होते हैं तब ऋाधा शरीर शीत तथा ऋाधा उष्ण हो जाता है।

वक्तव्य — यह ज्वर कभी ऋई नारीश्वर के समान ऋथीत् ऊई रेखा से विभक्त शरीर के आधे भाग में और कभी नरसिंह के समान ऋथीत् किट से विभक्त ऋषे शरीर में होता है।

शीत-पाणि-पादःचरत्तच्याम् । काये दुष्टं यदा पित्तं श्लेष्मा चान्ते व्यवस्थितः । तेनोष्णत्वं शरीरस्य ज्ञीतत्वं इस्तपादयोः ॥ ४३ ॥ ऋर्थ — जब पिक्त दोष मध्यकाय (धड़) में दुष्ट होता है और कफ अंत भाग ऋर्थात् हाथ-पांव में स्थित होता है तो मध्यकाय में उज्याता एवं हाथ-पांव में शीतता होती है।

वक्तव्य—इस ज्वर में रोगी के पार्श्ववर्ती लोगों को हाथ-पांव शीत होने से घबराहट घेर लेती हैं; िकन्तु वैद्य को सावधान रहना चाहिये।

उष्ण-पाणि-पाद-ज्वरतज्ञ्णम्।

काये श्लेष्मा यदा दुष्टः पित्तं चान्ते व्यवस्थितम् ।

शीतत्वं तेन गात्राणामुष्णत्वं हस्तपादयोः ॥४४॥ सु॰ ड॰ अ॰ ३९

अर्थ—जब मध्यकाय में कफ कम होता है और अन्यत्र अर्थात् हाथ-पांव में पित्त प्रवल रहता है तो मध्यकाय में शीत एवं हाथ-पांव में गर्मी (ताप) रहती है।

वक्तव्य-यह ज्वर प्रायः बचों को होता है।

शीतपूर्वज्वरलज्ञणम् ।

त्वक्स्थौ श्लेष्मानिलौ शतीमादौ जनयतो ज्वरे ।

तयोः प्रशान्तयोः पित्तमन्ते दाहं करोति च ॥४५॥ छ॰ ७० ४९

श्रर्थ—जब कफ एवं वायु त्वचा में स्थित रहते हैं, तो वे दोनों ज्वर में पिहले शीत (जाड़ा या पाला) उत्पन्न करते हैं। उन के शान्त होने पर (१-२ घएटे पर) पित्त प्रवल होकर श्रन्त में दाह उत्पन्न कर देता है। (बस इतने में पसीना श्राकर ज्वर उतर जाता है। फिर श्रपने समय पर इसी प्रकार ज्वर हो जाता है। यह परम्परा १ दिन से लेकर महीनों चलती है। यही प्रसिद्ध जड़ैया ज्वर है श्रीर यह बात सभी विषम ज्वरों में देखी जाती है।

दाह-पूर्वज्वरत्तत्त्त्र्याम् । करोत्यादौ तथा पित्तं त्वक्स्थं दाहमतीव च । तस्मिन् प्रश्नान्ते त्वितरौ कुस्तः शीतमन्ततः ॥४६॥ छ० ठ० ४० ४९ अर्थ-जसी प्रकार त्वचा में स्थित पित्त ज्वर में पहिले अत्यन्त दाह उत्पन्न करता है और उसके शान्त होने पर कफ एवं वायु अन्त में शीत उत्पन्न कर देते हैं।

वक्तव्य—यह ज्वर प्रायः बहुत कम होता है। ऋथैतयोः साध्यविवेकः।

द्वावेतौ दाहशीतादिज्वरौ संसर्गजौ स्मृतौ ।

दाहपूर्वस्तयोः कष्टः कुच्छुसाध्यतमश्च सः॥ ४७ ॥ बु॰ उ॰ अ॰ ३३

श्रर्थ—यह दोनों दाहपूर्वक एवं शीतपूर्वक उवर संसर्गज श्रर्थात् दो दो दोषों से प्रारंभ होते हैं। (तीसरे दोप का पीछे से कोप होता है) इन दोनों में दाहपूर्वक उवर (शीतपूर्वक उवर की श्रपेत्ता) श्राधिक कष्टप्रद एवं श्रत्यन्त कष्ट साध्य होता है।

तत्रादौ रसधातुगतब्बरस्य लज्ञखम् । गुस्ता हृदयोत्वलेशः सदनं छर्चरोचकौ । रसस्थे तु ज्वरे लिङ्गं दैन्यं चास्योपजायते ॥ ४८ ॥

श्चर्थ—उक्त सभी वातादि ज्वरों काप्रभाव जब रस धातु पर श्चिक होता है तो यह लच्चाण होते हैं-शरीर में भारीपन, जी मिचलाना, शरीर में शिथिलता, के, श्रक्ति एवं सुस्ती।

वक्तव्य—हृदयोत्क्लेश—हृदय को दूषित रस से मिश्रित रक्त का संबहन करने में क्लेश होता है । यह बात "जी मिचलाना" के रूप में प्रत्यन्त होती है । उक्त कारण से ही "गुरुता" एवं "सदन" होता है और आमाशय के दूषित रस को प्रकृति "इंदिं" द्वारा बाहर निकाल देती है । "दैन्य" मानसिक क्लेश होता है जिसे "सुस्ती" कहा जाता है।

रक्तघातुगतज्वरलत्त्रणम् । रक्तनिष्ठीवनं दाहो मोहश्छर्दनिविभ्रमो ।

प्रलाप: पिडका तृष्णा रक्तप्राप्ते ज्वरे नृणाम् ॥ ४९ ॥ द्यर्थ—जब ज्वर का रक्त पर द्यधिक प्रभाव पड़ता है तो यह लज्ञण होते हैं-थूक में रक्त श्राना, दाह, बदहोशी, कैं, चकर, प्रलाप, छोटी २ पिड़काओं का निकलना एवं प्यास । वक्तन्य—रक्त का दबाब बढ़ जाने के कारण भीतरी केशिकाएँ फट जाती हैं उनमें से जो रक्तसाव होता है वहीं थूक में आता है । आहा त्वचा दृढ़ होती है अतः उसमें से नहीं निकल पाता, किन्तु यदि यह रक्तिपत्त (ज्वरसन्तापादू रक्तिपत्तमुदीर्थते) का रूप धारण कर लेवे (न करे ईश्वर) तो सब ओर से रक्त आ सकता है। शेष लच्चणों पर स्वयं विचार करिये कि वे क्यों होते हैं।

मांसधातुगतज्वरलत्त्रणम्। पिण्डिकोद्वेष्टनं तृष्णा सृष्टमूत्रपुरीषता । ऊष्माऽन्तर्दाहविचेपौ ग्लानिः स्यान्मांसगे ज्वरे ॥ ५० ॥

श्रर्थ—मांसगत ज्वर का लज्ञ्गा यह है—पिंडिलियों (श्रथवा सभी मांसल स्थानों ) में ऐंठन (मांसपेशियों में संकोच), प्यास, मृत्र एवं पुरीष का श्रधिक होना, त्वचा में श्रधिक गर्मी, भीतर दाह, हाथ-पांव पटकना एवं सुस्ती।

मेदोधातुगतज्वरतत्त्रणम् । भृजः स्वेदरतृषा मूर्च्छा पतापरद्धर्दिरेव च । दौर्गन्ध्यारोचको ग्लानिर्मेदःस्थे चासहिष्णुता ॥ ५१ ॥

श्रर्थ—मेद धातुस्थित ज्वर का लत्त्रण यह है—अत्यन्त पसीना, प्यास, मूर्च्छा, प्रलाप, के, शरीर में से दुर्गध श्राना, श्रर्रचि, सुस्ती एवं सहनशीलता का श्रभाव श्रर्थात् रोगी रोने या तड़पने या हाय-तोबा करने लगता है।

श्रस्थिघातुगतज्जरत्तत्त्त्रणम् । भेदोऽस्थ्नां कूजनं श्वासो विरेकश्छर्दिरेव च । विद्येपर्णं च गात्रारणामेतदस्थिगते ज्वरे ॥ ५२ ॥

श्चर्य—श्चस्थिगत ज्वर का यह लत्त्त्त्त्ता है—हड्डियों में फटने की सी पीड़ा, कहरना, श्वास (कष्टपूर्वक सांस त्र्याना), श्रतिसार, के एवं हाथ-पांव पटकता। मज्जधातुगतज्बरत्वचणम् । तमःभवेशनं हिका कासः शैत्यं विमस्तथा । अन्तर्दाहो महाश्वासो मर्मच्छेदश्च मज्जगे ॥ ५३ ॥

त्रर्थ—त्रांखों के सामने श्रन्वेरा श्राना वा मूर्छी, हिचकी, खाँसी, शीत लगना, कै, भीतर दाह, महाधास (श्रास निदान देखिये) एवं मर्म (हदयादि) स्थानों में द्विद जाने या पर

शुक्रधातुगतज्वरल्चणम् । मरर्णं प्राप्तुयात्तत्र शुक्रस्थानगते ज्वरे ।

शेफसः स्तब्धता मोक्षः शुक्रस्य तु विशेषतः॥५४॥ सु॰ उ० अ० ३९

श्रर्थ—जब ज्वर का प्रभाव शुक्र धातु पर श्रधिक पड़ता है तो रोगी मर जाता है श्रोर मरने के पहले ये लच्चण होते हैं—लिंग स्तब्ध या क इंग हो जाता है। एवं ब इंत छाधिक शुक्र निकज़ता रहता है।

्व कव्य—एक थानु शरीर भर में श्रत्यन्त सौम्य धातु है। उस पर ज्वर का प्रभाव पड़ने के कारण वह पतजा होकर (पिघल कर) ।श्रत्यन्त निकज्ञ जाता है तो मृत्यु होना श्रानिवार्य हैं। कुञ्ज लोग "यथा पयिस सिपंसु गुडश्रेश्वरसे यथा। शरीरेषु तथा नृणां शुक्रं विधान् भिष्यवरः" (सु० शा० श्र० ४) इस खोक को लेकर शुक्र स्थान के सम्बन्ध में संराय उत्पन्न करते हैं; किन्तु वे "सप्तमी शुक्रधारा नाम, सा सर्वशरीर-व्यापिनी" (सु० शा० श्र० ४) श्रयवा, वातादि द्वारा शुक्र का दूषित होना, "शुक्रवहानां स्रोतसां वृषणों मृत्वम्" (च० च० श्र० ४) इत्यादि वचनों पर ध्यान दें तो उक्त संशय दूर हो जाय। जब कि वह वातादि दोषों द्वारा दूषित हो सकता है तो क्या ज्वर द्वारा सन्तम नहीं हो सकता। इत्यलम्।

**ः श्र**थैषां साध्यासाष्यत्वम् ।

( रसरक्ताश्रितः साध्यो मांसमेदोगतश्र यः ।

# प्राकृत-वैकृत-ज्वरलत्त्रणम् ।

वर्षाशरद्वसन्तेषु वाताद्यैः प्राकृतः क्रमात् ।

वैक्रतोऽन्यः स दुःसाध्यः पाकृतश्चानिलोद्भवः॥ ५५ ॥व॰ वि॰ वर् ३

त्रर्थ —प्रावृट् ऋतु, शरद् ऋतु एवं वसन्त ऋतु में क्रमशः वात पित्त एवं कफ से होने वाला ज्वर "प्राकृत" कहलाता है इससे विपरीत "वैकृ-त" या "त्रप्राकृत" कहलाता है और इस प्रकार का ज्वर कष्ट साम्य होता है तथा वातज्वर प्राकृत भी कष्ट साम्य होता है ।

वक्तन्य—यहाँ "वर्षा" शब्द का प्रयोग भ्रमात्मक ज्ञात होता है वास्तव में "प्रावृद्" होना चाहिये । ग्रीष्म श्रादि तीन अवशिष्ट ऋतुओं में होने वाले ज्वर क्या कहलाएँगे ? यह उल्लेख न जाने क्यों नहीं किया। मेरे विचार से प्रीष्म श्रादि ऋतुएँ जिन २ दोषों का सक्त्रय काल बतलाई गई हैं, उनमें होने वाला ज्वर उसी दोष के होने पर "प्राकृत" समक्ता चाहिये और तदिपरीत "वैकृत"। यथा—ग्रीष्म में वातज्वर, वर्षा में पित्तज्वर एवं हेमन्त में कफज्वर "प्राकृत" होता है।

प्राकृतज्वरा**णा**मुत्पत्तिकमः ।

वर्षासु मारुतो दुष्टः पित्तश्लेष्मान्वितो ज्वरम् । क्वर्यात्पित्तं च शरिद तस्य चानुबलः कफः ॥ ५६ ॥ तत्पक्रत्या विसर्गाच तत्र नानशनाद्भयम् ।

कफ़ो वसन्ते तमिप वातिपत्तं भवेदनु ॥ ५७ ॥ वा॰ नि॰ अ॰ २ अर्थ—वर्ष (प्राष्ट्र) ऋतु में वायु-पित्त एवं कफ से युक्त होकर ज्वर को उत्पन्न करता है। शरद् ऋतु में पित्त ज्वर करता है उस (पित्त) का अनुगामी कफ होता है और पित्त एवं कफ के द्रव होने के कारण तथा विसर्ग (स्वभावतः बलवर्द्धक) काल होने के कारण उक्त ज्वर में उंघन करने में भय नहीं होता। वसन्त ऋतु में कफ ज्वर को करता है उसके अनुगामी वात एवं पित्त दोनों होते हैं।

वक्तत्र्य—िकसी भी ज्वर में (जहाँ भी पित्त एवं कफ का संसर्ग हो जो कि होता ही है) श्रावश्यकतानुसार लंघन करने में भय नहीं है। यथा--

कफिपत्ते द्रवे धातू सहेते लंघनं महत्। आमज्ञयादृर्ध्वमतो वायुर्न सहते ज्ञयम्॥

अतएव प्रायः सभी ज्वरों में थोड़ा-बहुत लंघन करवाया ही जाता है।

कालसम्प्राप्तिः।

काले यथास्वं सर्वेषां प्रवृत्तिर्वृद्धिरेव वा । पर वार अर ३

अर्थ-दोनों के अनुसार अपने २ काल में सभी ज्वरों की (या रोग मात्र की) प्रवृत्ति अर्थात प्रारम्भ एवं वृद्धि होती है।

वक्तव्य-यह "काल सम्प्राप्ति" है श्रीर यह केवल ज्वर के ही लिये नहीं; श्रपितु इसकी सभी रोगों में श्रनुवृक्ति कर लेनी चाहिये।

उपशयानुपशयाभ्यां व्याधिविज्ञानम् ।

निदानोक्तानुपद्मयो विपरीतोपशायिता ॥ ५८ ॥ ए० वा॰ अ० ३

श्चर्थ—जो श्राहार विहार जिन रोगों के कारण कहे गये हैं वे ही उन रोगों के श्रानुपराय होते हैं। तथा इसके विपरीत उपराय होते हैं। वक्तव्य—रोगोत्पादक श्राहार विहार रोगवर्धक होने के कारण अनुपराय तथा तिहपरीत रोगशामक होने के कारण उपराय कहे जाते हैं। इस सूत्र की श्रानुष्टित भी सभी रोगों में कर लेनी चाहिए।

श्रन्तर्वेगज्वरस्य लच्चाम्।

अन्तर्दाहोऽधिकस्तृष्णा प्रतापः श्वसनं भ्रमः । सन्ध्यस्थिशुलगस्वेदो दोषवर्चोविनिग्रहः ॥ ५९ ॥

अन्तर्वेगस्य लिङ्गानि ज्वरस्यैतानि लक्षयेत् । ७० ७० ४०

श्चर्थ—श्चन्तर्वेग ब्वर के लक्त्या ये हैं—भीतर अत्यन्तदाह, प्यास, प्रलाप, श्वास, चक्कर, सन्धियों तथा हिंडूयों में शुल, पसीना न होना तथा दोषों (बात त्रधोबायु आदि के रूप में, पित्त-मूत्रपुरीष आदि के साथ एवं कफ खखार में निकलने वाले ) एवं पुरीष का हका रहना।

### बहिर्वेगज्बरलज्ञाम्।

सन्तापो ह्यथिको बाह्यस्तृष्णादीनां च मार्दवम् ॥ ६० ॥ वहिर्वेगस्य लिङ्गानि सुखसाध्यत्वमेव च । च० च० च० ३ अर्थ-त्वचा में अधिक उष्णता तथा उपर्युक्त रुष्णा, प्रलाप आदि

अर्थ—त्वचा में अधिक उष्णता तथा उपयुक्त तृष्णा, प्रलाप आदि में कमी यह लक्षण "वहिर्वेग" का है। यह मुख साध्य होता है। (अन्त-वेंग ज्वर की अपेक्षा।)

श्रामज्बरतत्त्वणम् ।

लालाप्रसेको ह्छासहृद्याशुद्धचरोचकाः ॥ ६१ ॥ तन्द्रालस्याविपाकास्यवेरस्यं गुरुगात्रता । ज्ञुनाशो वहुमूत्रत्वं स्तब्धता वलवान् ज्वरः ॥ ६२ ॥ त्र्यामज्वरस्य लिङ्गानि न दद्यात्तत्र भेषजम् । भेषजं ह्यामदोषस्य भूयोज्वलयति ज्वरम् ॥६३॥ च०नि०अ०परिवर्तित

श्रर्थ—लार जाना या मुख भर भर श्राना, जी भिचलाना, हृदय में भारीपन, श्रहचि, उँघाई, श्रालस, श्रानपच, मुख में विरसता, रारीर में भारीपन, भूख न लगना, मूत्र श्रिषक श्राना, दोषों की स्तब्धता (जक-इन या न निकलना) प्रवल ब्वर बना रहना ये सव लच्चा "श्राम ब्वर" के हैं। इस दशा में शमन श्रीषध नहीं देनी चाहिये; क्योंकि श्रामदोष युक्त ब्वर में शमन एवं शोधन श्रीपध देने से ब्वर श्रीर श्रिष्ठ हो जाता है (पाचन श्रीषध एवं उष्णोदकादि देना हो चाहिए श्रीर दिया ही जाता है।)

पच्यमानज्वरलच्याम्।

ज्वरवेगोऽधिकस्तृष्णा प्रात्तपः श्वसनं भ्रमः।

मलप्रष्टतिरूक्लेश: पच्यमानस्य लक्षणम् ॥६४॥ च॰ वि॰ व॰ ३ अर्थ—पच्यमान ज्वर के छत्त्वण ये हैं—ज्वर प्रवल हो जाता है, प्यास, प्रताप, श्वास, भ्रम, मलों (दोषों एवं मलों) का कुछ निकलना एवं जी मिचलना।

#### परिपक्रज्वरत्वज्ञाग्म् ।

द्धुत्क्षामता लघुत्वं च गात्राणां ज्वरमार्दवम् ।

दोषप्रदृत्तिरुत्साहो निरामज्वरत्तक्षराम् ॥६५॥ च॰ च॰ व॰ अश्व अर्थ—निराम अर्थात् आमदोष रहित ज्वर के लच्चरा ये हैं — भूख लगना, कृशता, शरीर में हल्कापन, ज्वर का बहुत थोड़ा रह जाना, दोषों का निकलना एवं मन में उत्साह होना।

वक्तव्य—यह प्रत्येक ज्वर की तीनों अवस्थाएँ हैं। पहली में छंघन दूसरी में पाचन एवं तीसरी में शमन श्रोषध देना चाहिए; बस बाजी आप के हाथ है।

#### साध्यज्वरलच्चणम्।

बलवत्स्वल्पदोषेषु पद्धाः साध्योऽनुपद्भवः । ७० वि॰ उ० ६ अर्थ-रोगी बलवान् हो, दोष अत्यन्त दुर्बल हो एवं उपद्रव उत्पन्न

न हए हों तो ज्वर साध्य होता है।

वक्तरुय—माधव जी ने प्रारम्भ में "सोपद्रवा" इत्यादि से उपद्रव तिखने की प्रतिज्ञा की हैं: किन्तु बहुत रोगों में वे नहीं पाए जाते । सम्भ-बतः प्रतिलेखकों की श्रसावधानता का यह कारण है । श्रस्तु । श्रध्यापकों को चाहिए कि उपद्रवों को मृल के साथ ही पढ़ा दिया करें। यथा— कासो मूर्च्छांक् चिरछ दिस्तुष्णातीसारविड्प्रहाः। हिक्का श्वासांगभेदाश्च ज्वरस्योपद्रवा दश।।

#### श्रसाध्यज्वर्लच्याम् ।

हैतुभिर्बहुभिर्जातो बलिभिर्बहुलक्षणः ॥६६॥

ज्वर: प्राणान्तकृयश्च शीघ्रमिन्द्रियनाश्चनः । च॰ चि॰ अ॰ ३

श्रर्थ — बहुत एवं बलवान् हेतुश्रों (कारणों ) से उत्पन्न होने वाला, बहुत से लज्ञ्यों से युक्त तथा शीघ ही कान आदि इन्द्रियों की शक्ति को नष्ट कर देने वाला ज्वर मारक होता है।

१--यह सूत्र केवल ज्वर में ही नहीं. ऋषितु सभी रोगों में लगाया जासकता है

# भाषाटीका

प्रकारान्तरेगासाध्यज्वरलज्ञगम् । ज्वरः क्षीगस्य शूनस्य गम्भीरो दैर्घरात्रिकः ॥६७॥

श्रसाध्यो बलवान् यश्र केशसीमन्तग्रुज्ज्वरः । च॰ चि॰ अ॰ ६ श्रर्थ—त्त्रीण एवं शोधयुक्त मनुष्य का पुराना गम्भीर ज्वर असाध्य है श्रोट जो श्रास्त्रक प्रवत्न ज्वर केशों में सीमन्त (माँग या चीरनी)

अथ—क्षाण एवं शिवधुक मनुष्य का बुराना गन्नार ज्यार जसान्य होता है स्त्रौर जो स्रत्यन्त प्रवत्त च्या केशों में सीमन्त (माँग या चीरनी) कर देवे वह भी स्रसाध्य होता है।

गम्भीरज्वरलच्चणम् ।

गम्भीरस्तु ज्वरो क्षेयो ह्यन्तर्दाहेन तृष्णया ॥६८॥

त्र्यानद्धत्वेन चात्पर्थं श्वासकासोद्धगमेन च । ष्ठ॰ उ॰ अ॰ ३९

त्रर्थ--गम्भीर ज्वर का लज्ञण यह है-भीतर दाह, प्यास, आनाह एवं घोर श्वास तथा खांसी।

श्रपरमसाध्यज्वरत्त्त्त्गम् ।

ब्रारम्भाद्विषमो यस्तु यश्च वा दैर्घरात्रिकः ॥६९॥

क्षीएएस्य चातिरूक्षस्य गम्भीरो यस्य हन्ति तम् । सु॰ उ॰ अ॰ ३९

श्चर्य--उक्त गम्भीर ज्वर यदि श्चारम्भ से ही विषम हो श्रथवा पुराना हो जाय तो श्वसाध्य होता है। यदि कीण एवं रूक्त शरीर वाले मनुष्य को हो तो भी श्वसाध्य होता है।

श्रसाध्यज्वरलच्चागन्तरम् ।

विसंज्ञस्ताम्यते यस्तु शेते निपतितोऽपि वा ॥७०॥

शीतार्दितोऽन्तरुष्णश्च ज्वरेण म्रियते नर:। सु॰ उ॰ अ॰ ३१

अर्थ-जो रोगी बेहोश हो, जिसकी ऑखों के सामने अन्वेरा आवे, जहां गिरे वहीं सो जावे, बाहर शीत लगे एवं भीतर दाह हो तो वह

रोगी मर जाता है।

श्रपरमप्यसाध्यज्वरलत्त्रग्रम्।

यो हृष्टरोमा रक्ताक्षो हृदि संघातश्र्लवान ॥७१॥

वक्त्रेण चैवोच्छ्वसिति तं ज्वरो इन्ति मानवम् । सु॰ उ॰ भ॰ ३९

त्र्यर्थ—जिस ज्वर रोगी को रोमाख्न हो, त्राखं लाल हो गई हों, हृदय में श्रत्यन्त शूल हो तथा केवल मुख से (खोलकर) ऊपर को सांस ले रहा हो उसको ज्वर मार देता है।

हिका-श्वास-तृषा-युक्तं मूढं विभ्रान्त-लोचनम् ॥७२॥ सन्ततोच्छवासिनं क्षीणं नरं क्षपयति ज्वरः ।

ऋर्थ—हिचकी, श्वास एवं प्यास से युक्त, बदहोश, जिसके नेत्र इधर उधर घूम रहे हों एवं केवल मुख से सांस ऋा रहा हो तथा रोगी चीण हो गया हो; ऐसी दशा में रोगी को उचर मार डालता है।

श्चन्यदृष्यसाध्यज्वरत्तत्त्त्रणम् । इतप्रभेन्द्रियं क्षीणमरोचकनिपीडितम् ॥७३॥

गम्भीर-तीक्ष्ण-वेगाऽऽर्त ज्विरतं परिवर्जयेत् । सु॰ व॰ थ॰ ६६ अर्थ—जिस रोगी की कान्ति एवं इन्द्रियों की शिक नष्ट हो गई हो, बल मांस की हानि हो गई हो, अरुचि बढ़ गई हो, गहरे तथा तीत्र वेग वाले ज्वर से पीड़ित हो; ऐसे ज्वररोगी को छोड़ देना चाहिये।

ज्वरमुक्तेः पूर्वरूपम् ।

दाहः स्वेदो भ्रमस्तृष्णा कम्पविड्भिदसंज्ञिता ॥७४॥ क्रजनं चास्यवैगन्ध्यमाकृतिजर्वरमोक्षणे ।

श्रर्थ—ज्वर छोड़ने को होता है तो ये लक्तण उत्पन्न होते हैं— दाह, पसीना, चक्कर, प्यास, कम्पन, मलभेद (दस्त ), मूर्छा, कहरना एवं मुख में दुर्गन्ध ।

बक्तव्य—उक्त लच्चाण भीषण ज्वर के छोड़ते समय ही होते हैं, साधा-रण ज्वरों में तो केवल पसीना होता है, श्रीर पित्त ज्वरों में इसके विप-रीत लच्चण होते हैं।

ज्वरमुकस्य लत्त्त्यम् । स्वेदो लघुत्वं शिरसः कण्ड्रः पाको मुखस्य च ॥७५॥ क्षवधुश्वात्रलिप्सा च ज्वरमुक्तस्य लक्ष्याम् । द्व• व० ४० ्द्यर्थ-ज्वर छूटने के लक्षण ये हैं-पसीना, शरीर में हल्कापन, शरीर में खुजली, मुख ( स्रोठ ) पर फुंसियाँ, छींक एवं भोजन में इचि ।

इति ज्वरनिदानम् ।

#### अतिसारनिदानम् ।

वक्तव्य—मानव या प्राियामात्र के शरीर में आधे से अधिक भाग द्रव द्रव्यों का है वे सब द्रव पदार्थ रक्त लसीका आदि के रूप में शरीर के भीतर विद्यमान रहते हैं। प्राकृतिक नियमानुसार जितना द्रव शरीर में से मूत्र-स्वेद आदि के रूप में निकलता है, उसकी पूर्ति जलपान द्वारा होती रहती है तथा शरीर के पोषक (आप्यायक) होने के कारण उन्हें अपां धातु या तर्पक धातु कहा जाता है। बस, उस जलधातु का केवल गुदमार्ग से बह जाना "आतिसार" कहलाता है। प्रारम्भ में वह केवल मलमिश्रित होकर निकलता है, बाद (आसध्यावस्था) में शरीरोपयोगी अत्यन्त आवश्यक धातुओं को भी बहा ले जाता है। सान्नि-पातिक तथा आसाध्य अतिसार के लक्षणों पर ध्यान दीजिये।

गुर्वति-स्निग्ध-रूक्षोष्णद्रव-स्थूलातिज्ञीतलैः । विरुद्धाध्यज्ञनाजीर्णैर्विषमैश्वापि भोजनैः ॥ १ ॥ स्नेहाचैरतियुक्तैश्व मिथ्यायुक्तैर्विषैर्भयैः । शोकाद्धदुष्टाम्बु-मद्यातिपानैः सात्म्यर्तुपर्ययैः ॥ २ ॥ जलाभिरमणेर्वेगविघानैः कृमिदोषतः ।

नृणां भवत्यतीसारो लक्षणं तस्य वक्ष्यते ॥ ३ ॥ छ॰ ०० ०० वर्षः अर्थः—गुरु (विलम्ब से बचने वाले) अत्यन्त चिकते, रूच, गर्भ, पतले, मोटे (बिना चबाए), अत्यन्त शीतल, विरोधी (वीर्य विरुद्ध आदि) द्रव्यों का सेवन करने से, मोजन पर (बिनपचे) भोजन करने से, कच्चे पदार्थ खाने से अथवा अनपच होने से, न्यूनाधिक तथा वेवख्त भोजन करने से, स्नेहन, स्नेदन, आदि के अधिक अथवा विधि

रहित प्रयोग करने से, विष को खाने से, भय से, शोक से, दृषित जल पीने से, मद्य का अधिक सेवन करने से, ऋतुओं के विपरीत होने से, जल में अत्यन्त तैरने आदि से, मलमूत्रादि का वेग रोकने से तथा **उदर** में कृमि पड़ जाने से मनुष्यों को "त्र्यतिसार" हो जाता है। उस का लच्चा कहा जायगा।

#### श्चतिसारसम्प्राप्तिः।

संशम्यापांधातुरमि प्रदृद्धः शकृन्मिश्रो वायुनाऽधः प्रशुद्धः । सरत्यतीवातिसारं तमाहुर्व्याधिं घोरं षड्विधं तं वदन्ति ॥ एकैकशः सर्वश्रश्रापि दोपैः शोकेनान्यः षष्ट श्रामेन चोक्तः ॥४॥ सु॰ ड॰ अ॰ ४०

अर्थ-उपर्युक्त कारणों से दूषित जल धातु बढ़कर अप्रि को मन्द कर एवं वायु द्वारा नीचे की स्त्रीर प्रेरित होकर गुदमार्ग से ऋत्यन्त वेग से निकलता है । इस घोर व्याधि को "श्रातिसार" कहते हैं श्रोर यह छः प्रकार का कहा गया है-अकेले २ वात, पित्त एवं कफ से तीन, सन्निपात से चौथा, शोक से पाँचवाँ एवं त्राम से छठा।

सर्वेषामतिसाराणां पूर्वरूपाणि।

हन्नाभि-पायुदर-कुक्षि-तोद-गात्रावसादानिलसन्निरोधाः । विट्सङ्ग त्राध्मानमथाविपाको भविष्यतस्तस्य पुरःसराणि ॥५॥ सु॰ उ॰ स॰ ४०

अर्थ-भावी अतिसार के लक्षण अर्थात् पूर्वरूप ये हैं-हृद्य, नाभि, गुद, उदर एवं आमाशय में सुई चुभाने की सी पीड़ा, शरीर में शिथिलता, श्रधोवाय की रुकावट, मल की रुकावट ( कब्ज ), श्रफरा एवं श्रनपच ।

वातातिसारलज्ञणम् ।

**अरुएां फेनिलां रूक्षमल्पमल्पं ग्रुहुमुंहुः** । शकुदामं सरुक्शब्दं मारुतेनातिसार्यते ॥ ६ ॥ श्रर्थ—वातातिसार के लत्त्त्या ये हैं—गहरा लाल, भग्नगदार, रून, थोड़ा थोड़ा, बार बार, श्राम-पीड़ा एवं शब्द (पिड़ पिड़) से युक्त पुरीष श्राता है।

पित्तातिसारलज्ञणम्।

पित्तात्पीतं नीलमालोहितं वा तृष्णा-मूर्च्छा-दाह-पाकोपपद्रम् ।

अर्थ-पित्त से पीला, नीला एवं कुछ लाल पुरीप निकलता है और प्यास, मूर्ड्झा, दाह एवं पाक ( गुद तथा मुख का ) होता है।

वक्तव्य-माननीय माधव जी ने इतना "समासतः" को निभाया है कि पूरे श्लोक भी उद्घृत नहीं किये। उक्त आधे श्लोक का ऋद्धं भाग इस प्रकार है—दुर्गन्ध्युष्णं वेगवन्मांसतोयप्रख्यं भिन्नं स्विन्नदेहोति। मात्रम्।

कफातिसारलच्चाम्।

शुक्लं सान्द्रं श्लेष्मणा श्लेष्मयुक्तं विस्नं शीतं दृष्टरोमा मनुष्य: ॥७॥' स॰ व॰ ४०

त्र्यर्थ—कफ से श्वेत, गाढ़ा, कफयुक्त, दुर्गन्धयुक्त एवं शीतल पुरीष त्राता है और रोगी को रोमाञ्च होता है।

वक्तव्य—इसका भी श्रार्द्धभाग इस प्रकार है, यथा-''तन्द्रा निहा गौरवोक्ष्तेशसादी वेगाशंकी सृष्टविट्कोपि भूयः।"

त्रिदोषजातिसारलच्यम् ।

वराहस्नेह-मांसाम्बु-सदृशं सर्वरूपिणम् ।

कुच्छुसाध्यमतीसारं विद्याद्दोषत्रयोद्भवम् ॥ ८ ॥

ऋर्थ-जिसमें सूत्र्यर की चरबी तथा मांस-धोवन जैसा पुरीप श्रावे एवं पूर्वोक्त श्रातिसारों के सब लच्च एहों; उसे "त्रिदोषज श्रातिसार" समभता चाहिये। यह कष्ट साध्य होता है।

शोकजातिसारलच्चणम् ।

तैस्तैर्भावैः शोचतोऽत्पाशनस्य वाष्पोष्मा वै विक्रमाविष्ट्य जन्तोः । कोष्ठं गत्वा क्षोभयेत्तस्य रक्तं तचाधस्तात्काकरणन्तीप्रकाशम् ॥६॥ निर्मच्छेद्रै विड्विमिश्रं द्यविड्वा निर्मन्थं वा गन्थवद्वाऽतिसारः । शोकोत्पन्नो दक्षिकित्स्योऽतिमात्रं रोगो वैद्यः कष्ट एष प्रदिष्टः॥१०॥

अर्थ—उन उन भावों (कुल, घन एवं मित्र आदि के नारा) से शोक करते हुए अतएव कम भोजन करने वाले मनुष्य की वाष्प (रोते समय आंख-मुख एवं नाक में से वाष्प ही पानी बन कर निकलता है यह गानी चार प्रधान होता है) की गर्मी आग्नि को मन्द करके पेट में जाकर रक्त को क्षुभित, सञ्चालित या उत्तेजित कर देती हैं; वह रक्त नीचे (गुदमार्ग) से घुंचची (गुझा) के सामन (बूंद बूंद) पुरीष-मिश्रित अथवा पुरीष-रहित, गन्ध-युक्त अथवा गन्ध-रहित होकर निकलता है। वस यही "शोकज-अतिसार" है, इसे वैद्य कष्टदायक एवं कष्टसाध्य मानते हैं।

वक्तव्य—दुःख शोक से रोकर आंसुओं को निकाल देने से रोगोत्पित्त का भय दूर हो जाता है। इसी लिए भगवती प्रकृति शोकात्तों को हठात् कलाती है। रक्त का नाम ज्ञतज ( ज्ञतात् जायते अर्थात् घाव होने पर ही दिखाई दे सकता है) है, बस वाष्पोष्मा भीतर ॲतिइयों में ज्ञत कर देती है। "दुश्चिकित्य" क्यों न हो,हरड़ बहेड़ा आमला से थोड़े ही शोक दूर होगा; इसके लिये तो कोई अच्छा उपदेशक सांत्वना देवे एवं मित्र मण्डल दिल बहलाने का यत्न करे तथा हर्ष के समाचार सुनावे, तभी लाभ होगा।

### आमातिसारलच्याम्।

अञ्चाजीर्णात्प्रदुताः क्षोभयन्तः कोष्टं दोपा घातुसंघान्मलांश्च । नानावर्णं नैकशः सारयन्ति श्रूजोयेतं पष्टमेनं वदन्ति ॥ ११ ॥ स॰ ३० ४० ४

श्चर्य — श्चन्त के न पचने से कुपित दोष ख्वयं द्रव होकर श्चौर रसा-दि धातुओं एवं मलों को संचालित कर तथा कोष्ठ में ले जाकर श्चनेक वर्णों से युक्त ( प्राय: श्वेत ) तथा बहुत बार दस्त द्वारा निकालते हैं ( यह पेट में ऐंठन या मरोड़ के साथ दस्त त्राता है ) इसको छठा "त्रामा-तिसार" कहते हैं।

श्रामपकपुरीषयोर्छज्ञणम् । संस्रष्टमेभिदौंचैस्तु न्यस्तमप्स्ववसीदति । पुरीष भृशदुर्गन्यि पिच्छिलं चामसंज्ञितम् ॥ १२ ॥ एतान्येव तु लिङ्गानि विपरीतानि यस्य वै ।

लाघवं च विशेषेण तस्य पकं विनिर्दिशेत् ॥१३॥ सु॰ उ० ७० ०४० अर्थ — जो पुरीष वातादि दोपों से उत्पन्न होने वाले अतिसारों के लच्चणों से युक्त हो तथा पानी में डालने पर डूब जाय तथा अत्यन्त दुर्गन्य युक्त एवं चिपचिपा हो, उसे आम या आमरसयुक्त सममना चाहिये और आम के लच्चणों से विपरीत या रहित हो और विशेषतया हत्का अर्थात् पानी पर तैरने वाला हो, तो उसे पक या आमरस रहित जानना चाहिये।

वक्तव्य—श्रातिसार की चिकित्सा में मल की श्रामता एवं विपक्षता का विचार बहुत ही श्रावश्यक हैं । शत्य चिकित्सक (डाक्टर) बिना किसी हिचिकचाहट के श्राज भी मलमूत्रादि की परीज्ञा करते हैं। श्रस्तु, जो ऐसा नहीं कर सकते, उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि श्राम-मल सर्वदा ऐंठन या मरोड या पीड़ा के साथ निकलता है, जिसका ज्ञान प्रश्र हारा किया जा सकता है।

श्रसाध्यातिसारत्तक्षणम् ।
पक्कजाम्बवसंकाशं यक्टत्स्वण्डनिभं तनु ।
घृत-तेल-वसा-मज्ज-वेशवार-पयो-दिध-॥ १४ ॥
मांसधावनतोयाभं कृष्णं नीलारुणप्रभम् ।
मेचकं स्निग्धकर्वूरं चन्द्रकोपगतं घनम् ॥ १५ ॥
कुण्णं मस्तुलुङ्गाभं सुगन्धि कुथितं बहु ।
कृष्णा-दाइ-तमः-श्रास-हिका-पार्श्वास्थिश्रुलिनम् ॥ १६ ॥

# संमूर्च्छा-अति-संमोह-युक्तं पक्कवली-गुदम् । प्रलापयुक्तं च भिषग् वर्जयेदतिसारिणम् ॥ १७ ॥

अर्थ—जिसका मल पके हुए जामुन के समान (वर्ण में) अथवा यक्ट्रस्वएड के समान काला लाल ।अथवा घी,। तेल, चर्बी, मजा, पिसे मांस, दूध, दही एवं मांस घोवन के समान, काला, नीला, गहरा लाल, पिसे सुरमे का-सा, चिकना, चितकवरा, मोर पंख के समान चिन्द्रका युक्त, गाढ़ा, सुरदार की सी गन्धवाला, मिस्तिष्क की चर्बी के सदश, विशेष प्रकार की गन्ध से युक्त, सड़ा हुआ एवं बहुत निकते; तथा प्यास, दाह, आंखों के सामने अवेरा, श्वास, हिचकी, पार्श्वशूल, अस्थिशूल, मूच्छां, वेचैनी और बदहोशी से युक्त रोगी को तथा जिसकी गुदविलयाँ पक गई हों एवं प्रलाप हो ऐसे अतिसाररोगी को छोड़ देना चाहिये।

त्र्रसंद्रतगुदं क्षीणं दूराध्मातम्रपट्टतम् । गुदे पक्षे गलोष्मारामतिसारकिणं त्यजेत् ॥१८॥ द्यु॰ ७० ७०

अर्थ—जिस रोगी की गुदविल संकोच रहित हो गई हो, बल मांस चीण हो गया हो, अत्यन्त अफरा हो, उपद्रव उत्पन्न हो गए हों, गुदविलयां पक गई हों तथा अग्नि मन्द हो गयी हो; उसे त्याग देना चाहिये।

वक्तन्य—संवरणी नामक विल एवं गुरौष्ट पर इच्छा शक्ति का अभाव न रहने के कारण रोगी प्रयत्न करके भी पूर्ववत् उसका संवरण नहीं कर सकता, फल यह होता है कि सर्वदा मल निकलता रहता है इसी दशा में रोगी की चारपाई तक काटने की त्रावश्यकता पड़ जाती है। "उपद्रुवं" कहने पर भी मूल में उपद्रव नहीं पाये जाते। "शोधं शूलं ज्वरं कृष्णां श्वासं कासमरोचकप्। छिदं मूर्च्छां च हिक्कां च दृष्ट्वातीसारिणं त्यजेत्॥" इसे मूल के साथ ही स्मरण कर लेना चाहिये, नहीं तो त्राप "उपद्रुवं" का त्र्यर्थ नहीं लगा सकेंगे।

श्वास-ग्रुल-पिपासा-ऽर्जं क्षीएां ज्वरनिपीडितम् । विशेषेरा नरं दृद्धमतीसारो विनाशयेत् ॥१९॥ द्व॰ उ० अ० ४० श्रर्थ-श्वास, शुल एवं प्यास से पीड़ित; क्रश, दुर्बल, ज्वर से पीड़ित तथा वृद्ध मनुष्य को श्रतिसार श्रवश्य मार डालता है।

रकातिसारलज्ञणम्।

पित्तकृन्ति यदाऽत्यर्थं द्रव्याण्यश्नाति पैत्तिके ।

तदोपजायतेऽभीक्ष्णं रक्तातीसार उल्बणः ॥२०॥

अर्थ-जब पित्तातिसार का रोगी पित्तकारक द्रव्यों का अधिक सेवन करता है तो उसे शीघ्र ही भयंकर' "रक्तातिसार" हो जाता है।

वक्तव्य-चह ित्तातिसार का ही अवस्थान्तर है । श्रतः इसे सातवां श्रतिसार नहीं समझना चाहिये ।

प्रवाहिकायाः सम्प्राप्तिः।

वायुः प्रदृद्धो निचितं बलासं नुदत्यधस्तादहिताशनस्य ।

प्रवाहतोऽल्पं बहुशो मलाक्तं प्रवाहिकां तां प्रवदन्ति तज्ज्ञाः॥२१॥

र् ड० अ० ४०

अर्थ—अहितकर भोजन करने वाले मनुष्य का बढ़ा हुआ वायु संचित कफ को नीचे की ओर ढकेलता है और वह कफ कांखने या किल्लने का प्रयत्न (वाह प्रयत्ने—धातु) करने पर थोड़ा-थोड़ा बार बार एवं मल युक्त निकलता है। बस, विद्वान इसे "प्रवाहिका" कहते हैं।

वक्तव्य-प्रवाहिका में प्रवाह्या अर्थात् अत्यन्त प्रयत्न करने पर आमरस के श्वेत लच्छे निकलते हैं। इसी को पेचिस, मरोड़े या आंव कहते हैं। जब इसमें रक्त जाता है तो इसे "लीहां" कहते हैं।

सर्वासां प्रवाहिकाणां पृथक् पृथक् लक्तणानि । प्रवाहिका वातकृता सशूला, पित्तात्सदाहा, सकका ककाच । सशोणिता शोणितसंभवा च ताः स्रोह-रूक्ष-प्रभवा मतास्तु । तासामतीसारवदादिशेच लिङ्गं क्रमं चाम-विपक्कतां च ॥२२॥

स॰ द॰ अ॰ ४॰

**१ — तृष्णा**, दाह, शृ्द्धल एवं गुदपाक करने वाला ।

अर्थ — बायु की प्रवाहिका शूलयुक्त, पित्त की दाहयुक्त, कफ की कफयुक्त एवं रक्त की रक्तयुक्त होती हैं। ये सब अतिस्निग्ध अथवा रुक्त, तीच्या एवं उच्या पदार्थों के सेवन से होती हैं। इनके लच्च्या, चिकित्साक्रम, तथा आमता एवं विपकता का विचार अतिसार के समान ही करना चाहिये।

# मुक्तातिसारलच्चण्म्।

यस्योचारं विना मूत्रं सम्यग्वायुश्च गच्छति ।

्दीप्ताग्नेर्ल्घुकोष्टस्य स्थितस्तस्योद्रामयः ॥ २३ ॥ द्यु॰ ७० ७० ७०

त्रर्थ—जिसका मृत्र गुद्द से मल निकले बिना उत्तरने लगे, ऋघो-वायु भी बिना मल के निकलने लगे, ऋिप दीप्त एवं उद्दर हल्का हो जावे; उसका "ऋतिसार" श्रच्छा हो गया समझे।

वक्तव्य--- त्र्यतिसार के रोगी का मल पेशाब करते समय तथा अधोवायु के साथ निकल जाता है; क्योंकि रोगी की इच्छाशिक का पूर्ववत् उन विलयों पर प्रभाव नहीं रहता।

( ज्वसतिसारयोख्वतं निदानं यत्पृथक् पृथक् ।

तत्स्याज्ज्वरातिसारस्य तेन नात्रोदितं पुन: ॥ १ ॥ )

त्रर्थ—ज्वर एवं अतिसार के जो भिन्न २ निदान (निश्चायक हेतु, पूर्वरूप आदि ) कहे गये हैं, वे ही "ज्वरातिसार" के भी होते हैं। अत- एव दुवारा नहीं कहे गये।

वक्तव्य—इस सूत्र का सभी सम्मिलित रोगों में स्मरण कर लेना चाहिये।

इति श्रतिसारनिदानम् ।

# ग्रहणीरोगनिदानम्।

सभी प्रकार का त्राहार चवाने तथा निगलने के बाद त्रामाशय में पहुँच जाता है और इसमें स्वभावतः सर्वदा होने वाली गति के कार्या विलोड़ित होकर थोड़ा थोड़ा ऋतड़ी में जाता रहता है यह ऋतड़ी सर्प के समान गेंडली मारे डदर में पड़ी पड़ी श्रपनी सीमा के भीतर ही गित करती रहती हैं (श्रम्-गतो धातु से श्रन्त शब्द का निर्माण होता हैं) इसी में श्राहार का पाक या आलोड़न विलोड़न होता है इसी कारण इसे श्रिनि-श्रिधिष्ठान या अग्न्याशय या अन्न को पाक पर्यन्त प्रहण अथवा धारण करने के कारण प्रहिणी कहा जाता है। जब इसकी उक्त स्वाभाविक क्रिया विश्वत अथवा श्रव्यवस्थित हो जाती है, तो "महाणीरोग" हो जाता है।

प्रहरायाः सम्प्राप्तिः ।

त्रतिसारे निष्टत्तेऽपि मन्दाग्नेरहिताशिनः ।

भूयः संदूषितो विद्वर्श्वहणीमिभदूषयेत् ॥१॥ छ० उ० अ० ४०

अर्थ—अतिसार के अच्छा हो जाने पर ( अथवा न होने पर ) मन्द अग्नि वाले एवं अहित भोजन करने वाले प्राणी की अग्नि अत्यन्त दूषित होकर प्रह्णी को दूषित कर देती है।

संप्रह्एयाः संप्राप्तिपूर्वकं सामान्यलत्तराम्।

एकैकशः सर्वशश्र दोपैरत्यर्थमूर्च्छितैः।

सा दुष्टा बहुशो भुक्तमाममेव विमुश्चिति ॥२॥

पकं वा सरुजं पूति मुहुर्बद्धं मुहुर्दवम् ।

ग्रहणीरोगमाहुस्तमायुर्वेदविदो जनाः ॥३॥ छ० उ० अ० ४० ऋर्थ—ऋत्यन्त बढ़े हुये ऋतंग २ एक एक दोष से एवं परस्पर मिले

अथ—अत्यन्त बढ़ हुय अलग २ एक एक दाष स एवं परस्पर मिल हुए तीनों दोषों (सिन्नपात) से दृषित हुई वह मह्ग्यी भोजन को कचा ही बार बार छोड़ती रहती है अथवा कभी पका कर भी। पीड़ा एवं दुर्गन्य युक्त कभी बँधा हुआ, तो कभी पतला मल निकालती है। आयु-वेंद को जानने वाले इस रोग को "म्रह्ग्यी रोग" कहते हैं।

बक्तव्य—"गुहुर्बद्धं गुहुर्द्रबं" यह परम्परा दौरे से होती है अर्थात् कई दिन या कई सप्ताह (कभी कई मास भी) तक द्रव एवं कई दिन या सप्ताह तक बद्ध मल होता है इस दशा में कभी २ रोगी अथवा वैद्य को भी सन्देह हो जाता है और पथ्य एवं औषध में शिथिलता होने लगती है अतः सावधान रहे। प्रहृणीरोगस्य पूर्वरूपम् ।

पूर्वरूपं तु तस्येदं तृष्णाऽऽलस्यं बलक्षयः।

विदाहोऽत्रस्य पाकश्च चिरात्कायस्य गौरवम् ॥४॥ च॰ च॰ ४० १४ अर्थ—उसका पूर्व रूप यह हैं—प्यास, खालस, बल की हानि, भुक्त जन्म का विदास (प्रमुखनायस्था में गुला स्पृति में ताह होना) बहुत

भोजन का विदाह (पच्यमानावस्था में गला ऋादि में दाह होना) बहुत देर में भोजन पचना, एवं शरीर में भारीपन का ऋनुभव।

वातिकप्रहण्या निदानपृर्विका सम्प्राप्तिः लच्चणं च ।

कटु-तिक्त-कषायातिरूक्ष-संदुष्ट-भोजनैः । प्रमितानक्षनात्यध्व-वेगनिग्रह-मैथुनैः ॥५॥

गमतानसनात्यव्य-वर्गानग्रह-मयुनः ॥५॥

मास्तः कुपितो विहं संछाद्य कुरुते गदान् ।

तस्यात्रं पच्यते दुःखं शुक्तपाकं खराङ्गता ॥६॥

कण्डाऽऽस्यक्षोपोऽज्ञुत्तृष्णा तिमिरं कर्णयोः स्वनः।

परवीस्वङ्क्षण्-ग्रीवा-साभीक्ष्णं विस्विका ॥७॥

हत्पीडा-कार्र्य-दौर्बल्यं वैरस्यं परिकर्तिका ।

युद्धिः सर्वरसानां च मनसः सदनं तथा ॥८॥

जीर्षो जीर्यात चाध्मानं भ्रक्ते स्वास्थ्यमुपैति च ।

स वातगुल्म-हद्रोग-प्तीहाऽऽशङ्की च मानवः ॥६॥

चिराद्गदुखं द्रत्रं शुष्कं तन्वामं शब्द-फेनवत् । पुनः पुनः सजेद्वचः कास-श्वासार्दितोऽनिलात् ॥१०॥

च० चि० अ० १५

ऋर्थ —कडुवे, तीते, कसैले, श्रत्यन्त रूज्ञ, एवं दूषित (सड़े गले) भोजन करने से, एक' ही मात्रा में या बहुत ही मात्रा में या बहुत थोड़ा खाने से, लंघन करने से, श्रति मार्ग चलने से, मूत्रादि का वेग रोकने

१—--भूख की कमी वेशी का ख्याल न करके केवल एक ही मात्रा में खाना भी उचित नहीं।

से, खित मैथुन करने से कुपित होकर वायु जठराभि को बिगाड़ कर रोग का उत्पन्न कर देता है। उस रोगी का खाहार दुःख पूर्वक पचता है और खट्टा पाक होता है, अंगों में खरदरापन, करठ मुख का सूखना, भूख न लगना, प्यास, धांखों के सामने अंधरा, कानों में सांय सांय राब्द, पसली, ऊरु (पट्ट या रान), कुन्हा एवं गर्दन में पीड़ा, बार २ हैजा (कै, दस्त) होना, हृदय में पीड़ा, शरीर की कुशता, दुर्वलता, मुख में फीकापन, गुद में कतरने की सी पीड़ा, सब प्रकार के रसों को खाने की इच्छा, मन में सुस्ती, भोजन पच जान पर तथा पचते समय अफरा खोर भोजन करने पर कुछ आराम माल्म हो। इस रोगी को वातगुल्म, हृद्रोग, एवं प्लीहा नामक रोगों के होने का सन्देह होता है। देह में दुःख पूर्वक, पतला, कभी सूखा, थोड़ा आम अर्थात् कचा, शब्द (पिड़ )एवं काग से युक्त मल आता है। ब्रोर रोगी को कास एवं आस सताने छगते हैं। यह सब कुछ अर्थान् कारण, सम्प्राप्ति एवं लच्चण "वात प्रह्मी" के हैं।

पैत्तिकप्रहण्या हेतवो लच्चणानि सम्प्राप्तिश्च । कट्वजीर्णविदाह्यम्लक्षाराचेः पित्तमुल्वणम् । त्र्याप्लावयद्धन्त्यनलं जलं तप्तिमवानलम् ॥११॥ सोऽजीर्णं नीलपीताभं पीताभः सार्यते द्रवम् ।

पूत्यम्लोद्गार-हत्-कण्डन्दाहारुचि-तृडर्दित:।।१२।। च० च० अ० १५

अर्थ — जिस प्रकार गर्म जल आग को बुक्ता देता है उसी प्रकार कड़ुवे, कच्चे, विदाहकारी, खट्टेएवं खारे द्रव्यों के खाने से बढ़ा हुआ पित्त जठराित्र को मन्द कर देता। इससे वह रोगी कचा, नीला, पीला एवं द्रव पुरीष त्यागता है तथा रोगी पीला हो जाता है और दुर्गन्धि एवं खट्टें उद्गारों, हृद्य तथा कएठ में दाह, अरुचि एवं प्यास से पीड़ित हो जाता है।

ं श्लैष्मिक-प्रहण्या हेतवो लत्त्रणानि सम्प्राप्तिश्च । गुर्वतिस्नग्ध-शोतादि-भोजनादतिभोजनात् । भ्रुकमात्रस्य च स्वप्नाद्धन्त्यप्रिं क्रुपितः कफः ॥१३॥ तस्यात्रं पच्यते दुःखं ह्ष्टासच्छर्यरोचकाः । त्रास्योपदेह-माधुर्यं कासष्टीवनपीनसाः ॥१४॥ हृद्यं मन्यते स्त्यानम्रुद्रं स्तिमितं गुरु । दुष्टो मधुर जद्गगारः सदनं स्त्रीष्वहर्षणम् ॥१५॥ भिन्नाऽञ्म-श्लेष्म-संस्ष्ट्र-गुरु वर्चः प्रवर्तनम् ।

अक्रशस्यापि दोर्बल्यमालस्यं च कफात्मके ॥१६॥ च० चि० अ० १४

अर्थ—भारी, श्रात्यन्त चिकने, शीत तथा श्राति मात्रा में भोजन करने से एवं भोजन करते ही सो जाने से कफ कुपित होकर श्राग्नि को मन्द कर देता है। उस रोगी का श्राहार बड़े दुःख से पचता है। बाद में जी मिचलाना, कै, श्रक्षचि, मुख में चिपचिपाहट, तथा मीठापन, खांसी, श्रिष्ठ थूक श्राना, जुकाम, ये लच्चण हो जाते हैं। हृदय भारी सा मालूम होता है। तथा उदर गिलगिला एवं भारी ज्ञात होता है। खराब मीठे उद्गार श्राते हैं, क्षियों में श्रप्रसन्नता श्रर्थात् नपुंसकता हो जाती है। गांठ रहित, कच्चा, कफ युक्त एवं भारी पुरीष श्राता है। रोगी यद्यपि कृश नहीं होता किन्तु दुर्वल हो जाता है। श्रीर श्रालस श्राती है। यह कारण; सम्प्राप्ति एवं लच्चण "कफजप्रहर्णी" के हैं।

सान्निपातिक-संबह्णीनिर्देशः।

पृथग्वातादिनिर्दिष्टहेतुलिङ्गसमागमे ।

त्रदोषं निर्दिशेदेवं तेषां वक्ष्यामि भेषजम् ॥१७॥च०चि०अ०१५

त्रर्थ-पृथक् वायु त्रादि दोषों से उत्पन्न होनेवाले महणी रोगों के जो हेतु एवं लक्त्यण कहे गये हैं उन सबका समागम (मेल) होने से त्रिदोषज "महणी रोग" समकता चाहिये।

वक्तन्य—माधव जी ने "तेषां वच्यामि भेषजम्" केवल ख्लोक पूरा करने के लिये उद्धृत कर दिया है वास्तव में इसकी कोई आवश्यकता नहीं थीं ।

संबह्-महर्गीलच्चगम् । अन्त्रकूजनमालस्यं दोवस्यं सदनं तथा द्रवं जीतं घनं स्निग्धं सकटोवेदनं जकृत् ॥ १ ॥ त्रामं बहु सपैच्छिल्यं सशब्दं मन्दवेदनम् । पक्षान्मासाइशाहाद्वा नित्यं वाऽप्यथ ग्रुञ्जति ॥ २ ॥ दिवा प्रकोपो भवति रात्रौ शान्ति व्रजेच्च सा । दुर्विज्ञेया दुश्चिकित्स्या चिरकालानुबन्धिनी ॥ ३ ॥ सा भवेदामवातेन संग्रहसंग्रहणी मता ।

अर्थ—अन्त्रों में कुलुल र शब्द होना, आलस, दुर्बलता, शरीर में शिथिलता होना । पतला, ठएडा, गाढ़ा, चिकना, कमर की पीड़ा से युक्त, कचा, चिपचिपा, पिड़ पिड़ शब्द युक्त तथा थोड़ी पीड़ा से युक्त पुरीष आना । पन्द्रह दिन, एक मास अथवा दस दिन बाद अथवा नित्य प्रति उक्त प्रकार से पुरीप आता है । इस रोग का प्रकोप दिन में अधिक होता है रात में आराम रहता है । इसे ''संग्रह महत्ती'' कहते हैं । प्रथम तो यह बड़ी कठिनता से समभ में आती है और समभ में आने पर भी बड़े परिश्रम से इसकी चिकित्सा हो सकती है और बहुत काल तक साथ नहीं ब्रोड़ती और यह आमवात के विकार से होती है ।

घटीयन्त्राख्यंभहग्गीरोगलच्चग्रम् । स्वपतः पाश्वयोः शूलं गलज्जलघटीध्वनिः ।

तं वदन्ति घटीयन्त्रमसाध्यं ग्रहणीगदम् ॥ ४॥)

श्चर्थ—जिस रोग में सोते समय पसिलयों में पीड़ा हो। उलटे मुँह की हुई फ़ब्फर ( सुराही ) में से पानी निकलते समय जैसा शब्द ( वग वग) होता है ठीक वैसा ही दस्त होते समय शब्द हो उस रोग को "ध-टीयन्त्र" नामक प्रहणी रोग कहते हैं यह श्वसाध्य है।

ग्रहरयामाम-पक-दोषपरिज्ञानम् ।

दोषं सामं निरामं च विद्यादत्रातिसारवत् ॥ १८ ॥

त्रर्थ—प्रह्मी रोग में त्राम सहित त्रथवा त्राम रहित दोष को अतिसार में कहे हुये विधान से जानना चाहिये।

१-- २ नोट-- उक्त दोनी रोग प्रक्षिप्त हैं।

श्रसाध्यमहणीरोगलज्ञणम् ।

लिङ्गेरसाध्यो ग्रहणीविकारो येस्तैरतीसारगदो न सिध्येत् । द्रद्धस्य नृनं ग्रहणीविकारो इत्वा तन् नैव निवर्तते च ॥ १९ ॥ अर्थ—जिन लच्चणों से अतिसार को असाध्य समभा जाता है ठीक उन्हीं लच्चणों से प्रहणी रोग को भी असाध्य समभाना चाहिये । और दृढ पुरुष का प्रहणी रोग उसे मार कर भी निवृत्त नहीं होता। अर्थात् सर्वथा असाध्य होता है ।

वयोभेदेन पहरुयाः साध्यासाध्यत्वादिविज्ञानम् । ( वालके ग्रहणी साध्या यूनि कुच्छा समीरिता । दृद्धे त्वसाध्या विज्ञेया मतं धन्वन्तरेरिदम् ॥ १ ॥ )

त्रर्थ—बालक का प्रहिशी रोग साध्य, युवा का कष्ट साध्य एवं दृद्ध का त्र्यसाध्य होता है यह भगवान् धन्वन्तरि का मत है।

वक्तव्य—स्रितिसर एवं प्रहिशी का निदान कहते समय "नाला या नाड़ा उखड़ना वा हटना" का ध्यान स्रवश्य रखना चाहिये। इसमें नाभि स्रपने स्थान से (मध्य रेखा से) इधर उधर हट जाती हैं, पेट को दबाने से वेदना का अनुभव होता हैं, नाभि के स्रासपास धड़कन होती हैं, जिसे हाथ से दबाकर जाना जा सकता है। इसमें वातातिसार एवं महिशी के लक्षण पाए जाते हैं। वास्तविक लक्षण है शब्द युक्त थोड़ा सा दस्त होना। इसमें स्रीपधों से लाभ नहीं होता। इसके लिये नाल वैठानेवालों के पास जाना चाहिये। वे इधर उधर हटी हुई अँतड़ियों को मर्दन क्रिया द्वारा ठीक कर देते हैं। कोई मन्त्र द्वारा स्रीर यन्त्र द्वारा भी ठीक करते हैं।

### इति प्रहणीनिदानम् ।

#### अशोंनिदानम्

द्यर्श के ब्रंकुर या मस्से वा भींह यद्यपि नाक, नेत्र त्रादि में घ्रथवा शरीर पर की त्वचा पर कहीं भी हो सकते हैं, परक्र इस प्रकरण में गुद बिलयों से होने वाले मस्सों का विस्तार से वर्णन किया जायगा ख्रीर संचेप से ये नाभि एवं त्वचा के मस्सों का बवासीर साधारण- तया दो नामों से प्रसिद्ध है १—बादी (कफज एवं वातज ) २—खूनी (पित्तज एवं रक्तज )।

श्रथाशींतिदानम् । पृथग्दोषैः समस्तैश्र शोणितात्सहजानि च ।

अर्थांसि पट्पकाराणि विद्याद्गुदवितत्रये ॥ १ ॥

ऋर्थ — श्रलगरे तीनों दोषों से, सिल्रपात से, रक्त से होने वाला तथा सहज इस प्रकार गुद की तीनों विलयों में छः प्रकार के श्रशोंऽ-कर होते हैं।

वक्त क्य - ऋशं की श्रिधि अन तीन विलयां यह हैं भीतर से बाहर को १ - प्रवाहिणी - मल को प्रवाहित करती है। २ - विसर्जनी - त्यागती है (इसी समय हाजत होती है)। ३ - संवरणी - मल को (इच्छानुसार) रोकती है। यह तीनों शंक्षावर्त के समान बल खाए हुए हैं इन्हीं का नाम गुद है। इन से बाहर गुदो छ है।

श्रशंसां सम्प्राप्तिः।

दोषास्त्वङ्-मांस-मेदांसि संदूष्य विविधाकृतीन् ।

मांसाङ्कुरानपानादौ कुर्वन्त्यर्शांसि तान् जगुः ॥२॥ वा० नि० अ० ७

ऋर्थे—वायु-ऋादि दोष त्वचा, मांस एवं मेदा को दूषित कर गुद ऋादि में मस्से उत्पन्न कर देते हैं उन्हें ऋर्श कहते हैं ।

वक्तव्य—इस के मस्सों की संख्या का कोई निश्चित निर्देश नहीं किया जा सकता। किसी २ को ८-१० अँगूरों के गुच्छे के समान भी देखे गए हैं।

ऋथार्शसां सम्प्राप्तिः।

कपाय-कटु-तिक्तानि रूक्ष-शीत-लघूनि च । प्रमिताल्पा-शनं तीक्ष्णं मद्यं मैथुनसेवनम् ॥ ३ ॥ लंघनं देश-कालौ च शीतौ व्यायामकर्म च ।

शोको वातातप-स्पर्शो हेतुर्वातार्श्वसां मत: ॥ ४ ॥ च० च० घ० १० अर्थ – कसैले, कडुवे, तीते, रुच्च (खुरक), ठरडे, हल्के, निश्चित मात्रा में एवं थोड़े भोजन, तेज शराब, श्रधिक मैथुन, लंघन या उप-वास, ठरण्डा देश, ठरण्डा काल, श्रधिक व्यायाम (कसरत) शोक तथा वायु और धूप का लगना यह सब वायु के अर्श का कारण कहा गया है। पैत्तिकाशीनिदानानि।

कट्वम्ल-लवर्णोष्णानि व्यायामाग्न्यातपप्रभाः । देश-कालाविशिशिरो क्रोधो मद्यमसूयनम् ॥ ५ ॥ विदाहि तीक्ष्णमुष्णां च सर्वं पानान्त्रभेषजम् ।

पित्तोल्वरणानां विज्ञेयः प्रकोपे हेतुरर्श्नसाम् ॥ ६ ॥ च० चि० अ० १४

श्चर्य—कडुवे, खट्टे, नमकीन एवं गर्म पदार्थों का सेवन, व्यायाम, श्चिमि एवं भूप का सेवन, परिश्रम, गर्म देश श्चौर काल, कोध, मद्य-पान, ईर्षा, विदाहकारी, तीखे एवं गर्म सब पीने खाने के पदार्थों एवं श्चौषयों का सेवन, ये सब पितज श्चर्श के कारण माने जाते हैं।

कफार्शसां हेतवः।

मधुर-स्निग्ध-शीतानि लवणाम्ल-गुरूणि च । ऋव्यायामो दिवास्वप्न: शय्या-ऽऽसनसुखे रति: ॥ ७ ॥ प्राग्वातसेवा शीतों च देश-कालावचिन्तनम् ।

श्लैष्मिकाणां समुद्दिष्टमेतत्कार्णमर्श्वसाम् ॥ ८॥ च० च० अ० १४ अर्थ—मीठे, चिकते, ठएडे, नमकीन, खट्टे एवं भारी पदार्थों का सेवन, व्यायाम न करना, दिन में सोना, सोने एवं बैठे रहने में मुख मानना, पूर्वीय वायु का सेवन, शीत देश और काल एवं निश्चिन्तता ये सब कफज बवासीर के कारण कहे गये हैं।

द्वन्द्वजाशीविज्ञानम् ।

हेतु-लक्षण-संसर्गाद्ग विद्याद्ग द्वन्द्वोल्बणानि च । च० च० अ०१४ त्रिदोषजाशोनिदानम् ।

सर्वो हेतुसिदोषाणां सहजैर्लक्षणं समम् ॥ ९ ॥ च॰ चि॰ अ॰ १४ अर्थ—दो दो दोषों के हेतु एवं लज्ञणों की मिलावट से द्वन्द्वज अर्थात् द्विदोषज अर्श जान लिये जाते हैं और उपर्युक्त सभी कारणों से त्रिदोषज अर्श होते हैं तथा उनके लज्ञ्गण सहज अर्श के समान होते हैं।

वक्तव्य—सहजारीं:—प्रारंभ श्रर्थात् जन्म से ही होता है । श्रौर यह अर्श पीड़ित माता अथवा पिता की सन्तान को होता है किन्तु कभी २ नाना नानी अथवा दादा दादी का उक्त रोग बीच की पीड़ी को न होकर दौहित्र एवं पौत्र को भी हो जाता है । कुष्ठ श्रादि वंशज रोगों में भी यह बात देखी जाती है । सहजार्श के लच्च्या यह हैं—सहजानि दुष्टशोग्यित (आर्त्तव) शुक्र (बीर्य) निमित्तानि, तेशां दोषत एवं प्रसाध्यनं (चिकित्सा) कर्त्तव्यम् । विशेषतक्ष्वैतानि (अंकुराणि) दुर्दर्शनानि, परुषाणि, पार्ड्डनि, दारुणानि, अन्तर्मुखानि (भवन्ति) तैष्पद्वतः (रोगी) कृशोऽल्पभुक्, सिरासन्ततगात्रोऽल्पप्रजः, चीण्रेतः, च्वामस्वरः, कोधिनोऽल्पाप्रिप्राणः परमलस्थ्य, तथा प्राण्यशिरोऽच्निश्रवण्यरोगवान्, सततमन्त्रकृजनाटोप हृद्योपलेपारोचक प्रभृतिभिः पीड्यते ।

सु० नि० ४० २

# वातार्शसां लच्चणानि ।

गुदाङ्करा वहनिलाः गुष्काश्चिमिनिताः ।

म्लानाः श्यावारुणाः स्तन्धा विशदाः परुषाः खराः ॥१०॥

मियो विसदशा वक्रास्तीक्ष्णा विस्फुटिताननाः ।

विम्वी-खर्ज्र-कर्कन्थू-कार्पासी-फलः सन्निभाः ॥ ११ ॥

केचित्कदम्बपुष्पाभाः केचित्तिसद्धार्थकोपमाः ।

श्वरः-पार्श्वास-कट्यूरुवङ्खणाद्यधिकन्यथाः ॥ १२ ॥

सवयुद्गगर-विष्टम्भ-हृद्गग्रहारोचक-प्रदाः ।

कास-श्वासाग्निवेषम्य-कर्णनाद-श्रमावदाः ॥ १३ ॥

तेरातो ग्रथितं स्तोकं सशब्दं सप्रवाहिकम् ।

स्वर्भन-पिच्छान्तगतं विबद्धमुपवेश्यते ॥ १४ ॥

कृष्ण-त्वङ्-नख-विष्मूत्र-नेत्रवक्त्रश्च जायते ।

गुल्म-प्लीहोदगष्टीला-संभवस्तत एव च ॥१५॥ वा० नि० अ० 👁 त्रर्थ—वाताधिक त्रर्श सूखे, चिमचिम, पीड़ायुक्त, मैले, कुछ काले लाल, कड़े, चिपचिपाहट रहित, कुछ खरदरे, अथवा अधिक खरदरे, परस्पर छोटे बड़े, टेढे, तीखे, फटे मुंह वाले तथा कुन्दर (कन्द्री , खजूर, बेर एवं कपास के फल (टींडें) के समान त्र्याकार वाले, कोई (बड़े से बड़े) कदम्ब के फुल जैसे और कोई (छोटे से छोटे) सरसों के समान होते हैं। तथा वे शिर, पसिलयों, कन्धों, कमर, उर, कुल्हों में ऋधिक व्यथा करते हैं। छींक, उदुगार, विष्टम्भ (ॲतड़ियों की गति में रुकावट), हृदुपह (हृदय की गति में रुकावट) एवं श्रारुचि को करते हैं। कास, श्वास, जठराग्नि की विषमता, कानों में ध्वनि, तथा भ्रम ( चक्कर ) को उत्पन्न करते हैं। इन अशों के पीड़ित रोगी गांठदार, थोड़ा, शब्दयुक्त, प्रवाहिका पूर्वक (स्राम के लच्छों वाला ) पीड़ायुक्त एवं फेन ( भाग ) से व्याप्त तथा वंधा हुन्ना ( सब्त ) मल त्यागता है। ऋौर उस की खचा, नाखून, मल, मूत्र, नेत्र तथा मुख ( चेहरा ) कुछ काले हो जाते हैं । इस रोग से गुल्न, प्लीहा, उदर रोग एवं ऋष्टीला भी उत्पन्न हो सकते हैं। पिताशसां लच्चणानि।

पित्तोत्तरा नीलभुखा रक्त-पीतासित-प्रभाः।

तन्त्रस्रसाविणो विस्नास्तनवो मृदवः श्लथाः ॥ १६ ॥

शुकजिह्वा-यकृत्खण्ड-जलोकोवक्त्र-सन्निभाः ।

दाह-पाक-ज्वर-स्वेद-तृण्यूच्र्जा-ऽरुचि-मोहदाः ॥ १७ ॥

सोष्पाणो दव-नीलोष्ण-पीत-रक्ताऽऽम-वर्चस:।

यवमध्या हरित-पीत-हारिद्र-त्वङ्-नखाद्य: ॥१८॥ वा॰ नि॰ अ॰ ह अर्थ-पित्त से होने वाले अर्श नीले मुख वाले, लाल, पीले एवं काले से होते हैं। उन में से पतला रक्ष निकलता है तथा वे दुर्गन्ध युक्त, छोटे या पतले, कोमल शिथिल (ढीले ढाले) सुग्गा (तोता) की जीभ, यक्टत् खरख एवं जोंक के मुख के समान श्राकृति वाले होते हैं। इन से दाह, गुदपाक (कभी किसी को), ज्वर, पसी-ना, प्यास, मृच्छी, श्रश्चि एवं मोह हो जाते हैं। इस में से भाप सी निकलती प्रतीत होती हैं। इसके कारण पतला, नीला, गर्म, पीला, लाल एवं कश्चा पुरीष श्राता है। ये यव के समान वीच में मोटे होते हैं। इन से त्वचा, नाखून, विष्ठा, मृत्र, नेत्र एवं चेहरा, हरा-पीला तथा हल्दी के वर्ग का सा (गहरा पीला) हो जाता है।

कफजाशीलवगानि।

श्लेष्मोत्वणा महामृता घना मन्दरुजः सिताः । उत्सन्नोपचित-स्निग्ध-स्तब्ध-दृत्त-गुरु-स्थिराः ॥ १९ ॥ पिच्छिताः स्तिमिताः श्रुक्ष्णाः कण्ड्वाढ्याः स्पर्धनित्रयाः करीरपनसास्थ्याभास्तथा गोस्तनसिन्नभाः ॥ २० ॥ वङ्क्षणानाहिनः पायु-वस्ति-नाभि-विकर्षिणः । सथास-कास-हृद्धास-प्रसेका-ऽरुचि-पीनसाः ॥ २१ ॥ मेह-कृच्छ्न-शिरोजाङ्य-शिशिरज्वर-कारिणः । क्लैब्याग्निमार्द्व-च्छुर्दिरामप्राय-विकारदाः ॥ २२ ॥

वसाभ-सकफ-प्राय-पुरीषाः सप्रवाहिकाः । न स्नवन्ति न भिद्यन्ते पाण्डु-स्निग्धत्वगादयः॥२३॥ वा० नि० अ० ७

त्रर्थ—कफ प्रधान श्रर्श (मस्से ) मोटी जड़ वाले, घने (संघने ) थोड़ी पीड़ायुक्त, खेत, ऊंचे, मोटे, चिकने, कठोर, गोल, भारी, श्रचल, चिपचिपे, गिलिगिले, श्रुक्त, करहू युक्त, स्पर्श से श्रानन्द देने वाले, करीर (कैर के फल) तथा कटहर की गुठली के श्राकार वाले, गों के स्तन के से होते हैं । वे कुल्हों में बांधने की-सी एवं गुद, बस्ति तथा नाभि में खिंचने की-सी वेदना करते हैं । उनसे श्रास, कास, जी मिचलाना, मुख से पानी जाना, श्रुरुचि, एवं पीनस हो सकते हैं । वे प्रमेह, मूत्रकुच्छ, शिर में जड़ता तथा शीत ज्वर को कर देते हैं । और नपुंस-

कता, अग्निमान्द्य, कै एवं श्राम प्रथान रोगों ( पेचिस, ऊरस्तम्भ, आम-वात आदि ) को कर देते हैं । इनके रोगी को चवों जैसा, अधिक कफ युक्त एवं प्रवाहिका युक्त पुरीष आता है । इन मस्सों में से न तो किसी प्रकार का स्नाव ही निकलता है और न ये फटते ही हैं । इनके कारण खचा, नाख़न आदि श्वेत और चिकने हो जाते हैं।

सान्निपातिकानां सहजार्शसां च लच्चणम् । सर्वे: सर्वात्मकान्याहुर्लक्षणे: सहजानि च । बा॰ नि॰ अ० ७ ऋर्य--- उक्त तीनों दोषों के लच्चणों से युक्त त्रिदोषज ऋौर सहज ऋर्य होते हैं।

रकार्शसां लज्ञ्णानि ।
रक्तोश्वणा गुदे कीलाः पित्ताऽऽकृतिसमन्विताः ॥२४॥
वटप्ररोहसहशा गुञ्जा-विद्वम-सिन्नभाः ।
तेऽत्यर्थं दृष्टमुष्णं च गाढ-विट्क-प्रपीढिताः ॥ २५ ॥
स्रवन्ति सहसा रक्तं तस्य चातिप्रवृत्तितः ।
भेकाभः पोड्यते दुःखेः शोणितक्षय-संभवेः ॥ २६ ॥
हीन-वर्णवलोत्साहो हतौनाः कलुषेन्द्रियः ।

विट् श्यावं किटनं रूक्षमधोवायुर्न वर्तते ॥ २७ ॥ जिल्लाक्षक अर्थ — एक प्रधान गुद कील अर्थात् अर्श — पितार्श के ही समान होते हैं किन्तु भेद यह है कि वे बरोह ( वट के अंकुर ) जैसे, युँघची ( गुझा ) तथा मूंगे के समान होते हैं । किटन पुरीष का दबाव पड़ने से उनमें से एकाएक दृषित एवं गर्म रक्त निकलता है और इस प्रकार रक्त अधिक निकलते के कारण रोगी मेदक ( इडू ) के समान पीला हो जाता है और रक्त के चय से होनेवाले रोगों ( त्वचा में रूचता, अम्लर्शातप्रार्थना, सिराओं की शिथिलता ) से पीड़ित हो जाता है । बल, वर्ण ( कान्ति ) एवं उत्साह से रहित, ओज रहित एवं इन्द्रियों की शिक्त से हीन हो जाता है । इस रोगी को काला, कड़ा एवं रुच मल आता है और अथोवायु नहीं खुलता ।

रकार्शीस वातानुबन्धलक्षणम् । तनु चारुणवर्णं च फोनिलं चास्त्रगर्शसाम् । कट्यूर-गुद-शूलं च दौर्बस्यं यदि चाधिकम् ॥ २८ ॥ तत्रानुबन्धो वातस्य हेतुर्यदि च लक्षणम् ।

अर्थ —यदि रक्तार्श का रक्त पतला, गहरा लाल तथा भाग युक्त हो, रोगी की कमर, उरु तथा गुद में शूल हो, दुर्बलता अधिक हो और इस रोग का कारण रुच्च पदार्थों का सेवन हो तो इस रक्तार्श में वायु का सम्बन्ध समभना चाहिये।

श्लेष्मानुबन्धरकाशींलज्ञणम् ।
शिथिलं श्वेत-पीतं च विद् स्निग्धं गुरु शीतलम् ॥ २६ ॥
यद्यर्शसां घनं चास्रक् तन्तुमत्पाण्ड पिच्छिलम् ।
गुदं सपिच्छं स्तिमितं गुरु स्निग्धं च कारणम् ।
श्लेष्मानुबन्धो विज्ञेयस्तत्र रक्तार्शसां चुधै: ॥३०॥ च॰चि॰ध॰ ध्र्यं—यदि किसी रक्तार्श के रोगी को ढीला, श्वेत, पीला, चिकना, गुरु (पानी में डूबने वाला ) एवं शीत पुरीष आता हो, अर्श का रक्त गाढ़ा, तारदार, कुछ श्वेत एवं लसीला हो, गुद में चिपचिपाहट और गिल्गिलापन हो, उनकी उत्पत्ति का कारण् भारी और चिकने पदार्थों का सेवन हो तो बुद्धिमान् उस् अर्श में कफ का सम्बन्ध जाने ।

वक्तव्य—इसमें पित्त तो होता ही है।

श्रथार्शासां पूर्वरूपाणि । विष्टम्भोऽनस्य दोर्बर्ल्यं कुचेराटोप एव च । कार्र्यमुद्गारवाहुल्यं सिव्धसादोऽल्पविट्कता ॥ ३१ ॥ ग्रह्णोदोषपाण्ड्वर्तेराशङ्का चोदरस्य च । पूर्वरूपाणि निर्दिष्टान्यर्श्वसामभिष्टद्धये ॥ ३२ ॥ च० च० व० १४ श्रर्थ—श्रन्न का श्रामाराय में ( श्रामाराय श्रादि की गति में रूका-वट के कारण ) ही रह जाना, दुर्वतता, उदर में श्राटोप श्रर्थात् गुड़ गुड़ शब्द पूर्वक हलचल, ऋशता, उद्गारों की ऋधिकता, टांगों में शिथि-लता, पुरीष कम ऋाना एवं महत्यों दोष पायडुरोग, उदररोग की शंका होना (इन रोगों का पूर्वरूप भी प्रायः ऐसा ही होता है) ये सब ऋशें के पुबरूप हैं।

श्रथार्शसामुत्पत्तौ सर्वदोषप्रकोपः । पञ्जात्मा मास्तः पित्तं कफो गुदवितत्रयम् । सर्वे एव पकुप्यन्ति गुदजानां समुद्भवे ॥ ३३ ॥

तस्मादर्शांसि दुःखानि वहुव्याधिकराणि च ।

सर्वदेहोपतापीनि प्राय: कृच्छुतमानि च ॥ ३४ ॥ च० चि० अ० १४

श्रर्थ—गुद की तीनों विलयों में श्रर्श की उत्पत्ति होने में पांचों प्रकार का वायु (प्राप्ण, उदान, समान, श्रपान एवं व्यान), पांचों प्रकार का पित्त (पाचक, भ्राजक, रञ्जक, श्रालोचक एवं साधक) श्रीर पांच ही प्रकार का कफ (क्लेदन, स्तेहन, रसन, श्रवलम्बन एवं श्लेपण) ये भी कुपित हो जाते हैं। यही कारण है कि श्रर्श बड़े ही दुःखदायी, बहुत से रोगों को करने वाले, सम्पूर्ण शरीर को रुग्ण करने वाले एवं प्रायः कष्टसाध्य होते हैं।

वक्तव्य—सर्वशरीर व्यापी दोषों के कोप से सम्पूर्ण शरीर का रुग्ण होना श्रमिनवार्य ही हैं । यही कारण हैं कि एकदेशी रोग का प्रभाव सम्पूर्ण शरीर में होता हैं। लज्ञाणों पर ध्यान दीजिये।

सुखसाध्यार्शसां लच्चणानि ।

बाह्यायां तु वलौ जातान्येकदोषोल्बणानि च ।

त्र्यशांसि सुखसाध्यानि न चिरोत्पतितानि च ॥३५॥ च० चि० अ० १४

अर्थ-यदि अर्रा बाहर की विल (संवरणी) में हों, केवल एक दोष प्रबल हो तथा चिरोत्पन्न अर्थात् एक वर्ष के पुराने न हों तो सुखसाध्य होते हैं।

कृच्छ्रसाध्यार्शसां लत्त्रणानि । द्वन्द्वजानि द्वितीयायां वलौ यान्याश्रितानि च । कुच्छुसाध्यानि तान्याहु: परिसंवत्सराणि च ॥३६॥ वर्णवाकाः अर्थ—यदि अर्श द्विदोषज हों, दूसरी विल (विसर्जनी) में हों और एक वर्ष के पुराने हों तो कछसाध्य होते हैं।

श्रयासाध्याशीलच्चणानि।

सहजानि त्रिदोषाणि यानि चाभ्यन्तरां वित्तम् । जायन्तेऽर्शांसि संश्रित्य तान्यसाध्यानि निर्दिशेत् ॥३७॥

च० चि० अ० १४

त्रर्थ—र्याद त्रर्श सहज हों त्रथवा तीसरी विल (प्रवाहिणी) में त्राश्रित होकर उत्पन्न हुये हों तो त्रसाध्य समझना चाहिये । त्रसाध्येष्विप याप्यप्रत्याख्येयभेदः ।

शेषत्वादायुषस्तानि चतुष्पादसमन्विते ।

याप्यन्ते दीप्तकायाग्ने: प्रत्याख्येयान्यतोऽन्यथा ॥३८॥ च० च० ७० १४

श्रर्थ—उक्त श्रसाध्य श्रर्श भी श्रायु के श्रवरोष रहने श्रर्थात् वाकी होने पर, चिकित्सा के चारों पाद (पैर) (श्रर्थात् वेदा, रोगी, परिचारक एवं श्रोपध) उचित गुण सम्पन्न रहने पर श्रोर श्रिप्त दीप्त रहने पर याप्य (जब तक चिकित्सा एवं पध्यादि होता रहता है तब तक श्राराम रहता है) हो सकते हैं श्रन्यथा ( उपर्युक्त गुणों का श्रभाव रहने पर ) प्रत्याख्येय श्रर्थात् चिकित्सा के श्रयोग्य श्रतएव श्रागे चलकर श्र-साध्य हो जाते हैं।

वक्तव्य-जितने चलते फिरते ऋशं के रोगी हैं, सब याप्य हैं। ऋथैषासुपद्रवादसाध्यत्वम्।

हस्ते पादे सुखे नाभ्यां गुदे दृषणयोस्तथा । शोथो हत-पार्श्व-सूलं च यस्यासाध्योऽर्श्वसो हि सः ॥३९॥

च० चि० स० १४

ऋर्थ—जिसके हाथ, पाँव, मुख, नाभि, गुद एवं ऋरडकोषों पर सूजन हो गई हो, हृदय तथा पसिलयों में शूल हो उसे ऋसाध्य जानना चाहिये। हत्-पार्श्वश्युलं संमोहरछर्दिरङ्गस्य स्मृ ज्वरः।

तृष्णा गुदस्य पाकश्च निहन्युर्गुद्जातुरम् ॥४०॥ च० च० अ० १४ अर्थ—हृदय और पसिलयों का शूल, बदहोशी, कै, शरीर में वेदना, ज्वर, प्यास एवं गुद्द का पकना खशोंरोगी को मार देते हैं।

तृष्णा-ऽरोचक-श्र्लाऽऽर्तमतिप्रसृतशोणितम्।

शोथा-ऽतिसार-संयुक्तमशांसि क्षपयन्ति हि ॥४१॥

त्रर्थ—जो रोगी प्यास, त्राम्चि एवं शूल से पीड़ित हो, जिसका रक्त त्रात्यन्त निकल गया हो एवं शोथ तथा त्रातिसार से दुःखी हो उसे त्रर्श मार डालते हैं।

मेढ्जादीनां लच्चणम्।

मेढ्रादिष्वपि वक्ष्यन्ते यथास्वं; नाभिजानि च ।

गण्डूपदाऽऽस्यरूपािए पिच्छितानि मृदूनि च ॥४२॥ वा॰नि॰ अ॰ ७

श्रर्थ—िलंग श्रादि में जो अर्श होते हैं उनको उन उन अंगों के रोगों का वर्णन करते समय कहेंगे। श्रोर नाभि में जो श्रर्श होते हैं वे केंचुए ( गरडगरडोला ) के मुख जैसे, पिचिपचे एवं कोमल होते हैं।

बक्त व्य—क्योंकि नाभिरोगों का कोई प्रकरण लिखा नहीं जायगा, अतः उन्हें यहीं पर लिख दिया गया।

चर्मकीलस्य सम्प्राप्तिः।

व्यानो गृहीत्वा श्लेष्माएां करोत्यर्शस्त्वचो बहिः।

कीलोपमं स्थिरखरं चर्मकोलं तु तद्विदुः ॥४३॥ वा० नि० अ० ७

श्चर्थ—सर्वशरीरव्यापी व्यान वायु कफ को दूषित कर त्वचा पर कील के समान कठोर एवं खरदरे श्चर्श श्चर्यान् मस्सों को कर देता है, उन्हें "चर्मकील" कहा जाता है। इन्हें "मोहके" भी कहा जाता है।

वातादिभेदेन तल्लज्ञाण्म् ।

वातेन तोदपारुष्यं पित्तादसितवक्त्रता । श्लेष्मणा स्निग्धता चास्य ग्रथितत्वं सवर्णता ॥४४॥वा॰ नि॰ अ॰ ७ चर्य — वायु की द्यधिकता से चर्मकीलों में व्यथा एवं खरदरापन, पित्त से कालापन एवं कफसे चिकनाई, कठोरता एवं शरीरके ही समान वर्ण होता है।

वक्त व्य-चर्मकील श्रोषिधयों के बिना भी केवल इष्ट देवता की मनौती मान देने से ही श्रव्छे हो जाते हैं।

वक्तज्य—प्रहित्ती, पार हुरोग, प्रसव एवं अप्राकृत मैथुन से भी अर्श रोग हो जाता है और स्त्रियों को तो ८० प्रतिशत प्रसवकाल ही में अर्श की उत्पत्ति होती है।

इति अशोनिदानम् ।

## अग्निमान्य-अजीर्ण-विसूचिका-अलमक-विलम्बिकानिदानम्

वक्तत्र्य—"श्राग्निमान्य" को "श्राग्निविकृति" कहा जाय तो श्रीर भी अच्छा हो क्योंकि इससे तीनों ही प्रकार की अग्निविकृति का बोध हो सकता है। अस्तु आमाशय श्रोर पित्ताशय श्रादि के पाचक रसों को ही सन्तोषजनक एवं पाचक होने के कारणा "श्राग्नि" कहा जाता है। अर्थात् वह बाह्याग्नि के अंगारों के समान ज्वलनशील नहीं है। बाह्याग्नि स्थालीस्थ तन्दुलादि में सन्तापरूप से प्रविष्ट होती है श्रोर अन्तराग्नि श्राह्म में स्वयं मिश्रित होती है। इस भेद के अतिरिक्त अन्यान्य भेदों को अन्थाकार से जानिये। हां अन्तराग्नि पर वातादि के अतिरिक्त मानसिक वृतियों का भी प्रभाव पडता है।

मन्दस्तीक्ष्णोऽथ विषमः समश्रेति चतुर्विधः ।

कफ-पित्तानिलाऽऽधिवयात्तत्साम्याञ्जाठरोऽनलः ॥ १ ॥

सु० सू० अ० ३४

श्रर्थ—कफ, पित्त एवं वायु की श्रधिकता तथा तीनों की समानता से कमराः १-मन्द, र-तीत्र्या, ३-विषम तथा ४-सम चार प्रकार की श्रिप्ति होती है।

समाग्न्यादीनां लच्चणानि ।

विषमो वातजान् रोगान् तीक्ष्णः पित्तनिमित्तजान् ।

करोत्यग्निस्तथा मन्दो विकारान् कफसंभवान् ॥२॥ छ॰ ष० ४० अर्थ—विषम अप्रि वायु के रोगों को, तीच्या अप्रि पित्त के रोगों को तथा मन्द अप्रि कफ के रोगों को करती हैं।

समा समाग्नेरिक्षता मात्रा सम्यग्विपच्यते । स्वल्पाऽपि नैव मन्दाग्नेर्विपमाग्नेस्तु देहिनः ॥ ३ ॥ कदाचित्पच्यते सम्यक्कदाचित्र विपच्यते । तीक्ष्णाग्निरित तं विद्यातः समाग्नः श्रेष्ट उच्यते ॥ ४ ॥

श्रर्थ—सम श्रिप्त वाले मनुष्य की खाई हुई यथोचित मात्रा ( खुराक ) मली भाँति पच जाती है। मन्द श्रिप्त वाले की थोड़ी मात्रा भी नहीं पचती, विपम श्रिप्त वाले की यथोचित मात्रा कभी तो श्रच्छो तरह पच जाती है श्रीर कभी नहीं पचती। एवं श्रिप्तिक से श्रिप्तिक भी मात्रा जिसकी मुखपूर्वक पच जाय, उसे तीक्षण श्रिप्त वाला सममना चाहिये। इन सब में सम श्रिप्त ही श्रेष्ठ होती है।

वक्तव्य-तीद्यापि ही से "भस्मक" नामक रोग हो जाता है जो कि बड़ा भीषण होता है । विदग्धाजीर्ण भी इसी से होता है ।

**अजीर्णनिदानम्** 

श्रामं विद्रश्यं विष्टब्यं कफ-पित्ता-ऽनिलैस्त्रिभिः। श्रजीर्णं केचिदिच्छन्ति चतुर्थं रसशेपतः॥ ५॥ श्रजीर्णं पश्चमं केचिन्निर्दोपं दिनपाकि च।

वदन्ति पष्ठं चाजीर्णं पाकृतं प्रतिवासरम् ॥ ६ ॥ छ॰ छ० छ० छ० छर्थ—कफ, पित्त एवं वायु से आम, विद्रश्य एवं विष्टब्ध नामक अर्जीर्ण होते हैं। कुछ आचार्य रसका उचित पाक न होने से चौथा अर्जीर्णं मानते हैं। कुछ आचार्य दिन भर (दिन रात) में पचने वाले निर्दोप (अन्यान्य अर्जोग्रां के समान दुःखदायी लच्चगों से रहित)

९—-श्राहार भली प्रकार पच जाने पर भी उस के रस का उचित पाक न होने के कारण रसरोपाजीर्ण होता है।

श्रजीर्ण को पाँचवाँ श्रजीर्ण 'मानते हैं। कुछ श्राचार्य प्रतिदिन (भोज-न से २-४ घण्टे बाद तक होने वाले) स्वामाविक श्रजीर्ण को भी छठाँ ' श्रजीर्ण मानते हैं।

बक्तव्य—साधारणतया यह माना जाता है (जो ठीक भी है ) कि अधिविकृति से अजीर्ण होता है । तथापि यह समरण रखना चाहिये कि अधि ठीक रहने पर भी मात्राधिक एवं दुर्जर भोजनों का उचित पाक नहीं होता। अतः तात्पर्य यह है कि पाचन रसों का विकृत होना "अधिविकृति" एवं आहार का न पचना "अजीर्ण" होता है। अधि को ठीक करने के लिये "दीपक" एवं अजीर्ण में पाचन द्रव्य दिये जाते हैं।

श्रथाजीर्णनिदानानि ।

अत्यम्बुपानाद्विपमाञ्चनाच संधारणात्स्वप्नविपर्ययाच । कालेऽपि सात्म्यं लघु चापि भ्रक्तमन्नं न पाकं भजते नरस्य ॥७॥ ईर्ष्या-भय-क्रोध-परिष्जुतेन लुब्धेन स्ग्-दैन्य-निपीडितेन । प्रदेष-युक्तेन च सेव्यमानमन्नं न सम्यक् परिपाकमेति ॥ ८ ॥ स॰ स॰ स॰ १६

मात्रयाऽप्यभ्यवहृतं पथ्यं चान्नं न जीर्यति ।

चिन्ता-शोक-भय-क्रोध-दुःख-शय्या-प्रजागरैः ॥ ९ ॥

श्रर्थ—श्रत्यन्त जल पीने से, विषम मात्रा में भोजन करने से, मल मृत्रादि के वेगों को रोकने से तथा श्रम्यस्त या उचित समय पर न सोने से समय पर भी, प्रकृति के श्रनुकूल एवं हल्का भी खाया हुआ श्राहार भली माँति नहीं पचता। ईप्या (डाह) भय एवं क्रोध से भरे हुए, लोभ-युक्त, रोग एवं दीनता से पीड़ित तथा द्वेषयुक्त प्राणी के द्वारा सेवन किया हुआ श्राहार भली प्रकार पाक को प्राप्त नहीं होता। चिन्ता (फिकर)

९ — उचित काल से अधिक काल में आहार का पचना। विस्ची आदि भीषण रोगों केन होने के कारण इसे निर्दोष कहा गया है।

२—भोजन के श्रनन्तर कुछ देर तक सब को प्रति दिन श्रजोर्ण होता ही है। छस्ती श्रादि इसी के लक्षण होते हैं।

शोक, भय, क्रोघ, दुःखदायी शय्या पर लेटने एवं ऋधिक जागने से मात्रा पूर्वक एवं पथ्य भी खाया हुआ ऋाहार नहीं पचता।

श्रथाऽऽमाजीर्णलत्तराानि ।

तत्रामे गुरुतोत्क्लेदः शोथो गण्डाक्षिकूटगः। उद्वारश्च यथाभ्रक्तमविदग्धः प्रवर्तते॥ १०॥

अर्थ—उक्त आमाजीर्ण में शरीर में भारीपन का अनुभव, जी मिच-लाना या मुख में से पानी जाना, कपोल (गाळ) तथा आंखों के आस पास स्जन, आहार के रस एवं गन्ध से युक्त तथा अम्लता (खटाई) रहित डकार आता है।

विद्ग्धाजीर्णलच्चानि ।

विद्ग्धे भ्रम-तृण्मूर्च्छाः पित्ताच विविधा रुजः । उद्गारश्च सधुमाम्लः स्वेदो दाहश्च जायते ॥ ११ ॥

श्रर्थ—विदग्धाजीर्ज में चक्कर, प्यास, मृर्छा (कभी कभी), पित्त से होने वाली भाँति भाति की पीड़ायें, धूएँ एवं खट्टेपन के सहित डकार (श्रवश्य ही) पसीना एवं दाह (छानी में) होता है।

विष्टब्धाजीर्णलचरण्म्।

विष्ठब्धे श्रूलमाःमानं विविधा वातवेदनाः । मलवाताप्रदृत्तिश्च स्तम्भो मोहाङ्गपोडनम् ॥ ९२ ॥

श्चर्य—िवष्टच्याऽजीर्ण में शल (जुदर में) अफरा, वायु की अनेक प्रकार की पीड़ायें, मल एवं अयोवायु और उद्गार की रुकावट, शरीर भर में जकड़न (यह दोनों लच्चा अँतड़ियों एवं हृदय की गति के विष्टच्य होने अर्थात् उसमें रुकावट होने से होते हैं) बदहोशी एवं शरीर में पीड़ा होती हैं।

रसशेषाजीर्णलच्याम् ।

रसशेषेऽत्रविद्वेषो हृदयाशुद्धि-गौरवे ।

श्चर्य-रसशेषाजीर्ण में भोजन में श्चरुचि, हृदय में श्चशुद्धि एवं भारीपन का श्रनुभव होता है।

<sup>9-</sup>रस का पाक होकर रक रूप में परिणत न होने के कारण ऐसा होता है।

#### श्रथाजीर्णोपद्रवाः।

मृच्छा प्रलापो वमशु: प्रसेक: सदनं भूम: । उपद्रवा भवन्त्येते मरखं चाप्यजीर्खत: ॥ १३ ॥ द्यु॰६०४०४० अर्थ—अजीर्ण से ये उपद्रव हो सकते हैं यथा—मृच्छां, प्रलाप, कै, मुख से पानी जाना, शरीर में शिथिलता, अथवा सृखु भी।

श्रथाजीर्णोत्पत्तौ कारणम्।

**अनात्मवन्तः पशुवञ्जञ्जते ये**ऽप्रमाणतः ।

रोगानीकस्य ते स्लमजीर्णं पामुत्रन्ति हि ॥ १४ ॥

श्रर्थ - अपने मन को वश में न रख सकनेवाले जो मनुष्य पशु के समान बहुत अधिक खा जाते हैं, वे अनेक व्याधियों के मूल कारण अजीर्ण की प्राप्त होते हैं अर्थात् ऐसे ही पेटुओं को अर्जीर्ण होकर अनेक रोग सताते हैं।

अर्जार्णमामं विष्टब्धं विदग्धं च यदीरितम् ।

विस्च्यलसकौ तस्माद्भवेच्चापि विलम्बिका ॥१५॥ सु॰ उ॰ अ॰ ४६

श्रर्थ—श्राम, विद्ग्ध एवं विष्टब्ध नामक जो तीन प्रकार का श्रजी-र्ण कहा गया है, उस से विसूची (हैजा) श्रलसक एवं विलम्बिका ना-मक रोग हो जाते हैं।

वक्तव्य-क्रमशः नहीं, प्रत्येक से प्रत्येक हो सकते हैं। विसूचीलत्त्रणम्।

सूचीभिरिव गात्राणि तुदन् सन्तिष्ठतेऽनिताः। यत्राजीर्णेन सा वैधैर्विसूचीति निगद्यते ॥ १६ ॥

श्चर्थ—जिस रोग में श्वजीर्ण के कारण वायु शरीर में सुइयों के चुभने की सी व्यथा करता है, उसे वैध लोग "विसूची" कहते हैं। न तां परिमिताहारा लभन्ते विदितागमाः।

मूढास्तामजितात्मानो लभन्तेऽश्चनलोलुपाः ॥ १७ ॥ सु० उ० अ० ४६

१--यद्यपि पशु प्रायः ऐसा नहीं करते।

श्रथं—श्रायुर्वेद को जाननेवाले श्रत एव उपयुक्त मात्रा में भोजन करने वाले विस्ची को नहीं प्राप्त करते श्रर्थात् उन्हें उक्त रोग नहीं होता। श्रपितु मूर्ख, इन्द्रियों को वश में न रख सकने वाले एवं भोजन के लोभी (पेटू या भुक्खड़) उसे प्राप्त करते हैं श्रर्थात् ऐसे ही लोगों को विस्ची होती है।

को विस्ची होती है।
वक्तव्य—यद्यपि उक्त कथन से विस्ची का कारण अजीर्ण एवं
अधिक भोजन ही माना है, जो ठीक ही है, किन्तु कभी २ यह रोग जन-पदोध्वंस ( मारक या महामारी ) के रूप में फैलता है। अत एव इसे संकामक भी माना जाता है। और वसन्त ऋतु में प्रायः इसका अधिक प्रकोप होता है।

विस्च्याः सामान्यलज्ञणम्।

मूर्च्छाऽतिसारो वमथुः पिपासा स्र्लभ्रमोद्वेष्ठन-जृम्भ-दाहाः । वैवर्ण्य-कम्पौ हृदये रुनश्र भवन्ति तस्यां शिरसश्र भेदः१८५० उ. स.४६

श्चर्य—विस्चि के लज्ञा यह हैं—वेहोशी, ऐंटन, श्चितसार, के, प्यास, शूल, चक्कर, (बांहों एवं टाँगों की मांसपेशियों में संकोच ) जम्भाई, दाह, कान्ति की हानि, कम्पन, हृदय में पीड़ा एवं शिर में दई।

्रेवुक्तव्य---१-२ लच्चाण सर्वत्र नहीं पाए जाते । ३-४ लच्चण अवश्य

होते हैं।

श्रलसक-रोगलच्राम्।

कुक्षिरानद्वतेऽत्यर्थं पताम्येत् परिक्र्जिति । निरुद्धो मास्तर्श्वेव कुक्षाञ्जपरि धावति ॥ १९ ॥ वात–वचों–निरोधःब यस्यात्यर्थं भवेदपि ।

तस्यालसकमाचष्टे तृष्णोद्ग्रंगारों च यस्य तु।।२०।।सु॰उ०अ०५६ ऋर्थ—जिस रोगी की कुत्ति से आनाह (आमाशय से मलाशय पर्यन्त अवयव की गति में रुकावट) हो जाय, आँखों के सामने अंघेरा आवे, रोगी कँहरे, अपान वायु रुक कर आमाशय की श्रोर दौड़े, अधो

१--- सुश्रुत का "तृष्णोद्गारावरोधकौ" पाठ श्रधिक उचित ज्ञात होता है ।

वायु एवं पुरीष सर्वथा रुक जावे ऋौर प्यास ऋषिक लगे एवं डकारें ऋषवें, उस रोगी को "ऋलसक" नामक रोग का रोगी जानना चाहिये । विलम्बिकालक्तणम्।

दुष्टं तु स्रुक्तं कफ-मारुताभ्यां पर्वतते नोर्ध्वमधश्च यस्य । विलम्बिका तां भृशदुश्चिकित्स्यामाचक्षते शास्त्रविदः पुराणाः॥२१॥

त्रर्थ—खाया हुआ आहार कफ एवं वायु से दूषित होकर न ऊपर ( मुखंमार्ग ) से ही निकलता है और न नीचे ( गुदमार्ग ) से ही। इस रोग को आयुर्वेद जानने वाले प्राचीन ऋषि "विलम्बिका" कहते हैं। यह रोग कप्टसाध्य होता है।

व तन्य—अलसक ( अलस आलसी ) एवं विलिम्बिका (लटक जाने वाला ) सा नामकरण भी अन्यान्य रोगों के समान ही अपने अपने स्वरूप को पकट करने वाला हैं । उक्त दोनों रोगों में क्रमशः पाचक अवय्यव अलस या आलसी एवं विलम्बी या गति रहित हो जाते हैं । इसी बात को "कुित्तरानहते" ( आमाशय आदि अवयव का आनाह अर्थात् बन्धन ) तथा "प्रवर्तते नोर्ध्वमध्अ" के द्वारा बताया गया है । अलसक में वायु का इधर उधर दोड़ना आदि लक्षण होते हैं किंग्तु "बिलिम्बिका" में वे भी नहीं होते । अतएव इसे "गुम हैजा" या (गुमिवसूची) कहते हैं।

त्रामस्य कार्यान्तरम् ।

यत्रस्थमामं विरुजेत्तमेव देशं विशेषेण विकारजातै: । दोषेण येनावततं शरीरं तळुक्षर्णेरामसम्रुद्धवैशा२२॥छ॰ड॰अ०९६

अर्थ—रारीर के जिस भाग में आम (कबा रस) रस ठहर जाता या रक जाता है, बस उसी भाग को रोग समृहों या अनेक विकारों से पीड़ित करता है। इन रोगों में आम से उत्पन्न होने वाले लच्चणों के साथ २ उस दोष के लच्चणा भी होते हैं जिस दोष से रारीर अधिक ज्याप्त होता है अर्थात् जो भी दोष प्रबल होता है उसी के लच्चण प्रवल हो जाते हैं।

वक्तव्य-श्राहार का पाक होने के श्रनन्तर रस धात भली भाँति रक्त रूप में परिणत न होकर रक्त के साथ ही शरीर में परिश्रमण करने लग जाता है। वह अन्य स्थानों की अपेन्ना प्रायः कफ के स्थानों ( आ-माशय, शिरः, कएठ, हृदय एवं सन्धियों ) में (शीत पिच्छिलादि गुर्ण-साम्य के कारण ) रुक कर उक्त स्थानों में रोग उत्पन्न कर देता है। इन रोगों में विशेषता यह होती है कि उस समय शरीर में जो दोष बलवान होता है उसी के लुज्ञण दिखाई पड़ने लगते हैं बस यही "रसशेषाजीर्ण" की कथा है। एक श्लोक यादकर लीजिये-श्राहारस्य रसः शेषो यो न पकोऽग्निलाघवात् । स मूळं सर्वरोगागां "त्राम" इत्यभिधीयते । वायु से शुलादि, पित्त से दाहादि एवं कफ से शोथादि लन्नण होते हैं।

विसच्यलसकयोरसाध्यलचाणानि । यः श्यावदन्तौष्ठ-नखोऽल्पसंग्नो वस्यर्दितोऽभ्यन्तरयातनेत्रः । क्षामस्वरः सर्वविमुक्तसन्धिर्यायात्ररः सोऽपुनरागमाय ॥२३॥

श्रर्थ-जिसके दाँत, श्रोठ एवं नाखन काले हो गर्ये हों, संज्ञा ( होरा ) घट गई हो, कै न रुकती हो, आंखे धँस गई हों, आवाज बैठ गई हो सन्धिवन्धन ढीले पड़ गये हों ऋर्थात् उठने बैठने की शक्ति घट गई हों, वह रोगी सदा के लिये चला जाता है अर्थात मर जाता है।

विस्च्याम्पद्रवाः ।

निद्रानाशोऽरतिः कम्पो मुत्राघातो विसंज्ञता । श्रमी उपद्रवा घोरा विसूच्यां पश्च दारुणाः ॥२४॥

श्चर्य--नींद न त्राना, बेचैनी, कम्प, मन्न का निरोध एवं बेहोशी यह पांच भयंकर उपद्रव विस्ची में हो सकते हैं।

वक्तव्य के एवं दस्तों के द्वारा अधिक परिमाण में शरीर की श्राप्य (जलरूप) धात निकल जाने के कारण रक्त गाढा होकर धमनियों में जमने लगता है और इसी लिये "वृक्ष" किया रहित अथवा हीनिकय होकर मृत्र का उचित रूप से निर्माण नहीं कर पाते। यही कारण है कि मूत्राघात हो जाता है। अतः इसका विशेष ध्यान रखना चाहिये।

हां इसी समय रक्त को पतला करने के लिये आधुनिक शल्यचिकित्सक "इन्जेक्शन" द्वारा रोगी के शरीर में उष्ण ज़ल का प्रवेश कराते हैं।

प्रायेणाहारवैषम्यादजीर्णं जायते तृणाम् ।

तन्मूलो रोगसंघातस्तद्दिनाशाद्दिनश्यति ॥२५॥

अर्थ-प्रायः आहार की विषमता से लोगों को अजीर्ण होता है और यह अजीर्ण सभी रोगों का मूल है। अतः अजीर्ण का विनाश करने से सभी रोग नष्ट हो जाते हैं।

सामान्याजीर्णस्य लचगाम् । ग्लानि-गौरव-विष्टम्भ-भ्रम-मारुत-मृहता: ।

विवन्धो वा प्रष्टित्तर्वा सामान्याजीर्णलक्षणम् ॥२६॥

त्रर्थ—सुस्ती, शरीर में भारीपन, विष्टम्भ, चक्कर, त्र्रघोवायु तथा उर्ध्ववायु का निरोध, मल का रुकना या श्रधिक निकलना यह सब "त्रुजीर्ण" के सामान्य लज्ञ्गा हैं।

जीर्णाहारस्य लच्चणम्।

उद्गारशुद्धिरुत्साही वेगोत्सर्गी यथोचित:।

लघुतां चुत् पिपासा च जीर्णाऽऽहारस्य लक्षणम् ॥२७॥

श्रर्थ—उद्गार का अच्छी तरह श्राना, उत्साह, उचित रूप से मल-मृत्रादि का उतरना, शरीर में हल्कापन, मृख एवं प्यास का लगना यह सब "जीर्याहार" श्रर्थात् श्राहार के भली प्रकार पचने के लच्चण हैं।

इति अभिनमान्यादिरोगनिदानम् ।

#### किमिनिदानम्।

वक्तव्य-श्राज कल पाश्चात्य जगत् में क्रिमियों की जितनी चर्चा है, उससे भी श्रधिक पूर्वकाल में हो चुकी है जो कि श्रथवंवेद श्रादि के श्रभ्यास से ज्ञात हो सकती है। श्रस्तु, इन बीस प्रकार के क्रिमियों का वर्णन भी बहुत व्यापक श्रीर सम्भवतः पर्याप्त है।

क्रिमिभेदाः।

क्रिमयश्र द्विधा पोक्ता बाह्याऽऽभ्यन्तरभेदतः।

बहिर्मल-कफा-ऽस्रग्-जन्मभेदाचतुर्विधाः ॥ १ ॥

नामतो विंशतिविधा,—

वा० नि० अ० १४

श्रथं—सम्पूर्ण किमि दो प्रकार के होते हैं—१—बाह्य श्रथांत् त्वचा के बाहर होने वाले | २—श्राभ्यन्तर श्रथांत् त्वचा के भीतर एवं श्रामाशयादि में होने वाले | उक्त दो प्रकार के किमि उत्पत्ति भेद से चार प्रकार के होते हैं—१—बाहर की मैल में, २—कफ में, ३—रक्त में तथा ४—पुरीष में होने वाले | ये ही नामों के भेद से बीस प्रकार के होते हैं ।

बाह्याः क्रिमयः।

—बाह्यास्तत्र मलोद्भवाः ।

तिलप्रमाण-संस्थात-वर्णाः केशाम्बराश्रयाः ॥ २ ॥ बहुपादाश्र सुक्ष्माश्र युका लिक्षाश्र नामतः ।

द्विधा ते कोट-पिडका-कण्डू-गण्डान् प्रकुर्वते ॥३॥ वा॰ नि॰ अ॰ १४ अर्थ—उक्त क्रिमियों में बाहरी क्रिमि जो कि शरीर तथा कपड़े आदि की मेल से उत्पन्न होते हैं, दो प्रकार के होते हैं। उनका प्रमाण (व्यास), संस्थान (आकार या स्वरूप) एवं वर्ण (रंग) तिलों के 'समान होता है और आश्रय या रहने का स्थान होता है केश, लोम तथा कपड़े। ये बहुत (६) पैरों वाले एवं छोटे र होते हैं। १—जूका (जूआं) एवं २—ित्ते हो। लीख या चमजूं) इन के दो नाम हैं। ये धप्पड़, फुन्सियां, खुजली एवं या बिना मुह के फोड़ोंको कर देते हैं।

वक्तत्य—''केश" शब्द से रोमादि का भी प्रह्मा कर लेना चाहिये। यथा—केश, शमश्रू लोम, पद्म (च विव् अव् ४) में होने वाली चमजुएँ अत्यन्त बारीक होती हैं। इन के पैर इतने तीद्मा होते हैं कि बाग्र वचा में यंस सकते हैं और वे त्वचा में भली प्रकार चिपट सकते हैं। ये विटप देश के वालों, कांख एवं श्रूया भी के बालों में

१—तिल काले. रवेत एवं श्रहण होते हैं। इसी प्रकार केशों में काली, कपकों में रवेत ज्यूएँ होती हैं और लिक्षा (चमज्) श्रहण या गहरी लाल होती है।

प्रायः श्रधिक होती हैं। सफाई के श्रातिरिक्त प्रायः देखा गया है कि इष्टदेवता की "मनौती" मान लेने से भी नष्ट हो जाती है। श्री श्री मोजीमधुराम्लिनित्यो द्रविषयः पिष्टगुडोपभोक्ता।

व्यायामवर्जी च दिवाशयानो विरुद्धभुङ्ना लभते किमींस्तु ॥॥॥

ऋर्थ—ऋनपच में भी भोजन करनेवालो, नित्य मीटे एवं खट्टे पदा-थों का सेवक, द्रव पदार्थों का प्रेमी, पीटी की वस्तुत्रों एवं गुड़ को ऋधिक खानेवाला, व्यायाम का द्वेषी, दिन में सोने का ऋभ्यासी "वं रस, गुर्णाविरुद्ध द्रव्यों को खाने वाला मनुष्य किमियों को प्राप्त करता है। ऋर्थात् ऐसा मनुष्य सब प्रकार के क्रिमियों का रोगी हो जाता है।

निदानभेदात् क्रिमिभेदाः।

माषपिष्टाऽम्ल-लवण-गुण-शाकैः पुरीषजाः !

मांस-मत्स्य गुड-श्रीर-द्धि-शुक्तैः कफोद्धभवाः ॥ ५ ॥

विरुद्धा-ऽजीर्ण-शाकार्यैः शोणितोत्था भवन्ति हि । सु॰ उ॰ ४० ५४

अर्थ—उर्द, पीठी, खटाई, नमक, गुए एवं शाकों के सेवन से पुरीष में, मांस ( मुकरे आदि का ), मछली, गुड़, दूध, दही एवं सिरका या कांजी आदि के सेवन से कफ में तथा विरोधो पदार्थों, अनपच एवं शाक ( पत्र शाक ) आदि के सेवन से रक्त में किमि हो जाते हैं।

अथाभ्यन्तरिक्रमिल इराम् ।

ज्वरो विवर्णता शूलं हृद्रोगः सदनं भ्रमः ॥ ६ ॥

भक्त द्वेषोऽतिसारश्च संजातिक्रमिलक्षणम् । खु॰ उ॰ अ० ४७ ऋर्थ —भीतरी क्रिमियों के उत्पन्न होने का लच्चण यह है। यथा— ज्वर, कान्ति का ह्वास, शूल, हद्रोग, अंगों में तथा मन में शिथिलता, चक्कर, भोजन में ऋनिच्छा एवं ऋतिसार।

बक्तव्य—ध्यान दीजिये, क्रिमियों का किन किन अंगों पर त्राक्रमण् होने से उक्त लच्चण हो सकते हैं।

कफजिकमिलच्याम्।

कफादामाश्रये जाता दृद्धाः सर्पन्ति सर्वतः ॥ ७ ॥

पृथु-ब्रश्ननिभाः केचित्केचिद्गण्ड्पदोपमाः । स्टघान्याङ्कराकारास्ततु-दीर्घास्तथाऽणवः ॥ ८ ॥ श्वेतास्ताम्रावभासाश्च नामतः सप्तथा तु ते । अन्त्रादा उदरावेष्ठा हृदयादा महागुदाः ॥ ९ ॥ चुरवो दर्भकुसुमाः सुगन्धास्ते च कुर्वते । हृष्टासमास्यस्रवणमविपाकमरोचकम् ॥ १० ॥

मूर्च्छा-च्छार्द-जवरा-SSनाह-कार्श्य-क्षवधु-पीनसान् । सु॰ उ॰ अ॰ १४ अर्थ—कफ से उत्पन्न होने वाले क्रिमि आमाशय में उत्पन्न होने हैं, जब वे बढ़ते हैं तो सब ओर जाने लगते हैं । उनमें कोई २ वढ़ी (वधरी) के समान चौड़े, कोई २ केंचुए के समान गोल (लम्बे गोल) कोई उगते हुए धान्य (चना आदि) के अंकुर के आकार वाले, छोटे या पतले, लम्बे, सूच्म (बहुत छोटे) श्वेत इथवा कुछ लाल होते हैं । उनके सात नाम इस प्रकार हैं यथा—१—अन्नाद; २—उदरावेष्ट; ३— हृदयाद, ४—महागुद, ५—चुक, ६—दर्भकुमुम, ७—सुगन्ध। और ये निम्नलिखित रोगों को कर देते हैं यथा—हल्लास (जीमचलाना), मुख में लार जाना, अनपच, अरुचि, मूच्छा, के, ज्वर, आनाह, कुशता, छींक एवं पीनस (जुकाम, प्रतिश्याय)।

वक्तव्य — आमाराय में उत्पन्न होकर किमियों के सब ओर जाने के उल्लेख एवं नामकरण में अवश्य कोई रहस्य हैं ध्यानपूर्वक विचारिये। अन्त्राद — अन्त्रों को खाने वाले या उनमें चत करने वाले यथा — "किमिकोष्ठोऽतिसार्येत मठं सासक कफान्वितम्" पाण्डुरोग। अथवा आन्त्रिक क्यर के उत्पादक। उद्दरावेष्ट — उद्दर को लपेटने या उसमें लिपटने वाले यही गण्डुपद या केचुए या जुन्हें हैं जो कि हाथ २ भर लम्बे होते हैं। हृद्याद — हृदय की दीवारों को खाने वाले यथा — (उत्क्लेदः ष्टीवनिमन्यादि हृद्रोग)। महागुदाः — चिन्त्यम्। चुक्त — सम्भव है कि चूं चूं शब्द करते हों जो साधारणतया सुनाई नहीं पड़ता। दर्भकुसुम — कुशपुष्प के सदश सम्भवतः राजयन्ना के रोगी के कफमें पाए जाने वाले अथु वीच्य

यंत्र द्वारा बीच्य "त्र्यावः" "श्वेतः" क्रिमि यही हैं। । सुगन्धा—शिर के स्नेहन कफ में होने वाले च्वथु एवं पीनस को करने वाले तथा क्रिमिज शिरोरोग के हेतु यहीं हैं। लच्चणों पर ध्यान देने से इस वक्तव्य को सम-मने में काफी सरलता होगी।

रक्तजात-क्रिमिलच्चणम्।

रक्तवाहि-सिरा-स्थान-रक्तजा जन्तवोऽखवः ॥ ११ ॥ ऋपदा द्वतााम्राश्च सौक्ष्म्यात्केचिददर्शनाः ।

केशादा रोमविध्वंसा रोमद्वीपा उदुम्बराः ।

षट् ते कुष्टैंककर्माणः सहसौरस—मातरः ॥ १२ ॥ वा॰ वि० अ० १० अर्थ — रक्तवाही शिरात्र्यों (केशिकात्र्यों में भी) में रक्तज किमियों का स्थान या आश्रय होता हैं। ये किमि बहुत ही बारीक होते हैं, पांच रिहत, गोल (चत्रागु) एवं लाल होते हैं। इनमें कोई २ इतने सूहम होते हैं कि आंखों द्वारा देखे भी नहीं जा सकते। इनके नाम इस प्रकार हैं — १ - केशाद, २ - रोमविष्वंस, ३ - रोगद्वीप, ४ - उदुम्बर, ४ - सौरस, ६ - माता ("जन्तुमातरः" च० वि० अ० ७) इस प्रकार यह छः होते हैं। इनका "कुष्ठ" या सड़न को उत्पन्न करना ही एक काम है।

वक्तव्य—रक्तज रोगों (कुष्ट, श्रातशक एवं उपदंश श्रादि ) में पाए जाने वाले सब प्रकार के किमि रक्तज किमियों में श्रा सकते हैं। "सौ-इन्यात्केचित् श्रदर्शनाः" भी सम्भवतः उबकोटि के श्राणु वीन्तण यंत्र द्वारा दिखाई पड़ सकते हों। केशादाः, रोमविष्वंसा, रोमद्वीपाः, ये तीनों क्रमशः केशों श्रौर रोमों के जड़ से नष्ट करने वाले एवं रोमों की जड़ में रहने वाले हैं। श्रतएव कुष्टरोगियों के केश एवं रोम नष्ट हो जाते हैं तथा त्वचा उफन श्राती है या उची सी हो जाती है। गूलर के फल के समान बाहर निकल श्राने वाली पोटली में जो क्रिमि होते हैं, उन्हीं को सम्भवतः "उदुम्बर" कहा गया है। सौरस—वे हैं जो कि (त्वक् सिरा-स्नायु-मांस-तक्रणास्थिभन्तणम् च० व० श्र०७) त्वचा

९—इस प्रकार कफ-स्थानों में पाए जाने वाले किमि इन्हों के श्रम्तर्गत हो सकते हैं।

श्रादि को भक्तण या श्रास्वादन कर लेते हैं, उन्हीं के कारण नाक, कान निःशेष हो जाते हैं। माता — (जन्तुमातरः च०) ये भी सम्भवतः वे ही हैं जो कि रोहनी मक्खी के बैठने से त्रणों में हो जाते हैं (त्रणग-तानां च हर्षकण्डू इत्यादि च० वि० श्र०७) यह मक्खी नीली, हरी एवं चमकदार होती हैं, इसे पञ्जाब में "हाई" कहते हैं। यह त्रणा-क्रिम प्रारम्भ में (लगभग ४ घण्टे तक) चूने के समान त्रण पर दिखाई देते हैं, तत्पश्चात् (लगभग ८ घण्टे में) पूर्ण रूप से क्रिम बन जाते हैं।

शहुज्जातिकिमिल्र्स्स्म् ।
पकाशये पुरीपोत्था जायन्तेऽघोविसपिंगः ।
प्रदृद्धाः स्युभवेयुश्च ते यदाऽऽमाशयोन्मुखाः ॥१३॥
तदाऽस्योद्धगारनिःश्वासा विड्गन्धानुविधायिनः ।
पृथु-दृत्त-तनु-स्थुलाः स्याव-पीत-सिताऽसिताः ॥१४॥
ते पञ्च नाम्ना किमयः कर्करुक-मकेरुकाः ।
सौसुरादाः सश्चलाख्या लेलिहा जनयन्ति हि ॥१५॥
विड्मेद-शुल-विष्टम्भ-काश्य-पाष्ड्य-पाण्डुताः ।
रोमह्विग्निसदनगुदकण्डुर्विमार्गगाः ॥१६॥ वा० नि० अ० १४

अर्थ—पुरीपज क्रिमि मलाशय में उत्पन्न होते हैं और गुदमार्ग के द्वारा वाहर निकलते हैं। ये जब बढ़ते हैं और श्रामाशय की ओर जाते हैं तो रोगी को डकार तथा सांस में पुरीप की सी गन्ध श्राती हैं। ये क्रिमि चिपटे, गोल, पतले मोटे, कुछ काले, पीले, श्वेत एवं काले होते हैं। वे क्रिमि १—ककेरक, २—मकेरक, ३—सीप्तुराद, ४—सशूल, ५—लेलिह नाम से पांच प्रकार के होते हैं। और वे श्रातिसार, शूल, विष्टम्म, कृशता, त्वचा पर खरदरापन तथा पीलापन (पार्डुरोग) रोमाञ्च, श्रानिमान्द्य एवं गुदबिलयों में श्राकर उनमें खुजली कर देते हैं (गुदौष्ट लाल एवं शोथ युक्त हो जाता है, देखा गया है कि कभी २ छोटे २ सैकड़ों किमि सोते समय बालक के चूतड़ों पर बाहर निकल कर धूमने लगते हैं)।

वक्तन्य—पहिले तीन किमियों का द्यर्थ चिन्तनीय है और दो का-सग्रल—शूलोत्पादक एवं "लेलिह—झाहाररसको बार २ चाट जाने वाले" द्यर्थ होता है। उक्त लेलिह नामक किमियों के कारण शरीर को आहार रस नहीं मिलता। फलतः काश्यं, पारुष्य एवं पा-रखुता हो जाती है। इस विषय में विचार करने के लिये च० वि० द्यर्थ ७ एवं सु० उ० द्यर्थ ५४ को मनोयोग पूर्वक देखिये तो इनकी न्यापकता का पूर्णतया पता लग जायगा। एक बात द्यौर है कि भगवान् चरक ने वातादि को इन का हेतु नहीं माना है। सम्भवतः इस लिये कि "सर्वे-षामेव रोगाणां निदानं कुपिता मलाः" यह एकतन्त्र सिद्धान्त है न कि सर्वतन्त्र सिद्धान्त। अलमितिविस्तरेण। हां, सुश्रुत में नखाद, दन्ताद द्यादि का वर्णन पढ़कर द्याप निःसन्देह हो जायँगे।

इति किमिनिदानम् ।

# पाण्डुरोग-कामला कुम्भकामला-हलीमक-निदानम्।

वक्तव्य—जब रक्त में उचित परिमाण से अधिक पित्त का मिश्रण् हो जाता है और रक्त में रक्तकर्णों की कमी हो जाती है तो पार्खुरोग, और भी अधिक पित्त के मिश्रण् से कामला (कुम्भकामला इसी का भेद हैं) तथा इस से भी अधिक मिश्रण् से हलीमक हो जाता है। क्योंकि पित्त पीत भी है और नील भी। अतः तीनों के वर्ण (रंग) क्रमशः पाण्डु (ईपत्पीत) हारिद्र (अधिक पीत) एवं हरित (पीत नील मिश्रित हरा) होते हैं। बात यह है कि पित्तमिश्रित रक्त धमन्त्यों द्वारा शरीर भर में अमण् करता है। फलतः कफ, वात, मांस, त्वचा आदि के दूषित होने से विविध लच्नण् उत्पन्न हो जाते हैं। अवलम्बन कफ (जो कि हदय का धारक है) और प्राण्वायु (जो कि हदय में रहता है) के दूषित होने के कारण सब से प्रधान पूर्वरूप या रूप "हदय का स्पन्दन या धड़कना" होता है। पञ्जाब में इस रोग को "धड़का" भी कहा जाता है। रक्तगुणों (ओजोगुणों) की न्यूनता तथा त्वचा मांस के दूषित होने के कारण श्रम एवं त्वचा पर खरदरापन होने लगता है। बस्तुतः इस रोग में पित्त ही प्रधान दोष

है। अतएव त्वचा, मूत्र एवं नेत्र श्रादि के वर्ण पर उसी का प्रभाव पड़ता है श्रीर श्रन्यान्य लच्चा उत्पन्न होते हैं। श्रतएव इसमें पित्त-शामक, रक्तकस्रोत्पादक तथा स्रोजोवर्द्धक स्रोषधादि दिये जाते हैं। यथा-त्रिफलादि (पित्तशामक), लोहभस्म (रक्त-कणोत्पादक) एवं तक अर्थात् अर्द्धविलोडित द्धि (अ्रोजोवर्द्धक)। अन्यान्य अवयवों की अपेचा हृदय एवं यकृत् पर इस रोग का अधिक प्रभाव पड़ता है।

पार्डुरोगनिदानम् ।

पाण्डरोगाः स्मृताः पञ्च वात-पित्त-कफैस्नयः ।

चतुर्थः सन्निपातेन पश्चमो भक्षणान्मृदः ॥१॥ च० चि० अ० १६

ऋर्थ-पाएडु रोग पाँच प्रकार का होता है यथा-वात, पित्त एवं कफ से तीन, सन्निपात से चौथा तथा मिट्टी खाने से पाँचवाँ।

पार्ड्यास्य हतया सम्प्राप्तिश्च ।

व्यायाममम्लं ' ल्वणानि मद्यं मृदं दिवास्वप्नमतीव तीक्ष्णम् । निषेत्रमाणस्य प्रदूष्य रक्तं दोषास्त्वचं पाण्डरतां नयन्ति ॥ २ ॥

अर्थ-कसरत, खटाई, नमक ( सब प्रकार के ), मद्य ( मदकारक सभी द्रव्य ), मिट्टी, दिवास्वप्न एवं अत्यन्त तीच्एा वस्तुत्रों को सेवन करने वाले पुरुष के दोष (पित्तप्रधान वातादि दोष) रक्त को दूषित कर त्वचा में पीलापन ( ईषत्पीतता ) ला देते हैं। पाण्डुरोगस्य पूर्वरूपाणि।

त्वक्स्फोटन-ष्रीवन-गात्रसाद-मृद्धक्षण-प्रेक्षणकृटशोथाः ।

विष्मुत्र-पीतत्वमथाविषाको भविष्यतस्तस्य पुरःसराणि ॥ ३ ॥

सु० उ० अ० ४४

अर्थ-त्वचा का कुछ २ फटी सी होना, अर्थात् अधिक रूखापन, थुक श्रधिक त्राना, शरीर में शिथिलता' मिट्टी खाना'नेत्र के चारों

१--व्यवाय ( मैथुन ) पाठान्तर भी उपयुक्त है ।

र-रोगी ऊँचे स्थान पर चढ़ते समय श्रम या धकावट श्रधिक श्रनुभव करता है।

यह मृश्विकाजनित पाण्डका पूर्वरूप है, श्रीर निदान भी ।

त्रोर शोथ, पुरीष एवं मूत्र में पीलापन 'तथा अनपच', यह भावी पार्दुरोग के लत्त्रण अर्थात् पूर्वरूप हैं।

वातिकपारद्धरोगलच्याम्।

त्वङ्-मूत्र-नयनादीनां रूक्ष-कृष्णा-रुणाऽऽभताः।

वातपाण्ड्वामये तोद-कम्पाऽऽनाह-भ्रमादयः ॥ ४ ॥ ऋर्थ-चातज पार्ख्डरोग का लक्तरा यह है-स्वचा, मूत्र एवं नेत्र श्रादि में रूखापन, कालापन एवं गहरी लाली होती है। शरीर में सुई के चुभने की सी पीड़ा, करप रे, आनाह एवं भ्रम आदि। ( कृष्णा-रुग्ता-पाण्डुपन के साथ २ कुछ २ होती है।)

पैत्तिकपाण्डुरोगलच्चणम् ।

पीत-मूत्र-शकुन्नेत्रो दाह-तृष्णा-ज्वरान्वितः।

भिन्नविट्कोऽतिपीताभः पित्तपाण्ड्वामयी नरः॥ ५ ॥

अर्थ--पित्तज पाग्डु से रुग्ण मनुष्य का मूत्र', पुरीष एवं नेत्र श्रत्यन्त पीले हो जाते हैं। वह दाह, प्यास एवं ज्वर से युक्त हो जाता हैं। श्रतिसार होने लग जाते हैं श्रीर रोगी श्रत्यन्त पीला दिखाई पड़ता है ।

कफजपारङ्डरोगलच्लम् ।

कफपसेक-श्वयथु-तन्द्रा-ऽऽलस्या-ऽतिगौरवै:।

पाण्डरोगी कफाच्छुक्लैस्त्वङ्-मृत्र-नयना-ऽऽननैः ॥ ६ ॥

त्रर्थ-कफज पाएडु का लच्चण-कफ जाना, शोथ, तन्द्रा (उँघाई), **आ**ळस, शरीर में अत्यन्त भारीपन तथा—त्वचा, मृत्र, नेत्र एवं मुख पर सुफेदी ( पीलापन लिये ) होती है।

१-पित बृद्धि का सूचक है।

<sup>&</sup>lt; -- पित्त के उस श्रोर व्यय होने से पावनिकया ठीक २ नहीं हो पाती।

र-श्रन्यान्य श्रंगों के साथ ही हृदय में श्रधिक कम्प होता है।

४--पित्त मिश्रित रक्त में से छना हुआ होने के कारण पीला होता है। पित्त के अत्यधिक बढ़ने से पुरीष एवं रक्त दोनों में पीलापन आ जाता है

६ मा० नी०

श्रसाध्यपार्खुरोगलत्त्वणम् । स्टायान्डलिन्द्रणान्त्रमान्त्रितः ।

ज्वरा-रोचक-हळ्ळास-च्छर्दि-तृष्णा-क्रमान्वितः ।

पाण्डुरोगी त्रिभिदोंषैस्त्याज्यः क्षीणो हतेन्द्रियः ॥ ७ ॥

श्रर्थ—ज्वर, श्ररुचि, जी मिचलाना, कै, प्यास एवं सुस्ती से युक्त मनुष्य त्रिदोषज, पाण्डुरोग का रोगी होता है। जब इस का बल मांस चीण तथा इन्द्रियां शक्तिहीन हो जाती हैं तो श्रसाध्य हो जाता है।

मृत्तिकाभचणजातपारडुरोगस्य सम्प्राप्तिः।

मृत्तिकाऽदन-शीलस्य गुप्यत्यन्यतमो मलः । कषाया मास्तं पित्तमूषरा मधुरा कफम् ॥ ८ ॥ कोपयेन्मृद्रसादींश्च रोक्ष्यादृशुक्तं च रूक्षयेत् । पूर्यत्यविषक्वेव स्रोतांसि निरुणद्धयपि ॥ ९ ॥ इन्द्रियाणां खलं इत्वा तेजो वीयोंजसी तथा ।

पाण्डुरोगं करोत्याशु बल-वर्णाऽग्निनाश्चनम् ॥१०॥ च० च० व० व६

श्रर्थ—मिट्टी खाने के श्रभ्यासी मनुष्य का कोई एक दोष कुपित हो जाता है। श्रथांत् कसेली मिट्टी वायु को, खारी मिट्टी पित्त को एवं मीठी मिट्टी कफ को कुपित करती है श्रीर श्रपने रूखेपन से श्राहार तथा रस श्रादि धातुश्रों को रूच कर देती है तथा वह (मिट्टी) बिना पके ही (क्योंकि मिट्टी का पाक नहीं होता) स्रोतों (रसवाही) को भर देती है तथा श्रागे चलकर रोक भी देती है। श्रतएव इन्द्रियों की शक्ति, तेज (जत्साह), वीर्य (श्रुक), श्रोज (धातुसार) को नष्ट (श्रर्थात् उनका हास या कभी) कर पाउड़रोग उत्पन्न कर देती है। जो कि बल, कान्ति एवं श्रिंग का हास कर देता है।

मृदुत्पन्नपारङ्डरोगलज्ञराम्।

श्र्ना-ऽक्षिक्रूट-गण्ड-भ्रू:-श्रुनपान्-नाभि-मेहनः ।

१— सिद्धी में अपन्यान्य आहारद्रव्यों के समान वे पदार्थ नहीं होते, जिनके साथ मिद्धी का पाक हो सके।

#### क्रिमिकोष्ठोऽतिसार्येत मर्ला सासृकक्षकान्वितम् ॥ ११ ॥ च० च० अ० ३६

श्चर्थ—उक्त मृतिकाजित पाण्डु के रोगी की श्रांखों के किनारों पर, गाल एवं भीं पर सूजन हो जाती है तथा पैरों पर, नाभि पर एवं लिंग पर भी सूजन हो जाती है। उसके पेट में किमि पड़ जाते हैं श्रीर रक्त युक्त तथा कफ युक्त मल का दस्त श्राया करता है।

श्रसाध्यपारहुरोगलज्ञराम् ।

पाण्डरोगश्चिरोत्पन्नः खरीभूतो न सिध्यति । कालप्रकर्पाच्छूनानां यो वा पीतानि पश्यति ॥ १२ ॥ बद्धाल्पविट् सहरितं सकफं योऽतिसार्यते ।

दीनः श्वेतातिदिग्धाङ्गश्छर्दि-मृच्छा-तृडर्दितः ॥ १३ ॥

स नास्त्यसृक्षयाद्यश्च पाण्डः श्वेतत्वमाप्नुयात् । च०िष्०क००१६ अर्थ—चिरकाल का पुराना तथा खरीभृत (जिससे धातु रूच्च हो गये हों) पाण्डुरोग अच्छा नहीं होता। अधिक समय बीत जाने से जो रोगी सूज गया हो तथा सभी वस्तुओं को पीली देखता हो, वह भी असाध्य होता है। जिस रोगी को बंधा हुआ, थोड़ा सा एवं हरा मल आवे अथवा कफ युक्त दस्त आवे तथा सुस्ती, अंगों में सफेदी एवं सूजन हो; के, मूच्छी तथा प्यास की अधिकता हो तो वह असाध्य होता है और रक्त की कमी के कारण जो रोगी अत्यन्त सफेद हो गया हो वह भी मर जाता है।

श्रपरमसाध्यत्तत्त्रणम् । पाण्ड-दन्त-नस्तो यस्तु पाण्डनेत्रश्च यो भवेत् ।

पाण्डुसंघात-दर्शी च पाण्डुरोगी विनश्यति ॥ १४ ॥

अर्थ—जिस रोगों के दाँत तथा नाखून पीले हो गये हों, आँखें पीली हो गई हों और सभी वस्तुएँ पीली दिखाई पड़ती हों, वह रोगी मर जाता है।

श्रन्यान्यप्यसाध्यतत्त्त्त्त्यानि । श्रन्तेषु सूनं परिद्दीरामध्यम् , म्लानं तथाऽन्तेषु च मध्यसूनम् । गुदे च शेफस्यथ मुष्कयोश्च छूनं प्रताम्यन्तमसंज्ञकल्पम् । विवर्जयेत्पाण्डुकिनं यशोऽर्थी तथाऽतिसार-ज्वर-पीडितं च १५

अर्थ—जिस रोगी के हाथ पाँव पर सूजन हो तथा मध्यकाय छरा हो अथवा जिसके हाथ पाँव सूख गये हों और घड़ सूज गया हो, गुद, लिंग एवं अण्डकोश पर शोथ हो, आँखों के सामने अन्वेरा आता हो, संज्ञा घट गई हो तथा अतिसार एवं ज्वर से पीड़ित हो, ऐसे पाण्डुरोगी को यश चाहने वाला वैद्य त्याग देवे।

पाण्डुभेदकामलारोगलच्चण्म् । पाण्डुरोगो तु योऽत्यर्थं पित्तलानि निषेवते । तस्य पित्तमसृङ्-मांसं दग्ध्वा रोगाय कल्पते ॥ १६ ॥ हारिद्रनेत्रः स भृत्रं हारिद्र-त्वङ्-नखा-ऽऽननः । रक्त-पीत-शक्तन्मूत्रं भेकवर्णो हतेन्द्रियः ॥ १७ ॥ दाहा-ऽविपाक-दोर्बल्य-सदना-ऽष्ट्वि-कर्षितः ।

कामला बहुपित्तेषा कोष्ठशाखा-ऽऽश्रया मता ।।१८।। ष० वि० अ० १६ अर्थ—जो पार इरोगी पित्तकारक पदार्थों का अधिक सेवन करता है उसका पित्त ( दूषित होकर ) रक्त तथा मांस को दूषित करके "कामला" को उत्पन्न कर देता है। जिससे रोगी की आँखें, त्वचा, नाख़त एवं मुख हल्दी के समान पीले ( सुर्खी लिये पीले या गहरे पीले ) हो जाते हैं। मृत्र एवं पुरीष लाल और पीले होते हैं, रोगी बरसाती मेढ़क ( लड्ड् ) के समान वर्ण वाला हो जाता है, उसकी इन्द्रियाँ शिक्तिहान हो जाती हैं। दाह, अनपच, दुर्बलता, थकावट एवं अरुचि से पीड़ित होता है। यह कामला पित्त की प्रवत्तता या अधिकता से होता है और इसके दो भेद हैं। यथा—१—कोष्टाश्रया, २—शाखाश्रया।

वक्तव्य—जिसका यकृत् प्लीहा त्रादि कोष्ठ के अवयवों पर त्र्राधिक प्रभाव पड़ता है, उसे कोष्टाश्रया या कुम्भकामला कहा जाता है त्र्रीर जिसका रक्तादि धातुक्रों एवं त्वचा पर त्र्राधिक प्रभाव पड़ता है, उसे शास्त्राकामला कहा जाता है। यद्यपि यहां पर केवल पार्खुरोगी को ही "कामला" होता है ऐसा लिखा है, किन्तु "भवेत्पित्तोल्बग्रस्यासी पा-ण्डुरोगादतेपि च" वा० नि० श्र० १३ के श्रनुसार स्वतन्त्र या प्रारम्भ से भी हो सकता है।

कुम्भकामलारोगलच्चणम्।

कालान्तरात् खरीभूता क्रच्छा स्यात्क्रम्भकामला ।

त्रर्थ—पुराना एवं खरीमृत कुम्भकामला रोग कष्टसाध्य होता है (कामला की त्रपेत्ता कुम्भकामला कष्टसाध्य होता है, भला बतलाइये क्यों ?)

कामलाया श्रसाध्यलद्यानि ।

कृष्ण-पीतशकृन्-मृत्रो भृशं शूनश्र मानवः ॥ १९ ॥ सरक्ताऽक्षि-मुखच्छर्दि-विष्मृत्रो यश्र ताम्यति ।

दाहा-ऽरुचि-तृषानाइ-तन्द्रा-मोहसमन्वितः ॥ २० ॥

नष्टाग्रिसंज्ञ: क्षिप्रं हि कामलावान्विपद्यते । च० च० अ० १६

अर्थ--जिस रोगी का पुरीष काला तथा मूत्र पीला हो, शरीर पर सूजन हो, त्र्यांख, मुख, के का निकला द्रव्य, पुरीष एवं मूत्र लाल हों, आँखों के सामने ऋन्धेरा त्रावे, दाह, ऋरुचि, प्यास, त्रानाह, तन्द्रा एवं बदहोशी हो, ऋषि मन्द हो गया हो, वह कामला रोगी मर जाता है।

कुम्भकामलाया श्रसाध्यलच्यानि ।

छर्चरोचक-ह्ळास-ज्वर-क्रम-निपीडित: ।। २१ ॥

नश्यति श्वास-कासा-ऽऽर्तो विड्भेदी क्रुम्भ-कामली।

अर्थ-कें, अरुचि, हल्लास, ज्वर एवं सुस्ती से पीड़ित, श्वासकास से दुखी तथा अतिसारवाला रोगी कुम्भकामला के कारण मर जाता है।

हलीमकरोगलच्चाम् ।

यदा तु पाण्डोर्वर्षाः स्याद्धरितः श्यावपीतकः ॥ २२ ॥

बलोत्साहक्षयस्तन्द्रा मन्दाग्नित्वं मृदुज्वरः।

स्त्रीव्वहर्षोऽङ्गमर्दश्च दाहस्तृष्णाऽरुचिर्भ्रमः ।

ह्लीमकं तदा तस्य विद्यादिनिल-पित्ततः ॥२३॥ च० च० ७० १६ अर्थ — जब पारु होग का वर्ण हरा, काला अथवा पीला हो जाता है, बल तथा उत्साह की हानि, तन्द्रा, मन्दाग्नि, मन्द ज्वर, नपुंसकता, अंगों में दर्द, दाह, प्यास, अकृचि एवं अम (चक्कर आना) ये लच्चण

ख्त्पन्न हो जाते हैं, तब उस रोगी को "हलीमक" नामक रोग जानना चाहिए। यह वायुपित्त की श्रिधिकता से होता है। पाग्खुरोगोपद्रवाः।

उपद्रवास्तेष्वरुचिः पिपासा छुदिःचेरो मूर्द्धरुजाऽप्रिसादः । शोफस्तथा गर्एडगतोऽवलत्वं मूर्च्छा क्लमो हृद्यवपीडनं च ॥

सु० उ० तं० अ० ४४

इति पाण्डुरोगनिदानम् ।

### र्क्तिपित्तनिदानम्।

अन्यान्य रोगों के समान ही रक्त पित्त में शरीर से रक्त द्रव्य निकलता है। भेद केवल यह है कि इसमें पित्त द्वारा रक्त विदग्ध एवं द्रव होने के कारण रक्त मार्गों में से चू चू कर निकलता है। भीतर त्वचा कोमल होने के कारण प्रायः आमाशय एवं पकाशय आदि में चूआ हुआ रक्त ऊपर के एवं नीचे के मार्गों से निकलता है, किन्तु जब वह अत्यन्त विदग्ध एवं द्रव हो जाता है तो रोमों की जड़ों में से भी निक-लने लगता है। इसे समफने के लिये "कुपितं पित्तलः पित्तं द्रवं रक्तं च मूर्न्छिते। ते मिथस्तुल्यरूपत्वमागत्य व्याप्तुतस्तुम्॥" वा० नि॰ अ० ३। पाठकों को स्मरण रखना चाहिये। अर्थात् पित्तमिश्रित रक्त पतला होकर शरीर के किसी भी भाग से चू सकता है और वहीं से निकल भी सकता है। और यह रक्त पित्त से मिश्रित होकर निकलता है। अत एव इसे "रक्तपित्त" कहा जाता है।

रक्तपित्तस्य निदानं सम्प्राप्तिश्च । धर्म-व्यायाम-शोका-ऽध्व-व्यवायैरतिसेवितै: । तीक्ष्णोष्ण-क्षार-त्तवर्णेरम्त्तै: कुटुभिरेव च ॥ १ ॥ पित्तं विद्ग्धं स्वगुर्गैर्विद्दृहत्याशु श्लोणितम् ।
ततः प्रवर्तते रक्तमूर्ध्वं चाधो द्विधाऽपि वा ॥२॥ छ॰ छ॰ ४४
ऊर्ध्वं नासा–ऽक्षि–कर्णाऽऽस्यैर्में ह्र—योनि–गुदैरघः ।
कृपितं रोमकृपेश्च समस्तैस्तत्पवर्तते ॥ ३ ॥

अर्थ—धाम (धूप), व्यायाम, शोक (जैसे शोकातिसार), मार्गगमन एवं मैथुन के अत्यन्त सेवन से, तीद्द्या, गर्म, खारे, नमकीन, खट्टे
तथा कडुवे पदार्थों के अधिक खाने से पित्त विदग्ध, कुपित या खट्टा
होकर अपने गुणों (तीद्द्याता, द्रवता, पूतिता आदि) के द्वारा रक्त को भी
विदग्ध अर्थात् उसमें मिलकर उसे द्रव तथा खट्टा कर देता है। इसिलये
वह पित्तमिश्रित रक्त अपर नीचे अथवा दोनों स्रोर से निकलने लगता
है। अपर को नाक, आँख, कान अथवा मुख से तथा नीचे को लिंग,
योनि अथवा गुद से और अत्यन्त दूपित होकर समस्त रोम-कूपों से भी
निकलने लगता है।

### श्रथास्य पूर्वरूपाणि ।

सदनं शीतकामित्वं कण्डधूमायनं विमः । लोहगन्ध्रिश्च निःश्वासो भवन्त्यस्मिन् भविष्यति ॥४॥ चु०्ड०अ०७५

अर्थ-रक्तिपत्त का पूर्वरूप यह है-अंगों में शिथिलता, शीत पदार्थों के सेवन की इच्छा, करठ में से धूँआ सा निकलने का अनुभव, कै तथा बाहर आनेवाले साँस में लोहे (तपाकर पानी में बुफाए हुए) की सी गन्ध आना।

वक्तव्य—श्राग्न में सन्तप्त लोह को जल में वुभाने से जो गन्ध श्राती है, ठीक उसी के समान गन्धयुक्त निःश्वास होता है । सच बात यह है कि रक्त में लोह तत्त्व होता है (श्रत एव रक्त का नाम "लोहित" रखा गया है ) पित्त से जब रक्त विदग्ध होता है तो उक्त लोहतत्त्व के विदाह से इस प्रकार की गन्ध श्राती है। विदग्ध रक्त श्रम्ल हो जाता है अतः इसे कुक्ता श्रादि भी नहीं खाते। लोहतत्त्व के विदग्ध हो जाने के कारण्य यह शरीरोपयोगी भी नहीं रहता श्रत एव "नादौ संमाद्यसृद्धिकम्" (सु० उ०

द्य०४५) कहा गया है। किन्तु जब लोहतत्त्व युक्त (शुद्ध रक्त) रक्त स्रावे तो रोक देना चाहिये।

श्लैष्मिकरक्तपित्तलच्चणम्।

सान्द्रं सपाण्डु सस्नेहं पिच्छितं च कफान्वितम्।

श्यावारुएं सफेनं च तनु रूक्षं च वातिकम् ।।५।। च०चि० अ०४ ऋर्थे—कफ के संसर्ग से रक्तिप गाढ़ा, कुछ श्वेत, चिकनाई युक्त एवं चिपचिपा होता है। वायु से काला, गहरा लाल, भागयुक्त एवं रूझ (स्तेहहीन) होता है।

पैत्तिकरक्तपित्तलच्राम्।

रक्तपित्तं कषायाभं कृष्णं गोमूत्रसन्निभम् ।

मेचकाऽगारभूमाऽऽभमञ्जनाभं च पैत्तिकम् ।। ६ ।। च०च०अ०४ अर्थ—पित्त के अन्यन्त मिश्रण से रक्तिपत्त का द्रव काढ़े का सा, काला, गोमूत्र जैसा, मोर्वंस के समान वर्णवाला, गृहधूम एवं काले सुरमे के समान वर्णयुक्त होता है। उपर्युक्त दो दो लच्चणों के संसर्ग से द्वन्द्वज एवं तीनों दोषों के मिलने से सन्निपातज होता है।

श्रथोर्ध्वाधोमार्गभेदेन रक्तपित्तस्य भेदद्वयम्।

ऊर्ध्वगं कफसंस्रष्टमधोगं पवनानुगम्।

द्विमार्गं कफ-वाताभ्यामुभाभ्यामनुवर्तते ॥ ७॥ वः विः वः वः श्र श्रर्थ—कफ के संसर्ग से ऊपरी भागों से, वायु के संसर्ग से निचले भागों से तथा कफ वात दोनों के संसर्ग से दोनों श्रोर से रक्तपित्त निकलता है।

अस्योध्वाधोभेदेन साध्यासाध्ययाप्यत्वम् ।

श्रथास्य सुखसाध्यत्तत्त्तराम् । एकमार्गं बलवतो नातिवेगं नवोत्थितम् ॥ ८ ॥ रक्तिपित्तं सुखे काले साध्यं स्यानिरुपद्रवम् । च॰ च॰ ध॰ ध॰ ध॰ धर्धं च्यां —बलवान् मनुष्य का रक्तिपित्त केवल एक ख्रोर जाने वाला ( ऊर्ध्वगामी ), वेगरहित, नवीन, उपद्रवीं से रहित तथा सुखदायक काल ( शीतकाल हेमन्त शिशिर ऋतु ) में साध्य होता है।

त्रथास्य दोषभेदात्साध्यासाध्यत्वम् । एकदोषानुगं साध्यं द्विदोषं याप्यग्रुच्यते ॥ ९ ॥ यत्त्रिदोषमसाध्यं स्यान्मन्दाग्नेरतिवेगवत् ।

व्याधिमि: क्षीणदेहस्य दृद्धस्यानश्चतश्च यत् ॥१०॥ च॰ च॰ च॰ घ॰ ध ऋर्थ—एकदोषज रक्तिपित्त साध्य, द्विदोषज याप्य एवं त्रिदोपज असाध्य होता है। श्रौर मन्द श्रिवाले, श्रन्यान्य रोगों से पीडित शरीरवाले, वृद्धे तथा भोजन न करने वाले रोगी का श्रत्यन्त वेगयुक्त रक्षापित्त श्रसाध्य होता है।

रक्तपित्तस्योपद्रवाः।

दौर्वरुय-श्वास-कास-ज्वर-वमथु-मदाः पाण्डुता-दाह-मूर्च्छाः भुक्ते घोरो विदाहस्त्वष्टतिरिष सदा हृद्यतुरुया च पीडा । तृष्णा कोष्ठस्य भेदः शिरिस च तपनं पूर्ति-निष्ठीवनत्वम् भक्त-द्वेषा-ऽविपाकौ विकृतिरिष भवेदक्तिषत्तोपसर्गाः ॥ ११ ॥

च० चि॰ अ॰ १६

श्रर्थ—दुर्बलता, श्वास, कास, ज्वर, कै, मद, पार्डुता (शरीर पर पीलापन), दाह, मूर्च्छा, भोजन करने के बाद उदर में श्रत्यन्त दाह, वेचैनी, हृदय में सदैव भीषण पीड़ा, प्यास, श्रातिसार, शिर में गर्मी, दुर्गीन्धत, थृक, श्रक्षचि, श्रनपच तथा रक्तिपत्त के निम्नलिखित विकार यह सब रक्तिपत्त के उपद्रव हैं।

रक्तपित्तस्यासाध्यळत्त्रणम् । मांस-प्रक्षालनाभं कुथितमिव च यत्कर्दमाम्भोनिभं वा मेद:-पूया-ऽस्न-कर्ल्य यकृदिव यदि वा पक-जम्बू-फलाभम् । यत्क्रुष्णं यच नीलं भृशमितक्कुण्पं यत्र चोक्ता विकारा-स्तद्वर्च्यं रक्तपित्तं सुरपित-धनुषा यच तुल्यं विभाति ॥ १२ ॥

सु॰ उ० अ० ४५

श्रर्थ—जो रक्तिपित्त मांस के धोवन का सा, सड़ा हुश्रा सा, कीचड़ से पानी जैसा, मेदा धातु तथा पृयास्त्र (पीव मिश्रित रक्त या कचलहू ) के सहश, यकृत् के वर्णवाला श्रथवा पके जामुन फल के समान वर्णयुक्त, काला श्रथवा नीला, मुद्दार की सी गन्धयुक्त तथा जिसके साथ २ उपयुक्त दौर्बल्यादि उपद्रव हों श्रथवा जो इन्द्रधनुष के समान कितने ही वर्णों से युक्त दिखाई देवे, वह श्रसाध्य होता है ।

येन चापहतो रक्तं रक्तपित्तेन मानवः।

पश्येद्व दृश्यं वियचापि तचासाध्यमसंशयम् ॥ १३ ॥

अर्थ-जिस रक्तिपेत्त से पीड़ित मनुष्य प्रत्येक वस्तु को तथा आकाश को भी लाल ही देखना हैं, वह अवश्य ही असाध्य होता है।

लोहितं छर्दयेयस्तु बहुशो लोहितेक्षणः।

लोहितोद्गारदर्शी च प्रियते रक्तपैत्तिक: ॥१४॥खु॰ स्॰ ध॰ ३३ ऋर्थ—जो रोगी लोहित (लोहतत्त्वयुक्त शुद्ध रक्त) की वार २ वमन करता हो, जिसकी ऋांखें लाल हो गई हो ऋथवा जिसके उद्गार में भी शद्ध रक्त ऋग जाता हो; वह रोगी शीध ही मर जाता है।

वक्तक्य—इस श्लोक में "लोहित" शब्द का प्रयोग कर रक्त में लोह-तत्त्व सम्बन्धी अपने ज्ञान का महर्षियों ने पूर्ण परिचय दिया है। इसके जानने का सरल उपाय है कि—रक्तिपत्त में साफ श्वेत कपड़ा भिगो कर धोइये। यदि उस पर दाग न रह जाय तो समिक्तये कि रक्त में लोह विद्यमान है यदि नहीं तो उसे उक्त तत्त्व रहित अतः अशुद्ध सम-झना चाहिये।

इति रक्तपित्तनिदानम् ।

राजयक्ष्म-क्षत-क्षीणनिदानम् । वक्तव्य—राजयदमा के नामकरणसम्बन्धी शास्त्रीय विविध विचारों (संशोषणाद्रसादीनां शोष इत्यिभधीयते । कियाच्चयकरत्वाच चय इत्यु-च्यते वृधेः ॥ राज्ञश्चन्द्रमसो यस्मादभूदेष किलामयः । तस्माचं राज-यदमेति केचिदाहुर्मनीषिणः ॥) के साथ ही मेरा विचार है कि "राजते शोभते इति राजा तस्य यदमा राजयदमा" इस प्रकार (सुन्दर एवं वि-लासी मनुष्य का रोग) कहना भी श्वसंगत नहीं है । क्योंकि इस रोग का श्राक्रमण सुन्दर एवं विलासी युवकों पर विशेष होता देखा गया है ।

वेगरोधात् क्षयाचैव साहसाद्विषमाशनात् ।

त्रिदोषो जायते यक्ष्मा गदो हेतुचतुष्टयात् ॥ १ ॥

श्चर्य-वात मृत्रादि का वेग रोकना, शुक्र श्चाद्रि धातुत्रों का चय, दुःसाहस एवं विषम भोजन इन चार कारणों से त्रिदोषज "राजयदमा" नामक रोग उत्पन्न होता है।

वक्तव्य—त्रिदोषज होने पर भी इसमें कफ प्रवल रहता है। अत एव यह रोग चिरकाली होता है अर्थात् धीरे धीरे शरीर में व्याप्त होता है।

च्चयरोगस्य सम्प्राप्तिः।

कफनधानैदींषैस्तु रुद्धेषु रसवर्त्मसु ।

त्र्यतिव्यवायिनो वाऽपि क्षीरो रेतस्यनन्तराः ।

क्षीयन्ते धातवः सर्वे ततः शुष्यति मानवः ॥ २ ॥

श्रर्थ—१—कफाधिक दोष्ट्रों द्वारा रसवाही स्रोतों के रुक जाने पर श्रथवा २—मेथुन की श्रधिकता के कारण शुक्रधातु के चीणा होने पर शेष सभी धातु चीण हो जाते हैं। श्रतएव मनुष्य सुखने लगता है।

वक्तव्य—इस भयंकर रोग की सम्प्राप्ति ऋर्थात् उत्पत्तिप्रकार दो प्रकार का है। १—धातुओं के न बनने से, २—उनके त्त्य से। इन दोनों को ऋनुलोम तथा प्रतिलोम यत्त्मा कहा जाता है।

यदमणः पूर्वरूपाणि ।

श्वासाङ्गमर्द-कफसंस्नव-तालुशोष-वम्यप्रिसाद-मद्-पीनस-कास-निद्राः । शोषे भविष्यति भवन्ति स चापि जन्तुः शुक्लेक्षणो भवति मांसपरो रिरंसुः ॥ ३ ॥

अर्थ्य—जब यदमा होने को होता है तो निम्न लच्चए होते हैं—आस, अंगो में दर्द, कफ का अधिक निकलना (यही प्रधान पूर्व रूप या रूप है) तालु का सृखना, के (प्रायः मोजन के कुछ देर पश्चात, अभि-मान्य, मस्ती, जुकाम, खाँसी, नींद की अधिकता, आँखों में सफेदी, मांसभच्चण एवं मैथुन की अधिक इच्छा।

वक्तव्य—कफ द्वारा रस के मार्ग इक जाने के कारण रसधातु विदग्ध होकर कफरूप में निकलता रहता है। फल यह होता है कि रक्त मांस आदि धातु पुष्ट ही नहीं हो पाते और रोगी धीरे धीरे सूख जाता है। रिरंसु—अधिक रित करने से शुक्र ज्ञीण हो जाने पर वायु कुपित होकर अवशिष्ट धातुओं को सुखा देता है। बस फल वही होता है अर्थात् यदमा हो जाता है। हाँ, इस कफ में किमि पाए जाते हैं, जो पार्श्ववर्ती लोगों पर भी आक्रमण कर देते हैं। अतएव यदमा (कुष्ट-निदान स्रोक ४२-४३ देखिये) को संकामक कहा गया है। इसमें सम्भवतः, 'दर्भकुसुम" किमि होते हैं। आगे चलकर ये फुम्फुसों को भी खा जाते हैं। शोक।

स्वप्नेषु काक-शुक-शल्लकि-नीलकण्ठा-गृधास्तर्थेव कपयः कृकलासकाश्च । तं वाहयन्ति स नदीर्विजलाश्च पश्ये-

च्छुन्कांस्तरू-पवन-पूम-दवा-ऽर्दितांश्व ॥ ४ ॥ छु॰ उ० अ० ४१ ऋर्थ—रोगी को स्वप्नावस्था में ज्ञात होता है कि उसको कौवा, सुग्गा (तोता), साही (सेह), मोर, गिद्ध, बन्दर एवं गिरगिट (किरला) वहन करते हैं तथा वह सूखी निदयों को ऋौर सूखे, पूऋाँ एवं दावानल से व्याप्त वृत्तों को देखता है, (रोग का प्रभाव है कि इस प्रकार के स्वप्न आया करते हैं, यह भी पूर्वरूप ही है)।

त्तयस्य त्रीणि मुख्यलत्त्वणानि । अंसपार्श्वाऽभितापश्च सन्तापः करपादयोः । जबर: सर्वाङ्गगश्चेति लक्षणं राजयक्ष्मणः ॥५॥ च० च० ध० ८ अर्थ-कन्धे और पसिलयों में पीड़ा, हाथ पैरों में जलन और सम्पूर्ण शरीर में जबर (प्रायः मन्द ज्वर ही रहता है), ये राजयचमा के तीन प्रसिद्ध लच्चण हैं।

तान्येव सौश्रुतानि ।

( ''भक्तद्वेषो ज्वरः श्वासः कासः शोणितदर्शनम् ।

स्वरभेदश्च जायेत पड्रूपे राजयक्ष्मिणि ॥'') सु॰ उ॰ आ॰ ४१ ऋर्थ—भोजन में ऋरुचि, ज्वर, श्वास, कास, श्रूक में रक्त जाना एवं स्वर बैठ जाना इस प्रकार राजयहमा के छः लत्त्रण भी होते हैं। स्वयस्यैकादश रूपार्ष्ण् ।

स्वरभेदोऽनिलाच्छूलं संकोचथांस-पारर्वयोः।

ज्वरो दाहोऽतिसार्थ पित्ताद्रक्तस्य चागमः ॥ ६ ॥

शिरसः परिपूर्णत्वमभक्तच्छन्द एव च।

कासः कण्डस्य चोद्धध्वंसो विज्ञेयः कफकोपतः ॥७॥ सु॰ उ॰ अ॰ ४१

श्रर्थ—यहमा में ११ लत्त्रण भी पाये जाते हैं। वायु से—१स्वर-भेद, कन्धे एवं पसिलयों में २—शूल तथा ३—संकोच। पित्त से— १—ज्वर, २—दाह, ३—श्रतिसार एवं ४—थूक में रक्त जाना। कफ से— १—शिर का भरा सा ज्ञात होना, २—भोजन में श्रक्ति, ३—कास एवं ४—काएठोद्ध्वंस। (इस प्रकार कुल ११ लत्त्रण हुये)।

वक्तव्य—पोषण् न मिलने से श्रथवा किमियों द्वारा खाये जाने से (रक्त भी इसी लिये निकलता है श्रथवा गल गल कर कफ रूप में निकल जाने से फुफुस संकुचित हो जाते हैं। श्रत एव "संकोच-श्रांसपार्श्वयों:" हो जाता है। रोगी सिकुड़ा सा रहता है। "करठोड़-ध्वंस" का श्रथं करठ एवं तत्सामीप्य से (लन्न्णा करके) फुफुसों

९---कासो ज्वरो रक्तपितं त्रिरूपै राजयद्दमणि । भोजसंहिता । ये तीन लक्षण भी प्रायः देखे जाते हैं ।

२--यही यदमा का व्यक्त है।

का उद्ष्यंस श्रर्थात् ढह जाना युक्तिसंगत है (जैसे पुराने मकान या भवन ढह जाते हैं, कुछ कोठरियाँ बनी रहती हैं, कुछ ट्रट फूट जाती हैं, उसी प्रकार फुफ्रुस के कुछ वायु-मन्दिर एवं वायुकोष्ठ बने रहते हैं)। कभी २ इस रोग का श्राक्रमण केवल एक ही फुफ्रुस पर होता है श्रीर दूसरा सर्वथा सुरित्तत रहता है। इस दशा में कुशल चिकित्सक रोगी का रुग्ण फुफ्रुस निकाल लेते हैं श्रीर रोगी एक ही फुफ्रुस द्वारा जीवननिर्वाह कर लेता है। जैसे निर्धन मनुष्य श्रपने टूटे-फूटे मकान के एक ही भाग में रहकर जीवन बिता लेता है।

श्रसाध्यत्तयलत्तराम ।

एकादशभिरेभिर्वा पड्भिर्वाऽपि समन्वितम् । कासाऽतीसार-पार्श्वाऽऽर्ति-स्वरभेदा-ऽरुचि ज्वरैः ॥ ८ ॥ त्रिभिर्वा पीडितं लिङ्गः कास-श्वासा-सगामयैः ।

जह्याच्छ्रोपर्दितं जन्तु मिच्छन् सुविमलं यशः ॥९॥ सु॰ उ० अ० ४१ अर्थ—स्वरभेदादि उपर्युक्त ११ लज्ञ्यों अथवा नीचे लिखे कास, अतिसार, पसिलयों की पीड़ा, स्वरभेद, अरुचि एवं ब्वर; इन छः लज्ञ्यों से अथवा कास, श्वास, शृक में रक्त आना, इन तीन लज्ञ्यों से पीड़ित यदमा रोगी को असाध्य होने के कारण निर्मल कीर्ति का अभिलाषी चिकित्सक छोड देवे।

श्रपरमसाध्यत्तच्यम् । सर्वेरघेँस्त्रिभिर्वाऽपि तिङ्गेर्मासवत्तक्षये । युक्तो वर्ज्यश्रिकित्स्यस्तु सर्वरूपोऽप्यतोऽन्यथा ॥ १०॥ च० च० च० च० च

अर्थ-सभी (उपर्युक्त ११ लज्ञणों) अथवा छः अथवा तीन लज्जणों से युक्त रोगी को तभी छोड़ना चाहिए जब कि उसका मांस एवं

९—मांसक्षये—स्फिक्—गण्ड—च्योष्ट—उपस्थ—ऊरु—वक्षः—कथा—िप-ण्डिका—उदर्—प्रीवाशुष्कता रौच्यतोदौ गात्राणां सदनं धमनीरौथिरुयं च ।

बर्ड चीण हो गया हो। नहीं तो उक्त सब लच्चशों के रहने पर भी चिकित्सा करनी ही चाहिए।

वक्तव्य—सच बात यह कि जब रोगी मांस एवं बल से युक्त रहता है, तब तक चिकित्सा करने से श्रवश्य सफलता मिलती है। श्रव्यथा वह नामुराद रोग मार ही डालता है।

अपराण्यसाध्यलच्यानि ।

महाशनं क्षीयमाणमतीसारनिपीडितम् ।

शूनमुक्तोदरं चैव यक्ष्मिणं परिवर्जयेत् ॥ ११ ॥ छ० उ० अ० ७३

श्रर्थ—श्रधिक भोजन करने पर भी चीण होने वाले, श्रतिसार से पीड़ित, श्ररडकोष तथा उदर की सूजन से युक्त यहमारोगी को श्रसाध्य होने के कारण छोड़ देवे।

श्रन्यदसाध्यलत्तराम् ।

शुक्काक्षमन्नद्वेष्ठारमुर्ध्वश्वासनिपीडितम् ।

कुच्छ्रेण बहुमेहन्तं यक्ष्मा हन्तीह मानवम् ॥ १२ ॥

श्चर्य—श्वेत नेत्रों वाले, श्वन्न के द्वेषी, ऊर्ध्व श्वास से पीड़ित, मूत्रक्ट-च्छ एवं बहुमूत्र से युक्त रोगी को यदमा मार्र डालता है।

ऋस्य चिकित्स्यत्वम् ।

ज्वरानुबन्धरहितं बलवन्तं क्रियासहम् ।

उपक्रमेदात्मवन्तं दीप्तांश्रिमकृशं नरम् ।। १३ ।। छ० उ० अ०४१

श्चर्थ—ज्वर वेग से रहित, बलवान् , चिकित्सा की कठिनाइयों को सहने वाले, श्वात्मबल से युक्त, दीप्त श्रग्निवाले, कुशता रहित (जिसका मांस ज्ञीण न हो गया हो ) मनुष्य की चिकित्सा करनी चाहिये।

वक्तव्य-बहुत से लोग शंका किया करते हैं, कि "ज्वरः सर्वागः"

१—बलक्षय-मूच्छ्वं मांसक्षयो मोहःप्रलापोऽज्ञानमेव च । पूर्वोक्तानि च लिगानि मरणं च बलक्षये । श्रा॰ द०

२—इस लक्षण के उत्पन्न होने पर रोगी शीघ (दो ही चार घंटे में ) मर जाता है।

के अनुसार यहमा ज्वर से रहित होता ही नहीं है । उन्हें याद रखना चाहिये कि किसी भी रोग में सब लच्चाग नहीं होते, जब तक कि वह असाध्य नहीं हो जाता। ध्यान दें कि यहमा रोग है, और ज्वर उसका लच्चा है ज्यक्षन नहीं । क्या मूच्छी रहित विसूची को आप विसूची नहीं कहेंगे ? यदि हाँ, तो यह शंका भी उचित नहीं । अगेर जानने के लिये १० वां श्लोक देखिये।

च्चरयान्ये प्रकाराः।

व्यवाय-शोक-वार्धक्य-व्यायामा-ऽध्व-प्रशोषितान् ।

वर्णारः अतसंज्ञौ च शोषिणौ लक्षर्णैः शृषु ।।१४।। स्॰ ड० अ० ४१

अर्थ — मैथुन से, शोक से, बुढ़ापे से, व्यायाम से, मार्गगमन से जो सुख गये हों तथा त्रण एवं उरःत्तत (फुम्फुस अथवा हृत्पिण्ड में त्रत हो जाना ) से जो सुख गये हों, उनके लत्त्रण सुनो ।

वक्तन्य—यद्यपि राजयदमा, त्तय ख्रौर शोष शब्द पर्यायवाची माने जाते हैं किन्तु सन्भवतः त्त्रय एवं शोष राजयदमा के दो भेद हैं। शब्दार्थ भी मिन्न भिन्न हैं, यथा—शोष—धातुद्यों (पोषणा न मिलने पर) का सूख जाना। त्त्रय—धातुद्यों (पोषणा मिलने पर भी) का त्तीणा हो जाना। इसलिये शोक, वार्द्धक्य, व्ययाम एवं श्रतिमार्गगमन से शोष होता है ख्रौर व्यवाय, त्रण तथा उरःत्तत से त्त्य। सुश्रुत भगवान इन्हें मतान्तर मानते हैं। विचारिये क्या वात है ?।

व्यावायशोषिणो लज्ञ्णम् ।

व्यवायशोषी शुक्रस्य क्षयत्तिङ्गैरुपद्रतः ।

पाण्डुदेहो यथापूर्वं क्षीयन्ते चास्य घातव: ॥१५॥ सु॰ उ॰ अ॰ ४३ अर्थ--शुक्रज्ञयं के लज्ञ्यों से युक्त पीले शरीर वाला रोगी "व्यवाय-शोषी" होता है और इसके घातु (मज्जा आदि) क्रमशः ज्ञीला हो जाते हैं। शोकशोषियो लज्ञ्णम्।

पध्यानशीलः स्रस्ताङ्गः शोकशोष्यपि तादशः। सु॰ उ॰ ४० ४४

१—- गुकक्षये मेद्रूषणवेदना, त्रराक्तिमेंथुने, चिराद्वा प्रसेकः, प्रसेके चाल्पद-र्शनं गुकस्य रक्तस्य वा । सु० सु० त्रप्र० १५)।

श्रर्थं—चिन्ता में मम्न, शिथिल शरीर वाला, शुक्रस्य के लक्त्णों के बिना ब्यवायशोषी के लक्त्णों से युक्त "शोकशोषी" होता है।

जराशोषिणो लच्चणम् ।

जराशोषी कृशो मन्दवीर्य-बुद्धि-बलेन्द्रिय: ॥१६॥

कम्पनोऽरुचिमान् भिन्न-कांस्य-पात्र-हतस्वरः ।

ष्टीवति श्लेष्मणा हीनं गौरवा-ऽरति-पीडित: ॥१७॥

संप्रसुताऽस्य नासाऽश्तः शुष्क-रूक्ष-मल-च्छविः । स॰ उ० त० भ० ४१

श्रर्थ—जराशोपी मनुष्य क्ररा हो जाता है, वीर्य, बुद्धि, बल एवं इन्द्रियों की शिक्ष दुर्बल हो जाती है। वह कम्पन तथा श्ररुचि से युक्त होता है। उस का स्वर फूटे कांस्यपात्र के समान हो जाता है। कफ रिहत थूकता है शरीर के भारीपन तथा वेचैनी से पीड़ित होता है। मुख, नाक एवं श्रांखों में से पानी जाता रहता है। मल सूख जाता है श्रोर कान्ति नष्ट हो जाती है। (किसी वूढ़े को देखिये)

मार्गशोषियो लच्चयम्।

त्रध्वशोषी च स्नस्ताङ्गः संभृष्ट-परुप-च्छविः ॥ १८ ॥

प्रसुप्तगात्रावयवः शुष्क-क्षोम-गलाऽऽननः । सु॰ उ॰ त॰ स॰ ४१

ऋर्थ—मार्गशोषी के अंग शिथिल हो जाते हैं। कान्ति भड़भूंजे की सी रूच हो जाती है। शरीर के सब अंग सो जाते हैं। पिपासा-स्थान, गला एवं मुख सुख जाते हैं।

व्यायामशोषियो लच्चराम्।

व्यायामशोषी भूयिष्टमेभिरेव समन्वितः ॥ १९ ॥

लिंगेरुर:अतकृतै: संयुक्तश्च अतं विना । सु॰ उ॰ त॰ अ॰ ४१

अर्थ—व्यायामशोषी मनुष्य अध्वशोषी के ही बलवान लच्चणों से युक्त होता है और चत के बिना भी उरःचत के अन्यान्य लच्चणों से युक्त होता है।

त्रगुरोषियो लच्चणम् ।

रक्तक्षयाद्वेदनाभिस्तथैवाहारयन्त्रणात् ।

त्रिणितस्य भवेच्छोषः स चासाध्यतमो मतः ॥ २० ॥
अर्थ-पृय होकर रक्त का ऋधिक त्तय हो जाने से, व्रण की वेदनाओं के कारण एवं त्राहार के नियन्त्रण (दूध एवं नमक आदि
आहारोपयोगी पदार्थों के अपथ्य होने के कारण उनका परित्याग करने )
से व्रणरोगी का शोष सर्वथा असाध्य होता है ।

श्रथोरः चतस्य हेतवो लच्चगानि च। धनुषाऽऽयस्यतोऽत्यर्थं भारमुद्रहतो गुरुम् । युध्यमानस्य बलिभिः पततो विषमोचतः ॥२१॥ वृषं हयं वा धावन्तं दम्यं वाऽन्यं निगृह्णत:। शिला-काष्टा-ऽरम-निर्घातान् क्षिपतो निघ्नतः परान् ॥२२॥ त्रधीयानस्य वाऽत्यु<del>२</del>वैर्द्रं वा त्रजतो द्वतम् । महानदीर्वा तरतो हयैर्वा सह धावतः ॥ २३ ॥ सहसोत्पतनो दूरं तूर्णं वाऽपि प्रनृत्यतः । तथाऽन्यैः कर्मभिः क्र्रैर्ध्शमभ्याहतस्य वा ॥ २४ ॥ विश्वते वक्षसि व्याधिर्वलवान समुदीर्यते । स्त्रीषु चातिप्रसक्तस्य रूक्षारूपप्रमिताशिनः ॥ २५ ॥ उरो विभुज्यतेऽत्यर्थं भिद्यतेऽथ विरुज्यते । प्रपीड्येते ततः पार्श्वे शुष्यत्यङ्गं प्रवेपते ॥२६॥ क्रमाद्वीर्यं वलं वर्णो रुचिरप्रिश्च हीयते। ज्बरो व्यथा मनोदैन्यं विड्भेदाग्निवधावपि ॥ २७ ॥ दुष्टः श्यावः सुदुर्गन्धः पीतो विग्रथितो बहुः । कासमानस्य चाभीक्ष्यां कफः सास्रक् प्रवर्तते ॥२८॥ स क्षती क्षीयतेऽत्यर्थं तथा शुक्रौजसोः क्षयात् । च॰ चि॰ अ॰ ११ अर्थ-धनुष द्वारा अत्यन्त आयास करने से, भारी भार उठाने से,

बलवान् के साथ युद्ध (कुश्ती आदि) करने से, ऊँचे-नीचे स्थान से गिरने से, दौड़ते हुए बैल श्रौर घोड़े श्रथवा श्रन्यान्य हाथी श्रादि को पकड़ कर रोकने से, भारी शिला, लकड़ी, पत्थर एवं निथाई ' ( अस्त्रविशेष ) को बलपूर्वक फेंकने से, शत्रश्रों के साथ लड़ाई करने से, ऋत्यन्त ऊँने स्वरं से पढ़ने ( इस प्रकार ऋाधुनिक वेदपाठ का ढंग भी हानिकारक है ) से, दूर तक दौड़ने से, बड़ी या वेगवती निद्यों को बाहुत्रों द्वारा तैरने से, घोड़ोंके साथ ( अथवा सवार होकर ) दौड़ने से, एकाएक दर से कदने से, शोधता पूर्वक नाचने से तथा इसी प्रकार के अन्य कर्मों द्वारा अधिक आघात पहुँचने से वन्नःस्थल के भीतर घाव हो जाने पर यह भयानक रोग हो जाता है अथवा रूखा-सूखा, थोड़ा एवं परिमित भोजन करते हुए भी ऋधिक स्त्रीसेवन से यह रोग हो जाता है। इससे नीचे लिखे लच्चण उत्पन्न होने लगते हैं यथा—बच्चोस्थि एवं पर्शकात्रों की सन्धि खल जाती है, फ़फ़्स के वायकोष्ठ फट जाते हैं, वत्तःस्थल दुखने लगता है, तत्पश्चात् पसवाड़ों (वक्खियों) में पीड़ा होती है, शरीर सखने ऋौर काँपने लगता है एवं क्रमशः वीर्य, बल, वर्ण, रुचि तथा अग्नि चीगा होती जाती है, ज्वर, शरीर में दर्द, मन में खि-न्नता, श्रविसार तथा श्राग्निमान्य हो जाता है । दूषित ( सड़ा हुआ ), काला सा, दुर्गन्धि युक्त, पीला, गाँठदार, बहुत, रक्तयुक्त कफ खाँसते ही निकल त्राता है और ज्ञतरोगी शुक्र एवं त्रोज (कफ में निकलने वाला रक्त ऋोज ही होता है ) के चय से ऋत्यन्त चीएा हो जाता है ।

## त्रथोरःत्ततस्य पूर्वरूपम् ।

<sup>9—</sup>चकाकार एक श्रम्न होता है जो घुमाकर फॅका जाता है। कहा जाता है कि वह फॅकनेवाले के पास पुनः लौट श्राता है। श्रास्ट्रेलिया महाद्वीर के श्रादिम निवासियों में इसका पर्याप्त प्रचार है।

श्रथोरःत्ततत्तीणयोर्मुख्यलत्तरणानि । उरोरुक्शोणितच्छर्दिः कासो वैशेषिकः क्षते ।

क्षीणे सरक्तमूत्रत्वं पार्र्य-पृष्ट-कटी-ग्रहः ॥३०॥च चि॰अ११ ऋर्थ--उर:चत में वच्चःस्थल में पीड़ा, रक्त की कै (थोड़ा थोड़ा ऋथवा बहुत रक्त जाना) एवं खाँसी झोर चीण (गुक्र चय में) में रक्तयुक्त मृत्र ऋाना, पसवाड़ों, पीठ एवं कमर में जकड़न यह विशेष लच्चण होते हैं।

विकव्य—उक्त साहसों से उर:—( फुफ्कुस आदि ) में चत होता है श्रीर स्त्रीप्रसक्त के शुक्रचय से शुक्राशयों या शुक्रस्रोतों में घाव होता है। अत एव पहिले में "शोणितन्छर्दि" रक्त की कैया त्रोज निकलता है मुखमार्ग से श्रीर दूसरे में रक्त निकलता है मृत्र मार्ग से, बस दोनों में

भेद भी यही है।

**ऋथानयोः साध्यासाध्यत्वविचारः** ।

त्रस्पत्तिङ्गस्य दीप्ताग्नेः साध्यो बत्तवतो नवः <sup>।</sup>

परिसंवत्सरो याप्यः सर्वतिङ्गं तु वर्जयेत् ॥३१॥ च०चि०अ०११

श्रर्थ—कम लच्चणों वाले एवं दीप्ताधिवाले बलवान् मनुष्य का नवीन उर:चत साध्य एवं वही एक वर्ष बीत जाने पर याप्य एवं तीनों दोषों के लच्चणों से युक्त होने पर श्रसाध्य होता है।

इति राजय<u>दम-क्षत-क्ष</u>ोणनिदानम् ।

### कासनिदानम् ।

कासस्य हेतु-सम्प्राप्ति-पूर्वकं लच्चणम् । धूमोपघाताद्रसर्तस्तथैव व्यायाम—रूक्षान्न-निषेवणाच ।

<sup>9—</sup>ययाि कास, श्वास एवं हिका में भी फुफ्फुसों पर ही दोषों का विशेष प्रभाव पडता है, किन्तु यद्दश के समान नहीं अर्थात् यद्दमा में वह सांघातिक होता है। कासादि में फुफ्फुसों की संकोच-प्रसाररूप स्वाभाविक अञ्यवस्थित हो जाती है। सम्प्राप्तियों पर ध्यान दीजिये।

२--रजसः (धृलि-धृ इ लगने से ) पाठान्तर भी उपयुक्त है ।

विमार्गगत्वाच्च हि भोजनस्य वेगावरोधात्सवयोस्तयैव ॥ १ ॥ प्राणो ह्युदानानुगतः प्रदुष्टः स भिन्न-कांस्य-स्वनतुल्यघोषः । निरेति वक्त्रात् सहसा सदोषो मनीपिभिः कास इति प्रदिष्टः॥२॥

सु० उ० अ० ६२

श्रर्थ—फुप्हुसों तक धुश्राँ पहुँचने से, रस का परिपाक न होने से, व्यायाम एवं रूच श्रन्न के सेवन से, भोजन के श्वासमार्ग में थोड़ा भी चले जाने से (चिएक कास का कारण होता है), मल-मूत्रादिको एवं श्वाती हुई छींक के वेग को रोकने से दुष्ट हुश्रा प्राणवायु (हदयस्थ) उदान के साथ मिलकर फूटे हुए कांस्यपात्र के राब्द के समान राब्द करता हुश्रा पित्त या कफ से युक्त घोष एकाएक मुंह से निकलता है, बस विद्वानों ने इसी को कास या खाँसी या खंग कहा है।

कासभेदाः।

पश्च कासाः स्मृता वात-पित्त-श्लेष्म-अत-क्षयैः।

क्षयायोपेक्षिताः सर्वे बलिनश्चोत्तरोत्तरम् ॥३॥ अ० ६० नि० अ० ३

श्रर्थ—वायु, पित्त, कफ, ज्ञत एवं ज्ञय से होने वाले पाँच कास माने जाते हैं। यदि इसकी चिकित्सा न की जाय तो ज्ञयरोग हो जाता है श्रीर ये एक से दूसरे बळवान होते हैं।

कासपृर्वरूपम् ।

पूर्वरूपं भवेत्तेषां श्र्कपूर्णगलास्यता ।

कण्डे कण्डूश्च भोज्यानामवरोधश्च जायते ॥४॥ च० वि० व० १८ अर्थ—उन कासों का निम्निलिखित पूर्वरूप होता है—गले श्चौर मुख में कांटे पड़ जाना, कण्ठ में खुजली होना तथा भोजन निगलने में रुकावट ( त्राहारमार्ग सदैव बन्द रहने के कारण उसे खोलकर त्राहार निगलने में कठिनाई पड़ती हैं)।

वातकासलच्चणम्।

हच्छङ्क -मूर्थोदर-पार्श्व-श्रूली क्षामाननः क्षीण-वल-स्वरौजाः।

१ — श्वास-निःश्वास में त्राने-जानेवाला वायु उदान युक्त प्राण ही होता है।

कास

प्रसक्तवेगस्तु समीररोन भित्रस्वरः कासति शुष्कमेव ॥ ५ ॥ सक्षत्रक अरु भ

श्रर्थ—वातज कास में हृदय (हृत्पिण्ड), शंख (पुटपुटी), शिर, पेट एवं पार्श्वों में पीड़ा, चेहरा उतर जाना, बल, स्वर तथा श्रोज का चीण हो जाना, निरन्तर खाँसना, स्वर बैठ जाना श्रीर सूखी खाँसी श्राना, ये लच्चण होते हैं।

पित्तकासस्य लज्ञणम् ।

उरोविदाह-ज्वर-वक्त्रशोषैरभ्यर्दितस्तिक्तमुखस्तृपार्तः।

पित्ते न पीतानि वमेत्कटूनि कासेत्स पाण्डु:परिद्ह्यमानः ॥६॥छ०उ०अ०५२

श्रर्थ—पित्तज कास के निम्न लत्त्तण होते हैं—उर (व तःस्थल) के भीतर दाह, ज्वर, मुंह का सृखना तथा कडुआ होना, प्यास लगना, पीली एवं कड़वी वमन होना, रारीर का वर्ण पीला हो जाना (विरोपतः खांसते समय) एवं रारीर में जलन (इसी कारण खाँसते—खाँसते पसीना आने लगता है)।

कफजकासलव्रग्रम्।

प्रलिप्यमानेन मुखेन सीदन शिरोच्जार्तः कफपूर्णदेहः।

अभक्तरुगौरव-कण्डु-युक्तः कासेद् भृशं सान्द्रकफः कफेन॥ ७॥

सु॰ उ० अ० ५२

श्रर्थ—कफज कास के निम्न लक्षण होते हैं:—मुख कफ से लिपा रहता है, अंगों की श्रवसन्नता (कार्य में श्रसमर्थता), सिर में पीड़ा, शरीर के स्रोतों का कफ से भर जाना, भोजन में श्रहचि, शरीर का भारीपन, शरीर (विशेषतः कएठ) में खुजली एवं गाढ़े कफ का निकलना।

च्तजकासलच्राम्।

त्रति--व्यवाय-भाराध्व-युद्धाश्व-गजविग्रहैः । रूक्षस्योरःक्षतं वायुर्ग्रहीत्वा कासमाचरेत् ॥ ८ ॥ स पूर्वं कासते शुष्कं ततः ष्टीवेत्सक्षोणितम् । कण्डेन रुजताऽत्यर्थं विरुग्णेनेव चोरसा ॥ ९ ॥ सूचोभिरिव तोक्ष्णाभिस्तुद्यमानेन सूलिना । दुःखस्पर्शेन सूलेन भेदपीड़ाभितापिना ॥ १० ॥ पर्वभेद-ज्वर-श्वास-तृष्णा-वैस्वर्य-पीड़ितः ।

पारावत इवाक् जन कासवेगात क्षतोह भवात ॥११॥ च० च० ७० १० अर्थ — चतज कासका कार एा, सम्प्राप्ति तथा लचण — अधिक मेंथुन, अतिभारवहन और अतिभार्ग मन, कुश्ती आदि, घोड़े वा हाथी को चलपूर्वक रोकना, इन कार एां से तथा स्निग्धाहार न करने के कारण रूच पुरुष के वच्छा को मीतर चत हो जाता है। इसी चत को लेकर (कार एा बनाकर) वायु खांसी उत्पन्त कर देता है। उस रोगी को पहले सूखी खांसी होती है। तदनन्तर कएठ में पीड़ा होने लगती है तत्पश्चात् फुफ्फुसों में पीड़ा होने लगती है तदनन्तर कमशा निम्नांकित लच्छा प्रकट होने लगते हैं। फुरफुसों में तीखी सृह्यों के चुमने की सी पीड़ा एवं उनमें भयानक शूल, तथा छाती में स्पर्शमात्र से वेदना फटने की सी पीड़ा एवं जलन, सन्धियों की पीड़ा, ज्वर, श्वास, रुष्णा एवं स्वरभेद से रोगी को अधिक पीड़ा होती है। इस चतज खाँसी के वेग से करूतर के समान शब्द निकलता है।

त्त्रयजकासस्य लज्ञणम्।
विषमासात्स्यभोज्यातिव्यवायाद्ववेगनिग्रहात् ।
घृष्णिनां शोचतां नृष्णां व्यापन्तेऽग्रौ त्रयो मलाः ।
कृषिताः क्षयजं कासं कुर्युर्देहक्षयप्रदम् ॥१२ ॥ च०चि०अ०१०
स गात्रश्चल-ज्वर-दाह-मोहान् प्राणक्षयं चोपलभेत कासी ।
शुष्यन्विनिष्ठोवति दुर्वलस्तु प्रक्षीणमांसो रुधिरं सपूयम् ॥
तं सर्वलिङ्गं भृशदुश्चिकित्स्यं चिकित्सितज्ञाः क्षयजं वदन्ति ॥१३॥

त्र्यर्थ-- त्रयज कास का कारण सम्प्राप्ति एवं लत्तरण इस प्रकार है-

विषम तथा प्रकृति विरुद्ध भोजन, ऋति मैथुन, वेगनिप्रह, घृर्णा एवं शोक से जठराग्नि मन्द होने पर तीनों दोष कृपित होकर चयज कास को कर देते हैं। इस कास से शरीर ची एा हो जाता है श्रीर वह रोगी क्रमशः गात्रशूल, ज्वर, दाह, मोह एवं ऋन्त में प्राग् (बल) के चय को प्राप्त करता है। तदनन्तर सूखने विगता एवं दुर्बल होता जाता है। मांसपेशियां ( पूर्णतया रक्त प्राप्त न होने के कारण ) सूखती जाती हैं। क्योंकि पुर सहित रक्त खांसी के साथ निकलता जाता है। इन सब लज्ञ हों से युक्त इस ज्ञयज कास को वैद्य लोग ऋत्यन्त कप्टसाध्य कहते हैं।

साध्यासाध्यत्वविचारः ।

इत्येषः क्षयजः कासः क्षीणानां देहनाशनः ।

साध्यो बलवतां वा स्याद्याप्यस्त्वेवं क्षतोत्थितः ॥ १४ ॥

नवौ कदाचित्सिध्येतामपि पादगुणान्वितौ ।

स्थविराणां जराकासः सर्वो याप्यः प्रकीर्तितः।

त्रीन्प्रवन्सिाधयेत्साध्यान्यध्यैर्याप्यांस्तु यापयेतु॥ १५। च० चि० व० १८

श्रर्थ-यह चयज कास चीण एवं मांसवाले रोगियों का शरीरनाशक होता है श्रथवा बलवानों का चयज कास साध्य भी होता है चतज कास तो याप्य ही होता है। चिकिस्सा के चारों अंगों के एकत्रित रहने पर नवीन उत्पन्न हुए चयज कास कभी कभी सिद्ध भी हो जाते हैं। वृद्धों के बुढ़ापे के कारण उत्पन्न हुए सभी कास याप्य होते हैं। अतः उनकी चिकित्सा करे एवं या यों को कास साध्य होते हैं। पहले के तीनों वातज, पित्तज एवं कफज उभड़ने न दे। श्रीपधियों एवं ५४४ देकर दबाता रहे।

१-- ग्राप्क विनिष्ठीवितपाठ अधिक उपयोगी है। क्योंकि यदि शुष्यन पाठ रखते हैं तो 'प्रक्षीणमांसः' का क्या श्रर्थ होगा ? विचारिये ।

२—भिषक्, द्रव्याणि, उपस्थाता (परिचारक ) रोगी पादचतुष्टयम् । चिकि-दिसतस्य निर्दिष्टम् ॥ वा॰ हु॰ अ० १

## हिकानिदानम्।

हिका-श्वासयोनिंदानानि।

विदाहि-गुरु-विष्टम्भि-रूक्षाभिष्यन्दि-भोजनैः। ज्ञीत-पानाञ्चन-स्थान-रजो-धृमाऽऽतपानिलै: ॥१॥

व्यायाम-कर्म-भाराध्व-वेगाऽऽघातापतर्पणैः।

हिका श्वासश्च कासश्च नृष्णां सम्रुपनायते ॥२॥ च॰ व॰ व॰ ५० अर्थ-विदाहकारी, गुरु, विष्टम्भी (अन्त्रों की गति में रुकावट डालने वाले ) रुच, अभिष्यन्दी ( पिच्छिलता एवं गौरव के कारण रस-वाही स्रोतों को रोक कर शरीर में भारीपन उत्पन्न करने वाले ) भोजनों से, शीत पान, भोजन एवं स्थान, धूलि, धुत्र्याँ, धूप एवं दूषित ( कर्वन द्वित्रोषित से अधिक मिश्रित ) वायु के सेवन से, व्यायाम, भारवहन, मार्गगमन, वेगरोध एवं पोषक पदार्थों के स्रभाव से मनुष्यों को हिक्का, श्वास तथा कास उत्पन्न हो जाता है।

हिकानां स्वरूपं निरुक्तिश्च।

मुहुर्मुहुर्वायुरुदेति सस्वनो यकृत्प्लिहान्त्राणि मुखादिवाक्षिपन् । स घोषवानाशु हिनस्त्यसुन्यतस्ततस्तु हिक्केत्यभिधीयतेबुधैः ॥३॥

श्चर्य-उदान युक्त प्राण्वायु सन् सन् शब्द करता हुश्चा यक्कत् , प्लीहा तथा अन्त्रों को मुख से फेंकने की सी चेष्टा करता हुआ (हिक्) ध्विन युक्त बारम्बार मुख से बाहर निकलता है। क्योंकि यह प्राणों को नष्ट' कर देता है, इसिलये बुद्धिमान् इसे हिक्का कहते हैं।

१—इस रोग में वायु सहसा ( एकाएक ) 'हिक् '' ध्वनि करता हुआ निक-लता है। बस इसी को हिक्का या हिचकी कहा जाता है।

२-हिका की "हिनस्ति श्रसून इति हिका" यह निरुक्ति केवल गम्भीरा एवं महती नामक हिकाओं पर ही घट सकती है। दूसरी तीनों पर नहीं श्रतः शाब्दिकों की "हिक इति कृत्वा कायति" अथवा "हिवक अञ्यक्ते शब्दे" धात से निरुक्ति करना श्रधिक उत्तम एवं उचित है।

हिक्कानां भेदाः सम्प्राप्तिश्च। अन्नजां यमलां चुद्रां गम्भीरां महतीं तथा।

वायु: कफोनानुगत: पञ्च हिका: करोति हि ॥४॥ द्व० उ० अ० ४० त्र्यर्थ-- अन्नजा, यमला, क्षुद्रा, गम्भीरा तथा महती नामक पांच हिचकियों को कफ युक्त वायु उत्पन्न करता है।

हिकानां पूर्वरूपारिए ।

कण्ठोरसोर्गुरुत्वं च वदनस्य कषायता ।

हिकानां पूर्वरूपाणि कुचेराटोप एव च ॥५॥ च० चि० अ० १७ अर्थ-करठ एवं वत्तस्थल ( करठनिलका एवं फुफ्फुसों ) में भारी-पन, मुँह का कसैलापन, उदर में गुड़गुड़ाहट, ये हिक्काओं के पूर्वरूप हैं। श्रथात्रजाया लत्त्रणम् ।

पानान्नेरतिसंयुक्तैः सहसा पीडितोऽनिलः ।

हिक्कयत्युर्ध्वगो भृत्दा तां विद्यादञ्जजां भिषक् ॥६॥ सु॰ उ० अ० ५० ऋर्थ-ऋत्यधिक पेय ऋौर भोज्य पदार्थी के सेवन से एकाएक पीड़ित हुआ वायु अर्ध्वगामी होकर हिक्का को उत्पन्न करता है। इसे वैद्य "श्रम्भजा" हिक्का जाने ।

यमलाया लत्तराम्। चिरेरा यमलैर्वेगैर्या हिका संप्रवर्तते।

कम्पयन्ती शिरोग्रीवं यमलां तां विनिर्दिशेत् ॥७॥ सु॰ स्॰ अ॰ ५० श्रर्थ-विलम्ब से किन्तु युगल वेग से जो हिचकी सिर तथा प्रीवा को कम्पित करती हुई प्रवृत्त होती है, उसे "यमला" कहा जाता है।

क्षुद्राया लज्ञ्णानि । परुष्टकालैर्या वेगैर्मन्दैः समभिवर्तते ।

चुद्रिका नाम सा हिका जत्रुमृत्तात्प्रधाविता ॥८॥ दु० उ० अ० ५० त्रर्थ-विलम्ब से मन्द-मन्द वेगों द्वारा जत्रुमृल से उठने वाली जो हिचकी श्राती है, उसे क्षुद्रिका कहा जाता है।

गम्भीराया लच्चणम् ।

नाभिष्रद्वता या हिका घोरा गम्भीरनादिनी।

अनेकोपद्रववती गम्भीरा नाम सा स्मृता ।।।। छ॰ ड॰ अ० ९० अर्थ—उदर के निचले भाग से उठी हुई, भयानक, गम्भीर शब्द-वाली, तृष्णा ज्वरादि अनेक उपद्रवों से युक्त गम्भीरा नामक हिक्का मानी जाती है।

महत्या लत्तराम् । मर्माण्युत्पोडयन्तीव सततं या पवर्तते ।

महाहिकेति सा ज्ञेया सर्वगात्रविकम्पिनी ।।१०।। ख॰ उ॰ अ॰ ५०

श्चर्य-नाभि, बस्ति, हृदय, शिर श्चादि ममों को पीड़ित एवं सम्पूर्ण शरीर को कम्पित करती हुई जो हिक्का प्रवृत्त होती है, उसे महाहिक्का जानना चाहिये।

हिक्कानामसाध्यलक्त्रणानि ।

त्रायम्यते हिक्तो यस्य देहो

ृ दृष्टिश्वोर्ध्वं नाम्यते यस्य नित्यम् ।

क्षीणोऽच्चद्विट् क्षौति यश्चातिमात्रं

तो द्वी चान्त्यो वर्जयेदिकमानो ॥ ११ ॥ सु॰ उ० अ० ५०

श्रर्थ—हिचकी लेते समय जिसका शरीर (वन्नःस्थल) तन जाता हो,' जिस की दृष्टि सर्वथा ऊपर चढ़ गई हो,' जो चीए एवं अन्न का द्वेषी हो, श्रिथक ब्रींकता हो श्रीर जिसे अन्तिम दोनों (गम्भीरा श्रीर महती) हिक्कार्ये हों, उस रोगी को त्याग देना चाहिये।

प्रकारान्तरेण हिक्कायामसाध्यलच्यानि ।

**ऋतिसंचितदोषस्य भक्तच्छेदक्रशस्य च** ।

व्याधिभि: क्षीणदेहस्य दृद्धस्यातिव्यवायिनः ॥ १२ ॥

श्रासां या सा सम्रत्पन्ना हिका हन्त्याशु जीवितम्।

श्चर्य—जिसके शरीर में दोष संचित हो गये हैं, भोजन न खा सकने के कारण जो कुश हो गया है, रोगों द्वारा जिसका शरीर चीण हो चुका है और जो वृद्ध एवं श्चितिमेशुनशील है, ऐसे लोगों को इन हिक्काओं में से जो भी हिक्का उत्पन्न होती है, वह उन्हें मार डालती है।

यमिका च प्रलापाऽऽर्ति-मोह-तृष्णा-समन्त्रिता ॥ १३ ॥

अक्षीएाश्वाप्यदोनश्च स्थिरधात्विन्द्रियश्च यः।

तस्य साधियत शक्या यमिका हन्त्यतोऽन्यथा ॥१४॥ च० चि० अ० १७

श्रर्थ—प्रलाप, पीड़ा, मोह श्रीर तृष्णा से युक्त यमला हिक्का श्रसाध्य होती हैं। जो रोगी ज्ञीण नहीं, सुस्त नहीं श्रीर जिसकी धातुएँ एवं इन्द्रियाँ स्थिर हैं, ऐसे रोगी की यमिका हिक्का साध्य, श्रन्यथा श्रसाध्य होती हैं।

इवासनिदानम् । श्वासरोगस्य भेदाः । महोर्ध्व-स्छिन-तमक-च्चद्र-भेदेस्तु पञ्चधा ।

भिद्यते स महाव्याधि: श्वास एको विशेषत: ॥१॥ सु॰ उ॰ अ॰ ११ ऋर्थ—यह श्वास नामक महाव्याधि एक होने पर भी विशेष कारणों से निम्न पाँच भागों में बंट जाती हैं – १ महाश्वास, २ उर्ध्वश्वास, ३ हिन्नश्वास, ४ तमकश्वास तथा ४ श्रद्रश्वास।

वातादीनां सम्बन्धः ।

( वाताधिको भवेत् ज्ञुद्रस्तमकस्तु कफोद्गभवः । कफ-वाताधिकश्चैव संसष्टश्छित्रसंज्ञकः । श्वासो मास्तसंसष्टो महानूर्ध्वस्ततो मतः ॥ १॥ )

९——श्वास-निःश्वास को परम्परा में कष्ट होना या उसका सुक्कपूर्वक न होना ही 'श्वास" रोग कहलाता है। इस रोग में फुप्फुर्सों के बायुकोष्ट या तो संकृत्रित हो जाते हैं श्रयवा कफ से भर जाते हैं। यही कारण है कि मनुष्य भरपूर या उचित रूप से साँसं नहीं ले सकता। श्वासनिलिका भी संकृत्रित या कफयुक्त हो जाती है। ऋर्य-सिद्धास में वायु, तमकश्वास में कफ, ख्रिनरवास में कफ-वात, महान् एवं ऊर्ध्वरवास में वायु प्रधान होता है।

श्वासरोगस्य पूर्वरूपम् ।

प्राग्रूपं तस्य हत्पीडा श्रूलमाध्मानमेव च ।

त्रानाहो वक्त्रवैरस्यं शंखनिस्तोद एव च ॥ २ ॥

अर्थ-उस के पूर्व रूप ये हैं -हृदय में पीड़ा, जदर में शूल, पेट का फुलना, अँतड़ियों की गित में रुकावट, मुख का फीकापन, पुट-पुटियों में तोद।

श्वासरोगस्य सम्प्राप्तिः।

यदा स्रोतांसि संरुध्य मास्तः ककपूर्वकः ।

विष्वग्त्रजति संरुद्धस्तदा श्वासान् करोति स: ॥३॥ चः चि॰ अ॰ १७

अर्थ—जब कफपूर्वक वायु फुफुसीय वायुकोष्टों को रोक कर स्वयं उन्हीं में उलम्क कर प्रतिलोम गति करने लगता है, तब बह श्वास को उत्पन्न कर देता है।

महाश्वासस्य लच्चग्रानि।

उद्दध्यमानवातो यः शब्दबद्धदुःखितो नरः । उच्चैः श्वसिति संस्द्धो मत्तर्षभ इवानिशम् ॥ ४ ॥

प्रनष्ट-ज्ञान-विज्ञानस्तथा विभ्रान्तलोचनः ।

विद्यताक्ष्याननो बद्ध-मूत्र-वर्चा विशीर्णवाक् ॥ ५ ॥

दीनः प्रश्वसितं चास्य दूराद्विज्ञायते भृशम्।

महाश्वासोपसृष्ट्रस्तु क्षिप्रमेव विषयते ॥ ६ ॥ च० चि० अ० १७

त्रर्थ—जो मनुष्य ऊपर को शब्द युक्त श्वास लेते हुए अत्यन्त दुखी हो जाता है त्रीर मतवाले बैल की तरह निरन्तर ऊँचे-ऊँचे श्वास लेता है, जिसका ऐन्द्रियिक एवं बौद्धिक ज्ञान नष्ट हो जाता है, श्राँखें घूम

१---फुप्फुरों का दबाव पढ़ने के कारण।

२-इसी कारण श्वासरोगी प्रायः मलावरोध से पीड़ित रहते हैं।

जाती हैं, झाँख झौर मुख खुले रह जाते हैं, मल-मूत्र रुक जाते हैं, बोली नष्ट हो जाती है, ऋत्यन्त सुख हो जाता है, किन्तु इसका श्वास पर्याप्त दूर से सुनाई पड़ता है। यह महाश्वास का रोगी शीघ्र ही (मिनटों में) मर जाता है।

श्रयोध्वंश्वासलत्त्रणम् । ऊर्ध्वं श्विसिति यो दीर्घं न च प्रत्याहरत्यधः । श्लेष्पादृत-मुख-स्रोताः कृद्धगन्धवहार्दितः॥ ७ ॥ ऊर्ध्वदृष्टिर्विपश्यंस्तु विभ्रान्ताक्ष इतस्ततः । प्रमुद्धन्वेदनार्तश्र शुक्कास्योऽपतिपीडितः ॥ ८ ॥ ऊर्ध्वश्वासे प्रकृपिते ह्यधः श्वासो निरुध्यते ।

मुद्यातस्ताम्यत्रश्रोध्व श्वासस्तस्येव हन्त्यसून् ॥९॥ च० च० ७० अ० १० अर्थ—जो रोगी ऊपर को लम्बा श्वास ले लेता है किन्तु वह श्वास लौटकर बाहर नहीं श्राता और कफ से मुख एवं फुफुसीय वायुकोष्ठ एक जाते हैं, वह रोगी उस दृषित वायु से बुरी तरह दुखी होता है। उसकी दृष्टि उपर की ओर लगी रहती है अथवा इधर-उधर नाचती रहती है तथा ठीक ठीक दृष्टिज्ञान नहीं रहता। वह वेहोश और भीषण् वेदनाओं से पीड़ित हो जाता है। मुख सफेद हो जाता है। रोगी मूर्च्छित-अथवा वेचन हो जाता है। उर्ध्वश्वास के कुषित हो जाने पर बाहर को निकलनेवाला श्वास भी रक जाता है। उस मूर्च्छित अज्ञाननांधकार में डूबे हुए मनुष्य के प्राणों को यह उर्ध्वश्वास नष्ट कर देता है।

ब्रिन्नश्वासस्य लच्चणम् । यस्तु श्वसिति विच्छिन्नं सर्वपार्णेन पीडितः । न वा श्वसिति दुःखार्तो मर्मच्छेदस्मार्दितः ॥१०॥ त्रानाह-स्वेद-मूच्छ्ऽऽऽर्तो दह्यमानेन वस्तिना ।

<sup>9—</sup>पार्श्वत्तीं लोग समझते हैं कि रोगी श्रपनी प्रिय वस्तुओं को देखता है या देखना चाहता है, सम्भव है उसके मन में यही बात हो।

विष्तुताक्षः परिक्षीणः श्वसन् रक्तैकतोचनः ॥११॥ विचेताः परिशुष्काऽऽस्यो विवर्णः प्रतपन्नरः ।

छिन्नश्वासेन विच्छिन: स शीघ्र विजहात्पस्न् ॥१२॥व॰ वि॰ अ० १७ स्वर्थ—छिन्न 'श्वास से पीड़ित रोगी बलपूर्वक भी पूरा श्वास नहीं ले सकता अथवा रक ही जाता है। अतएव रोगी हृदय के कटने की सी पीड़ा से खौर भी दुखित हो जाता है। आनाह, पसीना अथवा मून्र्छा से पीड़ित होता है, बस्ति में दाह होता है, आंखों में आंसू आ जाते हैं, श्वास लेते समय दुखी हो जाता है, एक आंख लाल हो जाती है। रोगी वेचैन; बदरंग और प्रलापी हो जाता है। उसका मुख सूख जाता है। इस प्रकार छिन्नश्वास से पीड़ित मनुष्य शीघ्र ही प्राणों को छोड़ देता है। तमकश्वासलन्त्रण्यू।

प्रतिलोमं यदा वायुः स्रोतांसि प्रतिपद्यते ।

प्रीवां शिरश्य संगृद्ध श्लेष्मार्ण समुदीर्य च ॥१३॥
करोति पीनसं तेन रुद्धो पुर्धुरकं तथा ।

श्रतीव तीव्रवेगं च श्वासं प्रार्णपपीडकम् ॥१४॥
प्रताम्यति स वेगेन तृष्यते सिक्षरूयते ।
पमोहं कासमानश्य स गच्छति मुहुर्मुहुः ॥१५॥
श्लेष्मण्यमुच्यमाने तु भृशं भवति दुःखितः ।
तस्यैव च विमोक्षान्ते मुहुर्वं लभते सुखम् ॥१६॥
तथाऽस्योद्धश्वंसते कण्टः कृच्छ्वाच्छक्ननोति भाषितुम् ।
न चापि लभते निद्रां श्यानः श्वासपीडितः ॥१७॥
पाश्वें तस्यावगृह्णाति श्यानस्य समीरणः ।

१—महाश्वास, ऊर्ध्वश्वास एवं छिन्नश्वास मरते समय प्रायः हो ही जाते हैं।

१० प्रतिशत रोगियों की मृत्यु इन्हीं के उत्पन्न होने पर होती है।

र—संसार में श्वास के जितने रोगी हैं, वे सब इसी श्वास के रोगी हैं।

श्वासीनो लभते सौख्यमुष्णां चैवाभिनन्दति ॥१८॥ उच्छिताक्षो ललाटेन स्विद्यता भृशमार्तिमान् । विशुष्काऽऽस्यो मुद्धः श्वासो मुद्धश्वैवावधम्यते ॥१६॥ मेघाम्बु-श्रीत-प्राग्वातैः श्लेष्मर्रेश्च विवर्षते । स याप्यस्तमकः श्वासः साध्यो वा स्यान्नवोत्थितः ॥२०॥

श्चर्य-जब वायु प्रतिलोम होकर वायुकोष्टों में पहुँचता है, तब मीवा तथा शिर में पीड़ा कर श्लेष्मा को उभाड़ कर पीनस ( ज़ुकाम ) कर देता है। इसके पश्चात् उसी कफ से रुका हुआ वायु घुरघुर शब्द वाले तथा अत्यन्त भीषण वेग से प्राणों को कष्ट देने वाले श्वास को कर देता है। श्वास के वेग से रोगी को आँखों के सामने अन्धेरा प्रतीत होता है, प्यास लगती है, वह मुस्त हो जाता है, खांसते खाँसते बार २ बदहोश हो जाता है, श्लेष्मा के श्वासमार्ग को न छोड़ने के कारण बहुत दुखित होता है एवं उसके छोड़ देने पर कुछ चाणों के लिये सुख प्राप्त करता है। रोगी का गला बैठ जाता है, वह कष्टपूर्वक बोलने में समर्थ होता है, श्वास की पीड़ा के कारण सोते समय नींद नहीं श्राती । सोते समय उसकी पसिलयों में वायु पीड़ा करता है । बैठने पर सुख प्राप्त होता है एवं उच्चा पदार्थों की इच्छा करता है। त्रांखें उठी हुई होती हैं, ललाट से पसीना त्राता है, ऋत्यन्त पीड़ित होता है, मुख सृख जाता है, बार बार श्वास लेता तथा झूमा करता है । यह श्वास बादल, जल, शीत, पूर्वीय वायु एवं कफकारक पदार्थों से बढ़ता है। यह 'तमक-श्वास' नामक श्वास रोग याप्य होता है अथवा नवीन उठा हुआ साध्य भी होता है।

प्रतमकश्वासलक्त्याम् । ज्वर-मूर्च्छा-परीतस्य विद्यात्प्रतमकं तु तम् । उदावर्त-रजो-ऽनीर्ण-क्टिन्न-काय-निरोधजः ॥ २१ ॥ तमसा वर्धतेऽत्यर्थं शीतैश्राश्च प्रशाम्यति । मजतस्तमसीवास्य विद्यात्संतमकं तु तम् ।।२२।। विश्व विश्व विद्यात्संतमकं तु तम् ।।२२।। विश्व विश्व विद्यात्संतमकं सुर्व से युक्त श्वास को 'प्रतमक' नामक श्वास जानना चाहिये। यह उदावर्त्ता, धूलि, श्रजी-र्ण, बुढ़ापा एवं वेगावरोधों से उत्पन्न होता है श्रीर श्रन्थकार में श्वत्यन्त बढ़ता है तथा शीत उपायों से शीघ्र ही शान्त हो जाता है। इसी में जब रोगी के सामने श्रन्थेरा छाने सा ज्ञात होने लगता है तो उसके श्वास को 'सन्तमक' जानना चाहिये।

श्चद्रश्वासस्य लज्ञणानि ।
रक्षायासोद्दभवः 'कोष्टे जुद्रो वात उदीरयन् ।
जुद्रश्वासो न सोऽत्यर्थं दुःखेनाङ्गप्रवाधकः ॥ २३ ॥
हिनस्ति न स गात्राणि न च दुःखो यथेतरे ।
न च भोजनपानानां निरुणद्वध्युचितां गतिम् ॥ २४ ॥
नेन्द्रियाणां व्यथां नापि कांचिदापादयेद्वजम् ।
स साध्य उक्तो विलनः सर्वे चाव्यक्तलक्षणाः ॥ २५ ॥

अर्थ—रनेह रहित आहार एवं परिश्रम से उत्पन्न साधारण वायु जब फुप्युसों में प्रतिलोम गति करता है, तब 'छुद्र' नामक श्वास हो जाता है, बह शरीर को अधिक कष्ट नहीं देता। अंगों की गति में कोई रकावट नहीं डालता दूसरे श्वासों के समान दुखदाथी नहीं होता और न खान-पान की उचित गति को ही रोकता है एवं इन्द्रियों की खिन्नता अथवा अन्य किसी प्रकार की पीड़ा को ही उत्पन्न करता और यह साध्य भी होता है। यों तो बलवान पुरुष के वे सभी श्वास साध्य होते हैं, जिनके लक्षण पूर्णतया प्रगट न हुए हों।

१—२ — प्रतमक एवं सन्तमक श्वास में फिलाका प्रादश्य होता है। एवं यह दोनों तमकश्वास के ही मेद हैं।

<sup>्</sup>र—इसे तो प्रायः रोग समक्काही नहीं जाता। लोग इसे दुर्धलता या कमजोरी ही समक्क कर रह जाते हैं।

८ मा०

श्रथैवां साध्यासाध्यविचारः । जुद्रः साध्यो पतस्तेषां तमकः कृच्छु उच्यते ।

त्रयः श्वासा न सिध्यन्ति तमको दुर्बलस्य च ॥२६॥ छ॰ उ॰ अ॰ ५१

त्रर्थ—इनमें क्षुद्र श्वास साध्य तथा तमक कृच्छ्रसाध्य एवं अवशिष्ट तीन श्वास खोर दुर्वल' मतुष्य का तमक-श्वास त्र्यसाध्य होता हैं।

श्रयेषां मारकत्वम् ।

कामं पाणहरा रोगा वहवो न तु ते तथा।

यथा श्वासश्च हिक्का च हरत: प्राणमाशु वै ॥२०॥ च॰ चि॰ अ॰ १७ अर्थ '—यद्यपि प्राणों को नष्ट करनेवाले बहुत से रोग हैं, परंतु वे

वैसे शीव मारक नहीं होते जैसे श्वास त्रथवा हिक्का होते हैं।

स्वरभेदानिदानम् ।

खरभेदस्य निदानपूर्विका सम्प्राप्तिः । अत्यचभाषणविपाध्ययनाभिघात-

संदूषर्णैः प्रकुपिताः पवनादयस्तु ।

स्रोतःस्र ते स्वरवहेषु गताः प्रतिष्ठां

हन्युः स्वरं भवति चापि हि षड्विधः सः ॥ १ ॥

स॰ उ॰ अ॰ ५३

श्चर्य-श्चरयन्त ऊँचे स्वर से भाषण, विषसेवन , श्रध्ययन, स्वर-

१--श्रर्थात् बलवान् का साध्य होता है।

२—इसके पूर्व महर्षि चरक के 'ब्रन्यैरप्युगस्प्रध्स्य रोगैर्जन्तोः पृथग्विधैः। ब्रन्ते सङ्मायते हिक्का श्वासो वै तोववेदनः॥" इस पाठ को जोह देना चाहिये तो स्पष्ट संगति वैठ जाती है। श्राप्ता श्वास प्रश्वास किया पर ही जीवन स्थित निर्भर है श्रोर ये दोनों रोग उसी पर श्राक्तमण करते हैं। श्रातः श्रान्य रोगों की अपेक्षा वै दोनों रोग इस प्रणनाशक हो सकते हैं।

३ — प्रायः गायकों को द्वेषवश सिन्दूर (शीशक विष) खिला दिया जात। है, जिसके कारण बेचारों का गला सर्वदा के लिये बिगड जाता है।

यन्त्र पर त्राघात तथा दोषोंको दूषित करनेवाले त्राहारविहारों से कुपित हुए वातादि दोष स्वरवाही स्रोतों में स्थित होकर स्वर को बिगाड़ देते हैं। इसी को 'स्वरभेद'¹ कहते हैं जो छः प्रकार का होता है।

( वार्तादिभि: पृथक सर्वैमेंदसा च क्षयेण च । )

त्रर्थ —वातादि दोषों से तीन, सन्निपात से एक, मेद से एक और चय से एक इस प्रकार छ: स्वरभेद हुये।

वातिकस्वरभेदस्य लज्ञणम्।

वातेन कृष्ण-नयना-ऽऽनन-मूत्रवर्चा

भिन्नं शनैर्वदति गर्दभवत् खरं च । सुः स अ० १६

त्रर्थ—वायु से त्राँख, मुख, मूत्र एवं पुरीष में कालापन हो जाता है, दूटे हुये स्वर से धीरे धीरे गर्दभ स्वर के समान कर्णकटु स्वर निकलता है।

पैत्तिकस्वरभेदस्य लज्ञ्णम्।

पित्तेन पीत-नयना-SSनन-मूत्र-वर्चा

ब्रूयाद्गलेन स च दाहसमन्वितेन ॥ २ ॥ सु॰ सु॰ अ॰ ५३ अर्थ—आंख, सुख, मृत्र एवं पुरीष पीला हो जाता है और बोलते समय रोगी के गले में दाह हो जाता है ।

कफजस्वरभेदस्य लत्त्रराम् ।

ब्र्यात्कफेन सततं कफरुद्धकण्डः

स्वरंप शनैर्वदिति चापि दिवा विशेषात् । सु॰ उ॰ अ॰ ४३ अर्थ—कफ से बोलते समय निरन्तर गले में कफ रका रहता है, धोरे धीरे बहुत थोड़ा बोल सकता है। परन्तु दिन में कुछ अधिक भी बोल सकता है।

सान्निपातिकस्वरभेदस्य लज्ञाग्रम्।

सर्वात्मके भवति सर्वविकारसम्पत

९—इसी को "स्वर बिगड़ना" या "गला बैठना" या "आवाज खराब डोना" कहा जाता है।

तै चाप्यसाध्यमृषयः स्वरभेदमाहुः ॥ ३ ॥ छ० व० अ० १६ ऋर्थ-सन्निपात से उपर्युक्त सभी लक्त्रण प्रकट हो जाया करते हैं और महर्षि इसे असाध्य कहते हैं।

त्त्रयज्ञावरभेदस्य लज्ञ्णम्।

भूप्येत वाक् अयक्ते अयमाप्नुयाच

वाक्, एष चापि हतवाक् परिवर्जनीयः । सु॰ उ॰ अ॰ ४३ अथि—धातुश्चों के स्वय से होनेवाले स्वरभेद में बोलते समय धूत्रां सा निकलता है और स्वर सीगा होता है। ऐसे हतवाक् रोगी को छोड़ देना चाहिये।

मेदोजस्वरभेदस्य लत्तराम् । अन्तर्गतस्वरमलक्ष्यपदं चिरेण

मेदोऽन्वयाद्भद्रति दिग्धगलस्तृपार्तः ॥ ४ ॥ छ॰ ७० ७० ५३ अर्थ—मेद के कारण स्वर भीतर ही रह जाता है, यदि विलग्ब से रोगी किसी प्रकार बोलता भी है तो उस की शब्दावली श्रोता नहीं समभ पाते । स्वरयन्त्र की भीतरी दीवारों में चरबी भर जाने के कारण मोटा-पन आ जाता है। उसे प्यास भी अधिक लगती है।

स्वरभेदस्य श्रसाध्यलच्चानि ।

क्षीणस्य दृद्धस्य कुशस्य वार्शिष चिरोत्थितो यश्च सहोपजातः । मेदस्विनः सर्वसमुद्भवश्च स्वरामयो यो न स सिद्धिमेति ॥ ५ ॥ स्वरुष्ण १३

श्रर्थ—स्वय के रोगियों, वृढ़े, कृश तथा मेदस्वी मनुष्यों का, पुराना, जन्मजात एवं सान्निपातिक स्वरभेद कभी श्रच्छा नहीं हो सकता।

# अरोचकनिदानम्'।

श्रथारोचकनिदानम् ।

वातादिभिः शोक-भयातिलोभ-क्रोधैर्मनोब्राशन-रूप-गन्धैः।

१—इस रोग में रसप्राही संस्थान पर दोषों का प्रभाव पढ़ने के कारण भोक्ता को भोजन का स्वाद नहीं खाता अथवा खाने को मन नहीं चाहता।

त्र्राचकाः स्यः.--

च० चि० अ० २६

श्चर्य-वातादि दोषों से, शोक, भय, श्रतिलोभ, क्रोध तथा घृणो-त्पादक भोजन, रूप एवं गन्ध से 'श्ररोचक' नामक रोग हो जाता है।

वातिकारोचकलन्नसम्।

—परिहृष्टुदन्तः कवायवक्त्रश्च मतोऽनिलेन ॥१॥ चः चि॰ अ० २६ अर्थ-वायु से होने वाले अरोचक में दन्तहर्ष तथा मुंह में कसैला-पन होता है।

पैतिकारोचकलच्चणम्।

कट्वम्लमुष्णं विरसं च पृति पित्तेन विद्यात् ,-- च॰ च॰ अ॰ २० अर्थ-पित्त से मुख कडुआ, खट्टा अथवा फीका, उद्या एवं दुर्गन्धि युक्त होता है। श्लैष्मिकारोचकलत्तराम् ।

-- लवणं च वक्त्रम् ।

माधुर्य-पैच्छित्य-गुरुत्व-शैत्य-विवद्ध-सम्बद्ध-युर्त कफेन ॥२॥

अर्थ-कफ से मुख नमकीन, मीठा, चिपचिपा, भारी, ठंढा, बंबा एवं कफ से लिपा हुआ हो जाता है।

अथागन्तुजारोचकस्य लच्चणम ।

त्र्यरोचके<sup>°</sup> शोकभयातिलोभक्रोधाद्यहृद्याशुचिगन्धजे स्यात् । स्वाभाविकं चास्यमथारुचिश्व,---चा० चि० अ० २६

अर्थ-शोक, भय, अतिलोभ, क्रोधादि, घृणोत्पादक और अपवित्र गन्ध से होने वाले अरोचक में मुख का स्वाद स्वाभाविक ही होता एवं अरुचि बनी रहती है।

सान्निपातिकारोचकलच्चणम्।

–त्रिदोषजे नैकरसं भवेत् ॥ ३ ॥ च० च० अः २६ अर्थ-त्रिदोषज अरोचक में मख का स्वाद दोष की प्रधानता के अनुसार होता है।

१-शोकादि के कारण भोजन की इच्छा ही नहीं होती ।

श्रथारोचकस्य लज्ञणान्तराणि । हच्छूल-पीडन-युतं पवनेन, पित्ता-तृड्-दाह-चोप-बहुत्तं, सकफप्रसेकम् । श्लेष्मात्मकं, बहुष्नं बहुभिश्च विद्या-द्वेगुण्य-मोह-जडताभिरथापरं च ॥४॥

अर्थ — वायु से हृदय में शूल एवं संकोच, पित्त से प्यास, दाह और हृदय में टीस; कफ से थूक में कफ, सिन्निपात से उपर्युक्त सभी लच्चण और आगन्तुक अरोचक में वेचैनी, बदहोशी तथा निश्रेष्टता होती है।

# छर्दिनिदेशनम् ।

छर्दिरोगस्य सनिर्वचनं निदानम्।

दुष्टैदोंषै: पृथक् सर्वेदीभत्साऽऽलोचनादिभि: ।

**छर्दयः पश्च विज्ञे**यास्तासां लक्षणग्रुच्यते ॥ १ ॥

श्चर्य-पृथक् पृथक् दुष्ट दोषों एवं सन्निपात तथा घृगोत्पादक रूप रस गन्धादिकों से पांच प्रकार का छर्दि रोग होता है। उनके लक्त्या (निदान पूर्वरूपादि) कहते हैं।

श्रातद्ववैरतिस्त्रिग्धेरहुचैर्ल्वणेरति ।

अकाले चातिमात्रैश्व तथाऽसात्म्यैश्व भोजनैः ॥ २ ॥

श्रमाद्भयात्त्रथोद्देगादजीर्णात क्रिमिदोषतः।

नार्याश्रापन्नसत्त्वायास्तथाऽतिद्वतमश्नतः ॥ ३ ॥

बीभत्से हें तुभिश्वान्यें दु तम्रत्वलेशितो बलात् ।

छादयन्नाननं वेगैरर्दयनङ्गभञ्जनैः।

९—फहा जाता है कि श्रामाशय में संकोच होता है तो वह श्रपने में स्थित इत्य को पुखमार्ग से बाहर निकाल देता है, श्रस्तु । इसी को छिद या वमन मा कै या उलटी कहा जाता है ।

२--बिनिधरन् ( सु० ) पाठ त्रात्युपयुक्त है ।

निरुच्यते छर्दिरिति दोषो वक्त्रं प्रधावितः ॥४॥ बु॰ उ॰ अ॰४६ श्चर्य-श्चत्यन्त पतले, श्चत्यन्त चिकने, घृगोत्पादक, श्चत्यन्त नम-कीन, अकाल में अत्यधिक तथा प्रकृतिविरुद्ध भोजन करने से, परिश्रम, भय, घबड़ाहट, अजीर्ण एवं क्रिमिदोष से, स्त्रियों को गर्भाधान से, अत्यन्त शीधतापूर्वक भोजन करने से अथवा अन्यान्य घृणोत्पादक कारणों से हठात शीघ उभड़ा हुआ, अपने वेग से मुख ढकता हुआ तथा शरीर को पीड़ाओं से दुःखित करता हुआ मुखमार्ग की ओर दौड़ता हुआ ( निकलता हुआ ) दोप 'छविं' कहा जाता है।।

छर्दैः पूर्वरूपाणि ।

हुछासोद्गगाररोषौ च प्रसेको लवणस्तनुः।

द्वेषोऽन्नपाने च भृत्रां वमीनां पूर्वलक्षराम् ॥५॥ सु० ड० ब० ४९ श्रर्थ-जी मचलना, उद्गार न श्राना, मुँह में नमकीन एवं पतला पानी त्राना, खाने-पीने में श्रत्यन्त त्रशचि, ये पूर्वरूप हैं।

वातिकच्छर्दैर्ल्चणम्।

हत-पार्श्व-पीडा-मुखशोष-शीर्ष-नाभ्यर्ति-कास-स्वरभेट्-तोदैः । उद्गगार-शब्द-प्रवलं सफेनं विच्छिन्नमुष्णं तत्तुकं कषायम् । कृच्छ्रेण चार्लं महता च वेगेनार्तोऽनिलाच्छर्द्यतीह दु:खम् ॥ ६ ॥ चा० चि० अ० २३

श्रर्थ-वायु से हृदय एवं पार्श्वी (फुलु सों ) में पीड़ा, मुख सूखना, सिर तथा नाभि में पीड़ा, खांसी, स्वरभेद एवं वयथा से युक्त, भाग श्रीर ब्रिब्रिड़ों से युक्त, काला, पतला. कसैला, थोड़ा द्रव्य कष्ट के

<sup>9-</sup>यही कारण है जो समुद्रजल एवं उष्ण लवणोदक का पान करने से वमन हो जाती है।

२--- प्रकृतिभेद से किसी स्त्री को तो गर्भाधान के प्रथम दिन से ही अथवा किसी को चौथे पाचवें महीने में वमन होती है श्रीर किसी को कभी वमन नहीं होती।

२—न जाने दो धातुर्द्या को मिलाकर "छर्दि" शब्द का निर्माण करने की क्या त्रावश्यकता थी. जब कि "छुई वमने" (चुरादि) धातु विख्यान थी। त्रास्तु।

साथ किन्तु बड़े वेग से निकलता है। इस छर्दि से रोगी अधिक दुखी होता है।

पैत्तिकच्छर्देर्रुच्चणम् ।

मूर्च्छा-पिपासा-मुखशोष-मूर्ध-ताल्वक्षि-प्तन्ताप-तमो-भ्रमाऽऽर्तः ।

पीतं भृशोष्णं हरितं सतिक्तं धूव्रं च पित्तेन वमेत्सदाहम् ॥ ७ ॥

चः चि॰ अ॰ २३ ताळ एवं ऋांख्यें

श्चर्य—िपत्त से मूर्र्झा, त्यास, मुखशोष, सिर, तालु एवं त्रांख में सन्ताप, श्चांख के त्रागे अंघेरा तथा चक्कर से पीड़ित रोगी पीला, गरम, हरा, कडुत्रा धूमित एवं दाह से युक्त वमन करता है।

कफजच्छदेर्छचग्रानि ।

तन्द्रा-ऽऽस्यमाधुर्य-कफनसेक-प्तन्तोष-निद्रा-ऽरुचि-गौरवाऽऽर्त: । स्निग्धं घनं स्वाद् कफाद्धिशुद्धं सरोमहर्षोऽल्परुजं वमेत् ॥ ८ ॥

श्रर्थ—कफ से तन्द्रा, मुख का मीठापन, मुख से पानी जाना, पेट भरा सा मालूम होना, नींद, श्रहचि, शरीर के भारीपन से युक्त रोगी चिकने, गाढ़े, मधुर एवं स्वच्छ द्रव्य की वमन करता है। इस समय रोगी को रोमांच होता है तथा श्रधिक पीड़ा नहीं होती।

सान्निपातिकच्छर्देळच्यानि ।

श्रुला−ऽविषाका−ऽर्शच-दाह-तृष्णा–श्वास-प्रमोह-प्रबला प्रसक्तम् । स्रुर्दिस्त्रिदोषाळ्वणा−ऽस्र−नील-सान्द्रोष्ण-रक्तं वमतां नृणां स्यात्।। च० चि० अ० २३

श्रर्थ-सिन्पात से शुल, श्रपच, श्ररिच, दाह, 'यास, श्वास एवं बदहोशी की प्रबलता से युक्त निरन्तर छदि होती है एवं उसमें नमकीन, खट्टा, नीला, गाढ़ा, उभ्ण द्रश्य रक्त से मिला हुआ निकलता है।

छर्देरसाध्यलत्तरणानि ।

विद्-स्वेद-मूत्रा-अम्बु-वहानि वायुः स्रोतांसि संरुध्य यदोध्वमिति। उत्सन्नदोषस्य समाचितं तं दोपं सम्रुद्धभूय नरस्य कोष्ठात् ॥१०॥

१-वतलाइये यह ऋसाध्य वशें है।

विण्-मूत्रयोस्तत्सम-गन्धवर्णं तृट्-श्वास-हिक्कार्ति-युतं पसक्तम् । प्रच्छर्द्येदुदृष्टमिहातिवेगात्तयाऽदितश्राशु विनाशमेति ॥ ११ ॥

च० चि० अ० २३

श्रर्थ—जब वायु पुरीष, स्वेद, मृत्र एवं जल को बहाने वाले स्रोतों को रोक कर उभड़े हुए दोषोंवाले मनुष्य के कोष्ठ से उस सिश्चित दोष को लिये दिये उपर को श्राता है, तब मृत्र-पुरीष के समान गन्ध एवं वर्ण से युक्त दूषित द्रव्य बड़े वेग के साथ निकलता है। उस रोगी को प्यास, श्वास, हिचकी एवं पीड़ा बहुत श्रिषक हो जाती है श्रीर इससे पीड़ित रोगी शीघ ही मृत्यु को प्राप्त हो जाता है।

श्रथागन्तुकच्छर्देर्लचर्णानि ।

वीभत्सजा दौईदजामजा च ऋसात्म्यजा च क्रिमिजा च या हि । सा पश्चमी तां च विभावयेच्च दोषोच्छ्येगोव यथोक्तमादौ ॥१२॥

o **उ**० भ

श्रर्थ—वृणोत्पादक रूपादिकों से, गर्भाधान से, श्रजीर्ण से, प्रकृति-विरुद्ध श्राहार-विहार से एवं क्रिमियों से जो छिद होती है वह पाँचवीं श्रागन्तुक छिद होती हैं । इनके लत्त्तण वही होते हैं जो पहले वातादि दोषों की छिदियों में कहे जा चुके हैं।

क्रिमिच्छर्देर्जनगानि ।

शूल-हल्लास-बहुला क्रिमिजा च विशेषत:।

क्रिमिह्द्रोगतुल्येन लक्ष्योन च लक्षिता ॥ १३ ॥ सु०उ०अ०४६

त्रर्थ —िक्रिमियों से होनेवाली छर्दि में शूल, जी मिचलाना, किमिज हृद्रोग के समान लच्चण विशेषरूप में पाये जाते हैं।

छई: साध्यासाध्यविवेकः।

क्षीरणस्य या छर्दिरतिपसक्ता सोपद्रवा शोिरणत–पृययुक्ता । सचन्द्रिकां तां प्रवदेदसाध्यां साध्यां चिकित्सेन्निरुपद्रवां च ॥१४॥

वं वि अ अ ३३

ऋर्थ-सीण पुरुष को लगातार वेगवाली, उपद्रवों से युक्त, रक्त

और पूय से मिश्रित मोर के पंख की चिन्द्रका के समान विविध ' वर्णों वाली छिद् को असाध्य समम्भना चाहिये और उपद्रवों से रहित छिद् की चिकित्सा करनी चाहिये।

छर्दिरोगस्योपद्रवाः ।

कासः श्वासो ज्वरो हिका तृष्णा वैचित्त्यमेव च । हृद्रोगस्तमकश्चैव क्वेयाश्छर्देश्यद्रवाः ॥ १५ ॥

ऋर्थ-कास, श्वास, ज्वर, हिचकी, प्यास, वेचैनी, हृद्रोग, ऋाँखों के सामने ऋंधेरा छाना ये छुट्टिं के उपद्रव होते हैं।

तृष्ण।निदानम् ।

तृष्णारोगस्य सम्प्राप्तिः । सम्बद्धारम् सन्तर्भभगासः उपने नितं पिन्निः

भय-श्रमाभ्यां वत्तसंक्षयाद्वा उध्वें चितं पित्तविवर्धनैश्च । पित्तं सवातं कुपितं नगुर्णा तालुप्रपत्नं जनयेत्पिपासाम् ॥

स्रोतस्स्वपांवाहिषु दूर्वितेषु दोपैश्च तृट् संभवतीह जन्तोः ॥ १ ॥

श्चर्य—भय, श्रम एवं बल के च्चय से तथा पित्त को बढ़ाने वाले पदार्थों से संचित एवं कुपित वायुयुक्त पित्त ऊपर तालु में गया हुत्रा मनुष्यों को प्यास उत्पन्न करता है। श्रथवा दोषों द्वारा जलवाही स्रोतों के दृषित होने पर प्राणी को प्यास उत्पन्न होती है।

अथासां भेदाः ।

तिस्नः स्मृतास्ताः क्षतजा चतुर्थी क्षयात्तथा ह्यामसमुद्भवा च । भक्तोद्भवा सप्तमिकेति तासां निवोध लिङ्गान्यनुपूर्वशस्तु ॥ २ ॥

सु० उ० अ० ४८

अर्थ-वातादि दोषों से तीन, ज्ञत से चौथी, ज्ञय से पांचवों,

९—-पानी पर तैरत हुए तैल के रंगिवरंगे वर्ण के समान इसका रंग होता है। हमारे िचार से यह वैसा ही निकलती है।

२---जलपान करने पर भी श्रथवा बार बार श्रथवा श्रनियमित प्यास लगन। ही ''तृष्णा'' रोग है । भगवान चरक ने "मुखशोष" को इसका पूर्वरूप माना है ।

श्रजीर्ण से छुठीं एवं स्निग्धादि भोजनों से सातवीं, इस प्रकार सात प्रकार की तृष्णायें होती हैं, उनके लच्चा कमशः सुनो ।

वातिकतृषाया लच्चणानि।

क्षामास्यता मारुतसंभवायां तोदस्तथा शङ्ख-श्विरःसु चापि ।

स्रोतोनिरोधो विरसं च वक्त्रं शीताभिरद्भिश्च विद्वद्भिमेति ॥३॥

त्रर्थ—वायु की तृष्णा में चेहरे का उतर जाना, पुटपुटी एवं सिर में ज्यथा, जलवाही स्रोतों में रुकावट', मुंह का फीकापन होता है। यह तृष्णा ठंढा पानी पीने से त्रौर भी बढ़ती है।

पैत्तिकतृष्णाया लच्चणानि ।

मूर्च्छा-ऽन्नविद्वेष-वित्ताष-दाहा रक्तेश्व णत्वं पततश्च शोष: ।

शीताभिनन्दा मुखितक्तता च पित्तात्मिकायां परिदूयनं च ॥ ४ ॥

• उ० अ०

श्रर्थ—पित्त की तृष्णा में मृच्छी (कभी कभी), श्रर्येच, प्रलाप, दाह, श्राँखों में लालिमा, पीये हुए पानी का निरन्तर सूखते जाना, शीत पदार्थों से प्रसन्नता, मुंह का कडुवापन, शरीर का तपना ये लक्षणहोते हैं। श्रेटीचमकतृष्णाया लक्षणानि।

वाष्पावरोधात्कफसंदृतेऽस्रो तृष्णा वलासेन भवेत्तथा तु ।

निद्रा गुरूत्वं मधुरास्यता च तृष्णार्दितः शुष्यित चातिमात्रम् ॥५॥

• उ॰ अ

अर्थ — कफ से जठराधि के ढक जाने पर उसकी वाष्प के रुक जाने से कफ की रुष्णा पूर्वोक्त प्रकारों ही से होती है। इसमें निद्रा, शरीर का भारीपन एवं मुख का मीठापन लक्त्या होते हैं और इस रुष्णा से पीड़ित रोगी अधिक सूख जाता है।

त्ततजन्यतृष्णाया लत्त्रणम् ।

क्षतस्य रुक्-शोणितनिर्गमाभ्यां तृष्णा चतुर्थी क्षतजा मता तु ।

१-- श्रतएव पानी से पेट भरा रहता है श्रीर प्यास लगती जाती है।

ऋर्थ—घायल पुरुष की पीड़ा एवं रक्त के निकल जाने से जो चौथी रुप्णा, होती है वह चतजा होती है।

चयजवृष्णाया लच्चणानि ।

रसक्षयाचा क्षयसंभवा सा तयाऽभिभूतश्च निशादिनेषु ॥ ६ ॥ पेपीयतेऽम्भः स सुखं न याति तां सन्निपातादिति केचिदाहुः । रसक्षयोक्तानि च लक्षणानि तस्यामशेषेण भिषम् व्यवस्येत् ॥७॥

मु० उ० अ० ४८

श्चर्य—रस के चय से च्यज तृष्णा होती है। इससे पीड़ित रोगी रात-दिन पानी पीता जाता है, परन्तु सुख नहीं मिलता (प्यास बुमती ही नहीं)। इसी कारण कोई कोई श्चाचार्य इसे सान्निपातिक तृष्णा मा-नते हैं। वैद्य को चाहिये कि इसमें रसच्चय के सभी लचणों पर ध्यान दे।

श्रामञ्चष्णाया लच्चणम् ।

## त्रिदोषलिङ्गाऽऽमग्रुद्धता च हृच्छूल-निष्ठीवन-साद-कत्रीं।

० उ० भः ४८

अर्थ—आमजनित तृष्णा में तीनों दोषों के लक्त्यों के आंतिरक्त निम्न लक्षण भी होते हैं:—हृदय में शूल, अधिक थूक आना एवं सुस्ती। अन्तजतृष्णाया लक्त्यणानि।

स्त्रिग्धं तथाऽम्तं लवणं च भुक्तं गुर्वन्नमेवाशु तृषां करोति ॥८॥

अर्थ-- खाया हुआ चिकना खट्टा नमकीन एवं गुरु अन्न भी शीघ ही दृष्णा उत्पन्न कर देता है। इस दृष्णा को 'मुक्तोद्रवा' कहना चाहिये।

श्रथोपसर्गजतृष्णाया लत्त्रणानि ।

दीनस्वरः प्रताम्यन् दीनः संशुष्क-वक्त्र-गल-तालुः । भवति खलु योपसर्गानृष्णा सा शोषिणी कृष्टा ॥९॥ च० च० ४० २२ ऋर्थ-जो तृष्णा उपद्रवों (रोगों) से उत्पन्न होती है, वह बड़ी कष्ट-दायक एवं शरीर को सुखा डालनेवाली होती है । इसमें स्वर चीण हो जाता है, त्रांखों के त्रागे श्रन्वेरा त्राने लगता है, स्वयं रोगी भी दीन हो जाता है, उसका मुख, गला एवं तालु सूख जाता है।

तृषोपसर्गाः ।

ज्वर-मोह-क्षय-कास-श्वासाद्युपसृष्टदेहानाम् । सर्वास्त्वतिप्रसक्ता रोगकृशानां विमययुक्तानाम् ।

घोरोपद्रवयुक्तास्तृष्णा मर्णाय विज्ञेया: ॥१०॥ च० च० ७० २२ अर्थ—व्वर, मोह, चय, कास एवं श्वास आदि अन्यान्य रोगों से पीड़ित शरीर वाले, रोगों से दुर्वल तथा छुदि के रोगियों की सर्वदा लगने वाली भयंकर मुख शोषादि उपद्रवों से युक्त तृष्णा रोगी को मारने के लिए ही उत्पन्न होती हैं।

# मुच्छी भ्रमःनिद्राःतन्द्रासंन्यासनिदानम् ।

मूर्च्छारोगस्य निदानपूर्विका सम्प्राप्तः।
सीणस्य बहुदोषस्य विरुद्धाद्दारसेविनः।
वेगाधातादभोधाताद्धीनसत्त्वस्य वा पुनः॥ १॥
करणायतनेषुप्रा बाह्येष्वाभ्यन्तरेषु च।
निविज्ञन्ते यदा दोषास्तदा मूर्च्छन्ति मानवाः॥ २॥
संज्ञावहासु नाडोषु पिहितास्विनिलादिभिः।
तमोऽभ्युपैति सहसा सुख-दुःख-व्यपोहकृत्॥ ३॥
सुखदुःख-व्यपोहाच नरः पति काष्टवत्।
मोहो मूर्च्छेति तामाहुः षड्विधा सा प्रकीर्तिता॥ ४॥
वार्ताादिभिः शोणितेन मद्येन च विषेण च।
षट्स्वप्येतासु पित्तं तु प्रभुत्वेनावितष्टते॥५॥ छ० व० अ० अ६
प्रर्थ—बल तथा मांस के जीण हो जाने से, दोषों के बढ़ जाने से,
विरुद्ध आहारों के सेवन से, वेग रोकने से, चोट लगने से, सत्त्व गुण

( मानसिक शक्ति ) से हीन महुष्य के जब मन के बाहरी ' एवं भीतरी ' मार्गों में भयंकर दोष ठहर जाते हैं ( उन्हें रोक लेते हैं ), तब मनुष्य मुद्धित होते हैं।

निम्न प्रकार से श्रीर भी स्पष्ट हो जाता है—वायु श्रादि दोषों हारा जब संज्ञावाही नाड़ियां रुक जाती हैं तो एकाएक मुख दुख के ज्ञान को नष्ट करनेवाली मृच्छीं श्रा जाती है। मुख दुःख के ज्ञान का नाश होने से मनुष्य लकड़ी के समान धड़ाम से गिर पड़ता है बस इसीको मोह ' या मृच्छी कहते हैं। यह निम्न रीति से ६ प्रकार की होती है।

बातादि दोषों से तीन, रक्त से चौथी, मग्र से पांचवीं तथा विष से इ.डीं। परन्त इन छहों में पित प्रधानतया रहता है।

मृच्छीयाः प्रवेह्तपाणि ।

हत्पीडा जुम्भणं ग्लानिः संज्ञादौर्वस्यमेव च ।

सर्वासां पूर्व रूपािए, यथास्वं ता विभावयेत् ॥६॥ छ० उ० अ० ४६ प्रर्थ — मूर्च्छा के निम्न पूर्व रूप होते हैं —हृदय में पोड़ा, जम्भाई ज्ञाना, मन की खिन्नता एवं ज्ञान की दुर्वलता। नीचे लिखे लच्चणों ारा उन मुर्च्छािक्यों को वातादिभेद से जान लेना चाहिये।

वातजमूच्छाया लन्नणम् । नीलं वा यदि वा कृष्णमाकाशमथवाऽरुणम् । पश्यंस्तमः प्रविश्वति शीघ्य च प्रतिज्ञुध्यते ॥ ७ ॥ वेपशुश्राङ्गमर्दश्च प्रपीडा हृद्यस्य च ।

कार्र्यश्याचाऽरुणा छाया मूर्च्छाये वातसंभवे ॥८॥ च॰ स्॰ अ॰ २४ अर्थ-वायु की मूर्च्छा में रोगी आकाश को नीला, काला अथवा लाल देखते हुए मूर्च्छित होता है और शीव ही होश में आ जाता है। होश में आने पर कांपने लगता है एवं अंगों तथा हृदय की पीड़ा का

१— गाँच कर्मेन्द्रियां, २— ज्ञानेन्द्रियाँ, इन दोनों में दोष आराजाने से चेष्टा एवं ज्ञान नष्ट हो जाते हैं।

३-४-मोह (बदहोशी) तथा मूच्छा (बेहोशी), इस प्रकार वे दो अवस्थाएँ हैं।

अनुभव करता है। दिनोंदिन कृश होता जाता है। चेहरे का रंग काला श्रीर लाल दिखाई देता है।

पित्तजमूच्छीया लत्तरणम् रक्तं हरितवर्णं वा वियत्पीतमथापि वा । पश्यंस्तमः प्रविश्वति सस्वेदश्च प्रबुध्यते ॥ ६ ॥ (सपिपासः ससन्तापो रक्त-पीता-ऽऽकुलेक्षणः । ) संभिन्नवर्षाः पीताभो मूच्छीये पित्तसंभवे ॥ १० ॥

ऋथं—िपत्त की मृच्छां में रोगी आकाश को लाल, हरा एवं पोला देखते हुए मूर्च्छित होता है। पसीने से लथपथ होकर होश में आता है। होश में आने पर प्यास एवं गर्मा माछ्म होती है। आंखें लाल, पीली एवं व्याकुल दिखाई पड़ती हैं। यह रोगी बहुत शीघ मूर्च्छित होता है तथा शीघ ही होश में आ जाता है। रोगी को दस्त होने लगते हैं एवं उसका रंग पीला-सा हो जाता है।

कफजम्च्छाया लज्ञ्णम् । मेघसंकाञमाकाञमादृतं वा तमोघनैः । पश्यंस्तमः प्रविञ्चति चिराच प्रतिबुध्यते ॥ ११ ॥ गुरुभिः पादृतैरङ्गिर्यदैवार्द्वेण चर्मणा । सप्रसेकः सह्छासो मृच्छाये कफसंभवे ॥ १२ ॥

अर्थ — कफ की मृच्छी में रोगी साधारण बादलों अथवा काले बादलों से ढके हुए आकाश को देखते हुए मृच्छित होता है एवं विलम्ब से होश में आता है। गीले चमड़े से ढके हुए के समान अंगों में भारी-पन का अनुभव करता है। उसके मुँह से पानी जाया करता है और उसका जी मिचलाया करता है।

सान्निपातिकमूच्छीया लच्चणम् । सर्वाकृतिः सन्निपातादपस्मार इवागतः । स जन्तुं पातयत्याशु विना वीभत्सचेष्टितैः ॥१३॥ अ०ह०नि०अ०६ श्चर्थ—सन्निपात से होनेवाली मूच्छी में उपर्युक्त सभी लच्चा पाये जाते हैं। वह श्रपस्मार के समान रोगी को बहुत शोध ही बेहोश कर देता है, किन्तु इसमें श्रपस्मार के मुख से माग जाना, हाथ—पैरों का फड़कना एवं चेहरे की श्राकृति का विकृत हो जाना श्रादि लच्चा नहीं होते हैं।

रक्तजमूर्च्छायाः सम्प्राप्तिः । पृथिव्यापस्तमोरूपं रक्तगृन्धस्तदन्वयः ।

तस्माद्रक्तस्य गन्धेन मूर्च्छन्ति भ्रुवि मानवाः ॥ १४ ॥

द्रव्यस्वभाव इत्येके दृष्ट्वा यदिभमुह्यति । सु॰ उ॰ अ॰ ४६ व्यर्थ—पृथ्वी क्योर जल दोनों ही तमोगुण प्रधान हैं क्योर रक्त की गन्ध भी तमोगुण प्रधान हैं, इसलिये रक्त की गन्ध से मनुष्य मूर्च्छित हो जाते हैं। कुछ त्राचार्य रक्त की गन्ध को मूच्छी का हेतु नहीं मानते; व्यपितु रक्त के स्वभाध ही को मूच्छी का हेतु मानते हैं। क्योंकि उसके देखने से मुच्छी का जाती हैं।

विष–मद्य–जन्यमृच्छीया लत्त्रणम् । गुर्णास्तीव्रतरत्वेन स्थितास्तु विष–मद्ययोः ॥ १५ ॥ त एव तस्मात्ताभ्यां तु मोद्दो स्थातां यथेरितौ । छ० ७० ७० ७६

श्रर्थ—वे लबु रुचादि गुण (जो कुछ न कुछ सभी पदार्थों में रहते हैं) विष एवं मद्य में तीदर्णतापूर्वक रहते हैं। यही कारण है कि उन दोनों से यथोक्त लच्चणों से युक्त मुच्छों हो जाती है।

१- अपस्मार एवं मुच्छी में यही भेद है।

२—हमारे विचार में सत्व-गुणी मनुष्य रक्त को देखकर नहीं घवड़ा जाता है श्रीर मूर्चिछत हो जाता है; क्योंकि रक्त की गन्ध एवं स्वभाव इसका कारण नहीं हो सकता । क्योंकि प्रायः देखा जाता है कि रक्त देखने या सूंघनेवाले सभी मनुष्य मूर्चिछत नहीं होते । किसी एक मनुष्य में यह बात पायी जाती है । श्रर्थात वह कभी थोड़ा-सा भी रक्त देख कर मूर्चिछत हो जाता है श्रीर कभी खून की नदी को बाहुश्रों से तेर कर पार कर जाता है ।

रक्तजादिम्च्छात्रयस्य तत्त्वणानि ।
स्तब्धाङ्गदृष्टिस्त्वसृजा गृढोच्छ्वासश्च मूर्च्छतः ॥ १६ ॥
मद्येन वित्तपंश्छेते नष्ट-विश्रान्त-मानसः ।
गात्राणि विक्षिपन् भूमौ जरां यावन्न याति तत् ॥ १७ ॥
वेपश्च-स्वप्न-तृष्णाः स्युस्तमश्च विषमूर्च्छते ।

वेदितव्यं तीव्रतरं यथास्वं विषत्तक्षयोः ॥१८॥ ष्टु॰ उ॰ अ॰ ४६ व्ययं—रक्त की मृच्छों में अंग एवं च्राँखें जकड़ जाती हैं तथा रोगी का श्वास प्रश्वास द्वारन्त धीमा हो जाता है, मद्य से रोगी प्रलाप करते हुए सो जाता है। मानसिक शिक्त नष्ट द्वार्थना चकरा जाती है। रोगी तब तक हाथ-पाँव पटकता रहता है, जब तक िक मद्य पच नहीं जाता। विष की मृच्छों से पहले कम्प, फिर प्यास, तत्पश्चात् निद्रा एवं उसके बाद मृच्छों हो जाती है। भिन्न-भिन्न प्रकार के विषों से होने वाले भिन्न प्रकार के तह्यां पर प्यान दे लेना चाहिये खर्थात् उनके लह्यां की मृद्धता एवं तीव्रता पर निर्भर करती है।

मूर्च्छा-भ्रम-निद्रा-तन्द्रासु दोष-गुणविशेषाद् भेदाः । मूर्च्छा पित्त-तमः-प्राया रजःपित्तानिलाद् भ्रमः । तमो-वात-कफात्तन्द्रा निद्रा श्लेष्म-तमो-भवा ॥१९॥

अर्थ-पित्त एवं तमोगुण की अधिकता से मृच्छीं; पित्त, वायु एवं रजोगुण की अधिकता से भ्रम; वायु, कफ एवं तमोगुण की अधिकता से तन्द्रा; कफ एवं तमोगुण की अधिकता से निद्रा होती हैं।

भ्रमरोगस्य लच्चणम् । ( चक्रवद्व भ्रमतो गात्रं भूमौ पतति सर्वदा ।

१—िनम्न गुर्णो से युक्त कोई भी द्रव्य विष कहा जाता है:—लघु रूक्षमाग्रु विशादं, व्यवायि तीच्णं विकाशि सूच्तम्ब । उष्णमिनिर्देश्यरसं, दशगुणमुक्तं विषं तज्ज्ञैः ॥ च० वि० झ० २३ । वस्तुतः उक्त १० गुण श्रोज के गुरुक्तिम्ध श्रादि १० गुर्णो को दवाकर श्रपना प्रभाव दिखाते हैं ।

श्रमरोग इति ज्ञेयो रजःपित्तानिलात्मकः ॥)

श्रर्थ—जिस रोग से रोगी चक्कर खाकर पृथ्वी पर गिर पड़ता है, उसे 'भ्रम' कहते हैं। यह पित्त, वायु एवं रजोगुरा की श्रधिकता से होता है।

तन्द्रालच्लाम्।

इन्द्रियार्थेष्वसंवित्तिगौरवं जृम्भणं स्नमः । निद्वार्तस्येव यस्येहा तस्य तन्द्रां विनिर्दिशेतु ॥ २० ॥

अर्थ—जिस रोग में इन्द्रियों के विषय में पूर्ण ज्ञान न होना, शरीर का भारीपन, जम्भाई श्राना, सुस्ती श्रीर निद्रा से पीड़ित के समान चेष्टा होना, ये लज्ञ्या हों, उसे "तन्द्रा" कहते हैं।

संन्यासस्य मूर्च्छादिभ्यो भेदः।

दांषेषु मद-मूच्छायाः कृतवंगेषु देहिनाम् ।

स्वयमेवोपशाम्यन्ति संन्यासो नौपधैर्विना ॥२१॥ अ० ह० नि० अ० ६

ऋर्थ-दोषों का बल घट जाने पर मद एवं मूर्च्छा स्वयमेव शान्त हो जाती हैं; किन्तु संन्यास बिना श्रोषधियों के शान्त नहीं होता।

संन्यासरोगछत्त्रणम् ।

वाग्-देह-मनसां चेष्टामाक्षिप्यातिवला मलाः । संन्यस्यन्त्यवलं जन्तुं प्राप्यायतनमाश्रिताः ॥ २२ ॥ स ना संन्याससंन्यस्तः काष्टीभूतो मृतोपमः । प्रापौर्विग्रुच्यते ज्ञीद्यं ग्रुक्त्वा सद्यःफलां क्रियाम् ॥ ३२ ॥

अः हु०नि अ० ६

अर्थ—हृदय में आश्रित अत्यन्त बलवान् दोष वाणी, देह एवं मन की क्रिया को रोककर दुर्बल मनुष्य को संन्यासी बना देते हैं। वह संन्यास का रोगी लकड़ी के समान मरा हुआ सा मालूम होता है। यदि तत्काळ शीघ्र लाभ पहुँचाने वाली नस्यादि क्रिया न की जाय तो वह रोगी मर जाता है।

## पानात्यर्यं, परमद, पानाजीर्ण एवं पानविश्वम मदा-त्ययनिदानम् ।

ये विषस्य गुणाः प्रोक्तास्तेऽपि मद्ये प्रतिष्ठिताः । तेन मिथ्योपयुक्तेन भवत्युग्रो मदात्ययः ॥ १ ॥

श्रर्थ—विष के जो गुण कहे गये हैं वेमद्य में भी पाये जाते हैं। श्रत-एव विधिविरुद्ध मद्यपान से भीषण् मदात्यय नामक रोग हो जाता है।

. मद्यस्य स्वभाववर्णनम् ।

किन्तु मद्यं स्वभावेन यथैवात्रं तथा स्मृतम् । अयुक्तियुक्तं रोगाय युक्तियुक्तं यथाऽमृतम् ॥ २ ॥ प्राणाः प्राण्भृतामनं तदयुक्तया हिनस्त्यसन् ।

विषं पाए हरं तच युक्तियुक्तं रसायनम् ॥३॥ च०चि० ७० १२ अर्थ-परन्तु मद्य । विष के समान समगुण होने पर भी अपने प्रभाव से अन्त के समान ही उपयोगी हैं । यह विधिविपरीत सेवन करने से रोगोत्पादक एवं विधिपूर्वक सेवन करने से अमृत के समान होता हैं। जैसे अन्त प्राणियों का प्राण होते हुए भी विधिरहित सेवन करने से प्राणनाशक हो जाता है उसी प्रकार विष भी प्राणनाशक होते हुये विधिपूर्वक सेवन करने से रसायन (जराव्याधिविनाशक) होता हैं।

१—मादक द्रव्यों के अधिक सेवन से "पानात्यय", मद (नशा) की अधिकता से "परमद", नामक द्रव्यों के अनपच से "पानाजीर्ण" एवं मादक द्रव्यों की विकृति से "पानविश्रम" होता है।

२—इससे कदापि यह न समम्मना चाहिये कि मादक द्रव्य प्राणी मात्र के लिये अन्न के समान ही आवश्यक या अनिवार्य है। क्यों कि उक्त द्रव्यों में कोई भी ऐसा स्वतन्त्र गुण नहीं है जो जीवन के लिए उपयोगी प्रमाणित हो। केवल पित्त और हृदय को उत्तेजित कर मांसादिक गुरु द्रव्यों के पाक एवं रक्त परिचालन में सहायता देता है सो भी उचित मात्रा में सेवन करने पर। श्रतों न सेव्यमिति।

विधिनोपयुक्तस्य मद्यस्य गुणाः । विधिना मात्रया काले हितैरन्नैर्यथावलम् । प्रहृष्टो यः पिवेन्मद्यं तस्य स्यादमृतोपमम् ॥४॥ वर्णवर्णवर्णस्य क्रिक्तिस्य न्वेर्णामेश्च भ्रष्टमेश्च सह सेतितम् ।

स्निग्यैस्तदन्नैर्पांसैश्व भक्ष्येश्व सह सेवितम् ।

भवेदायुः प्रकर्षाय बलायोपचयाय च ॥ ५ ॥ काम्यता मनसस्तुष्टिस्तेजो विक्रम एव च ।

विधिवत सेव्यमाने तु मये सिन्निहिता गुणाः ।।६।। छु॰व॰अ॰४७ अर्थ —विधिपूर्वक मात्रा के अनुसार उचित समय में हितकारक अनों के साथ यथाशांकि प्रसन्न होकर जो मनुष्य मद का सेवन करता है उसके लिए वह अमृत के समान गुणकारी सिद्ध होता है तथा रिनम्ध (पन्नोड़े आदि) अन्न, मारा एवं अन्य विविध प्रकार के भोजनों के साथ सेवन करने से मद्य आयु, बल एवं पुष्टि की वृद्धि करनेवाला होता है। सोन्दर्य, मन की प्रसन्नता, उत्साह एवं शत्रुओं को दबाने की शक्ति ये सब गुणा विधिपूर्वक मद्य सेवन करने से अवश्य प्राप्त होते हैं।

प्रथममदस्य लज्ञग्।म् ।

बुद्धि-स्मृति-पीतिकर: सुखश्च पाना-ऽन्न-निद्रा-रति-वर्धनश्च ॥ संपाठ-गीत-स्वर-वर्धनश्च पोक्तोऽतिरम्य: पथमो मदो हि ॥ ७ ॥

श्चर्य—मद्य के मद की पहली अवस्था बुद्धि, स्पृति एवं प्रीति करने वाली, सुखदायक, पीने, खाने, सोने तथा मैथुन की शक्ति को बढ़ाने वाली, अध्ययन, संगीत एवं स्वर को बढ़ानेवाली ( उत्तम करनेवाली ) एवं अत्यन्त रमणीय होती है।

द्वितीयमद्स्य लच्चणम्

श्रव्यक्तबुद्धि-स्मृति-वाग्-विचेष्टः सोन्मत्त-तीलाऽऽकृतिरप्रशान्तः। श्रालस्य-निद्रा-ऽभिहतो मुहुश्च मध्येन मत्तः पुरुषो मदेन ॥ ८॥

श्रर्थ—मरा के मद की दूसरी श्रवस्था में मतवाले मनुष्य की बुद्धि, स्मृति एवं वाणी श्रस्पष्ट हो जाती हैं। सभी चेष्टायें विकृत हो जाती हैं, पागल तथा कौतुकी के समान स्वरूप हो जाता है। **ग्र**त्यन्त चंचल, त्रालसी तथा बारम्बार सो जाता है।

तृतीयमदस्य लच्चणम्।

गच्छेदगम्यात्र गुरूश्च मन्येत् लादेदभक्ष्याणि च नष्टसंज्ञः।

ब्र्याच गुह्यानि हदि स्थितानि मदे तृतीये पुरुषोऽस्वतन्त्रः ॥ ९ ॥

बर्थ—मद्य के मद की तीसरी श्रवस्था में पुरुष श्रगम्यागमन (श्रातु-चित स्थानों पर जाना श्रथवा मां-बहन त्र्यादि के साथ श्रतुचित छेड़-छाड़) पर उतारू हो जाता है, बड़ों का सम्मान नहीं करता, श्रभच्य पदार्थों को खा लेता है, मन की गुप्त बातों को श्रनायास बक देता है एवं उसकी संज्ञा नष्ट हो जाती है।

चतुर्थमदस्य लच्चण्म ।

चतुर्थे तु मदे मूढो भग्नदार्विव निष्क्रियः । कार्याकार्यविभागज्ञो मृतादण्यपरो मृतः ॥ १० ॥

को मदं तादशं गच्छेदुन्मादमित्र चापरम् ।

बहुदोषमिवामूढः कान्तारं स्ववशः कृती ॥ ११ ॥

श्रथ—मग के मद की चौथी श्रवस्था में मनुख्य सर्वथा वेहोश हो जाता है, दूटी हुई लकड़ी के समान गिर पड़ता है एवं क्रियाशून्य हो जाता है, कुछ होश में श्राने पर भी कर्त्तव्याकर्त्तव्यज्ञान से शून्य हो जाता है, श्रविक क्या मरे हुए से भी बुरी दशा को प्राप्त हो जाता है।

श्रत: कौन भला मनुष्य उन्माद जैसी नशे की इस श्रवस्था को प्राप्त करने का यत्र करेगा। जैसे कोई बुद्धिमान स्वाधीन मनुष्य बहुत से दोषों (सिंह सर्पादि जन्तुझों) से युक्त वन में कमी नहीं जा सकता।

श्रथावैधमद्यपानस्य विकारान्तरकर्तृत्वम् ।

निर्भक्तमेकान्तत एव मद्यं निषेव्यमाएां मनुजेन नित्यम् ।

त्र्रापादयेत्कष्टतमान्विकारानापादयेचापि शरीरमेदम् ॥ १२ ॥

अर्थ-बिना खाद्य पदार्थों के निरन्तर मद्य का सेवन करने से

मनुष्य सर्वदा कष्टसाध्य रोगों को प्राप्त करता है एवं अन्ततः उसका शरीर भी नष्ट हो जाता है।

कीदृशानां जनानां मद्यपानं रोगोत्पादकम् । क्रुद्धेन भोतेन पिपासितेन शोकाभितप्तेन बुग्रुक्षितेन । व्यायाम-भाराध्व-परिक्षतेन वेगावरोधाभिहतेन चापि ॥ १३ ॥ अत्यम्बुभक्षावततोद्ररेण साजीर्णभ्रुक्तेन तथाऽवलेन ।

उष्णाभितप्तेन च सेव्यमानं करोति मद्यं विविधान्विकारान् ॥१४॥ सर्वे विविधान्विकारान् ॥१४॥

श्चर्थ—क्रुपित, भयभीत, तृष्णायुक्त, शोकसन्तप्त, भृखे, व्यायाम, सार एवं मार्ग से थके हुए, वेगों के रोकने से दुखी, श्चत्यधिक खान-पान से तने हुए पेटवाले श्रोंत् श्रजीर्ण होने पर भी खानेवाले, गर्मी से पीड़ित एवं दुर्बल मनुष्य का पिया हुआ मद्य कष्ट-साध्य विकारों को उत्पन्न कर देता है।

तेषां नामतो विवरणम्।

पानात्ययं परमदं पानाजीर्र्णमथापि वा ।

पानविश्वममुग्रं च तेपां वश्यामि लक्षणम् ॥ १५ ॥

ऋर्थ—उपरोक्त कारणों से पानात्यय, परमद, पानाजीर्ण तथा भीषण पानविश्रम इस प्रकार चार रोग हो जाते हैं। उसके लच्चण कहते हैं।

वातिकमदात्ययस्य लच्चाम् ।

हिका-श्वास-शिर:कम्प-पार्श्व-श्रूल-प्रजागरै: ।

विद्याद्धहुप्रलापस्य वातप्रायं मदात्ययम् ॥१६॥ व॰ वि॰ अ॰ १२ अर्थ—हिका, श्वास, शिर का काँपना, पसलियों में पीड़ा, नींद का न आना तथा प्रलाप इन लच्चगों से युक्त वायु का मदात्यय जानना चाहिये।

पैत्तिकमदात्ययस्य लज्ञ्णम् । **तृष्णा-दाह-ज्वर-स्वेद-मोहा-**ऽतीसार-विश्रमेै: । विद्याद्धरितवर्णस्य पित्तप्रायं मदात्ययम् ॥१७॥ च॰ चि॰ अ॰ १२ अर्थ-प्यास, दाह, ज्वर, पसीना, बदहोशी, अतिसार, चक्कर और शरीर का हरापन इन छत्त्वणों से युक्त पित्त का मदात्यय होता है।

रलैष्मिकमदात्ययस्य लच्णम्।

छर्चरोचक-इछास-तन्द्रा-स्तैमित्य-गौरवैः।

विद्याच्छीतपरीतस्य कफ्रप्रायं मदात्ययम् ॥१८॥ च० च० अ० १२

श्चर्य—बमन, श्चरुचि, जी मिचलाना, उँघाई, शरीर का गीलापन, भारीपन एवं शीत से व्याप्त मनुष्य का मदात्यय कफ से होने वाला समक्तना चाहिये।

सान्निपातिकमदात्ययस्य लत्त्रणम् । ज्ञेयस्त्रिदोषजश्रापि सर्वलिङ्गेर्मदात्ययः ॥

श्चर्थ—उपरोक्त तीनों दोषों के लज्ञाणों से युक्त त्रिदोषज मदात्यय होता है।

परमद्श्य लज्ञ्णानि । श्लेष्मोच्छ्रयोऽङ्गगुरुता विरसाऽऽस्यता च विण्-मूत्र-सक्तिरथ तन्द्रिररोचकथ । लिङ्ग परस्य च मदस्य वदन्ति तज्ज्ञा-

स्तृष्णा रुजा शिरसि सन्धिषु चापि भेद: ॥१९॥ सु॰ उ० अ० ४७

अर्थ-नीचे लिखे हुए लज्ञ्णों को बुद्धिमान परमद का लज्ञ्ण मानते हैं:--कफ की बुद्धि, शरीर का भारीपन, मुंह का फीकापन, विष्ठा एवं मूत्र की रुकावट, उँघाई, अरुचि, प्यास, सिर में पीड़ा और सन्धि-यों में फटने की सी पीड़ा।

. पानाजीर्णस्य लच्चगानि ।

त्राध्मानमुग्रमथ चोद्गिरएां विदाहः

पानेऽजरां समुपगच्छिति लक्षणानि । सु॰ व॰ ४० ४० ऋर्थ-पानाजीर्ण ( मद्य का ऋपच ) के नीचे लिखे लक्षण होते हैं:--भीषणा ऋफरा, हकार, एवं दाह ।

पानविभ्रमस्य लच्चणानि । .हृद्ध-गात्र-तोद्-कफसंस्रव-कण्डधूमा, मुर्च्छा-विम-ज्वर-शिरोरुजन-प्रदाहाः ॥ २०॥

द्वेपः सरान्न-विकृतेष्वपि तेषु तेषु

तं पानविभ्रममुशन्त्यखिनेन धीराः। सु॰ ड॰ भ॰ ४७

ऋर्थ—हृदय ऋौर गात्र में व्यथा, मुख से कफ निकलना, गले से भूत्र्याँ सा निकलना, मुच्छी, वमन, ज्वर, सिर में पीड़ा, दाह एवं विविध प्रकार के मद्य तथा भद्य पदार्थों में द्वेष, इन लच्चणों से युक्त रोग को बुद्धिमान् पानविभ्रम कहते हैं।

मदात्ययस्यासाध्यलच्यानि ।

हीनोत्तरौष्ठमतिशीतममन्ददाइं तैलप्रभास्यमपि पानहतं त्यजेत् ॥२१॥ जिह्नौष्ठदन्तमसितं त्वथवाऽपि जोत्तं पीते च यस्य नयने रुधिरप्रभे वा ।

त्र्यर्थ-जिसका उत्तर का श्रोठ लटक गया हो, जो श्रत्यन्त शीत एवं दाह से पीड़ित हो, जिसके चेहरे पर तैल (वसा) के करा दिखाई पड़ते हों अथवा जीभ, ओठ एवं दाँत काले या नीले हो गये हों तथा त्राँखें पीली त्राँर लाल हो गयी हों ऐसे मतवाले मनुष्य को क्रसाध्य समभ कर त्याग देना चाहिये।

मदात्ययरोगस्योपद्रवाः ।

हिका-ज्वरो वमथु-वेपथु-पार्श्वश्यूलाः

कास-भ्रमाविप च पानहतं भजन्ते ॥ २२ ॥ सु॰ उ॰ अ॰ ४७ ऋर्थ-मद्यपान के रोगों से पीड़ित मनुष्य को हिचकी, ज्वर, वमन, कम्प, पसलियों की पीड़ा, खाँसी एवं भ्रम आ घेरते हैं।

## दाहनिदानम्।

मद्यजदाहस्य लच्चणम् । त्वचं प्राप्तः स पानोध्मा पित्त-रक्ता-ऽभिमूर्च्छितः। दाइं प्रकुरुते घोरं पित्तवत्तत्र भेषजम् ॥ १ ॥ सु॰ उ० अ० ४७ श्चर्य—मद्यपान की वही पूर्वोक्त गर्मी पित्त एवं रक्त से जब बढ़ जाती है तो त्वचा में पहुँचकर भयानक (श्चथवा साधारण) दाह को उत्पन्न कर दंती है। इसमें पित्त शान्त करनेवाली श्रीषधियों का प्रयोग किया जाता है।

रक्तजदाहस्य लज्ञाम्।
कृत्स्नदेद्यानुगं रक्तमुद्रिक्तं दहति ध्रुवम् ।
स उष्यते तृष्यते च ताम्राभस्ताम्रलोचनः॥ २ ॥
लोहगन्धाङ्गबदनो विह्ननेवावकीर्यते । स॰ उ० अ० ४०

अर्थ—सम्पूर्ण शरीर में भ्रमणशील रक्त कुपित होकर अत्यन्त दाह उत्पन्न कर देता है। रोगी टीस का अनुभव करता है। प्यास अधिक लगती है। शरीर एवं आँखों का वर्ण तांवे के समान लाल हो जाता है। तपा कर पानी में बुभाये हुए लोहे के समान शरीर एवं मुख में गन्ध ज्ञात होती है। रोगी को अपने उत्पर आग छिटी हुई मालूम होती है अर्थान् अत्यन्त दाह मालूम होता है।

पित्तजदाहस्य लज्ञ्णम्

पित्तज्वरसमः पित्तात्स चाष्यस्य विधिः स्मृतः ॥ ३ ॥ सु॰ उ० अ० ४७

त्रर्थ—पित्त के कारण जो दाह होता है उसमें पित्तज्वर के समान लत्त्रण होते हैं (किन्तु पित्तज्वर के समान श्रामाशय में कोई दोष न होने के कारण ताप कम नहीं बढ़ता ) श्रौर उसीके समान चिकित्सा भी होती है।

तृष्णानिरोधजदाहस्य लच्चग्म् ।

तृष्णा निरोधाद्व्यातौ क्षीणे तेजः सम्रुद्धतम् । स वाह्याभ्यन्तरं देहं प्रदहेन्मन्द्चेतसः॥ ४ ॥

संशुष्क-गल-ताल्वोष्ठो जिह्नां निष्कृष्य वेपते । सु॰ ड॰ अ० ४७ अर्थ—स्यास रोकने से जलधातु के घट जाने पर (शरीर में समु॰ चित द्रव की कमी होने से) पित्त बढ़कर रोगी के शरीर में बाहर मीतर

१-इस विषय में रक्त-पित्त के चौथे स्रोक की टिप्पणी देखिये।

र-बाहर भीतर श्रर्थात् त्वचा एवं हृदयादिकों में।

दाह उत्पन्न कर देता है। चेतनाशक्ति मन्द हो जाती है एवं रोगी का गला, तालु ख्रोर ख्रोठ सूखने लगते हैं। इसके छनन्तर रोगी जीभ निकाल कर कुत्ते की भांति हाँफने लगता है।

शस्त्राघातजदाहस्य लच्चग्रम्।

श्रमुज: पूर्णकोष्ठस्य दाहोऽन्य: स्यात्मुदुस्तर: ॥५॥ सु॰व॰अ०४७ श्रर्थ—रक्तवाही सिरा धमनियों के (किसी प्रकार के श्राधात श्रथवा रक्तभार के श्रधिक हो जाने के कारण) फट जाने से मध्यकाय के भीतरी श्राशयों में रक्त भर जाता है। इससे भी एक प्रकार का दाह उत्पन्न होता है जो श्रयन्त कप्रसाध्य होता है।

धातुत्त्वयजदाहस्य लत्त्रणम् ।

धातुक्षयोक्तो यो दाहस्तेन मुर्च्छातृडर्दितः।

क्षामस्वरः क्रियाहीतः स सीदेद्गभृशपीडितः ॥६॥ छु॰ड०अ०४७ श्रर्थ—रस त्रादि धातुत्रों के चयसे जो दाह उत्पन्न होता है उससे रोगी मुच्छी एवं प्यास से पीड़ित होता है श्रीर उसका स्वर चीएा हो जाता है। यदि उचित चिकित्सा न हो तो रोग बढ़ जाने के कारण रोगी मर जाता है।

मर्माभिघातजदाहस्य लच्चणम् ।

मर्गाभिघातजोऽप्यस्ति सोऽसाध्यः सप्तमो मतः।

सर्व एव च वज्याः स्युः शीतगात्रस्य देहिनः।।७।। सु॰उ॰अ॰४७ श्रर्थ—सिर, हृद्य एवं वस्ति इत्यादि महत्त्वपूर्ण मर्मस्थानों में चोट लगने से सातवाँ श्रसाध्य दाह होता हैं। यदि रोगी का शरीर एकाएक ठंढा हो जाय तो सभी प्रकार के दाह श्रसाध्य हो जाते हैं।

### उन्मादनिदानम् ।

श्रथोन्मादरोगस्य निर्वचनम् ।

मदयन्त्युद्धगता दोषा यस्मादुन्मार्गमागताः ।

मानसोऽयमतो व्याधिरुन्माद इति कीर्तित: ॥ १ ॥ सु॰व अ॰६२ अर्थ-चिरुद्ध मार्गो एवं उत्तमांग अर्थान् मस्तिष्क में गये हुए दोष मनुष्य के मन को चंचल ऋर्थात् ऋव्यवस्थित कर देते हैं । इसी कारणः मानसिक रोग उन्माद' कहा जाता है ।

श्रथोन्मादस्य प्रकाराः। एकैकशः सर्वश्रथ दोषेरत्यर्थमूर्च्छितैः। मानसेन च दुःखेन स च पञ्चिवधो मतः॥ २॥ विषाद्भवति षष्टश्रथ यथास्वं तत्र भेषजम्।

स चापट्टाइस्तरुणो पदसंज्ञां विभिर्ति च ॥ ३ ॥ छ० ०० अ०६० अर्थ-अर्थ-अर्थ-वहे हुए पृथक् पृथक् एवं परस्पर मिले हुए दोषों से तथा मानसिक क्लेश से यह उन्माद पाँच प्रकार का होता है तथा एक विष से होनेवाला छठां उन्माद भी होता है। इनकी तदनुसार ही भिन्न भिन्न चिकित्सा की जाती है। अधिक न बढ़ा हुआ यह नवीन उन्माद मद (नशा) का सा होता है।

श्रथोन्मादस्य सामान्यहेतवः । विरुद्ध–दुष्टाऽश्चचि-भोजनानि प्रधर्षणं देव-गुरु-द्विजानाम् । उन्मादहेतुर्भय-हर्ष-पृर्वो मनोऽभिघातो विषमाश्च चेष्टाः ॥ ४ ॥

श्रथं—विरुद्ध, दूषित एवं श्रपवित्र भोजन, देवश्राज्ञा, श्रपने बड़ों तथा द्विजातियों का श्रपमान करने श्रथवा उनके द्वारा श्रपमानित (शप्त) होने से एवं भय और हर्ष के कारण मन पर एकाएक श्राघात होने से (प्रभावित होने से ) और विविध प्रकार की प्रकृतिविरुद्ध चेष्टाश्रों से उन्माद हो जाता है।

अथोन्मादस्य सम्प्राप्तिः।

तैरल्पसत्वस्य मलाः पदुष्टा बुद्धेर्निवासं हृदयं पदुष्य ।

<sup>9—</sup>यह मानसिक एवं बौदिक रोग है। इससे मन एवं बुद्धि श्रव्यवस्थित हो जाती है श्रशीत मन सुवाहरूप से इन्द्रियों पर तथा श्रपने ऊपर नियन्त्रण नहीं कर सकता श्रीर बुद्धि कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय नहीं कर सकती। वस यही उन्माद है, पागलपन है, सौदाव है श्रीर है ज़नून।

# स्रोतांस्यिष्ठाय मनोवहानि प्रमोहयन्त्याशु नरस्य चेतः ॥५॥

अर्थ--उपर्युक्त कारगों से दुष्ट हुए वातादि दोष दुर्बल मानसिक शक्तिवाले मनुष्य की नुद्धि के निवास हृदय अर्थात् मस्तिष्क को दृषित कर एवं मनोवाही स्रोतों ( सुपुम्नामण्डल की नाड़ियों को जो दशों इन्द्रियों में जाती हैं ) में स्थित होकर मनुष्य के चित्त को अवव्यवस्थित कर देते हैं।

त्रथोन्मादस्य सामान्यरूपाणि । धीविभ्रमः सत्त्वपरिष्ठवश्च पर्याकुला दृष्टिरधीरता च । अबद्धवाक्त्वं हृद्यं च शून्यं सामान्यमुन्मादगदस्य लिङ्गम्॥६॥

चः चि० अ० १४

त्रर्थ-ज्ञान में भ्रान्ति । य अविश्वास, मानसिक चंचलता, दृष्टि में एक विचित्र व्यप्रता ।, त्रधेर्य (प्रत्येक कार्य में बेहद जल्दीबाजी), वेसिर पैर की बातचीत एवं मस्तिष्क का ज्ञानग्रून्य होना ये उन्माद के साधारण लच्चण हैं।

वातिकोन्मादस्य विशेषलक्तणानि । रूक्षाल्प-र्शातात्र-विवेक-धार्तुक्षयोपवासैरनिलोऽतिष्टद्धः । चिन्तादिदुष्टं हृदयं प्रदूष्य बुद्धं स्मृतिं चाप्युपहन्ति शीघ्रम्।।७।। त्र्यस्थानहास्य-स्मित-तृत्य-गीत-वागङ्गविचेषण-रोदनानि । पारुष्य-काश्यारुणवर्णताश्च जीर्णे वलं चानिलजस्य रूपम्।।८।।

१-- उन्माद का यही व्यञ्जन है।

२—इस व्यप्रता के कारण उत्पन्न हुई श्राखों की आकृति को देखकर सहज ही पहचान लिया जा सकता है कि यह उन्माद का रोगी है।

३--श्रौर पूर्वका यह है-मोहोद्वेगौ स्वनः श्रोत्रेगात्राणामपक्षणम् । श्रस्युत्स हो ऽक्षिचाने स्वप्ने कलुषमोजनम् । वायुनोन्मथनं चापि अमखकगतस्य वा । यस्य स्यादिचरेणैव उन्मादं सोऽपि गव्छति । सु० उ० श्रा० ४-६२ इसमें हस्तमैंशुन का बहुत वहा हाथ है । इस कुटेव के कारण वहुत से लोगों को उन्माद हो जाता है ।

अर्थ—ह्ने, मात्रा से न्यून एवं ठंडे भोजनों से, विरेचन वमनादि द्वारा अथवा हस्तमेशुनादि अन्य प्रकारों के द्वारा धातुन्त्य होने से तथा अनशन करने से अत्यन्त बढ़ा हुआ वायु चिन्ता शोक आदि से दृषित मन' (मस्तिष्क) को और भी दृषित कर बुद्धि एवं स्मरण शक्ति को बिगाड़ देता है इस कारण नीचे लिखे मानसिक एवं शारीरिक दृष्टि के लच्चण पाये जाते हैं:—अनवसर (वेमौके) हँसना, मुस्कराना, नाचना, गाना, बोलना, अंग पटकना एवं रोना (ये मानसिक विकृति के सूचक लच्चण हैं) और शरीर में खर्ररापन, कृशता तथा रक्तवर्णता होती है (ये शारीरिक लच्चण हैं) यह रोग भोजन पच जाने पर वढ़ता है। वह वातज उन्माद का लच्चण हैं।

पैत्तिकोन्मादस्य हेतवो लच्चणानि च । त्रजीर्णकट्वम्लिविदाह्यशीतेभोंज्येश्वितं पित्तमुदीर्णवेगम् । उन्मादमत्युग्रमनात्मकस्य हृदि स्थितं पूर्ववदाशु कुर्यात् ॥९॥ त्रमर्ष-संरम्भ-विनम्रभावाः सन्तर्जनातिद्रवर्णोज्यरोपाः । प्रच्छायशीताक्षजलाभिलापः पीता च भाः पित्तकृतस्य लिङ्गम् ॥१०॥

श्चर्य—श्चजीर्ण, कटु, श्रम्ल, विदाहकारी एवं उष्णवीर्य भोजनों से संचित एवं कुपित हुश्चा पित्त दुर्वल मनवाले मनुष्य के मस्तिष्क में स्थित होकर पूर्ववत् श्चर्यात् मनोवाही स्रोतों को दृषित एवं बुद्धि श्चौर स्पृति का उपहनन करके भीषण उन्माद को उत्पन्न कर देता है। इस पैत्तिक उन्माद के नीचे लिखे लच्चण पाये जाते हैं-चिड्चिड्मपन, प्रत्येक कार्य में श्चनु-चित शीघता, नंगे हो जाना, दूसरों को भिड़कना, श्चत्यन्त दौड़ना, शरीर में गर्मी, क्रोध, छाया एवं शीत श्चन्नपान की श्वभिलापा, मुख का पीलापन।

९—हृदय शब्द हृत्गिण्ड (रक्तसञ्चालक यन्त्र) एवं मन (इन्द्रिय सञ्चालक) का वाचक है। एक स्थूल है तो दूसरा अग्रु, एक वश्वस्थलके भीतर फुफुसों के मध्य में स्थित है तो दूसरा शिर के भीतर जहाँ भी मानसिक एवं वौदिक विषय की चर्ची हो, वहां हृदय शब्द का अर्थ मन ही करना उचित तथा युक्तिसंगत है।

श्लैष्मकोन्मादस्य हेतवो लक्ष्णान च।
सम्पूरर्णेर्मन्द्विचेष्टितस्य सोष्मा कफो मर्माण सम्प्रदृष्टः ।
बुद्धि समृति चाप्युपहृत्य चित्र प्रमोहयन्सञ्जनयेद्विकारम् ॥ ११ ॥
वाक्चेष्टितं मन्दमरोचकथ नारी-विविक्त-प्रियताऽतिनिद्रा ।
छर्दिश्य लाला च बलं च श्रङ्को नखादिशीक्ष्यं च कफात्मके स्यात्॥

अर्थ—उचित परिश्रम न करनेवाले मनुष्य की ऊष्मायुक्त कफ सम्पृर्ण स्रोतों को भर देने वाले भोजनों से अधिपति मर्म में कुपित हो जाता है। वह बुद्धि एवं स्मृति को बिगाड़ कर चित्त को मुग्ध करते हुए उन्मादरोग को उत्पन्न कर देता है। इस कफजन्य उन्माद में निम्निल-खित लच्चएा पाये जाते हैं:— बोल चाल में मन्दता, अहचि, नारी एवं एकान्तसेवन की इच्छा, अत्यन्त नींद स्त्राना, कभी कभी वमन हो जाना, लार स्त्राना, भोजन कर लेने पर रोग का बल बढ़ना एवं नख नेत्रादि में स्वेतता।

सान्निपातिकोन्मादस्य लच्चणानि ।

यः सन्निपातप्रभवोऽतिघोरः सर्वैः समस्तैः स च हेतुभिः स्यात् । सर्वाणि रूपाणि विभर्ति ताद्दग् विरुद्धभैषज्यविधिर्विवज्यः ॥१३॥

अर्थ—सान्निपातिक उन्माद अत्यन्त भीषण होता है। वह उपर्युक्त सभी कारणों से उत्पन्न होता है। अत्यव इसमें सभी दोषों के लज्जण भी पाये जाते हैं एवं यह चिकित्साविधि के विरुद्ध पड़ने के कारण असाध्य अतः त्याज्य होता है।

शोकजोन्माद्स्य सम्प्राप्तिः।

चौरै नरेन्द्रपुरुषेरिरिभस्तथान्यैर्वित्रासितस्य धन-बान्थव-संक्षयाद्वा । गाढं क्षते मनसि च प्रियया रिरंसोर्जियेत चोत्कटतमो मनसो विकारः।।

चित्रं ब्रवीति च मनोऽनुगतं विसंज्ञो गायत्ययो इसति रोदिति चापि मृदः ॥१४॥ द्व॰ व॰ व० ६२ श्रर्थ—चोर, राजकर्मचारी (प्रायः पुलिस), रात्रु एवं श्रन्थान्य डाक्नू, सिंह, सर्पादिकों से भयभीत होने से श्रथवा धन श्रीर बन्धुश्रों (पुत्र मित्रादि) का विनाश होने से, नायिका के साथ रमणा की उत्कट एवं श्रसफल अभिलाषा से, मन पर गहरी चोट पड़ने से श्रत्यन्त भयानक मानसिक विकार (उन्माद्) हो जाता है। इस से रोगी मनो-तुकूल विचित्र एवं गुप्त बातें कहता है। उसे ठीक ठीक ज्ञान नहीं होता। वह गाता है, हँसता है, रोता है श्रीराकभी-कभी मूर्चिछत भी हो जाता है।

विषजोन्मादस्य लत्तराम् ।

रक्तेक्षणो इतवलेन्द्रियभाः सुदीनः रयावाननो विषक्रतेऽथ भवेद्विसंज्ञः॥

त्रर्थ—विषजन्य उन्माद में रोगी की त्रांखें लाल, बल, इन्द्रियशक्ति एवं कान्ति का हास एवं मुंह का रंग काला हो जाता है। यह रोगी दीन त्रथवा वेहोश हो जाता है।

श्रथोन्मादस्यासाध्यलच्चणानि ।

श्रवाश्ची वाप्युदञ्जी वा क्षीण-मांस-वलो नरः।

जागरूको ह्यसन्देहसुन्मादेन विनश्यित ।। १६ ।। ख॰ उ॰ अ०३४ ऋर्थ—सदैव नीचे या सदैव ऊँचे को मुंह रखने वाला, चीएा बल ऋरीर मांस वाला तथा जिसे सर्वथा नींद नहीं स्राती, यह रोगी स्रवश्य-मेव उन्माद के कारण नष्ट हो जाता है।

भूतोनमादस्य सामान्यलज्ञानि ।

त्रपत्र्य-वाग्-विक्रम-वीर्य-चेष्टो ज्ञानादि-विज्ञान-बलादिभिर्यः।

<sup>9—</sup>इस का श्रर्थ वह नहीं समम्मना चाहिये कि रोगी तत्काल मर जाते हैं। श्रिपेतु ऐसे रोगियों को जिन्हें निद्रा नहीं श्राती प्रायः वर्षों तक जीवित देखा जाता है। वस्तुतः 'विनश्यित' का ध्रर्थ बर्योद हो जाना या जीवन की व्यर्थता समम्मना चाहिये। यथा "बुद्धिनाशात्प्रणस्यति" गीता।

२—इस उन्माद में देवादि प्रह श्रथवा उनके श्रनुवर मानवात्मा पर प्रभाव ढालकर उनको स्वानुरूप बना लेते हैं। श्रत एव श्राविष्ट रोगी तदनुकूल ही श्रावरण करने लगता है।

उन्मादकालोऽनियतश्र यस्य भूतोत्थम्रन्मादम्रुदाहरेत्तम् ॥ १७ ॥ ७० वि० अ० १४

श्रर्थ—मनुष्यों में न पाये जाने वाले वाणी, उत्साह, बल, चेष्टा, ज्ञान श्रीर विज्ञान (कला कीशलादि) से युक्त पुरुष के उन्माद को भूतजनित उन्माद कहते हैं। इस उन्माद का समय दोषज उन्मादों के समान निश्चित नहीं होता।

देवप्रहगृहीतस्य लच्चगानि ।

संतुष्टः श्चिचरतिदिव्य-माल्य-गन्धो निस्तन्द्रीरवितथ-संस्कृत-प्रभाषी । तेजस्वी स्थिरनयनो वरप्रदाता ब्रह्मण्यो भवति नरः स देवजुष्टः ॥१८॥ स॰ उ॰ स॰ ६०

श्चर्थ—जिसमें देवताओं का आवेश होता है वह रोगी सन्तोषी, पवित्र, स्वर्गीय (परमोत्तम) माला एवं गन्धों को चाहनेवाला, आल-स्यरहित, शुद्ध संस्कृत दोलनेवाला, अपूर्व कान्तिवाला, निर्निमेष आंखों-वाला, दूसरों को आशीर्वाद देने वाला और विद्वान् एवं ज्ञान से प्रेम रखने वाला होता है।

श्रमुरप्रहगृहीतस्य लच्चणम् ।

संस्वेदी द्विज-गुरू-देव-दोष-वक्ता जिह्याक्षो विगतभयो विमार्गदृष्टिः । सन्तुष्टो न भवति चान्न-षान-जातैर्दुष्टात्मा भवति स देवशत्रुजुष्टः॥१९॥

१० उ॰ अ० ६०

श्रथं—श्रमुरों द्वारा श्राविष्ट रोगी को श्रविक पसीना श्राता है। वह द्विज, गुरु एवं देवताश्रों के दोषों को कहनेवाला, देदी श्रांखवाला, निर्भय, बुरे मार्गों पर दृष्टिपात करनेवाला होता है। वह श्रविक से श्रविक खान—पान से भी दृप्त नहीं होता एवं बुरी मनोवृत्ति वाला होता है।

<sup>9—</sup>कुछ लोग 'ब्रह्मण्यः' का श्रयं जन्मना ब्राह्मणोंमें श्रमुरक्त लगते हैं। हम उनके उक्त श्रयं से सहमत नहीं है। क्योंकि जिन देशों में जन्मतः वर्णव्यवस्था नहीं है उनदेशों में इस श्रयं का कुछ मूक्य नहीं रह जायगा। इसको कदापि नहीं भूल-ना चाहिये कि-हमारा श्राप्युर्वेद सार्वदेशिक है।

### गन्धर्वप्रहगृहीतस्य लच्चराम् ।

हृष्टात्मा पुलिन-बनान्तरोपसेवी स्वाचारः प्रिय-परि-गीत-गन्ध-माल्यः । नृत्यन्वै प्रहसति चारु चाल्पशब्दं गन्धर्वे ग्रहपरिपीडितो मनुष्यः॥२०॥ स० व० ४०

श्रर्थ—गन्धर्वप्रह से पीड़ित मनुष्य प्रसन्न मनवाला, निद्यों के किनारे एवं वनों के मध्य भागों में रहने वाला, श्रच्छे श्राचार वाला, गायन, गन्ध एवं माला से प्रेम करने वाला, नाचता हुश्रा, बहुत ही मधुर थोड़ी ष्वनि के साथ ( श्रदृहास न करते हुए ) हँसता है ।

### यस्प्रहृगृहीतस्य लस्गाम्।

ताम्राक्षः त्रिय-ततु-रक्त-वस्त्रधारी गम्भीरो द्रुतगतिरल्पवाक् सहिष्णुः । तेजस्वी वदति च किं ददामि कस्मैयो यक्षग्रहपरिपीडितो मनुष्यः॥२१॥ सु॰ व॰ अ॰ ६०

श्रर्थ--जो मनुष्य लाल श्रांखोंबाला, सुन्दर पतले एवं लाल बस्नों को पसन्द करने वाला, गम्भीर स्वभाववाला, शीष्टगामी, मितभाषी, सहनशील एवं तेजस्वी होता है श्रीर प्रायः "किस को क्या दूँ" कहता रहता है, वह यस्त्रह से पीड़ित होता है ।

#### पितृप्रह्गृहीतस्य लच्चणानि ।

प्रेतानां स दि श्रति संस्तरेषु पिष्डान् शान्तात्मा जलमपि चापसव्यवस्तः । मांसेप्सुस्तिल-गुड-पायसाभिकामस्तद्भक्तो भवति पितृग्रहाभिजुष्टः॥२२॥

सु॰ उ० स० ६०

त्रार्थ—जो रोगी कुश-पत्रादिकों पर पितरों के लिये पिएड देता है, शान्त रहता है, दाहिने कन्धे पर बस्त रखकर पितरों का तर्पण करता है। मांस, तिल, गुड़ एवं खीर के सेवन की इच्छा करता है, पितरों में श्रद्धा करने वाला होता है, उसे पितृग्रहजुष्ट मानना चाहिये।

## सर्पप्रहृगृहीतस्य लज्ञ्णम् ।

यस्त्वर्या प्रसरित सर्पवत्कदाचित् स्टिकण्यौ विलिहित जिह्नया तथैव। क्रोधालुर्गुड-मधु-दुग्ध-पायसेप्सु-र्ज्ञातच्यो भवति भ्रुजङ्गमेन जुष्ट: ॥२३॥

श्चर्य-जो रोगी कभी कभी सांप के समान (छाती के बल ) पृथ्वी पर सरकता है और उसी प्रकार जीभ से सृक्तिगी (गलपण्ड या जबड़ा) को चाटता है, कोघी, गुड़, मधु, दृध, एवं खीर का इच्छुक होता है, उसे सर्पत्रहजुष्ट समभाना चाहिये।

राचसंप्रहगृहीतस्य लच्चणम्।

मासा-सृग्-विविध-सुराविकार-लिप्सुर्निर्लज्जो मृशमितिनिष्टुरोऽतिसूरः। क्रोवानुर्विपुत्तवलो निशाविहारी शौचद्दिड्भवति स राक्षसैर्पृहीतः ॥२४॥

श्चर्य—मांस, रक्त, स्रतेक प्रकार की मद्यों का इच्छुक, निर्लज्ज , क्रूर, अतिशूर, क्रोधी, बलवान, प्रायः रात में घृमने वाला एवं स्वच्छता का द्वेषी उन्माद का रोगी राचस जुष्ट माना जाता है।

पिशाच्यहगृहीतस्य लच्चणम् ।

उद्धस्तः कृश-परुषोऽचिरप्रलापी दुर्गन्यो सृशमशुचिस्तथाऽतिलोलः । वद्दाञ्ची विजन-वनस्यु-रात्रि-सेवी व्याचेष्टन्त्रमित रुट्न् पिशाचजुष्टः॥ स० उ० अं ६०

त्रर्थ—ऊपर को हाथ उठाये रहनेवाला, क्रश, खरदरी त्वचावाला, शीघ बोलनेवाला, दुर्गन्धित शरीरवाला, अत्यन्त मैला रहने वाला, अत्य-न्त लालची, बहुत खानेवाला, निर्जन वर्नो के मध्य में रहने वाला, विरुद्ध चेष्टार्ये करनेवाला एवं राते हुए बूमनेवाला रोगी पिशाचाविष्ट माना जाता है। प्रह्**गृहीतस्यासाध्यलन्नगानि** ।

स्थूलाओं द्रुतमटन: स फेनलेही निद्रालु: पतित च कम्पते च यो हि। यश्चाद्रिद्विरदनगादिविच्युतः स्यात् सोऽसाध्यो भवति तथा त्रयोदशाब्दे ।।

र्थ्य — बड़ी बड़ी त्र्यांख वाला, शीघ चलने वाला, त्र्रपने मुंह से भाग निकाल कर चाटने वाला अथवा थूक कर चाटने वाला, अधिक सोन वाला, चलते२ गिर पड़ने वाला, थर थर काँपने वाला, एवं पहाड़, हाथी तथा वृत्त आदि से गिर कर उपरोक्त ग्रहों से आविष्ट होने वाला रोगी ऋसाध्य होता है तथा तेरह वर्ष बीतने पर भी ऋसाध्य होता है।

१—दोषज उन्माद का न सोने वाता रोगी श्रसाध्य होता है।

देवादीनां महणकालाः । देवग्रहाः पौर्णमास्यामसुराः सन्ध्ययोरपि ।

गन्धर्वाः प्रायशोऽष्टम्यां यक्षाश्च प्रतिपद्यथ ॥ २७ ॥

पित्रयाः कृष्णक्षये हिंस्युः पृञ्जम्यामपि चोरगाः ।

रक्षांसि रात्रौ पैशाचाश्रतुर्दश्यां विश्वन्ति हि ॥२८॥ द्व॰व॰व॰

त्र्यं—देवप्रह प्रायः पूर्शिमा तिथि में, श्रमुर सम्ब्या के समय, गन्धर्व श्रष्टमी के दिन, यत्त्र प्रतिपदा के दिन, पितर श्रमावास्या के दिन, सर्पप्रह पश्चमी के दिन मार डालते हैं श्रथ्या श्रावेश करते हैं। रात्तस रात्रि के समय एवं पिशाच चतुर्दशी के दिन श्रावेश करते हैं।

महावेशानुपलब्धाबुदाहरखानि । दर्पणादीन् यथा छाया शोतोष्णं पाणिनो यथा । स्वर्माणं भास्करार्चिश्च यथा देहं च देहपृक् ॥ २९ ॥ विश्वन्ति च न दृश्यन्ते ग्रहास्तद्रुच्छरीरिणः ।

प्रविश्याशु श्रार्र हि पीडां कुर्वन्ति दुःसहाम्।।३०।। सु॰वःश्र॰६॰ अर्थ—जैसे दर्पण आदि में छाया (प्रतिबिन्द) एवं प्राणियों में जैसे सर्दी-गर्मी तथा सूर्यकान्त मिण में एर्य की किरणें, शरीर में जैसे आत्मा, ये सब प्रवेश करते हुए नहीं देखे जाते। उसी प्रकार शरीरधा-रियों में यह आवेश करते हुए नहीं देखे जाते। किन्तु प्रविष्ट होकर शरीर में दुस्सह पीड़ायें अर्थान् अपने २ उपर्युक्त लक्षणों को प्रकट करते हैं।

## अपस्मारिनदानम् । त्रथापस्मारस्य निरुक्तिः सम्प्राप्तिश्च । चिन्ताशोकादिभिदोषाः कृद्धा हृत्सोतसि स्थिताः ।

<sup>9—</sup>ययपि 'स्मृति' भूतार्थज्ञान या यादगार का नाम है, परन्तु यहाँ वर्तमान इन्द्रियजन्य ज्ञान का वाची समक्तना चाहिये। जिसे 'संज्ञा' कहा जाता है। अपस्मार एवं मूच्छी में श्रन्तर श्राप खोजिये। नाक पर जूता रखने से रोगी शीघ्र ही स्वस्थ हो जाता है।

कृत्वा स्मृतेरपध्वंसमपस्मारं प्रकुर्वते ॥

श्रर्थ—चिन्ता, शोक एवं मिथ्या श्राहार-विहार इत्यादि कारणों से कुषित वातादि दोप मनोवाही स्रोतों में स्थित होकर समरण शक्ति का विनाश करके श्रपस्मार या मिर्गी नामक रोग को उत्पन्न कर देते हैं।

श्रथापस्मारस्य सामान्यलज्ञराम् ।

तमःप्रवेशः संरम्भो दोषोद्रेकहतस्मृतेः ।

श्रपस्पार इति ज्ञेयो गदो घोरश्रतुर्विधः ॥ १ ॥

ऋर्य—जिस रोग में आँखों के सामने ऋन्वेरा छा जाना, नेन्न विकृति के साथ साथ हस्तपादादि श्रंगों का पटकना', नाक मुँह से झाग जाना ऋौर स्मृति का विनाश हो जाता है उसे ऋपस्मार कहते हैं। यह भीषण रोग चार प्रकार का होता है।

अथापस्मारस्य पूर्वरूपाणि ।

हुत्कम्पः श्र्न्यता स्वेदो ध्यानं मूर्च्छा प्रमूढ्ता ।

निद्रानाशश्च तस्मिश्च भविष्यति भवत्यथ ॥ २ ॥ सु० ड० ७० ६१ अर्थ-हित्पण्ड का कम्प, मानसिक शृत्यता, स्वेद, चिन्ता (सोचते रहना ), बेहोशी, बदहोशी (अर्धमृच्छी ) एवं नींद न आना ये भावी अपस्मार के पूर्वरूप हैं।

वातिकापस्मारस्य लद्मागम् ।

कम्पते पदशेइन्तान् फेनोद्दामी श्वसित्यपि ।

परुषा-ऽरुणकृष्णानि पश्येद्रृपाणि चानिलात् ॥३॥ छ॰ उ० अ० ६१

श्रर्थ—वातजन्य श्रपस्मार में रोगी श्रधिक काँपता है, दाँत लग जाते हैं, मुंह से माग जाता है, जोर जोर से या रक रक कर श्वास लेता है एवं खरदरी (भयानक) लाल तथा काली वस्तुएँ दिखाई पड़ती हैं।

१—इस चेष्टा को "किचकिचाना" श्रौर पंजाब प्रान्त में 'मही'कहा जाता है।

# पैत्तिकापस्मारस्य लच्चणम् ।

पीत-फोना-उङ्ग-वक्त्राक्षः पीता-उस्ग् रूपदर्शकः।

सतृष्णोष्णानलव्याप्तलोकदर्शी च पैत्तिक: ।।।।।। छ॰ उ॰ अ॰ ६९ अ॰ धि अर्थ—पित्तजन्य अपस्मार में भाग, शरीर, विशेषतः मुँह एवं आँखें पीली पड़ जाती हैं, सभी वस्तुएँ पीली एवं लाल दिखायी पड़ती हैं, व्यास अधिक लगती है, रोगी को सारा संसार धूप एवं आग से व्याप्त ज्ञात होता है।

श्लैष्मिकापस्मारस्य लच्चणम्।

शुक्र-फेनाङ्गवक्त्राक्षः शीत-हृष्टाङ्गजो गुरुः ।

पश्येच्छुक्कानि रूपाणि श्लैष्मिको मुच्यते चिरात।।५।। ब॰ वि॰ अ॰ १५

श्रर्थ—कफजन्य श्रपस्मार में फेन, शरीर, विशेषतः मुँह एवं श्राँसें सफेद हो जाती हैं, शरीर ठंढा श्रोर भारी हो जाता है, रोमांच हो श्राता है, रोगां को सभी वस्तुएँ सफेद दिखायी देती हैं। वेग से रोगी देरी से मुक्त होता है।

सान्निपातिकापस्मारस्य लच्चणम्।

सर्वे रेते: समस्तेश्र लिङ्गेर्शेयस्त्रदोषजः।

त्रपस्मारः स चासाध्यो यः श्लीएस्यानवश्च यः ॥ ६ ॥

त्रर्थ—उपर्युक्त सभी मिले हुए लच्चणों से युक्त त्रिदोषज श्रपस्मार होता है त्र्यौर यह त्रसाध्य भी (सचीमारक नहीं) होता है। एवं दुर्बल रोगी का पुराना त्रपस्मार भी त्रसाध्य होता है।

प्रस्फुरन्तं सुबहुज्ञः क्षीणं प्रचलितभुवम् ।

नेत्राभ्यां च विकुर्वाणमपस्मारो विनाशयेत् ॥॥ च॰ चि॰ अ॰ १९

अर्थ — बारम्बार वेग आना, अंगों में अधिक कम्पन, ज्ञीणता, मौंह का टेढ़ा हो जाना, आँखों का विकृत दिखाई पड़ना इन लच्नणों से युक्त अपस्मार रोगी को मार डालता है।

निनारायेत् का अर्थ गीता के 'बुद्धिर्प्रशाद् विनरयित' के अनुसार लगाना चाहिये।

श्रथापस्मारस्य वेगकालाः।

पक्षाद्वा द्वादशाहाद्वा मासाद्वा कुपिता मलाः ।

श्रपस्माराय कुर्वन्ति वेगं किंचिदथान्तरम् ॥ ८ ॥

श्रर्थ कुपित वातादि दोष प्रायः पन्द्रह दिन या बारह दिन श्रथवा एक मास के श्रनन्तर श्रथस्मार का देग उत्पन्न करते हैं। किन्तु उप-र्युक्त काल के भीतर या पश्चात् भी दौरे होते पाये जाते हैं।

श्रथापरमारस्य सर्वदा वेगाकरणे सोदाहरणः प्रभावः।

देवे वर्षत्यपिं यथा भूमौ वीजानि कानिचित्।

शर्दि प्रतिरोहिन्त तथा व्याधिसमुच्छ्रयः ।। १।। सु॰ उ॰ अ॰ ६१ अर्थ—वर्षाऋतु में पर्याप्त वर्षा होने पर भी पृथ्वी में पड़े हुए बहुत से बीज शरद ऋतु में जाकर अंकुरित होते हैं, बस ठीक इसी प्रकार व्याधियों के बीज शरीर में सर्वदा रहते हुए भी श्रमुकूल समय पाने पर वेग होता है।

# वातव्याधिनिदानम्।

वातव्यावेः सम्प्रातिपूर्वकं निदानम् । स्क्षशीतात्वलव्यक्वव्यवायातिप्रजागरेः । विषमादुपचाराच्य दोषास्टक्स्रव्यादिष ॥ १ ॥ लङ्क्षनप्लवनात्यव्ययायामादिविचेष्ठितैः । धातृनां संक्षयाचिन्ताशोकरोगातिकर्षणात् ॥ २ ॥ वेगसंधारणादामादिभिष्ठातादभोजनात् । मर्मावाधाद्वगोजेष्टास्वशीघयानावतंसनात ॥ ३ ॥

१—य**ह र**लोक विषमज्वर, प्रहणी, मूच्छी एवं ऋपस्मारादि सभी वेगींवाले रोगीं में स्मरण रखना चाहिये ।

२--वातजनित विविध किन्तु निश्चित रोगों को (जो कि प्रकरण में कहे जायेंगे) "वातव्याधि" कहा जाता है।

# देहे स्रोतांसि रिक्तानि पूरियत्वार्जनलो बली। करोति विविधान् व्याधीन् सर्वाङ्गैकाङ्गसंश्रयान्॥ ४॥

च• चि• अ० २

श्रर्थ—रूज्ञ, शीत, मात्रा से कम, एवं लघु श्रत्नों के सेवन; श्रांत मेथुन, श्रांत जागरण, पंचकर्मादि में उचित उपचार न करने से, दोष एवं रक्त के श्रिषक निकलने श्रथवा निकालने से, शारीरिकतथा मानसिक हानिकारक चेष्टाओं के करने से, धातुश्रों के घटने से, चिन्ता, शोक एवं रोगों द्वारा श्रत्यन्त कुर हो जाने से, मल-मृत्रादिक के वेगों के रोकने से, शरीर में श्राम दोष का संचय होने से, चोट छगने से, श्रनशन करने से, हृदयादि मर्मस्थलों पर चोट लगने से एवं हाथी, कॅट, घोड़ा श्रथवा श्रन्यान्य मोटर साइकिल इत्यादि श्रीव्रगामी यानों पर से गिरने से शरीर के श्राकाश युक्त ( खाली श्रथवा खोखले ) स्रोतों में भर कर कुपित वायु सब अंग श्रथवा किसी एक अंग में श्रनेक प्रकार के रोगों को कर देता है।

वातव्याघेः पूर्वरूपाणि ।

अञ्चलकं लक्षणं तेषां पूर्वरूपीमिति समृतम् । च० चि० अ० २८ अर्थ-सभी वातज रोगों का अपना अप्रकटित रूप ही उनका पूर्व-रूप कहा जाता है ।

वातप्रकोपेण संभवन्तो रोगाः।
त्रात्मरूपं तु यहृज्यक्तमपायो लघुता पुनः ॥ ५ ॥
संकोचः पर्वणां स्तम्भो भङ्गोऽस्थ्नां पर्वणामपि ।
रोमहर्षः प्रलापश्च पाणि—पृष्ठ—श्चिरोग्रहः ॥ ६ ॥
खाज्ज्य—पाङ्गुल्य—कुञ्जत्वं शोथोऽङ्गानामनिद्रता ।
गर्भ-शुक्र-रजो-नाशः स्पन्दनं गात्रसुप्तता ॥ ७ ॥
श्चिरो-नासा—ऽक्षि—जत्रूणां ग्रीवायाश्चापि हुण्डनम् ।
भेदस्तोदोऽर्तिराच्चेपो सुहुश्चायास एव च ॥ ८ ॥

एवं विधानि रूपाणि करोति कुपितोऽनितः । हेतु–स्थान-विशेषाच भवेद्रोगविशेषकृत् ॥ ९ ॥

श्रर्थ—जो प्रकट हो जाते हैं उन वातरोगों का श्रपना रूप होता है। वह इस प्रकार है:—रोग का सहसा नष्ट हो जाना या घट जाना, पुनः उत्पन्न होना या बढ़ जाना, संधियों का संकोच एवं जकड़ना, हिंडुयों एवं जोड़ों का ट्रटना (लटक जाना); रोमांच, प्रलाप, हाथ, पीठ एवं शिर का गतिहीन होना, छंगड़ापन, पंगुपन एवं कुबड़ापन हो जाना, अंगों की स्जन, निद्रानाश; गर्भ, शुक्र एवं रज का नाश, अंगों का फड़का। तथा सोना, सर, नाक (जैसा मृत्यु के समय), श्राँख, हसली एवं गरदन का टेढ़ापन, शरीर में फटने की पीड़ा, व्यथा, पीड़ा, रोगी को बारम्बार पटक देना एवं थकावट। यद्यपि कुपित वायु उपर्युक्त लज्ञ्याों को उत्पन्न करता है, परन्तु का एण एवं स्थान के भेद से भिन्न भिन्न रोगों को उत्पन्न करता है। जैसे कि:—

क्षेष्ठाश्रित-कुपित-वातलत्त्वणम् । तत्र कोष्ठाश्रिते दुष्टे निग्रहो मूत्र-वर्चसो: ।

ब्रध्न-हृद्रोग-गुल्मार्शः पार्श्वश्रूलं च मारुते ॥१०॥ च० वि० अ० २८ श्रर्थ—मध्यकाय का दूषित वायु मूत्र-पुरीष का निरोध, वृद्धि, हृद्रोग, वायुगोला, बवासीर एवं पार्श्वश्रूल (निमोनिया) को उत्पन्न करता है।

सर्वोङ्गकुपितवातलच्चण्म्।

सर्वाङ्गकुपिते वाते गात्र-स्कुरण-भञ्जनम्।

वेदनाभिः परीताश्च स्फुटन्तीवास्य सन्धयः ॥११॥ च० च० अ० २८ श्चर्य—सम्पूर्ण शरीर में जब वायु कुपित होता है तो निम्नलिखित लच्चण पाये जाते हैं जैसे—अंगों का (नेत्र, बाहु श्चादि) फड़कना, या दूटना, वेदनार्श्चों से पीड़ित संधियाँ जैसे टूटती सी ज्ञात होती हैं। गुद्दिश्यतवातस्य लच्चणम्।

ग्रहो विण्-मूत्र-वातानां शूला-ऽऽध्माना-ऽश्म-शर्कराः ।

जङ्घोरु-त्रिक-पात्-पृष्ठ-रोग-शोषौ गुदे स्थिते ॥१२॥ च०चि०अ०२८

त्र्यर्थ – गुद ( पकाशय ) में स्थित त्र्यपान' वायु जब कुपित होता है तो विष्ठा, मृत्र एवं त्र्यधोवायु की रुकावट, उदर में शुल एवं त्र्यफरा होता है। मृत्रसम्बन्धी स्थानों में पथरियां तथा शर्करा उत्पन्न हो जाती हैं, टांग, जांघ, पैर एवं पीठ में पीड़ा एवं उनकी शुष्कता हो जाती हैं।

श्रथामाशयगतकुपितवातलज्ञणम् ।

रुक्-पाश्वोदिर-हुन्-नामेस्तृष्णोद्दगार-विस्चिकाः।

कास: कण्डाऽऽस्यशोषश्र श्वासश्रामाशयस्थिते॥१३॥ व॰ वि॰ अ॰ ३८

श्चर्थ—श्चामाशयस्थ कुपित हुत्रा वायु फुफ्फुस, उदर, हृदय, एवं नाभि में पीड़ा, तृष्णा, उद्गार, विसूचिका, खांसी, कएठ तथा मुंह में शोष एवं श्वासरोग कर देता है।

पकाशयस्थवातस्य लत्तराम् ।

पकाशयस्थोऽन्त्रकुजं शुलाटोपौ करोति च ।

कुच्छु-मूत्र-पुरीषत्वमानाइं त्रिकवेदनाम् ॥ १४ ॥

ऋर्थ-पकोशय में कुपित हुऋा वायु ॲतिड़यों की कूजन, शूल, उदर में गुड़गुड़ शब्द, मूत्र ऋौर पुरीष का कष्टपूर्वक उतार, श्रानाह एवं त्रिक में पीड़ा कर देता हैं।

श्रोत्रादिगतवातलच्णम् ।

श्रोत्रादिष्विन्द्रियवधं क्वर्याद्भदुष्टसमीरणः। च० च० व० २८

अर्थ-कान इत्यादिक इन्द्रियों में कुपित हुआ वायु उनकी शक्ति को नष्ट कर देता है।

त्वग्गतवातस्य लत्तर्गानि ।

त्वग्रूक्षा स्फुटिता सुप्ता कृशा कृष्णा च तुद्यते ।

त्रातन्वते सरागा च सर्वरुक् त्वग्गतेऽनिले ॥१५॥७० चि० ४० २८

भ—श्रपान वायु का स्थान गुद के श्रातिरिक्त श्रोणि, वन्ति, में एवं ऊठ भी है, यही कारण है कि वन्ति श्रादि के रोग हो जाते हैं।

श्चर्य—चर्मगत वायु के कुपित होने से त्वचा रूखी हो जाती या फट जाती है, सो जाती है, पतली पड़ जाती है, काली हो जाती है, उसमें व्यथा हो जाती है, तन जाती है, कभी २ लाल भी हो जाती एवं सन्धियों में पीड़ा होती है।

रक्तगतवातस्य लच्चणानि ।

रुजस्तोत्रः ससन्तापा वैवर्ण्यं कृशताऽरु चिः ।

गात्रे चारूषि भुक्तस्य स्तम्भश्वासम्गतेऽनिले ॥१६॥

च० चि० अ० २८

श्रर्थ—रक्त' में वायु कुपित होने से भीषण एवं सन्तापयुक्त पीड़ायें, शरीर के वर्ण में परिवर्त्तन, शरीर की कुशता, श्रक्षचि, सारे शरीर पर फ़ुन्सियों का निकलना, खाये हुए श्राहार का उचित रूप से न पचना ये लच्चण होते हैं।

मांस-मेदोगतवातस्य लत्त्रणानि । गुर्वक्कं तुद्यतेऽत्यर्थं दण्डमुष्टिहतं यथा ।

सरुक् श्रमितमत्यर्थं मांस-मेदो-गतेऽनिले ॥ १७ ॥

श्चर्य—मांस तथा मेदोगत वायु के क्रुपित होने से ये लच्चण पाये जाते हैं:—शरीरका भारीपन एवं उसमें व्यथा, डरडे एवं मुक्कों से पीटे हुए के समान पीड़ा, श्रत्यन्त थकावट का श्रनुभव ।

मज्जास्थिगतवातस्य लच्चगानि ।

भेदोऽस्थिपर्वणां सन्धिशूलं मांस-बल-क्षयः।

अस्वमः संतता रक् च मज्जास्थि-कुपितेऽनिले।।१८।।च<sup>ु</sup>चि०अ०२८

ऋर्थ—मजा एवं हुड्डी में वायु कुपित होने से हिड्डियों एवं सिन्धियों में फटने की सी पीड़ा, सिन्धियों में टीस, मांस एवं बल की हानि, नींद का अभाव एवं शरीर में निरन्तर पीड़ा।

शुक्रधातुगतवातस्य लच्चणम् । क्षित्रं मुञ्जति ब्याति शुक्रं गर्भमथापि वा ।

१ -- वातरक्त का मूल कारण यही है।

विकृति जनयेच्चापि शुक्रस्थः कुपितोऽनितः ।।१८।।च०वि०व०२८ द्यर्थ—शुक्रस्थानं में स्थित वायु कुपित होकर शुक्र एवं गर्भको शीघ्र ही स्वित्तित कर देता द्राथवा देर तक रोक सकता है। द्राथवा उन में (शुक्र या गर्भ में) विकार उत्पन्न कर देता है।

सिरागतवातस्य लच्चणम्।

कुर्यात्मिरागत: शूलं सिराऽकुञ्जन-पूरेणम् । छ॰ नि॰ न॰ । अर्थ—सिरागत वायु कुपित होकर उन में शूल, संकोच एवं पूरणः (सिरात्रों का फूलना ) करता है।

स्नायुगतदातस्य लक्त्रणम्।

स बाह्याभ्यन्तरायामं खर्छी कौब्ज्यमथापि वा ।। २० ।। सर्वाङ्गैकाङ्गरोगांश्र कुर्यात्स्नायुगतोऽनिलः । च० चि० अं० २८ अर्थ—स्नायुमण्डल ( वात नाड़ी सूत्रों ) में स्थित वायु कुपित हो-कर बाह्यायाम अथवा अन्तरायाम, खङ्गी, कुबड़ापन एवं सर्वाङ्ग अथवा एकाङ्ग के रोगों को करता है ।

सन्धिगतवातस्य लच्चणम् ।

हिन्त सन्धिगतः सन्धीन् श्रूलशोफो करोति च ॥ २१ ॥ अर्थ-सन्धियों में कुपित वायु उन में श्रूल एवं सूजन कर देता है और उनके पसार्ने तथा सिकोड़ने की क्रिया को नष्ट कर देता है ।

( प्राणोदानौ समानश्च च्यानश्चापान एव च ।

स्थानस्था मस्तः पञ्च यापयन्ति शरीरिरणम् ॥)

श्रर्थ-प्राण, उदान, समान, व्यान एवं अपान नामक पांचों वायु

९—इसी कारण पुरुषों को भी शीप्र पतन (जिसके कारण वैद्य श्रिथिक पूजे जते हैं) का रोग हो जाता है । इसी शुक्र से जिमित गर्भ श्रकाल में स्वलित हो जाता है श्रीर उपविष्ठक श्रथवा नागोद्रादिके रूप में "वर्षगणरिनि स्यात" को वरितार्थ करने के लिये गर्भाशय में मौज करता रहता है । श्रूण में श्रमेक प्रकार की विक्रतियाँ भी इसी कारण पायी जाती हैं। वस्तुतः लियों के विष्वकोष एवं गर्भाशयः में भी क्रिपत होने वाला वायु यही है।

अपने अपने स्थान में स्थित होकर प्राणियों को जीवित रखते हैं। पित्त-कफावृतानां प्राणादिवायूनां लज्ञणानि। पारो पित्तावृते छुर्दिद्दिश्चेवीपजायते।

भाषा । पत्ताष्ट्रत छ।ददाहश्चवापजायत । दौर्बल्यं सदनं तन्द्रा वैरस्यं च ककाष्ट्रते ॥ २२ ॥

त्रर्थ-प्राणवायु के पित्त द्वारा रोके जाने पर वमन एवं दाह और कफ द्वारा रोके जाने पर दुर्बलता, श्रवसन्नता, तन्द्रा तथा मुंह का फीका-पन होता है।

उदाने पित्तयुक्ते तु दाहो मूर्च्छा भ्रमः क्रमः । अस्वेदहर्षो मन्दोऽग्निः शीतता च कफाष्टते ॥ २३ ॥

अर्थ-उदान वायु के पित्त द्वारा रोके जाने पर दाह, मूच्छ्री, भ्रम एवं सुस्ती अ्रोर कफ द्वारा रोके जाने पर पसीने का अभाव, रोमांच, अग्निमान्द्य एवं सर्दी होती है।

स्वेद-दाहौक्य्-मूच्छी: स्यु: समाने पित्तसंदृते। कफेन सक्ते विष्मृत्रे गात्रहर्पश्च जायते॥ २४॥

अर्थ—समान वायु के पित्त द्वारा रोके जाने पर पसीना, दाह, गर्मी का अनुभव एवं मून्की तथा कफ द्वारा रोके जाने पर विशा और मूत्र की रकावट और अंगों में भनभनाहट होती हैं।

त्रपाने पित्तयुक्ते तु दाहोज्ण्यं रक्तमूत्रता । अथःकाये गुरुत्वं च शीतता च कफाष्टते ॥ २५ ॥

श्चर्थ—श्चपान वायु के पित्त द्वारा रोके जाने पर दाह (जिसक। श्चनुभव रोगी ही करता है), श्चीष्ट्य (जिसको स्पर्श से जाना जा सकता है), मृश्न में रक्त श्चाना श्चथवा उसका लाल हो जाना श्चीर कफ द्वारा रोके जाने पर श्रधःकाय में भारीपन एवं शीतता होती है।

च्याने पित्तारते दाहो गात्रवित्तेपएां क्रम: । स्तम्भनो दण्डकथापि रु.लशोथौ कफारते ॥२६॥ ख॰ ड॰ अ॰ ६० अर्थ—च्यान वायु के कफ द्वारा रोके जाने पर दाह, अंगों को पट- कना एवं हुस्ती ऋौर कफ द्वारा रोके जाने पर अंगों का स्तन्ध होना ऋथवा सर्वथा ऋकड़ जाना, शूल एवं शोफ होता है।

श्राचेपकस्य वायोर्तज्ञाम्।

यदा तु धमनीः सर्वाः कुपितोऽभ्येति मास्तः ।

तदाऽऽक्षिपत्याशु मुहुर्मुहुर्देहं मुहुश्वरः ॥ २७ ॥

मुहुर्मुहुश्राचेपणादाचेपक इति स्मृतः । बु॰ उ॰ ध॰ ६•

अर्थ — जब कुपित वायु शरीर की सम्पूर्ण धमनियों में पहुचता है तो वह शीघगामी वायु शरीर को बारम्बार पटक देता है और बार बार पटकने के कारण ही इस रोग को आचेपक कहते हैं।

श्चथापुतन्त्रकापतानकयोर्लू ज्ञणानि ।

क्रुद्धः स्वैः कोपनैर्वायुः स्थानादूर्ध्वं प्रपद्यते ॥ २८ ॥ पीडयन् हृदयं गत्वा शिरःशङ्खो च पीडयन् ।

पाडयन् हृद्य गत्वा । सरस्यक्षा च पाडयन् ।

धनुर्वन्नमयेद्गात्राण्याक्षिपेन्मोहयेत्तदा ॥ २६ ॥

स कृच्छ्रादुच्छ्वसेचापि स्तन्धाक्षोऽथ निमीलकः।

कपोत इक कूजेच निःसंज्ञः सोऽपतन्त्रकः ॥ ३० ॥

अर्थ—वायु अपने को कुपित करने वाले आहार-विहारों से कुपित होकर अपने पकाशय नामक प्रधान स्थान से उपर की श्रोर चलता है। क्रमशः हृदय, शिर और शंख में जाकर शिर और शंख में पीड़ा करता हुआ धनुष की तरह अंगों को मुकाता है, रोगी को पटक देता है एवं बदहोश कर देता है। यह रोगी बड़ी कठिनता से श्वास लेता है, आँखें स्तब्ध होती अथवा मिच जाती हैं। गले से कपोत की कूजन सा शब्द निकलता है अथवा रोगी सर्वथा वेहोश हो जाता है, इसे "अपतन्त्रक" कहा जाता है।

दृष्टि संस्तभ्य संज्ञां च इत्वा कण्ठेन कूजित ।

९—यह रोग पुरुषों की श्रपेक्षा क्रियों को उनमें भी सीधी सादी, यहकार्य में व्यक्त एवं मेहनत मजदूरी करनेवाली क्रियों की श्रपेक्षा चुरत, चालाक, निठक्की

हृदि मुक्ते नरः स्वास्थ्यं याति मोई दृते पुनः ॥ ३१ ॥ वायुना दारुएां पाहुरेके तदपतानकम् । च० सि० ब० ६

अर्थ—रोगी की दृष्टि स्तब्ध हो जाती है, संज्ञा नष्ट हो जाती है, करठ से कबूतर का सा शब्द निकलता है। जब उसका हृदय वायु से मुक्त हो जाता है तो उसे संज्ञा या होश हो आती है तथा फिर वायु द्वारा हृदय ढक जाने से मूर्च्छा हो जाती है। इसे कुछ आचार्य वातजनित भीषण "अपतानक"। कहते हैं।

दण्डापतानकस्य लज्ञणम् । कफान्वितो भृत्रां वायुस्तास्वेव यदि तिष्ठति ॥३२॥ दण्डवत्स्तम्भयेदेहं स तु दण्डापतानकः ।

धनुस्तुत्यं नमेद्यस्त स धनुस्तम्भसंज्ञकः ॥३३॥ छ० नि० अ० १ अर्थ—उन्हीं धमनियों में यदि कफ से अत्यन्त युक्त होकर वायु रहता है तो वह शारीर को ल्एड की तरह स्तब्ध कर देता है। इसे द्रण्डापतानक कहा जाता है और यदि धनुप की तरह शारीर को नवाता है तो उस रोग को धनुस्तम्भ कहते हैं। यही निम्नप्रकार से दो प्रकार का होता है।

त्रथाभ्यन्तरबाह्यायामयोर्त्तन्त्यम् । ऋङ्गुर्ती-गुरुफ-नठर-हृद्ग्-वक्षो-गत्त-संश्रितः । स्नायुपतानमनित्तो यदाऽऽक्षिपति वेगवान् ॥३४॥

<sup>ं</sup> वेहही ) एवं रिसक स्वभाव की श्वियों को श्रिष्ठिक होता है। इसके दौरे में ४.७ मिनट से महीनों तक का श्रन्तर रहता है। रोगनाशक शक्तिसम्पन्न मन्त्रों के पाठ से तथा रोगनाशक श्रोषियों के धूमादि से रोगनिवृत्ति देखकर लोग भूतावेश का भी श्रत्ताना कर लेते हैं श्रस्तु। यूनानी चिकित्सक इसे "गर्भाशय" का रोग मानते हें श्रीर इसे "इस्तनाक उत्त रहम" श्रयीत "गर्भाशय की ऐंठन" कहते हैं। रोगी को धृश्रों सा श्रय्या गोला उठता प्रतीत होता है। जो गले में जाकर श्रय्टक जाता है रोगी प्रयक्त करने पर भी बोल नहीं सकता, इसके बाद बेहोश हो जाता है।

९-- वस्तुतः श्रापतन्त्रक का ही दूसरा नाम श्रापतानक है।

विष्टब्धाक्षः स्तब्धहतुर्भग्रपार्श्वः कफं वमन् । अभ्यन्तरं धतुरिव यदा नमित मानवम् ॥३५॥ तदाऽस्याभ्यन्तरायामं कुस्ते मास्तो वली । बाह्यस्नायुप्रतानस्यो वाह्यायामं करोति च ॥ ३६ ॥

तमसाध्यं बुधाः पाहुर्वक्षः-कट्यूरु-भञ्जनम् । स॰ नि॰ अ॰ १

अर्थ—अंगुलियों, गुल्फ ( घुट्टी या गिट्टा ), उदर, हदय, छाती एलं में आश्रित वायु जब स्तायुमण्डलको वेग ( दोरा ) के साथ आद्मित करता है ( खींचता है ) तो रोगी की आँखें स्तब्ध ( एक टक देखना ) हो जाती हैं । हतु भी स्तब्ध हो जाती हैं ( जिसके कारण बोलने एवं चबाने में किटनाई पड़ती हैं ) । पसिलयों में पीड़ा होती हैं, कक की वमन' होती हैं । इन लक्ष्णों से युक्त रोगी को जब बलवान वायु आगे की ओर धनुष की तरह नवाने का यत्न करता है तब इस रोग को 'अभ्यन्तरायाम'' कहा जाता है और जब वही वायु बाह्य स्तायुमण्डल में स्थित होकर बाहर की (पीछ की) ओर नवाने का यत्न करता है तो उस रोग को "बाह्यायाम" कहा जाता है। यदि इसमें वन्नस्थल,

<sup>9 —</sup> प्रायः कफ की वमन नहीं देखी जाती है वस्तुतः रोगी को लार जाते हुए देखा जाता है। हमारे इस विचार को चरक वाबा भी मानते हैं। स्व० चि० अ० २८

२-३—यह दोनों "धनुःस्तम्भ" के हो भेद हैं। पीठ की श्रोर को भुकात होना "बाह्यायाम" तथा वक्षकी श्रोरको भुकाव होना "श्रम्यन्तरायाम" कहलाता है। मधुकोषकार ने न जाने क्यों इन्हों में "कुन्जत्व" को घतीटने का साइस किया है। जब कि इन में महान श्रन्तर है—धनुस्तम्भ श्रागुकारी श्रौर कुन्जत्व दीर्घकालानुबन्धी। एक में श्राच्चेप, विष्टच्याक्षता स्तन्धहनुता एवं कफ का वमन श्रादि लक्षण होते हैं और दूमरे में नहीं, पिहला वेगवान श्रौर दूसरा स्थायी। एक में वेग के समय केवल भुकाव होता है तो दूसरे में सहा के लिये भुक हो जाता है। एक सहसा होता है दूसरा धीरे २। एक वेगके समय रोगो उठ भी नहीं सकता तो दूसरे में लकही के सहारे चलता फिरता है। एक स्नायुमंडल के संकोच से होता है दूसरा प्रष्टवंश की विकति से।

कमर एवं ऊरुओं में टूटने की सी पीड़ा हो तो उसे बुद्धिमान् श्रसाध्य समझ लेते हैं।

अथान्तेपकस्य लन्नागान्तरम् ।
कफापित्तान्वितो वायुर्वायुरेव च केवलः ॥ ३७ ॥
कुर्यादान्तेपकं त्वन्यं चतुर्थमभिघातजम् । छु॰ नि॰ अ॰ १
अर्थ—कफ और पित्तयुक्त वायु अथवा केवल वायु अभिघातजः
नित 'आन्तेपक' को कर देता है । एवं यह 'चौथा आन्तेपक' है (अपतन्त्रक, द्राडापतानक एवं धतुस्तम्भ ये तीन पहले ही कहे जा चुके हैं)।

त्रथासाध्यापतानकस्य लत्त्रणम् । गर्भपातर्निमत्तश्च शोणितातिस्रवाच यः ॥ ३८ ॥

अभिघातनिमित्तश्च न सिद्धचत्यपतानकः।

श्चर्थ—गर्भपात' रक्त के श्चतिस्नाव एवं चोट लगनेसे जो श्रपतानक है, उसे श्रसाध्य माना जाता है।

पत्तवधस्य लच्चणानि ।

गृहीत्वार्घ्यं तनोर्वायुः सिराः स्नायूर्विशोष्य च ॥ ३९ ॥ पक्षमन्यतरं हन्ति सन्धिबन्धान्विमोक्षयन् । कृत्स्तोर्ध्यकायस्तस्य स्यादकर्मण्यो विचेतनः ॥ ४० ॥ एकाङ्गरोगं तं केचिदन्ये पक्षवधं विदुः । सर्वाङ्गरोगस्तद्वच सर्वकायाश्रितेऽनिले ॥ ४१ ॥

अर्थ-वायु ( न्यान ) शरीर के अर्थभाग को जकड़ कर उसी भाग के सिरा एवं स्नायुमण्डल को सुखाकर तथा सन्धिबन्धनों को

९ — प्रायः देखा जाता है कि गर्भ के लाव, पात अथवा जन्म होने के पब्धात्, अपतानक (अपतान्त्रक) अच्छा हो जाता है। इससे भी प्रमाणित होता है कि गर्भपात से उत्पन्न होनेवाला अपतानक असाध्य होना हो चाहिये। क्योंकि विनाशक कारणों से उत्पन्न हुआ रोग क्यों न असाध्य होगा शिकन्तु जुड़ागा आने पर शान्त हो जाता है।
२ — इसी कारण 'सिराधमनीस्रोतसां अविभागः' के अन्नसार सिरा और धमनियों

खोलकर ( ढीला कर ) उस भाग की क्रियाशक्ति को न्यून अथवा सर्वथा नष्ट कर देता है। अतएव उस रोगी का पूरा आधा भाग क्रियाहीन एवं शून्य हो जाता है। इसे कोई एकांग रोग एवं दूसरे आचार्य पत्तवध कहते हैं (दोनों का कहना ठीक है)। इसी प्रकार सम्पूर्ण शरीर पर वायु का प्रभाव होने के कारण सर्वाङ्ग ( सर्वशरीरवध ) रोग भी हो जाता है।

दाह—सन्ताप—मूच्छा: स्युर्वायों पित्तसमन्विते । ज्ञैत्य—शोथ—गुरुत्वानि तस्मिन्नेव कफान्विते ॥ ४२ ॥ त्र्यर्थ—पित्त युक्त वायु का कोप होने से दाह, सन्ताप, मूर्च्छा तथा कफ युक्त वायु का कोप होने से शीतता, शोथ एवं भारीपन होता है । पत्ताघातस्य साध्यासाध्यत्वम् ।

शुद्धवातहतं पक्षं कृच्छ्रसाध्यतमं विदुः ।

साध्यमन्येन संयुक्तमसाध्यं क्षयहेतुकम् ॥ ४३ ॥

श्रर्थ—केवल वायु से मारा हुआ पत्त अत्यन्त कष्टसाध्य होता है। एवं दूसरे दोषों से युक्त वायु द्वारा मारा हुआ पत्त साध्य होता है। धातुओं के त्त्रय से कुपित वायु द्वारा मारा हुआ पत्त असाध्य होता है। अथादितरोगस्य लत्तराम्।

उच्चैर्व्याहरतोऽत्यर्थं खादतः कठिनानि वा । इसतो जृम्भतो वापि भाराद्विषमशायिनः ॥ ४४ ॥ शिरो-नासौष्ठ-चिबुक-ललाटेशण-सन्धिगः । ऋर्दयत्यनिलो वक्त्रमर्दितं जनयत्यतः । वक्रीभवति वक्त्रार्धं ग्रीवा चाप्यपवर्तते ॥ ४५ ॥ शिरश्रलति वाक्सङ्गो नेत्रादीनां च वैकृतम् ।

के सुखने से उस भाग को पोषण न मिलने के कारण वह सुख जाता है एवं स्नायु-मण्डल के सुख जाने से वह श्वकर्मण्य एवं शुरूय हो जाता है। सर्वाक्ररोग में भी यही वार्ते लागू होती हैं।

# ग्रीवा-चिबुक-दन्तानां तस्मिन्पार्श्वे च वेदना ॥ ४६ ॥ तमर्दितमिति प्राहुर्व्याधि व्याधिविचक्षणाः ।

श्रर्थ— ऊँचे स्वर से बोलते समय, श्रत्यन्त किन (सुपारी इत्यादि) पदार्थों को खाते समय, हँसते एवं जन्माई लेते समय, सिर पर बोम रहते समय श्रथवा विषम स्थान पर सोते समय, सिर, नाक, श्रोठ, चिबुक, मस्तक, एवं नेत्र की सन्यियों के कुपित वायु सुख (चेहरा) को पीड़ित (श्रकमंण्य) कर देता है। इसके पश्चात् ही श्रदित (लकवा) हो जाता है। इसमें श्राधा चेहरा टेढ़ा हो जाता है, गर्दन चूम जाती है, सिर में कम्प हो जाता है, बोलते में रुकावट (जिह्वा पर प्रभाव पड़ जाने के कारण्), नेत्र, नासिका इत्यादि में विकृति हो जाती है। इसको श्रार गरदन चिबुक (ठुड्डो) एवं दांतों में वेदना होती है। इसको व्याधियों के जानकार वैश्व श्रदित कहते हैं।

[ यस्याग्रजो रोमहर्षी वेपथुर्नेत्रमाविलम् ।

वायुरूध्वं त्वचि स्वापस्तोदो मन्या-हनुग्रहः ॥ ]

अर्थ—इस रोग के पूर्वरूप हैं रोमांच, कम्प, नेत्र का धूमिल होना, डकार, तत्पत्त की त्वचा का सो जाना, ठयथा, मन्या एवं हुनु का जकड़ जाना।

श्रथार्दितस्यासाध्यलच्चणम् ।

क्षीणस्यानिमिवासस्य प्रसक्ताव्यक्तभाषिणः ॥ ४७ ॥

न सिद्ध्यत्यर्दितं गाढं त्रिवर्षं वेपनस्य च । सु॰ नि॰ अ० १

अर्थ—जिसके थातु ज्ञीण हो चुके हैं, निमेषोन्मेष की शक्ति नष्ट हो गयी है, रुक कर तथा अस्पष्ट बोलता है, जिसके नेत्र, मुख और नासिका से पानी जाता है, उसका अथवा तीन वर्ष का पुराना एवं कम्प-नयुक्त अर्दित असाध्य होता है।

अथात्तेपकादिवातरोगाणां वेगित्वम् । गते वेगे भवेत् स्वास्थ्यं सर्वेष्वात्तेपकादिषु ॥४८॥ वा॰ वि॰ अ॰ ३९

१-इसके साथ चरक चिकित्सास्थान श्रध्याय २८ श्रवश्य देखिये।

त्रर्थ — आन्तेपक, ऋदित आदि रोगों का वेग समाप्त हो जाने पर रोगी स्वस्थ सा हो जाता है (फिर दौरा होता है तो श्रस्वस्थ हो जाता है )। हतुमहस्य लन्तग्राम्।

जिह्वानिर्लेखनाच्छुष्कभक्षणादभिघाततः।

कुपितो हनुमृलस्थः स्नंसियत्वार्शनलो हनुम् ॥ ४९ ॥

करोति विद्यतास्यत्वमथवा संद्यतास्यताम् ।

हनुग्रहः स तेन स्यात् कृच्छ्राचर्य । भाषराम् ।।५०।। खु वि वि वि व्यातः अर्थ — जिह्वा के दनुष्ठान अथवा जीभी द्वारा खुरचने से, सूखे पदार्थों के खाने से अथवा चोट लगने से हनुकी जड़ में रहनेवाला वायु कुपित होकर हनुओं को ढीलाकर 'हनुस्तम्भ' कर देता है। इससे या तो मुंह खुला ही रह जाता है या बन्द ही हो जाता है। इसे 'हनुम्रह' भी कहा जाता है। इससे चवाने एवं बोलने में किटनाई पड़ती है (कभी कभी यह किया सर्वथा नष्ट हो जाती है)।

मन्यास्तम्भस्य लेच्छाम् । दिवास्वप्नाऽऽसनस्थानविद्वतोध्व निरीक्षणैः ।

मन्यास्तम्भं प्रकुरते स एव श्लेष्मणाऽऽवृतः ॥५१॥ छ॰नि॰ब॰। अर्थ—दिन में सोने, विषम शया पर शयन करने ( जैसा कि कभी कभी तकिये से नीचे सिर गिर जाने से प्रातःकाल सोकर उठने पर ज्ञात होता है), मुंह खोल कर देर तक ऊपर देखने से श्लेष्मा से आवृत वायु मन्यास्तम्भ नामक रोग को उत्पन्न कर देता है।

जिह्वास्तम्भस्य लच्चण्म् ।

वाग्वाहिनो सिरा-संस्थो जिह्नां स्तम्भयतेऽनिलः ।

जिह्वास्तम्भः स तेनान्न-पान-वाक्येष्वनीशता ॥५२॥ वा॰नि॰व॰१५ अर्थ-वाग्वाही सिराञ्चों में स्थित वायु जिह्वा को स्तब्ध कर देता है। इसे 'जिह्वास्तम्भ' कहते हैं। इससे खाने, पीने एवं बोलने में असम्बंता हो जाती है।

१ —यह रोग मृत्यु के समय त्राथवा श्राह्मकाल के लिये होता है। मकरध्वज

सिराप्रहस्य लन्नग्रम्।

रक्तमाश्रित्य पवनः कुर्यान्मूर्घधराः सिराः ।

रूक्षाः सवेदनाः कृष्णाः सोऽसाध्यः स्यात्सिराग्रहः ५३ वा॰नि॰अ॰१४

श्रर्थ—वायु रक्त के त्राश्रित होकर गर्दन की सिरात्रों को रूच वेद नायुक्त एवं काली कर देता है। इसे सिरामह कहा जाता है श्रीर यह रोग श्रासाध्य हो जाता है।

गृधसीरोगस्य लच्चाम् ।

स्फिक्पूर्वा किट-पृष्ठोरु-जानु-जंघा-पृदं क्रमात् ।

गृधसी स्तम्भरुकोदेगृह्णाति स्पन्दते सुहुः ॥ ५४ ॥

वाताद्व वातकफाचन्द्रा गौरवारोचकान्विता । च० च० अ० २६

अर्थ-चूतइसे प्रारम्भ होकर क्रमशः क्रमर, पीठ, ऊरु, जानु (घुटना),
जंघा (टांग ) और पैर को वायु जकइन, पीड़ा एवं व्यथा से युक्त
कर देता है । इसे गृधसी कहा जाता है । यह दो प्रकार की होती है ।

श-वायु से एवं २-वात कफ से । १-वायु से आरम्बार कम्पन
होता है एवं २-वात कफ से तन्द्रा, भारीपन तथा अरुचि होती है ।

गृधस्या विशेषलत्त्रणानि ।

वातजायां भवेचोदो देहस्यापि प्रवक्रता ( ? )। जानु-कट्यूरु-सन्धीनां स्फुरणं स्तब्धता भृशम् ॥ ५५ ॥ वातश्लेष्मोद्भवायां तु निमित्तं विद्वमार्दवम् । तन्द्रामुखप्रसेकश्च भक्तद्वेषस्तथैव च ॥ ५६ ॥

या कस्त्री आदि के प्रयोग की आवश्यकता इसी समय होती है। वास्तव में केचारी जीभ से तीन काम निये जाते हैं यथा—१—इधर उधर ष्टुमाकर श्रन्मक्वर्ण में सहायता, २—रसप्रहण, २—बोलना।

१—इस रोग से चलने में कष्ट होता है । वर्गोकि ''कण्डरा'' के विकृत होने से प्रसारणाकुचन में कठिनाई पड़ती है।

श्रर्थ — गृधसी के निम्नलिखित लच्चा भी पाये जाते हैं: —यथा वातज गृधसी में व्यथा, सम्पूर्ण शरीर में ठंढापन, जानु, कटि एवं ऊरु की सन्धियों में स्फुरण एवं श्ररयन्त स्तब्धता होती है (जकड़ जाते हैं) वातकफ की गृधसी में मन्दाग्नि प्रधान कारण होता है और तन्द्रा, मुख से पानी जाना एवं श्ररुचि इत्यादि लच्चण होते हैं।

विश्वाचीरोगस्य लन्नग्रम् ।

तलं प्रत्यङ्गुलीनां याः कण्डरा बाहुपृष्ठतः ॥ ५७ ॥ बाह्योः कर्मक्षयकरी विश्वाची चेति सोच्यते । छ॰ नि॰ अ॰ ६

श्रर्थ—बाहु पृष्ठ से अंगुली तक गयी हुई करखरायें, जब बाहु की किया को नष्ट कर देती हैं तब उसे विश्वाची कहा जाता है।

कोष्ट्रकशीर्षस्य लच्चाम्।

वातशोि एतजः शोथो जानुमध्ये महारूजः ॥ ५८ ॥ ज्ञेयः क्रोष्टुकशीर्षस्तु स्थूलः क्रोष्टुकशीर्षवत् । खु० नि० न्न० १ चर्थ-- बुटने पर वात-रक्तज अत्यन्त पीड़ायुक्त जो शोथ हो जाता है। उसे 'क्रोष्ट्रकशीर्ष' कहा जाता है। वह स्थार के सिर के समान

मोटा हो जाता है।

खाञ्ज्य-पाङ्गुल्ययोर्लज्ञणम् ।

वायुः कटचाश्रितः सक्थनः कण्डरामाक्षिपेद्यदा ॥ ५९ ॥

खञ्जस्तदा भवेजन्तुः पङ्गुः सक्थ्नोर्द्वयोर्वधात् । द्युः नि० अ० १

श्रर्थ—कमर में रहने वाला वायु जब टांग की करखरा को खींच लेता है तो मनुष्य खंज या छंगड़ा हो जाता है। इसी प्रकार दोनों टांगों की करखरा के विकृत होने से पंगु हो जाता है। (इसमें टांगें धीरे धीरे मुख जाती हैं)।

केलायखञ्जस्य लत्तरणम् । प्रक्रामन् वेपते यस्त खञ्जनिव च गच्छति ॥ ६० ॥

१—जिस प्रकार दांग में ग्रध्नसी होती है वैसे ही बाहु में विश्वाची होती है, वस्तुतः दोनों एक ही हैं

# कलायखञ्जं तं विद्यान्मुक्तसन्धिप्रवन्धनम् ।

सु० नि० अ० १

अर्थ — जो मनुष्य पैर रखते समय कांपता है श्रीर लंगड़े के समान चतला है, उसे 'कलायखंज'' का रोगी कहते हैं। इसका कारण सन्धियों के बन्धनों की शिथिलता है।

वातकरटकरोगस्य लज्ञराम्।

रुक् पादे विषमन्यस्ते श्रमाद्वा जायते यदा ॥ ६१ ॥

वातेन गुरुफमाश्रित्य तमाहुर्वातकण्टकम् । अ॰ नि अ॰ १५

श्चर्थ—जब विषम स्थल पर पैर पड़ने से अथवा पैरसम्बन्धी परिश्रम (विशेषतः मार्गश्रम ) से वायु के कारण घुट्टियों में पीड़ा होती है तब उसे "वातकएटक" कहते हैं।

पाददाहस्य लच्चराम ।

पादयोः कुरुते दृष्टं पित्तासक्सिहतोऽनिलः ॥ ६२ ॥

विशेषतश्रङ्क्रमतः पाददाहं तमादिशेत् । सु॰ नि० अ० १

ऋर्य-प्रायः घूमते समय पित एवं रक्त युक्त वायु पैरों में जलन इत्सन्न कर देता है इसको "पाददाह" कहना चाहिये।

पादहर्षस्य लच्चराम् ।

हुष्येते चरणौ यस्य भवेतां चापि सुप्तकौ ॥ ६३ ॥

पादहर्षः स विज्ञेयः कफवातप्रकोपतः ! सु० नि० म० १

श्चर्य—जिसके चरण विह्नल ( िमनिमिनी के समान ) एवं सोये से ( स्पर्श ज्ञान से रिह्त ) हो जायँ, वायु तथा कफ के प्रकोप से उत्पन्न हुए उसके इस रोग को 'पादहर्ष' जानना चाहिये।

अंसशोषस्य लच्चणम् ।

श्रंसदेशस्थितो वायुः शोषयेदंसवन्धनम् ॥६४॥ स॰ नि॰ अ॰ १

१—थोदी दूर चलने पर ठीक हो जाता है। यह रोग सर्दियों में पशुर्की को भी हो जाता है। इसे "सरन" कहते हैं।

अर्थ-अंस प्रान्त (कन्धे ) में स्थित वायु वहाँ के बन्धन की रज्जुओं को सुखा कर 'अंसशोष' कर देता है।

**श्रवबा**हुकस्य लत्त्रग्रम् ।

सिराश्चाकुञ्च्य तत्रस्थो जनयेदववाहुकम् । सु॰ नि॰ अ॰ १ ऋर्थ—वहीं पर स्थित होकर वहीं (अंस देश) की सिरास्त्रों को सिकोड़कर "श्रवबाहक" नामक रोग उत्पन्न कर देता है ।

मुकादीनां लक्त्यानि।

त्राष्ट्रत्य वायुः सकको धमनीः शब्दवाहिनीः ॥ ६५ ॥

नरान् करोत्पिक्रियकान् मूक-मिन्मिन-गृह्गदान् । सु०नि०अ०१ अर्थ---कफ युक्त वायु शब्दवाही धमिनयों (स्रोतों) को रोक कर बोलने की भरपूर चेष्टा न करनेवाले मनुष्यों को मृक, मिनमिना कर अथवा हकला कर बोलनेवाला बना देता है।

तूनीरोगस्य लच्चणम्।

अधो या वेदना याति वर्चोमूत्राशयोत्थिता ॥ ६६ ॥

भिन्दतीव गुदोपस्थं सा तूनी नाम नामतः । छ॰ नि॰ अ॰ १

त्रर्थ-मलाराय एवं मूत्राराय से उठी हुई जो वेदना गुदा, लिंग त्रथवा योनि को भेदन करती हुई चली जाती है, उसका 'तृनी' नाम है।

प्रतित्नीरोगस्य लच्चणम् ।

गुदोपस्थोत्थिता या तु प्रतिलोमं प्रधाविता ॥ ६७ ॥

वेगै: पकाशयं याति प्रतित्तनीति सोच्यते । सु॰ नि॰ अ॰ १

ऋर्य-गुद एवं उपस्थ से उठकर जो वेदना ऊपर की (पकाशय की ) स्रोर को जाती है, उसे प्रतितूनी कहते हैं।

९—प्रायः देखा जाता है िक यदि वह सोच समभ कर धेर्यपूर्वक बोलने का कुछ अभ्यास करता है तो ये रोग अच्छे हो जाते हैं। क्योंकि बच्चे बड़े होकर अभ्यास ही के कारण बोलने लगते हैं। उक्त रोग प्रायः सदा के लिये अथवा दीर्घकाल के लिये भी होते हैं।

श्रथाध्मानरोगस्य तत्त्वर्णम् । स्ययस्यास्यात्मानम् अस्य ॥ ६८ ॥

साटोपमत्युग्ररुजमाध्मातसुद्रं भृतम् ॥ ६८ ॥

आध्मानिमिति तं विद्याद् घोरं वातिनरोधजम् । छ॰ नि॰ अ॰ १ अर्थ—गुड़गुड़ शब्द से युक्त, अत्यन्त पीड़ा से युक्त (कभी नहीं भी) पेट अत्यंत फूल जाता है, इसे 'आध्मान' कहा जाता है। कभी कभी यह घोर हो जाता है। यह अपान वायु के रुकते से होता है।

प्रत्याध्मानस्य लच्चणम् ।

विमुक्त-पार्श्व-हृद्यं तदेवामाञ्चयोत्थितम् ॥ ६६ ॥

प्रत्याध्मानं विजानीयात् कफ्रव्याकुलितानिलम् 🖯 सु० नि० अ० १

श्रर्थ—फुस्फुस एवं हृदय पर दबाव न डालते हुए यदि वही श्राध्मान केवल श्रामाशय में होता है तो उसे प्रत्याध्मान कहते हैं। यह श्रामाश्य की वायु के कफ के कारण न निकलने से होता है।

वाता शिला-प्रत्यष्टीलारोगस्य लच्चणम् ।

नाभेरधस्तात् सञ्जातः सञ्जारी यदि वाऽचलः ॥ ७० ॥

अष्ठीलावद् घनो ग्रन्थि रूध्वमायत उन्नतः।

वाताष्टीलां विजानीयाद्वबहिर्मार्गावरोधिनीम् ॥ ७१ ॥

एतामेव रुजोपेतां वात-विष्-मूत्र-रोधिनीम् ।

प्रत्यष्ठीलामिति वदेज्जठरे तिर्यगुत्थिताम् ॥७२॥ द्य॰ नि॰ अ॰ १

अर्थ--नाभि के नीचे इधर उधर हटनेवाली अथवा न हटनेवाली ढेले के समान कड़ी एक गांठ उत्पन्न हो जाती है यह गांठ उत्पर से चौड़ी अथवा उठी हुई होती है। इसे 'वाताशिला' कहा जाता है। यह मल मूत्र के मार्ग को भी अपना दबाव डालकर रोक लेती है। यिद उसमें पीड़ा हो और अधोवायु विष्ठा एवं मूत्र को रोक दे और तिरस्री उठी हुई हो तो इसे 'प्रत्यशिला'' कहा जाता है।

१ —ये दोनों श्रष्टीलायें शीघ ही मर्दनादिक से शान्त हो जाती हैं। गुल्म की भांति कष्टप्रद नहीं होतीं।

मूत्रावरोधस्य लन्नणूम्।

मारुतेऽनुगुरो बस्तौ मूत्रं सम्यक् प्रवर्तते ।

विकारा विविधाश्वात्र प्रतिलोमे भवन्ति च ॥७३॥ छु॰ नि॰ अ॰ ९ अर्थ—बस्ति में मूत्र के श्रानुलोम रहने से मूत्र ऋच्छी तरह आता ही है किंतु उसके प्रतिलोम हो जाने से मूत्र सम्बंधी मूत्रबन्ध आदि अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

वेपशुरोगस्य लच्चणम् ।

सर्वाङ्गकम्पः' शिरसो वायुर्वेपथुसंज्ञकः ।

अर्थ-सब (हस्तपादादि) अंगों का अथवा केवल सिर का कांपना 'वेपथु' या कम्प नामक रोग कहा जाता है ।

खल्लीरोगस्य लच्चणम्।

खङ्घी तु पादजङ्घोस्करमृलावमोटनी ॥ ७४ ॥

श्चर्य—पैर जांघ' (घुटने के नीचे घुट्टी तक), ऊरु (सत्थल या पट्ट) एवं मिण्डिंघ में ऐंटन पैदा करने वाले रोग को 'खल्ली' कहा जाता है।

अयोर्ध्ववातस्य लच्चग्म्।

अधः प्रतिहतो वायुः श्लेष्मणा मास्तेन वा । करोत्युद्गगारवाहुरुयमुर्ध्ववातः स उच्यते ॥ ७५ ॥

अर्थ-कफ अथवा वायु द्वारा आमाशय से ढकेला हुआ वायु बार बार उद्गार के रूप में निकलता है उसे "ऊर्ध्ववात" कहा जाता है ।

९—यह सर्वशरीर व्यापी भी होता है और एकदेशी भी। नेत्रस्फुरण एवं हृदयकम्प श्रादि इसी के श्रम्तर्गत हैं।

२—यह रोग प्रायः विसूची में हो जाता है। जो लोग ऊरु को जांघ कहते हैं वे गलती करते हैं।

२ — जिस प्रकार ध्यामाराय से उद्गार द्याता है ठीक उसी प्रकार मलाराय से अधोवायुका निःसरण होता है। यथि दोनों ही ध्यारोग्यस्चक हैं किन्तु इसका अधिक निकलना रोग माना जाता है।

त्रथानुक्तानां वातरोगायां सूचनम् । स्थाननामानुरूपेश्च लिङ्गे: शेषान्विनिर्दिशेत् । सर्वेष्वेतेषु संसर्गं पित्ताचैरुपलक्षयेत् ॥ ७६ ॥

श्रर्थ—स्थान परं नाम के श्रनुकूल लत्ताणों द्वारा वायु के श्रन्यान्य रोग भी माने जाते हैं श्रोर वायु के सभी रोगों में पित्त, कफ, रक्त एवं श्राम श्रादि के संसर्ग को खुब ध्यान से समम लेना चाहिये।

वातरोगाणां साध्यासाध्यत्वविचारः।

हनुस्तम्भादिताचेपपक्षाघातापतानकाः ।

कालेन महता वाता यत्रात्सिध्यन्ति वा न वा ॥ ७७ ॥ नरान् वलवतस्त्वेतान् साधयेन्निरुपद्रवान् ।

त्रर्थ—हनुस्तम्भ, अदित, आत्तेपक, पत्ताघात एवं अपतानक देर तक यत्नपूर्वक चिकित्सा करने से अच्छे हो सकते हैं अथवा नहीं भी। इन रोगों की तभी चिकित्सा करनी चाहिये, जब रोगी बलवान् हो एवं उपद्रवों से रहित हो।

### वातोपद्रवाः।

विसर्प-दाह-रुक्-सङ्ग-मूर्च्छारुच्याव्रमार्दवै: ॥ ७८ ॥

क्षीएा-मांस-बलं वाता ध्नन्ति पक्षवधादयः । सु॰ स्॰ अ०३४

श्रर्थ—विसर्प, दाह, पीड़ा, मलमूत्रादि का निरोध, मूच्छ्री, श्रक्षचि एवं श्रिप्रिमान्दा श्रादि से युक्त पत्ताधात श्रादि वातव्याधियाँ ऐसे रोगी को मार डालती हैं, जिसका मांस एवं बल घट गया होता है। ये व्याधियाँ या तो श्रच्छी हो जाती हैं या जीवन भर रहती हैं।

वातव्याघेरसाध्यत्वम् ।

शूनं सुप्तत्वचं भग्नं कम्पाध्मानिपीडितम् । रुजार्तिमन्तं च नरं वातव्याधिर्विनाशयेत् ॥७९॥ छ॰ छ॰ ३० इर्थ-ऐसे रोगी को वातव्याधि मार डालती है, जिसका शरीर सुज

१ — सम्पूर्ण रोगों में इन बातों का ध्यान रखना चाहिये।

गया है, त्वचा सो गयी है, संधिवंधन प्रायः टूट गया है, कम्प एवं आ-ध्मान से पीड़ित है और अनेक प्रकार की पीड़ाओं से जर्जर होगया है। प्रकृतिस्थस्य वायोर्छच्राम् ।

त्रव्याहतगतिर्यस्य स्थानस्थः प्रकृतिस्थितः ।

वायुः स्यात् सोऽधिकं जीवेद्वीतरोगः समाः शतम् ॥ ८० ॥ त्र्ययं-जिस मनुष्य के शरीर में किसी प्रकार की रुकावट के बिना वायु की गतागति होती है और वायु अपने स्थान तथा स्वभाव में स्थित है, वह मनुष्य विगतरोग होकर सौ वर्ष अथवा अपने बच्चों को सताने के लिये उससे भी ऋधिक जीता है।

वातरक्तनिदानम्।

वातरक्तस्य कारणानि ।

लवणाम्ल-कडु-क्षार-स्निग्धोष्णाजीर्ण-भोजनै: ।

क्रिन्न-शुष्काम्बुजानूप-मांस-पिण्याक-मृलकै: ॥ १ ॥

कुलत्थ-माप-निष्पावशाकादिपललेक्कभि: ।

दध्यारनात्त-सौवीर-शुक्त-तक्र-सुराऽब्सवै: ॥ २ ॥

विरुद्धाध्यशनक्रोध-दिवास्वम-प्रजागरे: ॥३॥ च० चि० अ० २६

प्रायत्रः सुकुमाराणां मिथ्याहार-विहारिणाम् ।

स्थूलानां सुखिनां चापि कुप्यते वातशोणितम् ॥४॥ सु॰ चि॰ अ॰ ४

अर्थ-नमकीन, खट्टे, कडुवे, खारे, चिकने, गर्म भोजन करने तथा भोजन के न पचने से सड़े हुए, सूखे, पानी में होनेवाले (मछली ऋादि) तथा कीचड़ में होनेवाले ( सुकरादि ) प्राणियों के मांस खाने से, खली, मृली, कुलथी, उर्द, सेम, शाक, मांस, ईख, दही, कांजी, सौवीर, सिरका, तक, मद्य एवं श्रासव, विरुद्ध (जैसे खट्टा मीठा), श्रध्यशन, क्रोध,

१-पित्त तथा कफ से संतुष्ट वायु के लक्षण तो वातव्याधिप्रकरण में कह ही चुके हैं। श्रव रक्त से वायु के लक्षण इस प्रकरण में कहे जायंगे।

दिवाशयन, जागरण ( रात में ) से प्रायः सुकुमार ( श्राजकल की बाबू पार्टी ), श्रसात्म्य श्राहार विहार करनेवाले, स्थूल एवं सुखी ( श्रालसी ) पुरुषों को 'वातरक्त' नामक रोग हो जाता है ।

वातरक्तस्य सम्प्राप्तिः। इस्त्यश्वीप्रैर्गच्छतश्राश्नतश्र विदाह्यन्नं स विदाहोऽश्चनस्य। कृत्स्नं रक्तं विदहत्याशु तच्च स्नस्तं दुष्टं पादयोश्रीयते तु॥ तत्संपृक्तं वायुना दूषितेन तत्प्रावल्यादुच्यते वातरक्तम्॥ ५॥

अर्थ—हाथी, घोड़ा एवं ऊँट की पीठ पर ( विना रकाब के पैर लटका कर ) चढ़ कर यात्रा करने वाले तथा विदाहकारी अन्नों का सेवन करनेवाले पुरुष के भोजन की गर्मी शरीर के सम्पूर्ण रक्त को गर्म कर देती हैं ( दूषित कर देती हैं ), वह दूषित रक्त सारे शरीर से आकर पैरों में इकड़ा हो जाता है। दूषित वायुसे मिला हुआ होने अथवा वायु

की प्रबलता के कारण इस रोग को 'वातरक्त' कहा जाता है । वातरक्तस्य पूर्वरूपाणि ।

स्वेदोऽत्यर्थं न वा काष्ण्यं स्पर्शाद्धत्वं क्षतेऽतिरुक् । सन्धिकौथिल्यमालस्यं सदनं पिडकोद्धगमः ॥ ६ ॥ जानुजङ्घोरकटर्चसहस्तपादाङ्गसन्धिषु । निस्तोदः स्फुरणं भेदो गुरूत्वं सुप्तिरेव च ॥ ७ ॥ कण्डः सन्धिषु रुग् भृत्वा भृत्वा नश्यित चासकृत् । वैवर्ण्यं मण्डलोत्पत्तिर्वातासक्पूर्वलक्षणम् ॥८॥ च०चि०क०२६

श्चर्थ — श्रास्तन पसीना या सर्वथा पसीना न श्राना, शरीर पर कालापन छा जाना, स्पर्श का श्रातुभव न होना, त्तत में श्रास्यन्त पीड़ा होना, सन्धियों में शिथिलता, श्रालस्य, श्रंगों का श्रवसाद, फुन्सियाँ निकलना, जानु, जंघा, ऊरु, कमर, कन्धा, हाथ, पाँव एवं सम्पूर्ण शरीर की सन्धियों में ड्यथा, फड़कन, फटने की सी पीड़ा, भारीपन, शून्यता श्रीर खुजली, सन्धियों में बारम्बार पीड़ा होकर उसका शान्त हो जाना, शरीर का रंग बदल जाना, सम्पूर्ण शरीर पर चकत्ते पड़ना ये वातरक के पूर्वरूप हैं।

वाताधिकवातरकस्य लच्चणम् । वातेऽधिकेऽधिकं तत्र श्रूल-स्फुरण-भञ्जनम् । शोथस्य रोक्ष्यं कृष्णत्वं श्यावता द्वद्धिहानयः ॥ ९ ॥ धमन्यङ्गलिसन्धीनां संकोचोऽङ्गग्रहोऽतिरुक् ।

त्रीतद्वेपानुपत्रायों स्तम्भ-वेपशु-मुप्तयः ॥१०॥ च० चि० का २९ अर्थ—वातरक्त में वायु के अधिक होने पर शूल, फड़कन, दूटने की सी पीड़ा, सुज़न में रुखापन, कालापन अथवा कुछ कालापन, शीथ का बढ़ना और घटना, धमनी, अंगुल्ली एवं सन्धियों का संकोच, अंगों की जकड़न एवं अत्यन्त पीड़ा, शीत पदार्थों में अरुचि और उनके सेवन से रोगबुद्धि, सारे शारीर में जकड़न, कम्प एवं शृन्यता अधिक होती है।

रक्ताधिकवातरक्तस्य लत्तराम् । रक्ते शोथोऽतिरुवतोदस्ताम्रक्षिमिचिमायते ।

स्निग्धस्त्रै: तमं नैति कण्डू-क्रेट-समन्वित: ॥११॥७० चिः अ० २६ ऋर्थ—रक्त के ऋधिक होने से शोथ, ऋत्यन्त पीड़ा, सुई चुभने की पीड़ा से युक्त एवं लाल हो जाता है और उसमें चुनचुनाहट होती है। स्निग्ध तथा रूच पदार्थों से ऋाराम नहीं मिलता ऋन्ततो गत्वा शोध में खुजली तथा सड़न उत्पन्न हो जाती है।

पित्ताधिकवातरक्तस्य लत्तराम् । पित्ते विदादः संमोदः स्वेदो मूर्च्छो मदस्तृषा । स्पर्शासदृत्वं स्त्रागः शोथः पाको सृशोष्मता ॥१२॥च० च० ७० २६

ऋर्थ—पित्त ऋषिक होने से ऋत्यन्त दाह, बदहोशी, पसीना, मूच्छी, मद ( जैसे किसी मादक द्रव्य का सेवन किया हो ), प्यास, थोड़ा सा भी छूने से ऋत्यन्त वेदना, शोथ में पीड़ा, लालिमा, पाक एवं ऋत्यन्त दाह होता है। कफाधिकद्वन्द्वजिदोषजानां वातरक्तानां लच्चानि । कफे स्तैमित्य-गुरुता-सुप्ति-स्निग्धत्य-शीतताः । कण्डूर्मन्दा च रुग् ,-द्वन्द्वं सर्वेलिङ्गं च संकरात ॥१३॥॥७ निःअ० १

त्रर्थ कफ की ऋधिकता से शोथ में गीलापन, भारीपन, शून्यता, चिकनाई, शीतता, खुजली एवं थोड़ी पीड़ा होती है। दो दोषों के लच्चणों के मिलने से इन्द्रज तथा सब दोषों के लच्चण मिलने से सिन्नपतज बातरक्त माना जाता है।

वातरक्तस्य प्रसारः ।

पादयोर्मृलमास्थाय कदाचिद्धस्तयोरपि ।

त्र्याखोर्विषमिव कुद्धं तदेहमुपसपैति ॥ १४ ॥ सु॰ नि॰ अ<sup>,</sup> १

ऋर्थ—यह रोग प्रारम्भ में पैरों एवं कभी कभी हाथों में उत्पन्न होकर मृसे के विष' के समानकुषित होकर सम्पूर्ण शरीर में फैल जाता है।

वातरक्तस्यासाध्यलच्चगानि ।

त्राजानु स्कृटितं यच प्रभिन्नं प्रसृतं च यत् । उपद्रवैश्व यज्जुष्टं प्राण-मांस-क्षयादिभिः ॥ १५ ॥

वातरक्तमसाध्यं स्याद्याप्यं संवत्सरोत्थितम् । सु॰ नि॰ अ० १ ऋर्थ—जिस वातरक्त में घुटनों तक फफोले फूट निकले हों, मांस की चीणता ऋादि उपद्रवों से युक्त हो, वह वातरक्त ऋसाध्य होता है ऋोर एक वर्ष का पुराना कोई भी वातरक्त याप्य होता है।

### वातरक्तस्योपद्रवाः ।

त्रस्वप्नारोचक-श्वास-मांसकोथ-शिरोग्रहाः ॥ १६ ॥ संमूर्च्छा-मद-स्क्-हृष्णा-ज्वर-मोह-प्रवेषकाः हिका-पांगुल्य-वीसर्प-पाक-तोद भ्रम-क्रमाः ॥ १७ ॥ अगुलीवकता-स्कोट-दाह-मर्मग्रहार्बुदाः ।

१-- मूसे के विष का लक्षण विष-निदान में देखिये।

एते स्पद्रवे वे जर्य मोहेने केन वाऽिष यत् ॥ १८ ॥

ऋकृत्स्नोपद्रवं याप्यं साध्यं स्याक्षिरपद्रवम् । च० चि० अ० २६

ऋयं—िनद्रा का अभाव, अरुचि, श्वास, मांस का सड़ना, सिर में दर्व, वेहोशी, मद, पीड़ा, प्यास, ज्वर, बदहोशी, कम्पन, हिचकी, पंगुपन, वोसपं, पीब पड़ना, व्यथा, चक्षर, सुस्ती, अंगुिलयों में टेड़ा-पन, फफोले निकलना, दाह, हृदय-बस्ति आदि मर्मों की किया में बाधा, एवं रसौिलयों का निकलना इन उपद्रवों से युक्त वातरक असाध्य होता है। थोड़े बहुत उपद्रवों से युक्त याप्य एवं सर्वथा उपद्रवों से रहित

साध्य होता है।
वातरक्तस्य साध्यासाध्यत्वम्।
एकदोपानुगं साध्यं नवं याप्यं द्विदोपजम्।
त्रिदोपजमसाध्यं स्याद्यस्य च स्युरुपद्रवाः ॥१९॥ च० चि० झ० २४
ऋर्थ—एक दोपज एवं नवीन वातरक्त साध्य, द्विदोपज याप्य तथा त्रिदोपज अथवा उपद्रवों से युक्त वातरक्तं,श्रसाध्य होता है।

# जरुत्तम्भिनिदानम् ।' श्रामवातस्य निदानपूर्विका सम्प्राप्तिः । श्रीतोष्ण-द्रव-संशुष्क-गुरु-िस्नियेनिषेवितैः । जीर्णाजीर्णे तथाऽऽयास-संक्षोभ-स्वम-जागरैः ॥ १ ॥ सम्लेष्म-मेदः-पवनः साममत्यर्थसिश्चतम् । श्रिभिभूयेतरं दोषमूरू चेत्प्रतिपद्यते ॥ २ ॥ सक्थ्यिस्थिनी प्रपूर्यान्तः श्लेष्मणा स्तिमितेन च । तदा स्तभ्नाति तेनोरू स्तव्यौ शीतावचेतनौ ॥ ३ ॥

९—इस रोग में कफ, मेदा तथा आम को साथ लिये नायु कुपित होता है। इस रोग का प्रभाव अधिकतर ऊरझों पर पहता है। अतएव इसे "ऊरस्तस्म" कहा जाता है:

परकीयाविव गुरू स्यातामितभृशव्यथौ । ध्यानाङ्गमर्द-स्तैमित्य-तन्द्रा-च्छर्यरुचि-जवरैः ॥ ४ ॥ संयुक्तौ पादसदन-क्रच्छोद्धरण-सुप्तिभिः । तमृरुस्तम्भमिन्याहुराट्यवातमथापरे ॥ ५ ॥

श्रथं—शीत, गर्म, पतले, स्ले, मारी एवं चिकने पराथों के सेवन से, भूले या भरे पेट परिश्रम करना, दौड़ना, सोना तथा जागना श्रादि कारणों से खेलमा, मेदा श्रीर वायु से युक्त अत्यन्त संचित श्राम पित्र को घटा कर अधोगामिनी सिराशों द्वारा यदि उरश्रों में श्रा जाता है तो मन्द गित कफ से टांग की श्रास्थियों को भीतर से भर देता है जिससे उरु जकड़ जाते हैं। वे ठंढे, चेतनारहित, दूसरे के उधार लिये हुए के समान तथा श्रत्यन्त पीं तहीते हैं। रोगी ध्यान लगाये बैठा रहता है। वह अंगों की पीड़ा, तन्द्रा, छदि, श्रक्ति एवं ज्वर से युक्त रहता है। दोनों पैर श्रद्धा त्रता से युक्त, उठाने में कष्ट देनेवाल एवं स्पर्शज्ञान से रहित हो जाते हैं। इस रोग को 'उरुस्तम्भ' तथा कुछ लोग 'श्राह्यन्वात' कहते हैं।

त्र्रथोरुस्तम्भस्य पूर्वरूपाणि ।

प्राग्रुपं तस्य निद्राऽतिध्यानं स्तिमितता ज्वरः ।

रोमहर्षोऽक्विश् इर्दि जैघोवों: सदनं तथा ॥ ६ ॥ च० चि० म० २७

ऋर्थ—उसके पूर्वरूप ये हैं:—नींद, ऋत्यन्त चिन्ता, शरीर का गीलापन, ज्वर, रोमांच, ऋरुचि, छर्दि एवं जांघों तथा ऊरुओं में ऋवसम्रता।

श्रथोरुस्तम्भस्य लज्ञणानि । वातशङ्किभिरज्ञानात्तस्य । स्यात्स्नेहनात्पुनः । पादयोः सदनं सुप्तिः कुच्छादुद्धर्गं तथा ॥ ७ ॥

९—वातव्याधि समक्त कर स्नेहनिकया करने से कफ, मेदा एवं आम और भी अधिक बढ जाते हैं। फल होता है रोगबृद्धि।

जङ्घोरुग्लानिरत्यर्थं शश्वचादाहवेदने । पादं च व्यथते न्यस्तं शोतस्पर्शं न वेत्ति च ॥ ८ ॥ संस्थाने पीडने गत्यां चालने चाप्यनीश्वरः ।

त्र्यन्यस्येव हि सम्भग्नावृरू पादौ च मन्यते ॥९॥ च॰चि॰अ**॰२८** 

श्रर्थ—उरुस्तम्भ में वायु के कुछ तत्त्वणों के मिलने से मूर्खता के कारण वातजन्य रोग की शंका करनेवाले वैद्यों द्वारा स्नेहन करने से पुन: पैरों में सुषुित तथा उठाने में कष्ट होता है। जङ्का एवं उरु में श्रत्यन्त पीड़ा, थोड़ी दाह और वेदना होती हैं। पैर टिका कर रखने से व्यथित होते हैं, वे शीत होते हैं, उन्हें स्पर्श का ज्ञान नहीं होता। खड़े होने में, हाथ से दबाने में पीड़ा होती है और चलने में तथा पैरों को इधर-उधर करने में रोगी श्रसमर्थ होता है। रोगी श्रपने ही पैरों तथा उरुवों को दूसरे का दृटा हुआ समभता है।

श्रथोरुस्तम्भस्यासाध्यलच्चणानि ।

यदा दाहार्तितोदार्ती वेपनः पुरुषो भवेत !

उरुस्तम्भस्तदा हन्यात्साघयेदन्यथा नवम् ॥ १०॥ च० च छ० २० छर्थ—जब रोगी दाह, पीड़ा एवं सुई के चुभने की पीड़ा से युक्त होता है तथा काँपने लगता है; तब उरुस्तम्भ उसे मार डालता है। नहीं तो इन लच्छों से रहित एवं नवीन उरुस्तम्भ की चिकित्सा करनी चाहिए।

## आमवातनिदानम्।'

त्रामवातस्य निदानपूर्विका सम्प्राप्तिः।

विरुद्धाहारचेष्टस्य मन्दाग्नेर्निश्चलस्य च । स्निग्धं भ्रुक्तवतो स्रन्नं च्यायामं कुर्वतस्तथा ॥ १ ॥

<sup>9—</sup>इस निदान में "यत्रस्थमामं" श्लोक का ही विस्तृत व्याख्यान है । आम का कफ के स्थानों (आमाशय आदि) पर समान गुण होने के कारण अधिक प्रभाव पड़ता है।

वायुना पेरितो ह्यामः श्लेष्मस्थानं प्रधानति । तेनात्यर्थं विद्ग्धोऽसौ धमनीः प्रतिपद्यते ॥ २ ॥ वात-पित्त-कफैंभूयो दूषितः सोऽन्नजो रसः । स्रोतांस्यभिष्यन्द्यित नानावर्णोऽतिपिच्छितः ॥ ३ ॥ जनयत्यायु दौर्वस्यं गौरवं हृदयस्य च । व्याधीनामाश्रयो होष श्रामसंज्ञोऽतिदारुणः ॥ ४ ॥

श्रथं—विरुद्ध श्राहार-विहार करने से, श्रीन मन्द हो जाने से, पिरिश्रम न करने से, चिकने श्रन्नों को खाने से श्रथवा बहुत श्रिषक व्यायाम करने से वायु द्वारा प्रेरित किया हुआ श्राम श्लेष्मा के स्थान हृदय में चला जाता है । वहाँ अत्यन्त विकृत होकर महाधमनी में चढ़ कर सम्पूर्ण शरीर में फैल जाता है श्रथवा वात, पित्त, कफ द्वारा श्रत्यन्त द्वित वही श्रन्न का श्राम रस श्रनेक वर्ण का तथा लसीका होकर स्रोतों द्वारा निकल्ता 'है । यह शीघ ही दुर्वलता उत्पन्न कर देता है श्रीर हृदय में भारीपन कर देता है । यह शामसंज्ञक दोष बहुत (विसूची श्रलसकाहि) से रोगों को उत्पन्न कर देता है। एवं श्रत्यन्त भयानक होता है।

श्रथामवातस्य पूर्वरूपाणि । युगपत् कुपितावन्तस्त्रिकसन्धिप्रवेशकौ । स्तब्धं च कुरुतो गात्रमामवातः स उच्यते ॥ ५ ॥

ऋर्थ—यदि आरम और वात साथ साथ कुपित होकर कमर एवं संधियों में 'प्रविष्ट होकर उन्हें स्तब्ध कर देते हैं तो इस रोग को "आमवात" कहा जाता है।

<sup>9—(9)</sup> त्रामाशय से मुख तथा गुदमार्ग द्वारा, (२) शिर से नाक त्रादि द्वारा, (३) कण्ठया फुप्फुस से कासादि द्वारा निकलता देखा जा सकता है किन्तु जो दृदय में जाता है वह थमनियों द्वारा शरीर में घूमते र सन्धियों में विशक जाता है। बस यही "गठिया" का हेत्र बन जाता है।

श्रथामवातस्य सामान्यल्ल्यानि । त्रङ्गमर्दोऽरुचिस्तृष्णा त्रालस्यं गौरवं ज्वरः । त्रपाकः सूनताऽङ्गानामामवातस्य लक्षणम् ॥ ६ ॥

श्चर्य-श्चामवातका सामान्य लत्त्त्त्त्या इस प्रकार है: अंगों में मर्दन की सी पीड़ा, श्चरुचि, प्यास, श्चालस्य, शरीर में भारीपन, कभी कभी ज्वर, श्चन्न का न पचना तथा श्चंगों का सूज जाना।

श्रथातिवृद्धिं गतस्यामवातस्य लज्ञ्णानि ।
स कष्टः सर्वरोगाणां यदा प्रकुपितो भवेत् ।
हस्त-पाद-श्विरो-गुल्फ-त्रिक-जानुरु-सन्धिषु ॥ ७ ॥
करोति सरुनं शोथं यत्र दोषः प्रपद्यते ।
स देशो रुनतेऽत्पर्थं न्याविद्ध इव दृक्षिकः ॥ ८ ॥
जनयेत् सोऽग्निदौर्बन्यं प्रसेकारुचिगौरवम् ।
जत्साहहानि वैरस्यं दाहं च बहुमूत्रताम् ॥ ९ ॥
कुक्षौ कठिनतां ग्रुलं तथा निद्राविपर्ययम् ।
तट्-छर्दि-श्रम-सूच्छांश्र हृद्दग्रहं विड्विबद्धताम् ॥
जाड्यान्त्रकुजमानाहं कष्टांश्रान्यानुपद्रवान् ॥ १० ॥

श्रथं—यह श्रामवात जब कुपित हो जाता है, तब सब रोगों से श्रिषक कष्ट देता है श्रोर हाथ, पाँव, सिर, घुट्टी (गिट्टा), कमर, जानु एवं शरीर की सिन्धयों में पीड़ायुक्त शोध कर देता है। श्रोर जहाँ ही दोष पहुंचता है वहीं बिच्छू के काटने की सी श्रत्यन्त पीड़ा (टीस सी) होती है। श्रोर श्राप्त की मन्दता, मुँह से पानी जाना, शरीर का मारीपन, श्रातस्य, मुँह की विरसता, दाह, बहुमूत्रता, पेट में कड़ापन, श्रुल, उचित समय पर नींद न श्राना, प्यास, वमन, चक्कर, मूच्छी, हृदय की किया में रुकावट, कब्ज, श्रंगों की जड़ता, श्रॅतड़ियों की गित में

९--बस यही "गठिया" है।

रुकावट आदि अन्यान्य भी कष्टप्रद खङ्की आदि उपद्रवों ' को कर देता है । पित्तादियुक्तस्य विशेषलक्ताणानि ।

पित्तात् सदाहरागं च सश्चलं पवनानुगम् । स्तिमितं गुरुकण्डं च कफदुष्टं तमादिशेत् ॥ ११ ॥

श्रर्थ—उपर्युक्त श्रामवात में यदि पित्त की कुछ श्रधिकता होती है तो उपर्युक्त लच्चणों के साथ साथ दाह एवं लालिमा, वायु की श्रधिकता से शूल, कफ की श्रधिकता से भीगापन, भारीपन एवं खुजली विशेष-रूप से हो जाते हैं।

. ऋथास्य साध्यासाध्यत्वादिविचारः ।

एकदोषानुगः साध्यो द्विदोषो याप्य उच्यते ।

सर्वदेहचरः शोथः स कृच्छुः सान्त्रिपातिकः ॥ १२ ॥

त्रर्थ—एकदोष प्रधान श्रामवात साध्य, द्विदोषप्रधान याप्य एवं त्रिदोषज सर्वशरीरगामी शोथवाला त्र्यामवात कुच्छुसाध्य होता है ।

### शूल, परिणामशुल तथा अन्नद्रवशुल निदानम् । । शुलरोगस्योत्पत्तिकमः ।

दोषैः पृथक् समस्तामद्दन्द्रैः श्र्लोऽष्ट्रधा भवेत् ।

सर्वेष्वेतेषु श्रुलेषु प्रायेण पवनः प्रभुः ॥ १ ॥

श्रर्थ—यद्यपि वात, पित्त, कफ, सन्निपात, श्राम, एवं दो दो दोषों से शूल श्राठ प्रकार का होता है, परन्तु सभी शूलों में प्रायः बायु ही बलवान् होता है।

<sup>9 —</sup> यही कफ के भिन्न २ के प्रभावित होने के लक्षण हैं, भला दूँ दिये, तो कैसे।

२—यह कोष्ट में होनेवाला वह रोग है जिसको साधारणतया "पेट दुखना" कहा जाता है। तथापि यह कोष्ट के भिन्न २ स्थानों में होता है ग्रातः इसके स्थानानुरूप नाम भी भिन्न २ होते हैं ग्रौर चिकित्सा भी भिन्न २। ग्राप बतलाइये कि कोष्ट में कौन २ श्रवयव हैं। हाँ उन उन अवयवों में होनेवाला स्वतन्त्र श्रुल "ग्रुलरोग" ( लक्य ) कहलाता है ग्रौर भिन्न २ रोगों में होनेवाला परतन्त्र श्रुल लक्षण ।

# वातशूलस्य निदानानि ।

व्यायामयानादितमैथुनाच्च प्रजागराच्छीतजलातिपानात् ।
कलाय-मुद्रगाढिक-कोरद्वादत्यर्थरूक्षाध्यश्चनाभिषातात् ॥ २ ॥
कषाय-तिक्तातिविंद्धजान्न-विरुद्ध-वळ्ळूरक-मुश्रक्षशाकात् ।
विट्-शुक्र-मृत्रानिल-वेगरोधाच्छोकोपवासादितद्दास्यभाष्यात् ॥३॥
वायुः पद्यद्धो जनयेद्धि सूलं दृत्-पार्श्व-पृष्ठ-त्रिक-वस्ति-देशे ।
जीर्णे पदोषे च घनागमे च शीते च कोपं समुपैति गाढम् ॥४॥
मुद्दुर्मुद्दुश्रोपश्चमप्रकोपी विद्-वात-संस्तम्भन-तोदमेदैः ।
संस्वेदना-भ्यञ्जन-मर्दनाधैः स्निग्धोष्णभोजयेश्च शमं प्रयाति ॥५॥

अर्थ—ज्यायाम, उ.बड़ खाबड़ रास्ते पर हिचकोलेदार सवारी पर यात्रा, श्रांतमेंथुन, अत्यन्त जागरण, ठंढे पानी का श्रांघिक ज्यवहार, मटर, मूंग, श्रारहर, कोदो एवं श्रात्मत रूखे पदार्थों का सेवन, श्रध्यशान, चोट, कसेले, कडुवे अंकुरित श्रान्त, विरुद्ध पदार्थे, सूखा मांस, सूखे शाक, विष्ठा, शुक्र, मृत्र एवं वायु का वेग रोकना, शोक, उपवास, श्रात्मन्त हँसना एवं बोलना इन कारणों से बढ़ा हुआ वायु हृदय, पसिलयाँ, पीठ, कमर, एवं विस्त में शुल उत्पन्न कर देता है। यह शुल श्रान्त पचने पर सायंकाल, बादल रहने पर, एवं शीतकाल में विशेष रूप से होता श्रायवा बढ़ता है। इसके निम्न लत्ताण हैं:—बारम्बार शान्त होना श्रीर कुपित होना, विष्ठातथा वायु का रकना, सूई के चुभने एवं फटने की सी पीड़ा। इसका उपशय निम्न हैं:—

स्वेद, मालिश ऋौर मर्दन करने से तथा स्निग्ध ऋौर उष्ण भोजनों के सेवन से शान्त होता है ।

९—भींगे अथवा शीलदार स्थान में रखने के कारण चने आदि धान्यों में अंकुर निकल आता है। इस अंकुरित धान्य को "विरूद" या "घुषुरी" या वरुद ( पञाब में ) कहा जाता है।

पैत्तिकश्लस्य निदानानि ।
क्षारातितीक्ष्णोष्ण-विदाहि-तैल-निष्पाव-पिण्याक-कुलत्थ-यृषैः ।
कट्वम्ल-सौवीर-सुराविकारैः क्रोधानलाऽऽयास-रिवप्रतापैः ॥६॥
ग्राम्यातियोगादशनैर्विदग्धैः पित्तं प्रकुप्याशु करोति श्रूलम् ।
तृण्-मोह-दाहाऽऽर्ति-करं हि नाभ्यां संस्वेद-मूच्छी-भ्रम-चोष-युक्तम्॥
मध्यन्दिने कुप्यति चार्थरात्रे विदाहकाले जलदात्यये च ।
शीते च शीतैः समुपैति शान्ति सुस्वादुशीतैरपि भोजनेश्च ॥ ८ ॥

श्रर्थ—खारे, तीखे, उच्या एवं विदाहकारी भोजनों से, तैल, सेम, खली एवं कुलथी की दाल खाने से, कड़वे, खट्टे पदार्थी के सेवन से, कांजी एवं श्रनेक प्रकार के मद्य का पान करने से, क्रोध करने से, श्रिम कांजी एवं श्रनेक प्रकार के मद्य का पान करने से, श्रिम करने से, श्रिम करने से, पाचक पित्त की विकृति के कारण श्रन्न का उचित पाक न होने से, पित्त कुपित होकर शीव ही श्रुल उत्पन्न कर देता है। यह श्रुल नामि में होता है श्रीर इस के लत्त्रण ये हैं:— प्यास, बदहोशी, पीड़ा, पसीना, मुर्च्का, चक्कर एवं टीस।

यह शूल मध्याह, श्राधी रात, भोजन की पच्यमानावस्था एवं शरद ऋतु में विशेष रूप से उत्पन्न होता या बढ़ता है। श्रौर शीतकाल में शीत पदार्थों के सेवन से, स्वादिष्ठ तथा शीत वीर्य भोजनों से शान्त हो जाता है।

> श्लैष्मकश्र्लस्य निदानानि । त्र्यानुप-वारिज-किलाट-पयोविकार-मांसेज्ज-पिष्ट-कृशरा-तिल-शष्कुलीभिः । त्र्यन्येर्वलासजनकैरपि हेतुभिश्च श्लेष्मा प्रकोपग्रुपगम्य करोति श्रुलम् ॥ ९ ॥ हृद्धास-कास-सदनाश्चि-संप्रसेके-रामाश्चये स्तिमितकोष्ठ-शिरोगुरूवैः ।

भ्रक्ते सदैव हि रुजं कुरुतेऽतिमात्रं सूर्योदयेऽथ शिशिरे कुसुमागमे च ॥ १० ॥

श्चर्थ—कीचड़ में रहने एवं जल में रहने वाले प्राणियों के मांस, छेना, दूध से निर्मित वस्तुयें (खोया, खीर श्चादि), मांस, ईख, पीठी के पदार्थ, खिचड़ी, तिल, कचौड़ी तथा श्चन्यान्य कफकारक कारणों से रलेष्मा कुपित होकर शूल कर देता है। इस के निम्न लज्जण हैं:—

जी मिचलाना, खांसी, ग्लानि, ऋरुचि, मुँह से पानी जाना, गीला-पन, कोष्ठ एवं सिर में भारीपन । यह शूल आमाशय में होता है । भोजन करने पर श्रथवा सदैव प्रातःकाल श्रौर शीतकाल तथा वसन्त ऋतु में उत्पन्न होता श्रथवा बढ़ता है ।

सान्निपातिकश्लस्य लत्त्रणानि ।

सर्वेषु दोषेषु च सर्वलिङ्गं विद्याद्भिपक् सर्वभवं हि सूलम् । सुकष्टमेनं विष-वज्ज-कर्लं विवर्जनीयं प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ॥ ११ ॥

अर्थ—सभी दोषों के कुपित होने पर सभी लच्चणों से युक्त शूल को वैद्य "सान्तिपातिक शूल" समझे । इस अत्यन्त कष्टप्रद एवं विष तथा वुज के समान शूल को विद्वान असाध्य होने के कारण त्याज्य कहते हैं।

श्रयामश्रूलस्य लत्त्रगानि ।

त्राटोप-हृद्धास-वमी-गुरूत्व-स्तैमित्यकाऽऽनाह-कफपसेकै: ।

कफस्य लिङ्गेन समानिलङ्गमामोद्भवं शृलग्रुदाहरन्ति ॥१२॥

प्रथ—गुडगुड़ शब्द, जी मिचलाना, वमन, भारीपन, जड़ता,
श्रानाह, कफ निकलना, इन एवं उपर्युक्त कफज शूल के लच्चणों से युक्त
शुल को 'श्रामशूल' कहा जाता है ।

त्रिदोषोत्पन्नशूलस्य लक्त्यानि।
वस्तौ हृत्-पाश्व-पृष्ठेषु स शूलः कफवातिकः।
कुशौ हृन्-नाभि-मध्येषु स शूलः कफपैक्तिः॥ १३॥
दाह-ज्वर-करो घोरो विद्वेयो वातपैत्तिकः।

श्रर्थ—बस्ति, हृदय, पसली तथा पीठ में होनेबाला शूल कफवातज, कुन्ति (श्रामाराय), हृदय, नाभि में होनेबाला शूल कफपैत्तिक एवं उपर्युक्त स्थानों में ही होनेबाला श्रौर दाह तथा ज्वर करनेबाला घोर शूल बातिपत्तज जानना चाहिये।

शूलरोगस्य साध्यासाध्यत्वम् । एकदोषोत्थितः साध्यः ऋच्छ्रसाध्यो द्विदोषजः ॥ १४ ॥ सर्वदोषोत्थितो घोरस्त्वसाध्यो भूर्युपद्रवः ।

अर्थ-एकदोषज शूल साध्य, द्विदोषज कृच्छसाध्य एवं त्रिदोषज और अनेक उपद्रवों से युक्त तथा भयानक शूल असाध्य होता है।

वक्तव्य-जूल के उपद्रव यह हैं-

वेदना च तृषा मृच्र्छा ह्यानाहो गौरवाऽरुची । कासः श्वासश्च हिवकः च, श्रूलस्योपद्रवाः स्मृताः ॥

कासः रवासश्च हिक्कः च, शूलस्यापद्रचाः स्पृताः ॥ अर्थ-कम से कम इस श्लोक का अर्थ तो आप ही लगाइये ।

परिखामश्रूलस्य सम्प्राप्तिः।

स्वैर्निदानै: प्रकृषितो वायुः संनिहितस्तदा ॥ १५ ॥ कफाषित्ते समादृत्य शूलकारी भवेद्व वली । भुक्ते जोर्यात यच्छूलं तदेव परिणामजम् ॥ १६ ॥ तस्य लक्षणमप्येतत् समासेनाभिधीयते ।

श्रर्थ—श्रपने कारणों से कुपित वायु कफिपत्त के घटने से श्रीर भी बलवान होकर शुल उत्पन्न कर देता है। यह शुल भोजन पचते समय'होता है। इसी लिये इसका नाम "परिणामशूल" है। इसका संचिप्त लच्चण निम्न है:—

वातिकपरियामग्र्लस्य लच्चणम् । त्र्याध्मानाटोप-विग्-मूत्र-विवन्धारति-वेपने: ॥ १७ ॥ स्निग्धोष्णोपश्चमपायं वातिकं तद्व वदेद्व भिषक् ।

१—भोजन करने पर एवं पचने पर यह शांत हो जाता है।

तृष्णा-दाहारति-स्वेदं कट्वम्ल-लवणोत्तरम् ॥ १८ ॥ शूलं शोतशमपायं पैत्तिकं लक्षयेद्र बुधः । छर्दि-हळ्ळास-संमोह-स्वल्पस्म् दीर्घसन्तति ॥ १९ ॥ कटु-तिक्तोपशान्तं च तच्च क्षेयं कफात्मकम् ।

श्रर्थ—श्रफरा, गुड़गुड़ाहट, विष्ठा तथा मृत्र की रुकावट, वेचैनी एवं कम्पन से युक्त तथा स्निग्ध श्रौर उष्ण पदार्थों के सेवन से शान्त होनेवाला शूल वातज परिणामशूल होता है।

तृष्णा, दाह, बेचैनी, स्वेद से युक्त, कडुए, खट्टे तथा नमकीन पदार्थों से बढ़नेवाला श्रौर शीतोपचार से शान्त होनेवाला श्रूल पिक्तज परिणा-मश्रुल होता है।

वमन, जी मिचलाना, बदहोशी, थोड़ी पीड़ा से युक्त, देर तक रहनेवाला, कडुवे एवं तिक्त पदार्थों से शान्त होनेवाला शूल कफज परिग्रामशुल होता है।

द्वन्द्वजपरिणामश्लस्य तत्त्रणम् । संसष्टितक्षणं बुद्दभ्वा द्विदोपं परिकल्पयेत् ॥ २० ॥ त्रिदोपजमसाध्यं तु क्षीण-मास-बलानलम् ।

त्र्यं—िमले हुए लच्चणों को देखकर द्विदोषज तथा त्रिदोषज परि-णामशूल की कल्पना करनी चाहिये। श्रीर मांस, बल एवं श्रिप्त चीण हो जाने पर उक्त रोग श्रसाध्य हो जाता है।

श्चन्नद्रवाख्यञ्जूलस्य लत्त्त्त्पानि । जीर्षे जीर्यत्यजीर्षे वा यच्छूलम्रुपजायते ॥ २१ ॥ पथ्यापथ्यप्रयोगेण भोजनाभोजनेन च ।

न शमं याति नियमात् सोऽन्नद्रव उदाहतः ॥ २२ ॥

अर्थ-अन्न के पच जाने पर, पच्यमानावस्था में अथवा न पचने पर' जो शूल उत्पन्न होता है, वह पथ्य या अपथ्य के उपयोग से भोजन

१- अर्थात् सर्वदा शूल होता है।

करने या न करने से नियमानुसार शान्त नहीं होता। उसे अन्नद्रव शूल कहा जाता है।

( अन्नद्रवारूयग्रुलेषु न तावत् स्वास्थ्यमश्तुते । वान्तमात्रे जरित्पत्तं श्रुलमाशु व्यपोहति ॥ १ ॥ )

अर्थ-अनद्रव नामक शूल में रोगी तब तक खस्थ नहीं होता जब तक वमन होने के कारण पित्त के पच जाने से शूल शान्त नहीं होता।

वक्तन्य—त्रान्न में मिलनेवाले द्रव (पित त्रादि) त्राधिक मात्रा में मिल जाते हैं। श्रतएव सर्वदा शूल होता है, किन्तु जब वमन द्वारा ये निकल जाते हैं तब शूल भी शान्त हो जाता है।

# उदावर्त्तीनदानम् ।'

श्रथोदावर्गरोगस्य कारणानि ।

वात-विण्-मूत्र-जुम्भा-ऽस्न-भवोद्गगार-वमीन्द्रियाः ।

चुत्तृष्णोच्छ्वास-निद्राणां धृत्योदावर्तसंभवः ॥ १ ॥

श्चर्य —श्चघोवायु, पुरीष, मूत्र, जम्भाई, श्चांस्, छींक, डकार, वमन, शुक्र, भूख, प्यास, ऊर्ध्वश्वास एवं निद्रा के वेग को धारण करना ही उदावर्त्त की उत्पत्ति का कारण है।

वातोदावर्तस्य लत्तराम् ।

वात-मूत्र-पुरीपाणां सङ्गो ध्मानं क्रमो रुजा ।

जठरे वातजाश्वान्ये रोगाः स्युर्वातनिग्रहात् ॥ २ ॥

अर्थ-अधो (अपान) वायु के वेग को रोकने से उत्पन्न होने-

<sup>9—</sup>वेग दो प्रकार के होते हैं— 9—धारणीय ( रोकने योग्य ) यथा—हि । क्रोध आदि के वेग, २—अधारणीय ( न रोकने योग्य जैसे मूनादि के ) इन अधारणीय वेगों द्वारा शरीर से बाहर निकलने योग्य पदार्थों को न निकलने देने के कारण उनका "उत्—उत्तरा या जपर को या पीछे को आवर्ष – घूमना या लौट जाना ही "उदावर्ष" कहलाता है ।" यह दो प्रकार का होता है " 9—वह जो मनुष्य के अपने प्रमाद से ( अर्थात् हुवात् वेगों को रोकने से ), २—वह जो वायु के प्रकोप से ।

वाले उदावर्त्त में अधोवायु, मृत्र एवं पुरीष की रुकावट, अफरा, व्यर्थ थकावट, पेट में पीड़ा तथा अन्यान्य वातज व्याधियां हो जाती हैं।

मलावरोधजस्य लच्चराम् । ऋाटोप-शूलौ परिकर्तिका च सङ्गः पुरीपस्य तथोध्र्ववातः । पुरीषमास्यादथवा निरेति पुरीषवेगेऽभिद्दते नरस्य ॥ ३ ॥

श्रर्थ—पुरीष के वेग को रोकने से पीड़ित मनुष्य के पेट में गुड़गुड़ शब्द, शूल (पकाराय में), गुद में कैंचो से काटने को सी पीड़ा, पुरीष का निरोध, उद्गार श्रथवा कभी कभी मुखमार्ग से पुरीष भी निकलने लगता है।

मूत्ररोधजस्य लच्चणम् ।

बस्ति-मेहनयोः शूलं मूत्रकुच्छं शिरोरुनाः।

विनामो वङ्क्षणानाहः स्याहिङ्गं मृत्रनिग्रहे ॥ ४ ॥

श्रर्थ—मूत्र का वेग रोकने से बस्ति एवं मूत्रमार्ग में शूल, मूत्रकु-च्छ्र, सिर में पीड़ा, विनाम, (पीड़ा के मारे पीड़ित स्थान को दबा कर रोगी बेतरह मुक जाता है।) बंच्यों का जकड़ना ये छन्नण होते हैं। जुम्भोपघातजस्य लच्चयम्।

मन्या-गल-स्तम्भ-किरोविकारा जृम्भोपघातात्पवनात्मकाः स्युः । तथाऽक्षि-नासा-वदनामयाश्च भवन्ति तीत्राः सह कर्णरोगैः ॥ ५ ॥

श्चर्य-जन्माई को रोकने से मन्या एवं गले का जकड़ना, वायुजन्य शिरोरोग तथा श्चांख, नाक, मुख एवं कर्ण के भीषणा रोग हो जाते हैं।

श्रथाश्रूदावर्तस्य लत्त्रणम्।

त्र्यानन्दजं वाऽप्यथ श्लोकजं वा नेत्रोदकं पाप्तममुश्र्वतो हि । श्लिरोगुरूत्वं नयनामयाश्व भवन्ति तीवाः सह पीनसेन ॥ ६ ॥

श्चर्य — त्रानन्द अथवा शोक से आये हुए आंसुओं को रोकने वाले मनुष्य को शिर का भारीपन, श्चांखों में अभिष्यन्दादि भीषण रोग तथा पीनस हो जाता है।

१ - वस्तुतः यहाँ पर वंक्षण शब्द का श्रमिप्राय गवीनियों से हैं।

छिक्कोदावर्तस्य लक्तणम् । मन्यास्तम्भः शिरःशूलमर्दितार्घावभेदकौ ।

इन्द्रियाणां च दौर्वरूपं क्षवयोः स्याद्विधारणात् ॥ ७ ॥ त्रर्थ—छींक को रोकने से मन्या का जकड़ना, सिर में पीड़ा, लकवा,

त्राधाशीशी तथा चक्षु त्रादि इन्द्रियों में दुर्वलता होती है।

अथोद्वारोदावर्तस्य लुज्ञणम्।

कण्डास्यपूर्णत्वमतीव तोदः क्रुजश्च वायोरथवाऽप्रद्वत्तिः । उद्गगरवेगेऽभिद्दते भवन्ति घोरा विकाराः पवनप्रसुताः ॥ ८ ॥

पु॰ ड• अ० ५५

श्रर्थ—उद्गार का वेग रोकने से गला तथा मुंह भरा सा ज्ञात होना, न्यथा, पेट में कुलकुल शब्द होना, श्रधोवायु का न खुलना श्रथवा श्रौर भी वाताष्टीला श्रादि वायु के बहुत से भयानक रोग हो जाते हैं।

छर्गुदावर्तस्य लच्चणम् । कण्डू-कोटार्राच-व्यङ्ग-शोथपाण्ड्वामय-ज्वरा: ।

कुष्ठ-वीसर्प-हछासाञ्च्छर्दिनिग्रहजा गदा: ॥९॥ च॰ स्॰ अ० ७ त्र्थ-चमन को रोकने से खुजली, चकत्ते, त्र्यरुचि, मांई, शोथ, पाएडरोग, ज्वर, कोड, विसर्प एवं हल्लास हो जाता है।

शुक्रोदावर्तस्य लच्चणम्।

मृत्राशये' वे गुदगुष्कयोश्व शोथो रुना मृत्रविनिग्रहश्च । शुकारमरी तत्स्ववर्ण भवेच ते ते विकारा विदते च शुक्रे ॥१०॥

सु० उ० अ० ४४

ड्यर्थ — शुक्त का वेग रोकने से बस्ति, गुद, ड्यर्डकोष में सूजन १ — मृत्रयने (भूत्रमार्गे, मेट्रे, चरक) पाठान्तर श्रिषिक उपयुक्त ज्ञात होता है। वास्तव में 'शुक्ताराने''या "शुक्तायने'' पाठ होना चाहिये। दर्शन स्पर्शन आदि सप्तविध मंथुनों के कारण शुक्र का निर्माण होने पर भी मैथुन न करने से उक्त लक्षण हो जाते हैं। भला क्तलाह्ये क्यों ! तथा पीड़ा, मृत्र का निरोध, शुकाश्मरी, शुक्रमेह एवं वायु के अनेक रोग हो जाते हैं।

क्षुदुदावर्तस्य लच्चणम् ।

तन्द्रा-ऽङ्गमर्दावरुचिः श्रमश्र ज्ञुथाभिघातात्क्वशता च दृष्टेः । कण्टास्यशोषः श्रवणावरोधस्तृष्णाविघाताद् हृदये व्यथा च ॥

**इ० ड०** श

श्रर्थ—भूख रोकने से तन्द्रा, अंगों में मर्दन की-सी पीड़ा, श्रक्षच, व्यर्थ थकावट एवं दृष्टि की न्यूनता हो जाती है। श्रीर प्यास को रोकने से करठ श्रीर मुंह का सूखना अवणशक्ति का हास तथा हृत्पिण्ड में व्यथा होती है।

श्वासोदावर्तस्य लच्चणम् ।

श्रान्तस्य निःश्वासविनिग्रहेण हृद्रोगमोहावथवाऽपि गुल्मः ।

जृम्भाऽङ्गमर्दोऽक्षिशिरोतिजाङचं निद्राभिघातादथवाऽपि तन्द्रा ॥

सु॰ ड॰ अः ४४

श्रर्थ—व्यायामादि के कारण बढ़ी हुई श्वास की गति को रोकने से हुद्रोग, बद्होशी श्रथवा गुल्म हो जाता है। श्रीर नींद को रोकने से जम्माई, अंगों में मर्दन की सी पीड़ा, श्रांख श्रीर सिर में जड़ता श्रथवा उँघाई श्राती है।

कुपितवातजोदावर्तस्य निदानानि ।

वायुः कोष्ठानुगो रूक्षः कषाय-कटु-तिक्तकैः।

भोजने: कुपित: सद्य उदावर्त करोति हि ॥१३॥ खु॰ उ० अ० ४४ इपर्थ—रुच्च, कसैले, तीखे एवं तिक्त (कडुए) भोजनों से कुपित कोष्टगत वायु उदावर्त्त कर देता है।

श्रथास्य सम्प्राप्तिः ।

वात-मृत्र-पुरीषासृक्-कफ-मेदो-वहानि वे । स्रोतांस्युदावर्तयति पुरीषं चातिवर्तयेत् ॥ १४ ॥ ततो हृद्द-वस्ति-स्रूलाऽऽर्तो हृष्टासारतिपोडित: । वात-मूत्र-पुरीषाणि क्रच्छ्रेण लभते नरः ॥ १५ ॥ श्वास-कास-प्रतिश्याय-दाइ-मोइ-तृषा-ज्वरान् । विम-हिक्का-त्रिरोरोग-मनः-श्रवण-विश्रमान् । वहूनन्यांश्र लभते विकारान् वातकोपजान् ॥१६॥

श्रर्थ— उपर्युक्त कुपित वायु वायु, मूत्र, पुरीप, रक्त, कक एवं मेदा को बहानेवाले स्रोतों को उलटा कर देता है। तथा पुरीप की गांठे बाँध देता है। इसके पश्चात हृद्य श्रोर विस्त के शूल से रोगी व्याकुल हो जाता है। हृझास तथा वेचैनी से पीड़ित होता है। उसे वात मूत्र एवं पुरीप बड़ी कठिनता से उतरते हैं। रोगी को श्वास, कास, प्रतिश्याय, दाह, मोह, प्यास, ज्वर, वमन, हिचकी, शिरोरोग, मन की व्याकुलता, श्रवण्राक्ति का ह्रास श्रथवा श्रीर शी बहुत से वायु के रोग श्रा घरते हैं।

श्रानाहरोगस्य " लत्तरणानि ।

त्रामं त्रकृद्दा निचितं क्रमेण भूयो विवद्धं विगुणानिलेन । प्रवर्तमानं न यथास्वमेनं विकारमानाहमुदाहरन्ति १७ **छ० उ० ७०** ९६

श्रर्थ—श्राम दोष श्रथवा पुरीष कम से संचित होकर तत्पश्चात् विकृत वायु द्वारा वॅधकर भली प्रकार प्राकृतिक गति नहीं करता (श्रा-माराय से) श्राम नीचे की श्रोर एवं मलाराय से मल गुद की श्रोर नहीं सरकता। इस विकार की श्रानाह कहते हैं।

श्रथामजानाहरये छन्नणम् । तिस्मन् भवन्त्यामसमुद्भवे तु तृष्णा-प्रतिश्याय-शिरोविदाहाः । श्रामाशये श्रुलमथो गुरुत्वं हत्स्तम्भ उद्गगरविधातनं च ॥१८॥ स्तम्भः कटी-पृष्ठ-पुरीप-मृत्रे श्रुलोऽथ मूर्च्छा शकृतश्र छर्दिः । शोथश्र पकाशयने भवन्ति तथाऽलसोक्तानि च लक्षणानि ॥ १९॥ स॰ व॰ अ॰ ५६

१—यह दो प्रकार से होता है। १—आमाराय की स्वामाविक गति रुक्तने से तथा २—प्रकाराय (अन्त्र एवं मलाराय ) की गति रुक्तने से। आनाह-नह्-वन्धने धांतु से आक् उपसर्ग लगाकर आनाह शब्द का निर्माण होता है।

श्रर्थ—श्रामाशय के श्रानाह में प्यास, प्रतिरयाय, सिर में दाह, आमाशय में शूल एवं भारीपन, हृदय की क्रिया में बाधा या सर्वथा निरोध (हार्टफेल ), उद्गार का रुकना, ये लज्ञ्गण होते हैं। मलाशय के श्रानाह में कमर श्रीर पीठ में जकड़न, मूत्र तथा पुरीष का निरोध, शूल, मूच्छा, पुरीष का वमन, शोथ श्रथवा पूर्वकथित श्रलसक के सभी लज्ञ्यण हो जाते हैं।

## गुल्मनिदानम् 🖰

गुल्मरोगस्य सम्प्राप्तिः । दुष्टा वातादयोऽस्यर्थं मिथ्याहार-विहारतः । क्कर्वन्ति पञ्चधा गुल्मं कोष्टान्तर्प्रन्थिरूपिणम् ।

त्रर्थ-मिध्या श्राहार-विहार से श्रत्यन्त दूषित वातादि दोष कोष्ठ के भीतर के गाँठ के रूप में पाँच प्रकार के गुल्म या वायुगोला कर देते हैं।

तस्य पश्चिवधं स्थानं पार्श्व-हृन्-नाभि-वस्तयः ।। १ ॥

श्रर्थ—उस गुल्म के निम्न पांच स्थान हैं:—पसवाडे (दोनों), हृदय, नाभि, गर्भाशय एवं वस्ति।

गुल्मरोगस्य सामान्यलज्ञणम् । हन्नाभ्योरन्तरे ग्रन्थिः सञ्चारी यदि वाऽचलः ।

9—इसे लोग, "वायुगोला" कहते हैं और यह होता भी है वायुप्रधान ही। जल में बुद् बुद के समान वायु ही की गुटि का सी बँध जाती है। किसी २ रोगी को ये गुटिका अनेक भी होती हैं। नाभि की गुटिकाएँ मर्दन (तेंल सहित) किया से गुल गुल शब्दपूर्वक दृटती हैं और अधोवायु के रूप में निकल जाती हैं।

२—नाभि (श्रामाशय से मलाशय तक का भाग एवं गर्भाशय) श्रौर वस्ति का गुरूम स्पर्श द्वारा जाना जा सकता है, किन्तु हृदय एवं पार्श्व ( फुरफुसाँ ) का नहीं । मेरा विचार है कि इस प्रकरण में नाभि के ही गुरूम का वर्णन विस्तार से किया गया है श्रौर दूसरों का बहुत संचेप से । इसके विशेष लक्षण यह हैं यथा—पार्श्व गुरूम में "उच्छ्वासम्बास्योपरुध्यते" च०चि०श्र० ३ । हृदय में "हृदयरोग" नाभि—(महास्त्रोत ) में "मलबन्धादि" । गर्भाशय में "रजोऽवरोध" । वस्ति में "मूत्रकृच्छू" ।

हत्तश्रयापचयवान् स गुल्म इति कोर्तितः ॥२॥ छ० उ० अ० ४२

श्रर्थ—हृद्य एवं वस्ति के मध्य में इधर-उधर हटनेवाली श्रथवा श्रचल, गोल, बड़ी एवं छोटी होनेवाली जो गांठ उत्पन्न हो जाती है, उसे गुल्म या गोला कहा जाता है।

गुल्मरोगस्य संख्यारूपा सम्प्राप्तिः।

स व्यस्तैर्जायते दोषैः समस्तैरपि चोच्छितैः।

पुरुषाणां, तथा स्त्रीणां ज्ञेयो रक्तेन चापरः ॥ ३ ॥ सु॰ उ॰ अ॰ ४२

श्रर्थ—वह गुल्म बढ़े हुये भिन्न भिन्न एवं सम्मिलित वातादि दोषों से पुरुष श्रीर स्त्रियों को होता है, पाचवां रक्त से होनेवाला गुल्म (गर्भा-शय में ) केवल स्त्रियों को ही होता है।

गुल्मरोगस्य पूर्वरूपाणि ।

उद्गारबाहुल्य-पुरीषबन्ध-तृ'त्यक्षमत्वान्त्रविक्रजनानि ।

त्राटोप त्राध्मानमण्किशक्तिरासन्नगुल्मस्य वदन्ति चिह्नम् ॥ ४ ॥

वा० मि० अ० ११

श्रर्थ—गुन्म के ये पूर्वरूप हैं:—उद्गारों की श्रधिकता, पुरीष में रुकावट, सर्वदा पेट भरा हुआ ज्ञात होना, प्रत्येक कार्य में श्रज्ञमता, श्रँतिहियों में कुल-कुल श्रथवा गुड़गुड़ शब्द होना, श्रफरा तथा पाचन शक्ति का ह्रास ।

गुल्मस्य साधारणं रूपम्।

**ऋर्चिः कृच्छ्रविण्-मृत्र-वातताऽन्त्रविक्र्**जनम् ।

त्रानाहश्रोध्ववातत्वं सर्वगुल्मेषु लक्षयेत् ॥ ५ ॥

अर्थ सभी गुल्मों के सामान्य लज्ञ्या ये हैं: स्त्रहिन, पुरीष, मूत्र तथा अधोवायु का कष्टपूर्वक उतरना, अन्त्रकूजन, आनाह एवं उदुगार।

वातगुल्मस्य हेतवो लच्चणानि च ।

रूक्षात्रपानं विषमातिमात्रं विचेष्टनं वेगविनिग्रहश्च । स्रोकोऽभिघातोऽतिमलक्षयश्च निरम्नता चानिलगुल्पहेतुः ॥ ६ ॥ यः स्थान-संस्थान-रुजां विकल्पं विड्वातसङ्गं गलवक्त्र-भोषम् । श्यावारुणत्वं शिशिरज्यरंच हृत्-कुक्षिपार्श्वास-शिरो-रुजं च ॥७॥ करोति जीर्णे त्वधिकं प्रकोपं भ्रके मृदुत्वं समुपैति यश्च । वातात् स गुल्मो न च तत्र रूक्षं कषाय-तिक्तं कटु चोपशेते ॥८॥

अर्थ—रूखे, न्यूनाधिक अथवा अधिक मात्रा में अन्नपान का सेवन, विरुद्ध चेष्टायें, वेगों का रोकना, शोक, पेट पर चोट, विरेचनादि द्वारा मल का अत्यन्त निकल जाना अथवा भूखे रहना ये वातगुल्म के कारण हैं।

जो गुल्म अपने निवासस्थान, खरूप तथा पीड़ाओं में परिवर्तन करता रहे, पुरीष एवं अधोवायु का निरोध, गला और मुँह का शोष, त्वचा पर कालिमा अथवा लालिमा, शीवज्वर, हृदय, अन्त्र, पस-लियाँ, कन्चे और सिर में पीड़ा तथा भोजन पच जाने पर उक्त लच्च्यों में हुद्धि करे, भोजन करने पर कुछ शान्त हो जाय वह 'वातगुल्म' होता है। इस गुल्म में रूखे, कसेले, कहुये, तीखे पदार्थ लाभदायक नहीं होते।

पैत्तिकगुल्मस्य निदानानि ।

कट्वम्ल-तीक्ष्णोष्ण-विदाहि-रूक्ष-क्रोधातिमद्यार्क-हुताश्च-सेवा । त्र्यामाभिघातो रुघिरंच दुष्टं पैत्तस्य गुल्मस्य निमित्तमुक्तम् ॥९॥ ज्वरः पिपासा वदनाङ्गरागः शूलं महज्जीर्यति भोजने च । स्वेदो विदाहो त्रणवच गुल्मः स्पर्शासहः पैत्तिकगुल्मरूपम् ॥१०॥

श्रर्थ—मरिचादि कडुये पदार्थ, खट्टे, तीखे, गरम, विदाहकारी, रूखे पदार्थ, क्रोध, श्रत्यन्त मद्य, सूर्य एवं श्रप्ति के सन्ताप का श्रति सेवन, श्रामदोष का संचय, रक्त का दूषित होना ये सब पित्तज गुल्म के कारण हैं।

ज्वर, प्यास, चेहरे (विशेषतः ) तथा शरीर पर लालिमा, भोजन १३ मा० की पच्यमानावस्था में अत्यन्त शूल, पसीना, अत्यन्त दाह, गुल्म को छूने से फोड़े के समान पीड़ा ये सब पित्तगुल्म के लत्त्रण हैं। श्लैष्मिकसुल्मस्य निदानानि।

शीतं गुरुस्निग्धमचेष्टनं च सम्पूरणं प्रस्वपनं दिवा च ।

गुल्मस्य हुंतुः कफसम्भवस्य, सर्वस्तु दुष्टो निचयात्मकस्य ॥११॥

ৰ ভিত্তা প্ৰ

श्चर्य—टंढे, भारी एवं चिकने पदार्थों का श्वति सेवन, किसी प्रकार का परिश्रम न करना, अत्यन्त भोजन करते जाना तथा दिन में सोना ये कफज गुल्म के कारण हैं।

तीनों प्रकार के गुल्मों के सम्मिलित कारण त्रिदोषज गुल्म के कारण होते हैं।

श्लैष्मिकगुल्मस्य लच्चणानि ।

स्तैमित्य-शीतज्वर-गात्रसाद-हृङ्कास-कासारुचि-गौरवाणि । शैत्यं स्नाल्पा कठिनो त्रतत्वं गुरुमस्य रूपाणि कफात्मकस्य ॥१२॥

াৰণ

र्द्ययं —गीलापन, शीतज्वर, अंगों में श्रवसन्नता, जी मिचलाना, खांसी, श्रव्यक्ति, भारीपन, शीत लगना, थोड़ी पीड़ा, गुल्म का कड़ा एवं ऊँचा होना ये सब कफज गुल्म के लज्ञ्या हैं।

द्रन्द्रजगुल्मस्य लच्चणानि ।

निमित्तरूपाण्युपत्तभ्य गुल्मे द्विदोषजे दोपवलाबलं च । व्यामिश्रत्तिङ्गानपरांत्र गुल्मास्त्रीनादिशेदौषधकल्पनार्थम् ॥ १३ ॥

चि०

द्यर्थ—एक एक गुल्म में दो दो दोषों के कारण तथा लक्षणों को एवं दोष के बलाबल को देखकर मिश्रित लक्षणोंवाले तीन दिदोषज गुल्मों का भी निश्चय कर लेना चाहिये। इससे चिकित्सा करने में सर्विधा रहती है।

सान्निपातिकगुल्मस्य लच्चणानि ।

महारुजं दाहपरीतमश्मवद्भ धनोन्नतं शीघ्रविदाहि दारुणम्।

मनःशरीराभिवलापहारिएां त्रिदोषजं गुल्ममसाध्यमादिशेत् ॥१४॥

ऋर्थ—ऋत्यन्त पीड़ा एवं शरीर भर के दाह से युक्त, पत्थर के समान कड़ा और ऊँचा, दाह से युक्त, भीषण, मन, शरीर तथा पाचकािम के बल को हरनेवाला गुल्म त्रिदोषज गुल्म होता है। इसे ऋसाध्य सममता चाहिये।

रक्तमुल्मस्य सम्प्राप्तिः।

नवप्रस्ताऽहितभोजना या या चामगर्भ विस्रजेहती वा । वायुर्हि तस्याः परिग्रद्धा रक्तं करोति गुल्मं सरुजं सदाहम् । पैत्तस्य लिङ्गेन समानलिङ्गं विशेषणां चाप्यपरं निवोध ॥ १५ ॥ यः स्पन्दते पिण्डित एव नाङ्गेश्विरात्सश्रूलः समगर्भलिङ्गः । स रौधिरः स्त्रीभव एव गुल्मो मासे व्यतीते दशमे चिकित्स्यः ॥१६॥

अर्थ — जो प्रस्ता स्त्री मिध्या आहार विद्यार करती है अथवा जो स्त्री गर्भपात करती है अथवा जो ऋतुकाल में मिध्या आहार विद्यार करती है, उस स्त्री का वायु निकलने योग्य रक्त को गर्भाशय में रोक कर गुल्म उत्पन्न कर देता है। इसमें पीड़ा और दाह तो होता ही है साथ ही साथ पित्त गुल्म के लत्त्र साथ भी पाये जाते हैं। एक और बात भी समरण रखना चाहिये कि इस गुल्म में गर्भ के सब लत्त्र पाये जाते हैं परन्तु गर्भ अपने हाथ पैर आदि अंगों से स्पन्दन करता है एवं इसमें पिएड का पिएड स्पन्द करता हाता है। इसमें शुल भी होता है जो गर्भ में नहीं होता। यह रक्तज गुल्म केवल स्त्रियों ही को होता है। इसकी चिकित्सा भी दसवां महीना बीत जाने पर ही करनी चाहिये।

गुल्मस्यासाध्यलत्तरणानि ।

सञ्चितः क्रमशो गुल्मो महावास्तुपरिग्रहः ।

<sup>9—</sup>यह बियों को ही होता है श्रीर होता है गर्भाशय में । इस पी विद्य स्नी की मूर्व्हा (च॰ नि॰ श्र॰ ३) देख कर लोग "हिस्टीरिया" समम लेते हैं भीर रक्तमेदन के श्रमन्तर रोग शान्त हो जाता है।

कृतमूलः सिरानद्धो यदा कूर्म इवोत्थितः ॥ १७ ॥ दौर्बल्यारुचि-ह्लास-कास-च्छर्घरति-ज्वरैः।

तृज्णा-तन्द्रा-प्रतिश्यायेर्युज्यते स न सिध्यति॥१८॥ वर्णवन्त्रक्रः अर्थ-कम से बढ़ा हुआ, बहुत से स्थान को रोकनेवाला, गहरी जड़-वाला, सिरात्रों से ब्याप, कछुये की पीठ के समान उठा हुत्रा, दुर्बलता, द्यरुचि, जी मिचलाना, खाँसी, वमन, बेचैनी, ज्वर, प्यास, तन्द्रा तथा प्रतिश्याय से युक्त गुल्म श्रासाध्य होता है।

श्रथास्य पुनरप्यसाध्यलज्ञराम्। गृहीत्वा सज्वरं श्वास-च्छर्चतीसार-पीडितम् । हन्नाभि-इस्त-पादेषु शोथ: कर्षति गुल्मिनम् ॥१६॥ च०चि०म०५ श्चर्य-ज्वर, श्वास, वमन, श्रविसार, हृदय, नाभि, हाथ एवं पाँव

की सजन रोगी को पकड़ कर मार डालती है।

ष्ठाथापरमसाध्यलत्त्वणम् ।

श्वासः शूलं पिपासाऽन्नविद्वेषो ग्रन्थिमृदता । जायते दुर्वलत्वं च गुल्मिनो मरणाय वै ॥२०॥ सु०स०भ०३३ अर्थ-श्वासं, शूल, प्यास, अरुचि, गुल्म की स्थिरता तथा दुर्बलता ये लक्षण गुल्मियों के मर जाने के लिये उत्पन्न होते हैं।

हृद्रोगानिदानम् । हृदुरोगस्य निदानानि । **त्रत्युष्ण-गुर्वञ्न-कपाय-तिक्त-श्रमाभिघाताध्यशन-प्रसङ्गैः** । संचिन्तनैर्वेगविधारर्णेश्च हृदामयः पञ्जविधः प्रदिष्टः ॥ १ ॥

अर्थ-अत्यन्त उष्ण एवं गुरु, कसैते, कडुये द्रव्यों के सेवन से,

१-यह हरियण्ड का रोग है। उक्त अवयव दोनों फुफ्सों के मध्य भाग में स्थित है। इसमें चार को छ हैं। इसी अपंग पर दोषों का प्रभाव पड़ने से उक्त रोगः ह्रोता है।

श्रम, चोट, बहुत दिनों तक ऋष्यशन, ऋषिक चिन्ता एवं वेगों को रोकने से 'हृद्रोग' हो जाता है। यह पाँच प्रकार का होता है।

हद्रोगस्य सम्प्राप्तिपूर्वकं लक्त्याम् ।

दूषित्वा रसं दोषा विगुणा हृदयं गताः ।

हृदि वाधां प्रकुर्वनित हृद्रोगं तं प्रचक्षते ॥ २ ॥ छ॰उ०अ०ध्धः ऋर्य-हृद्यगत विकृत दोष रस को तृषित कर हृदय में विकृति पैदा कर देते हैं। इसे हृद्रोग कहा जाता है।

वातिकदृद्रोगस्य लच्चणम् ।

आयम्यते मारुतजे हृद्यं तुद्यते तथा।

निर्मध्यते दीयते च स्फोट्यते पाट्यतेऽपि च ॥३॥ धु॰ब॰ध॰ध ड्यर्थ—वातजन्य हृद्रोग में हृदय में खिचाव या तनाव होता है और उसमें सूई के चुभने की सी पीड़ा होती है ड्यथवा विलोडन होता है ड्यथवा दरारें पड़ जाती हैं या वह फूट जाता है या फट जाता है।

वक्तव्य-हृदयकोष्ठों में वायु भर जाने से उक्त लच्चण होते हैं।

पैत्तिकहद्रोगस्य लच्चणम्।

तृष्णोष्मादाहचोषाः स्युः पैत्तिके हृदयह्नमः ।

धूमायनं च मृच्छां च स्वेद: शोषो मुखस्य च ॥४॥ सु॰ उ॰ अ॰ ४६ अर्थ—त्यास, अन्दर से वाष्प निकलना, दाह, मन की मुस्ती, धूआँ सा निकलना, मृच्छां, पसीना एवं मुख का सूखना ये पित्तज हृद्रोग के लच्चए हैं।

रलैष्मिकहद्रोगस्य लच्चणम् । गौरवं कफसंस्नावोऽरुचि: स्तम्भोऽग्निमार्दवम् । माधुर्यमपि चास्यस्य बलासावतते हृदि ॥५॥ छ० व० अ० ४३ अर्थ—हृदय एवं शरीर में भारीपन, मुँह से कफ जाना, शरीर एवं, हृदय की गति में रुकावट, अग्निमान्द्य एवं मुँह का मीठापन ये कफज हृद्रोग के लक्षण हैं। सिक्रिमिजसान्निपातिकहृद्रोगस्य लच्चणम् । विद्यास्त्रिदोषं त्वपि सर्वालङ्गं तीत्रातितोदं क्रिमिजं सकण्डूम् । च० च० ३० २१

उत्क्रेदः ष्ठीवनं तोदः शूलं हृङ्खासकस्तमः।

श्ररुचि: श्यावनेत्रत्वं शोथश्च क्रिमिजे भवेत् ॥६॥ छु॰ ७० ७० ४३ धर्थ—उपर्युक्त सभी लच्चएों से युक्त त्रिदोषज हृद्रोग होता है। तीव्र पीड़ा एवं सुई के चुभने की व्यथा से युक्त, भीतर खुजली युक्त क्रिमिज हृद्रोग होता है।

वक्तव्य—भगवान सुश्रुत ने क्रिमिज रोग के छुद्ध और भी लच्चण लिखे हैं। वे ये हैं:—हृद्य के एक कोष्ठ' में रस का सड़ना, श्रुक श्रुधिक आना, व्यथा, श्रूल, जी मिचलाना, हृह्लास, हृद्य में सड़न पैदा होना, आँखों के आगो अंधेरा, अरुचि, आँखों में कुछ कालापन एवं शोथ। "हृद्याद" किमि यही है।

श्रथैषामुपद्रवाः।

क्रमः सादो भ्रमः शोपो ज्ञेयास्तेपाम्रपद्रवाः।

क्रिमिजे क्रिमिजातीनां श्लैष्मिकाणां च ये मताः ॥ ७ ॥

अर्थ—सुस्ती, अवसन्नता, चकर एवं शोष ये हृद्रोगों के उपद्रव हैं और क्रिमिज हृद्रोग के उपद्रव वे ही होते हैं जो कफज क्रिमियों के लज्ञण हैं।

# मूत्रकृच्छ्।नेदानम्।

मूत्रकृच्छस्य निदानानि ।

व्यायाम-तीक्ष्णोपथ-रूक्ष-मद्यप्रसङ्ग-नित्य-द्वत-पृष्ठ-यानात् ।

१—इसी कारण किमि वह जाते हैं। 'ममेंकदेशे संक्षेदं, रसवाप्युपगच्छित। संक्रेदात्क्रमयव्यास्य,भवन्युपहतात्मनः॥''व० सू० त्र० १७ इस स्थल को देख ही बालिये।

२—-इस रोग के कारण मूत्र उतरने में कष्ट होता है। श्रतएव इसे "मूत्रकृच्रू" कहा जाता है। इसका व्यक्षन है मूतते समय घाव पर नमक के समान कड़क होना। सच बात तो यह है कि उक्त कारणों द्वारा बढे हुए पित्त से मूत्रमार्ग में क्षत हो

त्र्यं—ज्यायाम, तीच्या, उज्यां एवं रूत्त पदार्थों के सेवन से, श्रिधिक मदापान, नित्यप्रति शीघगामी घोड़े श्रादि की पीठ पर बैठकर तथा रेल श्रादि में बैठकर लम्बी यात्रा करने से, कीचड़ में रहनेवाले प्राश्चियों के मांस का सेवन करने से, भोजनोपिर भोजन करने से एवं श्रजीर्ण से श्राठ प्रकार का मृत्रकृच्छ हो जाता है।

मृत्रकुच्छुस्य सम्प्राप्तिपूर्वकं उत्तरणम्।

पृथङ्मलाः स्वैः क्रुपिता निदानैः सर्वेऽथवा कोपमुपेत्य वस्तौ । मृत्रस्य मार्गं परिपीडयन्ति यदा तदा मृत्रयतीह कुच्छात् ॥ २ ॥

ऋर्थ — अपने ऋपने कारणों से कुपित पृथक् पृथक् ऋथवा मिलकर वातादि दोष मृत्राशय में जाकर जब मृत्रमार्ग में पीड़ा कर देते हैं तो मतुष्य कष्ट के साथ मृतता है।

वातिकम् त्रकृच्छुस्य लत्त्रणम् ।

तीत्रार्तिरुग्-त्रङ्क्षण-त्रस्ति मेढे स्वल्पं मुहुर्मृत्रयतीह वातात् ।

च॰ चि॰ अ० २६

श्चर्य—वातज मूत्रकुच्छ्न में वंच्चणों,' मूत्राशय, मूत्रमार्ग (वस्ति से मूत्र को वाहर कर देनेवाला मार्ग ) में मूत्र निकलते समय अत्यन्त पीड़ा होती है एवं मृत्र थोड़ा थोड़ा तथा बारम्बार निकलता है ।

पैत्तिकमूत्रकृच्छस्य लन्नणम्।

पीतं सरकतं सरुजं सदाइं कुच्छुं मुहुर्मूत्रयतीह पित्तात् ॥ ३ ॥

जाता है ' ज्यों ही उस पर से मूत्र गुजरता है त्यों ही कड़क होती है । क्यों कि मूत्र भी नमकीन होता है ।

१—हम श्रीषध राब्द का अर्थ "श्रोषः 'तापः' धीयते खनेन'' के श्रानुसार शरीर में गर्मी पैदा करनेवाले पदार्थ लगाते हैं।

२--सम्भवतः "वंक्षण" यहाँ पर गवीनियों के लिये श्राया है ।

श्चर्य-पित्तज मूत्रकृच्छ्र में पीला, कुछ लाल श्चथवा रक्त सहित, पीड़ा एवं दाह से युक्त कष्टपूर्वक बारम्बार मूत्र निकलता है।

कफजमूत्रकृच्छस्य लक्त्याम् । बस्ते: सिलङ्गस्य गुरुत्व-शोथो मृत्रं सिपच्छं कफमूत्रकृच्छ्र । च० च० अ० ३६

श्चर्य—कफज मूत्रकुच्छ में मूत्रमार्ग श्चौर मूत्राशय में भारीपन एवं सूजन हो जाती हैं। मूत्र में लसीलापन रहता है।

सान्निपातिकम्त्रक्रच्ड्रस्य लच्चणम् । सर्वाणि रूपाणि तु सन्निपाताद्भवन्ति तत्कृञ्जतमं हि कुच्छ्रम् ॥ ४ ॥

ऋर्थ—सन्निपातज मृत्रक़च्छ में उपर्युक्त सभी लच्चगा पाये जाते हैं और यह मृत्रक़च्छ कष्टसाध्य होता है।

शत्यजमूत्रकुच्छस्य लक्तवाम् । मूत्रवाहिषु शस्येन क्षवेष्वभिहतेषु वा । मूत्रकुच्छ्रं तदाघाताज्ञायते भृशदाद्यवम् ॥ ५ ॥

वातकृच्छ्रेण तुल्यानि तस्य लिङ्गानि निर्दिशेत्। सु॰ उ॰ ४० ५६

श्चर्य-मूत्रमार्ग में किसी प्रकार शल्य द्वारा स्तत श्रयवा मुष्टिप्र-हारादि द्वारा श्वभिघात होने से 'श्राधातज' मूत्रकृच्छ्य हो जाता है जो बड़ा ही भीषण होता है। इस के लक्षण वातज मूत्रकृच्छ्य के समान ही होते हैं।

पुरोषजमूत्रकृच्छस्य लज्ञणम् । शकृतस्तु प्रतीघाताद्वायुर्विगुणतां गतः ॥ ६ ॥ श्राध्मानं वातराूलं च मृत्रसङ्गं करोति च । छ॰ ३० ४० ५९

१ — बद्यपि इसके लक्षण "स्जाक" के समान ही होते हैं तथापि यह उससे भिन्न ही है क्योंकि "स्जाक" संकामक होता है और यह दोक्ज। एक में विशेष प्रकार के किमि पाए काते हैं और इसरे में नहीं।

अर्थ-पुरीष के वेग को रोकने से बायु विकृत होकर अफरा, ग्रूल प्वं मूत्रावरोध कर देता है।

श्रथारमरीजमृत्रकुच्छुम्य लच्चणम् । श्रथमरीहेतु तत्पूर्व मृत्रकुच्छुमुदाहरेत् ॥ ७ ॥ श्रर्थ—श्ररमरीजनित मृत्रकुच्छु श्ररमरी के कारण होता है । श्रक्रजमुक्कुच्छुस्य लच्चण् ।

शुक्रे दोषेरुपहते मूत्रमार्गे विधाविते ।

सशुक्रं मूत्रयेत्कृच्छाद्दस्ति-मेहन-शूलवान् ॥८॥ छ॰ व॰ ध॰ ४६ अर्थ—दोषों द्वारा दूषित शुक्र मूत्रमार्ग में आता है, जिससे शुक्र सहित कष्टपूर्वक मूत्र उतरता है। रोगी के मूत्राशय एवं मूत्रमार्ग में शुल होता है।

श्रधारमरी-रार्करचोर्भेदः। श्रश्मरी शर्करा चैव तुल्य-सम्भव-लक्षणे । विशेषणं शर्करायाः शृणु कीर्तयतो मम ॥ ९ ॥ पच्यमानाऽष्मरी पित्ताच्छोष्यमाणा च वायुना ।

विमुक्तकफसन्याना क्षरन्ती शर्करा मता ॥१०॥ छु॰ उ० अ० ४९ अर्थ—अश्मरी छोर शर्करा की उत्पत्ति एवं लक्क्या समान हैं। अश्मरी और शर्करा में जो भेद है उसे मैं कहता हूँ, आप सुनिये। अश्मरी ही पित्त द्वारा पक्ते एवं वायु द्वारा सूखने पर क्यों को सटानेवाले कफ से रहित हो कर खर कर जाती है तो शर्करा कहलाती है।

<sup>9—</sup>वस्ति की अश्मरो (पथरी) बड़ी होने के कारण मूत्रमार्ग से कभी निकल ही नहीं सकती। जब निकलती है तो शकरा (बालू, रेत) के रूर में निकलती है। इस शर्करा के मूत्रमार्ग में फंस जाने अथवा उसके द्वारा क्षत हो जाने से उक्त रोग हो जाता है।

२---कभी पथरी बनते समय कफकी खिग्धता के अभाव से वायु द्वारा विभक्त होकर रार्करा ही रह जाती है एवं कभी बनी बनायी पथरी ही टूट टूट कर रार्करा हो जाती है।

श्चरमर्या उपद्रवाः ।

हत्पीडा वेपथुः शूलं कुक्षाविप्रश्च दुर्बलः ।

तया भवति मुर्च्छा च मूत्रकृच्छुं च दारुणम् ॥ ११ ॥

अर्थ—इस अश्मरी या शर्करा के कारण हृदय में पीड़ा, कम्प, वस्ति या उदर् में पीड़ा, शूल, अफ़िमान्द्य, मूर्च्छा एवं भीषण मृत्रकृरुद्ध हो सकता है।

मूत्रवेगनिरस्ताभिः प्रथमं याति वेदना ।

यावदस्याः पुनर्नेति गुडिका स्रोतसो मुखम् ॥१२॥ छ॰ उ॰ अ० ४९

ध्यर्थ—श्रश्मरी के कण जिन्हें शर्करा कहा जाता है, जब मूत्र द्वारा बाहर निकल जाते हैं तो वेदना तब तक के लिये शान्त हो जाती है जब तक कि उसके दूसरे क्या फिर मूत्रमार्ग में नहीं ख्रा जाते हैं।

#### मुत्राघातनिदानम् ।

मृत्राघातस्य संप्राप्तिः।

जायन्ते कुपितेर्दोपे मूंत्राघातास्त्रयोदश।

प्रायो मृत्रविघाताचैर्वातकुण्डलिकाद्यः ॥ १ ॥

श्चर्थ—मूत्र के वेश को रोकने श्चादि कारगों से कुपित वातादि दोषों द्वारा बातकुण्डलिका श्चादि तेरह रोग हो जाते हैं। उन्हें मूत्राधात कहते हैं।

ें वातकुरुडलिकारोगस्य संप्राप्तिपूर्वकं निदानम् । रोक्ष्याद्वेर्गावघाताद्वा वायुर्वस्तो सवेदनः ।

निद्यों में जितन बालू होते हैं वे इसी प्रकार पहाड़ के पत्थरों के टूटे हुये कण ही होते हैं। श्रीर रेगिस्तान की वालू सूर्य की तीचण किरणों के लगने से स्नेह निकल जाने के कारण पाषाण का रूप नहीं धारण कर पाते।

श्राप इन दोनों उदाहरणों से शर्करा श्रीर श्रश्मरी के निर्माण का तत्त्व समक्त जाउंगे।

१—इसमें भी मूत्रसंस्थान के सभी श्रवयव प्रभावित होते हैं तो भी इसका व्य-इ.न है मूत्र का विवन्ध या निरोध या इकावट । मूत्रमाविश्य चरति विगुणः कुण्डलीकृतः ॥ २ ॥ मूत्रमल्पाल्पमथवा सरुजं संप्रवर्तते ।

वातकुण्डलिकां तां तु व्याधि विद्यात्सुदारुएम् ॥३॥ सु॰ चि॰ अः ४८

श्रथं—रूत्तता श्रथवा मूत्र के वेग को रोकने के कारण बस्ति के भीतर मूत्र में मिल कर वेदनायुक एवं कुण्डलाकार विकृत वायु घृमने लगता है। इससे मूत्र थोड़ा थोड़ा श्रथवा पीड़ायुक उतरता है। इस व्याधि को वातकुण्डलिका कहते हैं। यह बड़ी भयंकर होती हैं।

श्रष्टीलारोगस्य उत्तराम्।

त्र्याध्मापयन्वस्तिगुदं स्दूध्वा वायुश्वलोन्नताम् ।

कुर्यात्तीव्रार्तिमष्ठोलां ' मूत्र-विर्ण्-मार्ग-रोधिनीम् ॥ ४ ॥

त्रर्थ—वायु वस्ति एवं गुद् के मार्गों को रोककर उनमें श्राष्मान उत्पन्न करते हुए चल तथा उन्नत, भीषण पीड़ायुक्त त्राष्टीला को कर देता है। इससे मूत्र ऋौर पुरीष के मार्ग रुक जाते हैं।

वातबस्तिरोगस्य लच्चणम् ।

वेगं विधारयेद्यस्तु मूत्रस्याक्कश्वलो नरः।

निरुएद्धि मुखं तस्य वस्तेर्वस्तिगतोऽनिलः ॥ ५ ॥

मूत्रसङ्गो भवेत्तेन बस्ति-कुलि-निपीडितः।

वातवस्तिः स विज्ञेयो व्याधिः कृच्छ्रप्रसाधनः॥६॥ सुःनि०अ० ४८

श्चर्य—जो मूर्ख मनुष्य मूत्र के नेग को रोकता है, उसकी बस्ति के मुख को बस्तिगत वायु रोक लेता है। इससे मूत्र रूक जाता है। बस्ति एवं उदर में पीड़ा होती है। इस कुन्छ्यसाध्य न्याधि को "वातवस्ति" कहते हैं।

मूत्रातीतरोगस्य लज्ञणम् । चिरं धारयतो मूत्रं त्वरया न प्रवर्तते ।

१ - यह क्षणिक गुरूमाकार रोग होता है, जो मर्दनिकयासे शान्त हो जाता है।

२--- यह पीड़ा बुक्कों एवं गवीनियों में भी होती है।

मेहमानस्य मन्दं वा मृत्रातीतः स उच्यते ॥ ७ ॥ ऋर्थ-चिरकाल तक पूत्र रोकने से वह वेगपूर्वक नहीं उतरता । कांखने या जोर देने पर थोड़ा थोड़ा उतरता है । इसे मृत्रातीत कहा जाता है ।

मूत्रजठररोगस्य लज्ञ्चणम् । मूत्रस्य वेगेऽभिहते तदुदावर्तहेतुकः । ऋपानः कुपितो वायुरुद्रं पूरयेद्भृज्ञम् ॥ ८ ॥ नाभेरघस्तादाध्मानं जनयेत्तीव्रवेदनम् ।

तन्मूत्रजठरं विद्यादधोवस्तिनिरोधनम् ॥ ६ ॥ छ० ७० अ० ५८ अर्थ—मूत्र का वेग रोकनेसे उसके उदावर्त के कारण कुपित अपान वायु उदर को अत्यन्त भर देता हैं। जिससे नाभि के नीचे (विस्त में) भीषण पीड़ायुक्त आष्मान हो जाता है। विस्तिमार्ग को रोकने वाले इस रोग को 'मूत्रजठर' कहते हैं।

मूत्रोत्सङ्गरोगस्य तत्त्वणम् । बस्तौ वाऽष्यथवा नाले मणौ वा यस्य देहिनः । मृत्रं प्रदृत्तं सउजेत सरक्तं वा प्रवाहतः ॥ १० ॥ स्रवेच्छनैरल्पमल्पं सरुजं वाऽथ नीरुजम् । विगुणानिलाजो व्याधिः स मृत्रोत्सङ्गसंज्ञितः॥११॥द्व०व०८०५६

श्चर्य—जिस मनुष्य की वस्ति, मूत्रमार्ग श्चयवा मिए में श्चाता हुश्चा मूत्र रुक जाता है, काँखने पर रक्त सहित थोड़ा थोड़ा पीड़ा युक्त श्चयवा पीड़ा रहित धीरे धीरे निकलता है, उसके इस रोग को'मूत्रोत्संग'कहते हैं। यह रोग वायु की विकृति के कारण होता है।

> मृत्रक्तयरोगस्य लक्तराम् । रूक्षस्य क्रान्तदेहस्य वस्तिस्यो पित्तमास्तो । मृत्रक्षयं सरुदाहं जनयेतां तदाहयम् ॥१२॥ सु॰ ड॰ ब॰ ५८

च्चर्य रूखे शरीरवाले एवं थके हुये पुरुष की बस्ति । में स्थित पित्त एवं वायु पीड़ा च्चीर दाहपूर्वक मूत्र का निर्माण होने ही नहीं देते । इसे 'मूत्रचय' कहा जाता है ।

मूत्रप्रन्थिरोगस्य लच्चणम् ।

अन्तर्वस्तिमुखे दृत्तः स्थिरोऽस्यः सहसा भवेत् ।

अश्मरीतुल्यस्त्रग्रन्थिर्मृत्रग्रन्थिः स उच्यते ॥१३॥ वा॰ नि॰ अ॰ क

त्र्यर्थ - बस्तिमुख के भीतर एकाएक गोल, स्थिर, छोटी सी, ऋश्मरी के समान पीड़ावाली गाँठ उत्पन्न हो जाती है, इसे मूत्रमन्थि कहा जाता है।

मूत्रशुक्ररोगस्य लज्ञ्याम्।

मृत्रितस्य स्त्रियं यातो वायुना शुक्रमुद्धतम् ।

स्थानाच्च्युतं मूत्रयतः पाक् पश्चाद्वा प्रवर्तते ॥ १४ ॥

भस्मोद्कप्रतीकाशं मूत्रशुक्रं तदुच्यते । वा० नि० अ० ६

श्चर्य—मूत्र के वेग को रोक कर जो मनुष्य मैथुन करता है उस का शुक्र वायु द्वारा दूषित एवं श्चर्यने स्थान से चल कर मूतते समय मूत्र के श्चागे या पीछे भस्म घोल के समान निकलता है। इसे 'मूत्र-शुक्र' कहा जाता है।

वक्तव्य-मूत्रशुक्रं तथा शुक्रमेह का भेद श्राप खोजिये। श्रथोष्णवातस्य लक्तणम्।

व्यायामाध्वातपैः पित्तं वस्तिं प्राप्यानिलान्वितम् ॥ १५ ॥ वस्ति मेद्रं गुदं चैव पदहेत् स्नावयेदघः ।

मूत्रं हारिद्रमथवा सरक्तं रक्तमेव वा ॥ १६ ॥

१---वस्तुतः यहाँ बस्ति का ऋर्थ 'बृक्क' समफना चाहिये। क्योंकि मूत्र-निर्माण का कार्य वे ही सम्पादित करते हैं।

२-इस गाँठ में पाषाणत्व एवं श्रहमरी के पूर्वरूपादि नहीं होते ।

यह रोग शुकाशयों के ढीले हो बाने के कारण होता है।

कृच्छ्रात्युन: पुनर्जन्तोरूष्णवातं ब्रुवन्ति तम् । सु० व० व० ४० श्रर्थ—ज्यायाम, मार्गगमन एवं द्याग या सूर्य की गर्मी लगने से वायु युक्त। पित्त बिस्त में पहुँचकर वस्ति, मृत्रमार्ग तथा गुद में विदाह (इसी कारण वहाँ की श्लैष्मिक कला में चत हो जाता है) कर देता है। जिस से हल्दी के घोल का सा ख्रथवा रक्तयुक्त मूत्र ख्रथवा केवल रक्त बड़ी कड़क के साथ बार बार उतरता है। इसे उष्णवात कहा जाता है।

मृत्रसादरोगस्य लत्तराम् ।

पित्तं कफो द्वाविप वा संहन्येतेऽनिलेन चेत् ॥ १७ ॥ कुच्छान्मूत्रं तदा पीतं श्वेतं रक्तं घनं स्रजेत् । सदाहं रोचना-शृङ्ख-नृर्ण-वर्णं भवेतु तत् ॥ १८ ॥

शुष्कं समस्तवर्णं वा मूत्रसादं वदन्ति तम् ।वा॰ नि॰ अ॰ ६

श्चर्य — केवल ित्त या कफ श्चथवा दोनों ही यदि वायु के साथ मिल जाते हैं तो कड़क के साथ पीला, श्वेत श्चथवा रक्त, गाढ़ा, दाहपूर्वक मूत्र उत्तरता है। जिस स्थान पर रोगी पेशाब करता है वहाँ सुखने पर गोरो-चन (कुछ पीला), शंखचूर्ण (सर्वथा श्वेत) के समान कुछ पदार्थ दिखायी पड़ता है। इसे 'मृत्रसाद' कहते हैं।

विड्विघातरोगस्य लत्त्रणम् ।

रूक्ष-दुर्बलयोवतिनोटावृत्तं शक्ववदा ॥१९॥

मूत्रस्रोतोऽनुपद्येत विट्संसृष्टं तदा नरः । विड्गन्यं मूत्रयेत्क्रच्छाद्विड्विघातं विनिर्दिशेत् ॥२०॥वा• नि• अ० ६

श्चर्य — रूखे एवं दुर्बल शरीरवाले रोगी का वायु पुरीष का उदावर्त्त कर देता है श्चीर वह पुरीष मृत्रक्षोतों में श्चा जाता है तब मनुष्य पुरीष मिश्रित श्रथवा पुरीष की गन्धयुक्त कड़क के साथ पेशाब श्चाता है। इसे 'विड्विघात' कहते हैं।

बस्तिकुण्डलरोगस्य लच्चणम् । द्वताध्वलङ्घनायासैरभिघातात्प्रपीडनात् । स्वस्थानाद्वस्तिरुद्वहत्तः स्थृलस्तिष्ठति गर्भवत् ॥२१॥ श्रूल-स्पन्दन-दाहा-ऽऽतीं विन्दुं विन्दुं स्रवत्यपि । पीडितस्तु सृजेद्धारां संस्तम्भोद्देष्टनार्तिमान् ॥२२॥ वस्तिकुण्डलमाद्रुस्तं घोरं शस्त्रविषोपमम् । पवनपवलं प्रायो दुर्निवारमबुद्धिभः ।

श्रर्थ—शीघतापूर्वक मार्गगमन, उझल कूद, परिश्रम, चोट एवं दबाव पड़ने के कारण बस्ति अपने स्थान से इधर उधर हटकर गर्भ के समान स्थूल हो जाती है उसमें शूल, स्पन्दन एवं दाह होता है। बूँद बूँद मूत्र भी उतरता है। इससे रोगी का शरीर श्रकड़ जाता है तथा उसमें ऐंठन ( खल्ली के समान ) हो जाती है। इस रोग को 'बस्तिकुएडल' कहते हैं। यह शस्त्र तथा विष के समान मारक होने के कारण बड़ा ही भीषण होता है। इसमें वायु इतना प्रबल होता है कि साधारण वैद्य इसकी चिकित्सा नहीं कर सकते।

वातस्य दोषान्तरानुबन्धवशाहिशेषळ्ज्ञणानि । तस्मिन्पित्तान्विते दाहः सूल्लं मूत्रविवर्णता ॥ २३ ॥ श्लेष्मणा गौरवं शोथः स्निग्धं मृत्रं घनं सितम् ।

अर्थ—उपर्युक्त वायु के साथ यदि पित्ते मिल जाता है तो दाह, गूल एवं मूत्र के वर्ण में परिवर्त्तन (पीलापन) हो जाता है एवं श्लेष्मा के मिलने से भारीपन, शोथ तथा चिकना, गाढ़ा और सफेद मूत्र होता है।

अथैतस्य साध्यासाध्यत्वम् ।

श्लेष्मरुद्धविलो बस्तिः पित्तोदीर्णो न सिध्यति ॥ २४ ॥ अविश्रान्तवितः साध्यो न तु यः कुण्डलीकृतः ।

ऋर्थ-किसी भी 'मूत्राघात' में यदि श्लेष्मा द्वारा बस्ति का मुख रुक जाय तथा पित्त ऋत्यन्त बढ़ जाय तो वह ऋसाध्य होता है ऋीर

१— गश्चात्य चिकित्सक इसी रोग के होने पर कहते हैं कि मूत्र का विष सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हो गया।

बस्ति का मुख यदि मूत्रमार्ग से सर्वधा हट नहीं गया अधवा मुझ नहीं गया है तो वह साध्य होता है।

कुण्डलीभूतस्यास्य लत्त्रणम् ।

स्याद्वस्तौ कुण्डलीभूते तृण्मोहः श्वास एव च ॥ २५ ॥

त्रर्थ — बस्ति। के कुरूडलीभूत होने पर प्यास, मोह त्र्यौर श्वास उत्पन्न हो जाते हैं।

#### अइमरी ( पथरी ) निदानम् ।

श्रथाश्मरीरोगस्य विवरणम् ।

वात-पित्त-कफैस्तिस्रश्रतुर्थी शुक्रजाऽपरा ।

ं प्रायः श्लेष्माश्रयाः सर्वा ऋश्मर्यः स्युर्यमोपमाः ॥ १ ॥

श्रर्थ—वातज, पित्तज, कफज एवं शुक्रज चार प्रकार की श्रश्मरी होती हैं। प्रायः सभी श्रश्मरियों के किए श्लेष्मा के संयोजक तत्त्व से परस्पर सँटे रहते हैं। ये यम के समान कष्टदायक होती हैं। विशोषयेद्दस्तिगतं सशुक्रं मृत्रं सिपतं पवनः कफ्तं वा।

यदा तदाञ्दमर्युपजायते तु क्रमेण पित्तेष्वित्र रोचना गोः ॥ २ ॥

नैकदोषाश्रयाः सर्वा,—

च० चि॰ अः २६

अर्थ—वायु जब बिस्त के भीतर शुक्र 'एवं पित्त से युक्त मूत्र को अथवा कफ को सुखाता जाता है तो कमशः अश्मरी बनती जाती है। जैसे गऊ के पिताशय में गोरोचन। सभी अश्मरियां केवल एक दोष से ही उत्पन्न नहीं होतीं।

श्रयाश्मरीरोगस्य पूर्वरूपम् ।

## — अथासां पूर्वलक्षणम् ।

- १—अश्मरी बस्ति के श्रातिरिक्त हृदय, यक्तत् एवं बृक्क आदि श्रंगों में भी होती है।
- २—यहाँ पर जो शुक्र की चर्चा की गयी है वह शुक्रारमरी के लिये ही सम-म्कृती वाडिये न कि बस्ति के भीतर होने वाले श्रारमियों के लिये ।

बस्त्याध्मानं तदासन्नदेशेषु परितोऽतिरुक् ॥ ३ ॥ मृत्रे बस्तसगन्थत्वं मृत्रकृच्छ्रं ज्वरोऽरुचि: । बर्गनि॰अ॰ १

अर्थ — अश्मरियों के पूर्वरूप ये हैं: — बस्ति में आध्मान, बस्ति के समीप सब ओर अत्यन्त पीड़ा, मूत्र में बकरे के मूत्र की सी गन्ध, मूत्र- कुच्छू, जार एवं आरुचि ।

त्रथाशमरीरोगस्य सामान्यत्तज्ञ्णम् । सामान्यत्तिङ्गं रुङ् नाभि—सेवनी—बस्ति—मूर्धसु ॥ ४ ॥ विश्वीर्णधारं मूत्रं स्यात्तया मार्गे निरोधिते । तद्व्यपायात्सुखं मेहेदच्छं गोमेदकोपमम् ॥ ५ ॥ तत्संक्षोभात्सते सास्नमायासाचातिरुग्भवेत् । वा॰ नि॰ अ० ६

श्रर्थ—श्रश्मरी के सामान्य लक्ष्ण ये हैं:—नाभि, सीवन, वस्ति एवं बस्ति के उपरी भाग (गवीनियों एवं बुक्कों) में पीड़ा, पथरी द्वारा मृत्रमाग रकने पर टूटी हुई धारा में मूत्र निकलना, श्रौर पथरी के हट जाने पर सुखपूर्वक मृत्र का उत्तरना। ऐसी दशा में मूत्र स्वच्छ एवं गोमे-दमिण के समान कुछ लाल होता है। कभी कभी पथरी के हिलने संबंधित के भीतर इत हो जाता है तो रक्तगुक्त भी मृत्र उत्तरता है। चलने फिरने श्रादि परिश्रमों से श्रत्यन्त पीड़ा होती है।

वातजाश्मरीरोगस्य लक्ष्णम्।
तत्र वाताद्व भृत्रं चार्तो दन्तान् खादति वेपते ॥ ६ ॥
गृह्णाति मेहनं नाभि पीडयत्यिनिशं क्वरण्त् ।
सानिलं मुश्चिति शकुन्मुहुर्मेहति बिन्दुशः ॥ ७ ॥
श्यावारुणाःश्मरी चास्य स्याचिता कण्टकेरिव । बा॰नि॰ख॰९
अर्थ—बातज अश्मरीके कारण रोगी अत्यन्त दुखी होता है। पीड़ा के मारे दांतों को दबाता' है, कांपता है, लिंग को पकड़ता है, नाभि को

सभी प्रकार की पीड़ाओं में रोगी ऐसा करते हैं । वस्तुतः रोगी को इसके
 कुछ श्राराम का श्रतुभव होता है ।

१४ मा०

दबाता है, निरन्तर हाय ! हाय ! करता रहता है । पुरीषोत्सर्ग के समय अधोवायु के साथ पुरीष त्याग करता है । बारम्बार बूंद बूंद पेशाब करता है । इसकी अप्रमरी का रंग काला और लाल होता है तथा उसके अपर छोटे छोटे कोटे होते हैं।

पैतिकाश्मरीरोगस्य तत्त्रग्णम् । पित्तेन दह्यते वस्तिः पच्पमान इवोष्मवान् ॥ ८ ॥

भञ्जातकास्थिसंस्थाना रक्तपीताऽसिताऽस्मरी । वा॰ नि॰ अ॰ ९ अर्थ-पितज अरमरी के कारण बस्ति में इतनी दाह होती है कि जैसे बस्ति पक रही हो एवं उसमें से वाष्प सी निकलती ज्ञात होती है। यह अरमरी भिलावे की गुठली के समान आकारवाली, लाल, पीली अथवा कुछ काली होती है।

कफजाश्मरीरोगस्य लच्चणम् ।

वस्तिर्निस्तुयत इव रत्तेष्मणा श्रोततो गुरुः ॥ ९ ॥

अश्मरी महती श्रुक्षा मधुतर्णाऽथवा सिता । बा॰ नि॰ नि॰ नि॰ अ॰ ९ अर्थ — कफन अरमरी के कारण बस्ति में सूई के चुभने की सी पोड़ा होती है तथा बस्ति ठएडी एवं भारी ज्ञात होती है। यह अरमरी बड़ी तथा अत्यन्त चिकनी, शहद के समान वर्णवाली अथवा सफेद होती है।

श्रथासां बालेपु प्रायिकत्वम्।

एता भवन्ति बालानां तेपामेव च भूयसा ॥ १० ॥

त्राश्रयोपचयाल्पत्वाद्वग्रहणाहरणे सुखाः। बा॰ नि॰ अ॰ ध

श्रर्थ—यह उपर्युक्त तीनों प्रकार की श्ररमिरयां प्रायः बालकों के होती हैं एवं उनकी बस्ति के छोटा होने एवं बस्ति के ऊपर की मांस पेशियों के पतली होने के कारण पथरी सुखपूर्वक पकड़ी एवं निकाली जा सकती हैं।

१-- युवा एवं वृद्धों को भी होती हैं।

शुकारमरी तस्य लज्ञ्णुश्चाह ।
शुकारमरी तु महतां जायते शुक्रधारणातु ॥ ११ ॥
स्थानाच्च्युतमम्रुक्तं हि मुक्कयोरन्तरेऽनिलः ।
शोषयत्युपसंगृह्य शुक्रं तच्छुकमश्मरी ॥ १२ ॥
वस्तिरुङ्-मूत्रकुच्छुत्व-मुक्कश्चयथु-कारिणी ।
तस्यामुत्पन्नमात्रायां शुक्रमेति विलीयते ॥ १३ ॥
पीडिते त्ववकाशेऽस्मिन्,—

श्रर्थ—शुकाश्मरी तो युवावस्था में चित्तत शुक्र के रुक जाने के कारण होती है। क्योंकि स्थान से च्युत होकर शुक्र जब बाहर नहीं निकलता तो (मेट्र एवं श्ररण्डकोष के मध्य में) वायु द्वारा सूख जाता है। बस् यही सूखा हुआ। शुक्राश्मरी का रूप धारण कर लेता है।

इससे बस्ति में पीड़ा, मूत्रकृच्छ्न एवं त्रारडकोष में सूजन हो जाती है। इस अरमरी की प्रारम्भिक त्रावस्था में थोड़ा बहुत शुक्र बाहर निक-लता है एवं उस प्रदेश के दबा देने से अरमरी लापता हो जाती है।

शर्करारोगस्य लच्चणम्।

--- अश्मर्येव च शर्करा।

त्रणुशो वायुना भिन्ना सा तिस्मन्नजुलोमगे ॥ १४ ॥ निरेति सइ मृत्रेण पतिलोमे निरुघ्यते । मृत्रस्रोतःपद्वता सा सक्ता क्वर्यादुपद्रवान् ॥ १५ ॥ दौर्वरुपं सदनं कार्यं क्विश्युलमथारुचिम् ।

पाण्डुत्वमुष्णवातं च तृष्णां हत्पीडनं विमम् ॥१६॥ सु॰ नि॰ अ॰ ९ अर्थ—अशमरी ही वायु द्वारा छोटे छोटे कर्णों में विभक्त होकर शर्करा बन जाती है। (इस का विशेष विवरण मृत्रकुच्छ के ६-१२

१—यह शुकाराय अथवा दृषण से शुकाराय तक के शुक्तमार्ग में हो सकती है, मूत्राराय में नहीं।

श्लोकों में देखिये।) वह शर्करा वायु के अनुलोम रहने पर मूत्र के साथ बह कर बाहर निकलती रहती है। एवं उस के प्रतिलोम होने पर रुक जाती है। जब कभी वह मूत्रमार्ग में आकर अटक जाती है तो निम्निलिखित उपद्रवों को कर देती है यथा—दुर्बलता, अवसाद, कुशता, कुनिग्रल, अरुचि, शरीर में पीलापन, उष्णवात (मूत्राघातोक्त), तृष्णा, हृदय में पीड़ा एवं वमन।

श्रथानयोरसाध्यलज्ञणम् ।

## पश्चननाभिष्टपणं बद्धमूत्रं रुजातुरम्।

त्रश्मरी क्षपयत्याशु सिकता शर्करान्विता ॥१७॥सु॰ सु॰ अ॰ ३३

श्चर्थ—जिस रोगी की नाभि एवं अरडकोष सृज गये हों, मूत्र रूक गया हो, अत्यन्त पीड़ा होती हो उस रोगी को बाद्ध की किएकाओं के समान रूप वाले कर्यों से युक्त अश्मरी मार डालती है।

# प्रमेह-प्रमहिषडकानिदानम्।

प्रमेहरोगस्य हेतवः सम्प्राप्तिश्च।

त्रास्यासुखं स्वप्नसुखं द्धीनि ग्राम्यौदकानूपरसाः पर्यासि ।

<sup>9—</sup>मेदा, वसा आदि शरीरोपयोगी द्रव्यों का मूत्रमार्ग द्वारा वह जाना ही "प्रमेह" कहलाला है। लोग "स्वप्नदोष" को भी "प्रमेह" कहले हैं किन्तु इसे पृथक ही रोग मानना उचित है। उपलब्ध प्रन्यों में इसकी चर्चा बहुत ही संचेप में की गई है, किन्तु यह इतना व्यापक रोग है कि शायद हो इस बुष्ट रोग से कोई बचा हो। पुरुषों के समान ही खियां भी इससे आहुती नहीं हैं। इसे मानसिक रोग मानना अनुचित नहीं है, क्योंकि स्वप्नावस्था में पाँचो ही कमेन्द्रियों पर मन का वैसा ही प्रभाव पहना है जैसा उपस्थिन्द्रिय (मैयुनोपयोगी अवयव अर्थात् लिक और योनि) पर। १-वागिन्द्रिय पर प्रभाव पहने से मनुष्य बहबहाता है। हस्त—हायों को हिलाता है अथवा पक इता है। पाद—उठकर चल पहता है। देखा गया है कि बहुत से बिस्तर आदि संकर चल पहते हैं। उपस्थ मेथुनानन्द का अनुभव करता है। यद अर्थात् मलवाही एवं मूत्रवाही अंगविशेष—मल एवं मूत्र का त्याग या उत्सर्ग करता है। यह सब स्वप्नदोष ही है। सच बात यह है कि जाप्रत् एवं सुप्रांति सरता है। यह सब स्वप्नदोष ही है। सच बात यह है कि जाप्रत् एवं सुप्रांति

नवान्नपानं गुडवेंकृतं च प्रमेहहेतु: कफकृच सर्वम् ।।१॥ च॰ चि॰ घ॰ ६ व्यर्थ—चैठें रहने में सुख मानना, सोने में सुख मानना व्यर्थात् व्यधिक वठें रहना एवं सीना, सब प्रकार के दही, गांवजल एवं कीचड़ में रहने वाले प्रािश्यों के मांस का रस (शोरुवा), सब प्रकार के दुग्ध, नवीन व्यन्न पान, गुड़ से बने पदार्थ तथा सभी कफकारक द्रव्य "प्रमेह" के कारण होते हैं।

त्रिदोषजमेहानां क्रमेण सम्प्राप्तिः। मेदश्र मांसं च शरीरजं च क्लेदं कफो वस्तिगतः प्रदूष्य । करोति मेहान् समुदीर्णमुष्णैस्तानेव पित्तं परिदूष्य चापि॥२॥ क्षीरोषु दोषेष्ववकृष्य थातृन् संदूष्य मेहान् कुरुतेऽनिलश्च।

श्रर्थ—उपर्युक्त कारणों से कुपित कफ, मांस, मेदा एवं शरीर के अन्यान्य लसीका शुक्र रसादि धातुश्रों को दूषित कर तथा बस्ति में खींच कर प्रमेह कर देता है। उच्चा पदार्थों से कुपित पित्त भी उन्हीं मेदा श्रादि को दूषित कर तथा बस्ति में ले जाकर प्रमेह कर देता है। इसी प्रकार कफिपत्त के कुछ घट जाने पर वायु शरीर की मेदा श्रादि धातुश्रों को दृषित कर तथा बस्ति में पहुँच कर प्रमेह कर देता है। साध्याः कफीत्या द्श, पित्तजाः पड्याप्या, न साध्यः पवनाचतुष्कः। समिकियत्वाद्विषमिकियत्वान्महात्ययत्वाच्च यथाक्रमं ते॥ ३॥ च० वि अ० ६

<sup>(</sup>गाढ निद्रा)के बीच की श्रवस्था को 'स्वप्न''या श्राईनिद्रा कहा जाता है। इस श्रवस्था में मन ईवरप्रस होता है। श्रातः इस समय मन उत्तरदायी भी नहीं होता श्रीर न श्राकर्मण्य ही होता है। श्रायीत् जाप्रत् में मन के कर्म (इन्द्रियाभिष्रहः कर्म मनसः स्वस्य निष्रहः। ऊही विचारख च० शा० श्रा० १) व्यवस्थित होते हैं श्रीर स्वप्न में श्राध्यवस्थित एवं सुषुप्ति में सर्वथा निष्ठद्ध। इस रोग की सफल चिकित्सा भी यही है कि जागो तो श्रच्छी तरह श्रीर सोश्रो तो श्रच्छी तरह। यही बात है कि जो लोग गहरे परिश्रम के बाद गहरी निद्रा लेते हैं उन्हें यह रोग कभी नहीं होता। मन की चश्चलता ही इस रोग का कारण है।

अर्थ — कफ के दश प्रमेह दोष द्रव्यों की चिकित्सा समान होने के कारण साध्य, पित्त के छः प्रमेह दोष-दृष्यों की चिकित्सा के विषय होने के कारण याप्य एवं वायु के चार प्रमेह मज्जा-ओज आदि महत्त्वपूर्ण धातुओं के दूषित होकर वह जाने के कारण श्रसाध्य होते हैं।

सर्वमेहानां दोषदृष्यसंग्रहः।

कफः सिपत्तः पवनश्च दोषा मेदोऽस्रशुक्राम्बुवसालसीकाः।

मजा रसौजः पिशितं च दूष्याः प्रमेहिणां विश्वतिरेव मेहाः॥ ४ ॥

য়া০ লি০ জা**০ য** 

श्चर्य—कफ, पित्त तथा वायु तीन दोष हैं श्चौर मेदा, रक्त, शुक्र, जल, वसा, लसीका, मजा, रस, श्चोज एवं मांस यह दस दूष्य ( दूषित होनेवाले ) हैं, इन दोष-दूष्यों के विविध प्रकार के परस्पर संयोग से बीस प्रकार के "प्रमेह" हो जाते हैं।

प्रमेहस्य पूर्वरूपाणि ।

दन्तादीनां मलाढ्यत्वं प्राग्नूषं पाणिपादयोः ।

दाहश्रिकरणता देहे तृरु स्वाद्वास्यं च जायते ॥५॥ वा० नि० अ० १०

ऋर्थ—दांत (तालु, गला, जीभ ख्रादि में ) श्रादि में अधिक मल इत्पन्न होना; हाथ, पांव में दाह; शारीर में चिकनाई श्रथवा चिपचिपाहट; ध्यास एवं मुख में मीठापन ये प्रमेह के पूर्वरूप हैं।

प्रमेहस्य सामान्यलद्गणम् ।

सामान्यं लक्षणं तेषां प्रभूताविलम्नत्रता ।

श्चर्य-परिमाण से अधिक मूत्र आना एवं मूत्र में उपर्युक्त दोषदूष्यों के बुल जाने के कारण गाढ़ापन होना ही प्रमेह का सामान्य या साधा-रण लक्षण है।

दोषद्ष्याविशेषेऽपि तत्संयोगविशेषतः ॥ ६ ॥

मृत्रवर्णीदिमेदेन भेदो मेहेषु कल्प्यते । वा॰ नि॰ म॰ १०

श्रर्थ-यद्यपि दोषदृष्यों में किसी प्रकार का भेद नहीं श्रर्थात् सभी प्रमेहों के वे ही तीन दोष और वे ही दस दृष्य कारण होते हैं तथापि उन दोषदूष्यों के संयोग या मिश्रण में भेद द्यर्थात् न्यूनाधिक्य होने के कारण मूत्र के वर्ण, रस, गन्ध एवं स्पर्श त्रादि में जो भेद दिखाई पड़ता है, उसी से प्रमेहों में भेद मान लिया जाता है।

श्लेष्मिकाणां दशमेहानां लच्चणानि ।

श्रच्छं बहु .सितं शीतं निर्गन्धमुद्दकोपमम् ॥ ७ ॥

मेहत्युदकमेहेन किञ्चिदाविलिपि च्छलम् ।

इक्षो रसिमवात्यर्थं मधुरं चेन्नुमेहतः ॥ ८ ॥

सान्द्रीभवेत पर्युषितं सान्द्रमेहेन मेहति ।

सुरामेही सुरातुल्यसुपर्यच्छमधो घनम् ॥ ९ ॥

संहृष्टरोमा पिष्टेन पिष्टवद्वहुलं सितम् ।

श्रकामं श्रकमिश्रं वा शुक्रमेही प्रमेहति ॥ १० ॥

मृतीण्तृ सिकतामेही सिकतारूपिणो मलान् ।

शीतमेही सुबहुको मधुरं भृशशीतलम् ॥ ११ ॥

शनैः शनैः शनैमेही मन्दं मन्दं प्रमेहति ।

लालातन्तुयुतं मूत्रं लालामेहेन पिच्छिलम् ॥१२॥ वा॰नि०म०३०

श्रर्थं—उदक' प्रमेह से स्वच्छ, बहुत, श्वेत, ठरुढा, गन्धरहित

९ — जैसे पश्चमहाभूतों के संयोगवैचित्र्य से विविध प्रकार के द्रव्यों की उत्पत्ति हो जाती है या तीन के दोषों के सम्प्राप्तिभेद से जैसे अनेक प्रकार के रोग उत्पत्न हो जाते हैं ठीक वेसे ही दो दोषदृष्यों के संयोगवैचत्र्य से प्रमेह भी बीस प्रकार के हो जाते हैं। प्रमेह में शरीर के भिन्न २ रस-गन्धादि से युक्त द्रव्य (धातूपधातु) मूत्र के साथ मिश्रित होकर निकलते हैं। इसी कारण मूत्र में भिन्न २ प्रकार के रस गन्धादि भी पाये जाते हैं। मूत्र का रस या स्वाद जानने के लिये लिटमस पैपर का प्रयोग किया जाता हैं— इस कागज को मूत्र में डालने से उसके अम्ब एवं क्षार नामक रसों का पता लग जाता है। यह कागज नीला एवं लाल होता है।

मूत्र में 'नीला लिटमस' भिगोने पर यदि वह लाल हो जाय तो मूत्र में अम्लरस की प्रधानता सममती चाहिये।

एवं जल के सदरा मृत्र आता है, किन्तु कुछ मिलन एवं चिपिचिपा होता है। इक्षुमेह 'से ईख के रस के समान अत्यन्त मीठा मृत्र आता है (इसमें भी चीटियां लग जाती हैं)। सान्द्रमेह से जो मृत्र आता है वह कुछ देर (१०-१२ घएटा) रखने से गाढ़ा हो जाता है। सुरामेह से मद्य के समान मृत्र आता है। इसे शीशी में टिका कर रख दिया जाय तो गाढ़ा भाग नीचे बैठ जाता है और ऊपर पतला या तरल भाग आ जाता है। पिष्टमेह से पीठी के पानी के समान गाढ़ा एवं श्वेत मृत्र आता है विध्या मृत्रते समय रोगी को रोमहर्ष हो जाता है। शुक्रमेह से शुक्र के समान अथवा शुक्र से मिश्रित मृत्र आता है।। सिकतामेह में मृत्र के साथ ठोस, छोटे २ बाल के कर्णों के से मलों के क्या निकलते हैं। शीतमेह में मीठा, अत्यन्त ठंढा एवं बार बार मृत्र आता है। शानमेंह में धीरे धोरो थोड़ा थोड़ा मृत्र आता है। लालामेह से लार या तन्तु (इसे रोगी कहा करता है कि मृत्र में लार पड़ती है) से युक्त एवं चिपचिपा मृत्र आता है। यह दश प्रमेह कफ के हैं।

पैत्तकमेहानां पर्य्यां लज्ञ्यानि ।
गन्धवर्णरसस्पर्शेः क्षारेण क्षारतोयवत् ।
नीलमेहेन नीलाभं कालमेही मसीनिभम् ॥१३॥
हारिद्रमेही कटुकं हरिद्रासिन्नभं दहत् ।
विस्तं माज्जिष्ठमेहेन मिज्जिष्ठासिललोपमम् ॥१४॥
विस्तं प्रतासिन्नभं रक्तमेहतः । बा० नि०७० १०

श्रीर यदि 'लाल लिटमस' नीला हो जाय तो मृत्र में क्षाररस की प्रधानता समक्रमी चाहिये।

<sup>9-</sup>मधुर्स की प्रधानता तो चीटियों के लगने से ज्ञात हो ही जाती है।

२--- शुक्रमेह में शुक्राभ एवं शुक्रमिश्र यह दो बार्ते पाई जाती हैं "शुक्राभ" में प्रोस्टेट प्रनिथ का श्वेत रस (यही अत्यन्त गाड़े शुक्र में मिल कर उसे पतला कर देता है इस प्रनिथ का उन्लेख आयुर्वेद के उपलब्ध प्रन्थों में नहीं मिलता) और "शुक्रमिश्र" में शुक्र ही श्राता हैं।

वातज प्रमेह हैं )।

अर्थ — चारमेह से चार ( चूना आदि ) के पानी के समान गन्ध, वर्ण, रस (स्वाद) एवं स्पर्शवाला मूत्र होता है ' । नीलमेह से नीला और कालमेह से सियाही जैसा काला मूत्र आता है । हारिद्रमेह से कडुवा, हल्दी के वर्ण से गुक्त एवं दाहपूर्वक मूत्र आता है । मिश्रिष्टामेह से दुर्ग- स्थ युक्त एवं मिश्रीट के काथ का सा ( गहरा पीला ) मूत्र आता है । रक्तमेह से दुर्गन्धगुक्त, गर्म, नमकीन एवं रक्त का सा लाल मूत्र आता है । ( यह छ: प्रमेह पित्त के हैं ) ।

वातिकमेहानां चतर्णां लच्नाणानि ।

वसामेही वसामिश्रं वसाभं मूत्रयेन्मुहु: ॥१५॥
मज्जाभं मज्जमिश्रं वा मज्जमेही मुहुर्मुहु: ॥
कपायं मधुरं रूक्षं क्षोद्रमेहं वदेद्व बुधः ॥१६॥
हस्ती मत्त इवाजसं मूत्रं वेगविवर्जितम् ॥
सलसीकं विवद्धं च हस्तिमेही प्रमहिति ॥१७॥ बा॰नि॰अ॰ १०
प्रार्थ—वसामेह से वसायुक्त मूत्र ज्ञाता है अथवा केवल वसा का
ही बार बार साव होता है ॥ मज्जामेह से केवल मज्जा ज्ञाती है
अथवा मज्जायुक्त बार बार मूत्र ज्ञाता है ॥ चौद्रमेह से कसेला, मीटा
एवं रूज्ज मूत्र ज्ञाता है ॥ हस्तिमेह से मदमत्त हाथी के समान वेग के

बिना ही अर्थात् सर्वेदा मृत्र आता रहता है। यदि कुछ काल के लिये रुकता है तो फिर लसीका से मिश्रित मृत्र आता है। (यह चार

<sup>9 —</sup> चूना या जवाखार को पानी में घोल दीजिये, फिर देखिये कि उसका जल कैसा है।

२- वायु के इन चारों प्रमेहों पर ध्यान देकर देखिये, ये कितने भीषण हैं। यही कारण है कि ये द्यसाध्य हैं। ये प्रमेह प्रायः मस्तिष्क से द्राधिक काम लेने वाझे, गद्दी पर पड़े २ मजे उड़ाने वाले, झत्यन्त विलासी लोगों को होते हैं और प्रायः बुढ़ापे में हस्तिमेह हो जाता है। क्षौद्रमेह का ही नाम मधुमेह है (देखिये बाग्मट और चरक)।

त्रिदोषजमेहानामुपद्रवाः ।

श्रविपाकोऽरुचिश्छर्दिर्निद्रा कासः सपीनसः।

उपद्रवाः प्रजायन्ते मेहानां कफजन्मनाम् ॥ १८ ॥

वस्तिमेहनयोस्तोदो ग्रुष्कावदरणं ज्वरः।

दाइस्तृष्णाऽम्लिका मुर्च्छा विड्मेदः पित्तजन्मनाम् ॥१६॥

वातजानामुदावर्तः कम्पहृद्वग्रहलोलताः ।

श्रूलमुनिद्रता शोषः कासः श्रासश्र जायते।।२०।। वा॰ नि॰ अ॰ १॰

अर्थ—कफप्रमेह के उपद्रव यह हैं—अपन, अक्ति, कै, नींद की अधिकता, खांसी एवं पीनस । पितप्रमेह के उपद्रव यह हैं—बिस्त एवं मूत्रमार्ग में व्यथा, गुटकावद्रग्ण (चिन्त्यं) ज्वर, दाह, प्यास, खट्टे उद्गार आना, मूच्छी एवं अतिसार। वायु के प्रमेह के उपद्रव यह हैं उदावर्त्त, कम्प, हृदयमह, सब कुळ खाने की इच्छा, शूल, निद्रानाश, शोष, कास एवं श्वास।

प्रमेहस्यासाध्यलच्चग्रम् ।

यथोक्तोपद्रवाविष्टमतिशस्त्रतमेव च।

पिडकापीडितं गाढः प्रमेहो हन्ति मानवम् ॥२१॥ वा० नि० अ० १०

श्चर्य-उपर्युक्त उपद्रवों से युक्त, जिस के मूत्र के साथ सब धातु श्चर्याधक मात्रा में निकल रहे हों।श्चीर वस्त्यमाण पिड्काओं (शराविका श्चादि) से पीड़ित रोगी को प्रमेह शीघ्र मार डालता है'।

प्रकारान्तरेगासाध्यलचग्रम् ।

जातः प्रमेही मधुमेहिनो वा

न साध्य उक्तः स हि बीजदोषात् ।

१--वायु के सभी वगद्रव बड़े भीषण हैं, किन्तु उन में भी हृद्भह (हार्ट-फेल) वहा भीषण है। इन रोगियों की प्रायः इसी से यृत्यु होती है।

२---यों तो यह बुष्ट रोग बहुत काल पर्यन्त साथ देता है। भगवान् श्राप्त-वेश ने 'अमेहोऽत्रवंगिनाम' कहा है।

ये चापि के चित् कुलजा विकारा

भवन्ति तांस्तान् प्रवदन्त्यसाध्यान् ॥ २२ ॥ च॰ च॰ च॰ च॰ च॰ चथं – प्रमेह से पीड़ित अथवा मधुमेहपीडित माता-पिता की सन्तान को भी (जन्म से ही अथवा कुछ समय के अनन्तर ) प्रमेह हो जाता है तो वह बीज (रज वीर्य) के विकार के कारण असाध्य होता है। यही नहीं अपितु अन्यान्य भी जो (कुछ, अर्श आदि ) कुल या वंशज रोग होते हैं, वे भी असाध्य कहे जाते हैं।।

मधुमेहस्य लच्चणम्।

सर्व एव प्रमेहास्तु कालेनाप्रतिकारिणः।

मधुमेहत्वमायान्ति तदाऽसाध्या भवन्ति हि ॥२३॥ पु॰ नि॰ भ॰ ६

श्रर्थ—सभी प्रमेह उचित चिकित्सा न होने से समय पाकर "मधु-मेह" या चौद्रमेह हो जाते हैं। ऐसी दशा में वे श्रासाध्य भी हो जाते हैं। मधुमेह चौद्रमेह से भिन्न नहीं है।

मधुमेहे मधुसमं जायते स किल द्विधा।

कुद्धे धातुक्षयाद्वायौ दोषाष्ट्रतपथेऽथवा ॥ २४ ॥

श्रर्थ—मधुमेह में मूत्र मधु के समान तो होता ही है, किन्तु वह दो प्रकार से उत्पन्न होता है १—धातुत्रों के चय (मूत्र द्वारा बह जाने के कारण वायु का कोप होने से ) से २—दोषों द्वारा मार्ग हक जाने के कारण वायु का कोप होने से ।

त्रादृतो दोषतिङ्गानि सोऽनिमित्तं प्रदर्शयन् । क्षणात्क्षीणः क्षणात्पूर्णो भजते कृच्छुसाध्यताम् ॥ २५ ॥

<sup>9—</sup>देखा जाता है कि कुछ, अर्थ एवं श्वेत कुछ आदि से पीहित माता-पिता की बहुत सी सन्तानों में से कुछ नीरोग तथा कुछ उन रोगों के रोगी होते हैं और यह भी देखा गया है कि तीसरी पीड़ी (पुस्त) में जाकर रोग का प्रादुर्भीव होता है। इससे सिद्ध होता है कि रोग का बीज भी अपने अवुकृत हेतु तथा सम्प्राप्ति पा कर ही उगता है।

त्र्यं—त्रावृत त्रर्थात् मार्ग रुकने से कुद्ध वायु कारणों के बिना ही स्वल्प कारणों से कुद्ध होकर अपने लच्चणों को प्रकट किया करता है। अतः वह च्चण २ में घटता बढ़ता है और इस दशा में प्रमेह कुच्छुसाध्य होता हैं'।

मधुरं यच मेहेषु प्रायो मध्विव मेहति ।

सर्वेऽपि मधुमेहारूया माधुर्याच्च तनोरतः ॥२६॥ वा॰ वि॰ व॰ १०

अर्थ-प्रायः सभी प्रमेहों में मधु के समान जो मीठा मूत्र आता है इस कारण वे सभी प्रमेह "मधुमेह" कहे जाते हैं। क्यों कि शरीर में महत्त्वपूर्ण या अत्युपयोगी सभी धातु मीठे हैं। प्रमेह में वे ही धातु मृत्र के साथ निकला जा रहा है ।

प्रमेहांपडकानिदानम् । शराविका कच्छिपिका जालिनी विनताऽलजी । मसुरिका सर्पपिका पृत्रिणी सिवदारिका ॥ २७ ॥ विद्रिधिश्चेति पिडकाः प्रमेहोपेक्षया दश्च । सन्धिमर्मसु जायन्ते मांसलेषु च धामसु ॥२८॥ बार्ण निर्णं विकास विकास । अर्थ —प्रमेह की उचित चिकित्सा न करानेके कारण निम्न लिखित

<sup>9—</sup>मधुमेह तो श्रक्षाध्य ही होता है फिर यह कुच्छूसाध्य क्यों कहा गया है १ इसका उत्तर यह है कि इस दशा में शारीरिक धातु नष्ट ही हो जाते हैं। श्रतः बल भी नष्ट नहीं हो जाता जिससे रोगी धुश्रुतोक्त कूपखनन, पृथ्वीश्रमण श्रादि कठिन कुत्यों का सम्पादन कर एवं कड़े से कड़े पथ्यादि का सेवन कर श्रारोग्य लाभ कर सकता है श्रीर धातुक्षय से जो मधुमेह होता है वह तो सर्वथा श्रमाध्य होता ही है। क्योंकि उससे बल भी क्षोण हो जाता है। इसे पूर्णतया समम्कने के लिये "बलाधिष्टानमारोग्यम्" स्मरण रखिरे।

दश पिडकाएं सन्धि, मर्म एवं मांसल स्थानों में निकलने लगती है। इनके नाम इस प्रकार हैं—र—शराविका, २—कच्छिपिका, ३—जालिनी, ४-विनता, ४—ऋलजी, ६—मसूरिका, ७—सर्षिपका, ८—पुत्रिग्री, ९—विदारिका और १०—विद्रिध।

सर्वासां प्रमेहिपिडकानां लज्ञ्णानि ।
अन्तोन्नता तु तद्र्पा निम्नमध्याशराविका ।
गोरसर्पपसंस्थाना तत्प्रमाणा च सर्षपी ॥ २९ ॥
सदाहा कूर्मसंस्थाना क्षेया कच्छिपका दुधैः ।
जालिनी तीब्रदाहा तु मांसजालसमाष्टता ॥ ३० ॥
अवगाढक्जाक्लेदा पृष्ठे वाऽप्युदरेऽपि वा ।
महती पिडका नीला विनता नाम सा स्मृता ॥ ३१ ॥
महत्यव्पचिता क्षेया पिडका चापि पुत्रिणी ।
मस्राकृतिसंस्थाना विक्रेया तु मस्रिका ॥ ३२ ॥
रक्ता सिता स्फोटचिता दास्णा त्वलजी भवेत ।
विदारीकन्दवदृदृत्ता कठिना च विदारिका ॥ ३३ ॥
विद्रभेर्लचेर्णैर्युक्ता क्षेया विद्रिषका तु सो । वाः नि॰ अ० १०

अर्थ—सब श्रोर से ऊंची तथा बीच में नीची ठीक कसोरे (टूटी) कीसी "शराविका" नामक पिडका होती है । श्वेत सरसों के दाने के सहश आकृतिवाली एवं उतनी ही छोटी "सर्पिका" नामक पिडका होती है । दाहयुक्त एवं कहुए की पीठ के सहश ऊँची तथा कटोर "कच्छपिका" होती है । भीषण दाहवाली तथा मांसपेशियों से ढकी हुई (गहरी) "जालिनी" होती है । पीठ पर श्रथवा उदर पर गहरी पीड़ा एवं सड़न से युक्त तथा नीले वर्णवाली बड़ी जो पिड़का (फोड़ा) होती है, उसे "विनता" कहा जाता है । एक बड़ी पिडका जो कि छोटी २ बहुत-सी

१--यही वह प्रसिद्ध भयंतर फोड़ा है जिसे "श्रदीठ" या कारवकल कहते हैं।

पिडकाओं से घिरी रहती है उसे "पुत्रिशी" कहते हैं। मसूर ( मसरी ) के आकार प्रवं वर्ण से युक्त पिडका "मसूरिका" होती है। लाल अथवा श्वेत, फफोलों से ज्याप्त एवं भयंकर "आलजी" होती है। विदारीकन्द के समान गोल एवं कठोर पिडका "विदारिका" होती है। विद्रिधि के लक्ष्णों से युक्त "विद्रिधिका" नामक पिडका होती है।

पिडकानामुत्पत्तौ कारणानि ।

ये यन्मयाः स्मृता मेहास्तेषामेतास्तु तन्मयाः ॥ ३४ ॥

विना प्रमेहमप्येता जायन्ते दुष्टमेदसः।

तावच्चेता न लक्ष्यन्ते यावद्वास्तुपरिग्रहाः ॥३५॥ च॰सू॰अ॰ १७

श्रर्थ—जो प्रमेह जिस दोप से होता है, उसकी यह पिडका भी उसी दोष से होती (श्रर्थात् वातजनित प्रमेह में वातजनित ही पिडका होती है। इसके लिए विरोषरूप से टोपविवेचना करने की श्रावश्यकता नहीं है) है, किन्तु यह प्रमेह के बिना भी मेद धातु के दोष से उत्पन्न हो जाती है श्रीर ऐसी दशा में तब तक यह प्रत्यत्त श्रथवा अंची नहीं होती जब तक श्रपनी चकली नहीं बना लेती।

श्रथासाध्यपिडकानां लक्तगानि ।

गुदे हृदि शिरस्यंसे पृष्ठे मर्मसु चोत्थिताः।

सोपद्रवा दुर्बलाग्ने: पिडका: परिवर्जयेत ॥ ३६ ॥ सुरु निरु अरु ६

श्रर्थ—यह पिडका यदि गुद, हृदय, सिर, कन्धे, पीठ एवं मर्म-स्थानों में हो श्रीर उपद्रवों से युक्त एवं मन्दापि से युक्त हो तो श्रसाव्य होती है।

पिडकानामुपद्रवाः ।

तृद्-कास-मांस-संकोच-मोह-हिक्का-मदज्वराः। विसर्प-मर्मसंरोधाः पिढकानाम्रुपद्रवाः॥ ३७॥

अर्थ-प्यास, खांसी, मांस में सिक्कड़न, मोह (अर्छ मूर्छा) हिचकी, मर, ज्वर, विसर्प एवं मर्मस्थानों का रुक जाना यह सब पिडकाओं के उपद्रव हैं।

## मेदोरोगानिदानम्।

मेदोरोगस्य हेतु-सम्प्राप्ति-लच्चणानि च । श्रव्यायाम-दिवास्वप्त-श्लेष्मलाहार्-सेविन: । मधुरोऽत्ररसः प्रायः स्नेहान्मेदः प्रवर्धयेतु ॥ १ ॥ मेदसाऽञ्चतमार्गत्वात् पुष्यन्त्यन्ये न धातवः । मेदस्तु चीयते तस्मादशक्तः सर्वकर्मसु ॥ २ ॥ न्नद्रश्वास-तृषा-मोह-स्वम-क्रथन-सादनैः। युक्तः च्चत-म्वेद-दुर्गन्धैरल्पपाणोऽल्पमैथुनः ॥ ३ ॥ मेदस्तु सर्वभ्रतानामुदरेष्वस्थिषु स्थितम् । त्र्यत एवोदरे दृद्धिः प्रायो मेदस्विनो भवेत ॥ ४ ॥ मेदसाऽञ्चतमार्गत्वाद्धातुः कोष्ठे विशेषतः । चरन् सन्धुक्षयत्यविमाहारं शोषयत्यपि ॥ ५ ॥ तस्पात् स शीघ्रं जरयत्याहारमभिकाङ्क्षति । विकारांश्वाप्तुते घोरान् कांश्वित कालव्यतिक्रमात् ॥ ६ ॥ एताबुपद्रवकरौ विशेषादग्निमारुतौ । एतौ तु दहतः स्थूलं वनदावो वनं यथा ॥ ७ ॥ मेदस्यतीव संद्रद्धे सहसैवानिलादयः। विकारान दारुणान कृत्वा नाज्ञयन्त्याशु जीवितम् ॥ ८ ॥ अर्थ-ज्यायाम न करने से, दिन में अधिक सोने से एवं कफ-कारक त्राहारों के सेवन से ब्रन्न का रस मीठा होकर ब्रापनी स्निग्धता से प्रायः मेदा (केवल मेदा) धातु को बढ़ा देता है। इस मेदा ढ़ारा

१—यह राग उन लोगों को होता है जो श्रात्यधिक क्लिग्ध पदार्थ खाकर गहीं पर पड़े रहते हैं तथा परिश्रम नहीं करते । पहलवानों के सब धातु पुष्ट होते हैं और श्रान्य लोगों को केवल मेद पुष्ट होता है ।

अन्यान्य धातुत्रों को मार्ग एक जाने ( कुछ एकते हैं सर्वथा नहीं ) के कारण अन्यान्य धातु पुष्ट नहीं होते, किन्तु केवल मेदा का सम्चय होता जाता है। अतः आगे मनुष्य सब कार्यों में असमर्थ होने लगता है। ( धीरे २ ) क्षुद्र श्वास, प्यास, मोह, नींद की ऋधिकता, सोते समय गला या नाक बोलना (घराडे) थकावट, भूख की एवं खेद की अधि-कता, शरीर से दुर्गन्ध आना, बल का हास तथा मैथन में असमर्थता भी आ घेरती है। क्योंकि मेदा सभी प्राणियों के उदर में तथा अस्थि-यों के ऊपर रहता है, अतएव प्रायः अर्थात् शरीर के अन्य भागों की अपेक्षा उदर ही में अधिक वृद्धि होती है। मेदा द्वारा मार्ग स्कने के कारण कोष्ठ में वायु विशेष रूप से घूमता है, अतएव अप्रि बढ़ जाती है। आहार घटता जाता है, यही कारण है कि वह शीघ ही पच जाता है ऋौर पुनः भूख लग आती है। यदि थोड़े समय के लिये भोजन न मिला तो वह मनुष्य भीएगा रोगों से पीड़ित हा जाता है। सचमुच यह ऋित तथा वायु ही विशेष उपद्रव उत्पन्न करते हैं ऋौर उस मेदस्वी पुरुप को इस प्रकार जला डालते हैं, जैसे बनाग्नि वन को । मेदा ऋत्यन्त बढ़ जाने से वायु आदि दोष एकाएक भीषण रोगों को उत्पन्न कर जीवन को नष्ट कर देते हैं।

मेदोमांसातिहद्धस्त्राचलस्फिगुदरस्तनः । श्रयथोपचयोत्साहो नरोऽतिस्थूच उच्यते ॥ ९ ॥

श्रर्थ—जिसके मेदा एवं मांस के श्रत्यन्त बढ़ जाने के कारण चूतड़, उदर एवं स्तन बढ़कर थलथल हिलने लगते हैं श्रीर मोटापन तथा उत्साह (हौसला) बुरी तरह बढ़ जाता है ता उसे "श्रतिस्थूल" कहते हैं।

# उदररोगनिदानम्।'

श्रथोदररोगस्य मुख्यं निदानम् । रोगाः सर्वेऽपि मन्देऽयो सुतरामुदराणि च ।

<sup>9—</sup>इस रोग में उदर के सभी यन्त्र बिगड़ जाते हैं। यथा—झिरेन मन्द हो जाता है। हृदय सुचारुरूप से रक्त-परिचालन नहीं करता है। फुफ्फुर्सों की रक्त-

अजीर्णानमिलनिश्चान्नेजीयन्ते मलसञ्चयात् ॥१॥ बा॰िन०अ०११ अर्थ—यद्यपि सभी रोग जठराग्नि (पाचनराक्ति) के दुर्बल हो जाने पर ही होते हैं; किन्तु उदररोग तो अवस्यमेव अग्निमान्य से होता है। अतएव अजीर्ण, मलिन या दृषित अन्तों का सेवन एवं मलस अय भी इसका कारण है।

ऋथोद्ररोगस्य सम्प्राप्तिः ।

रुद्भध्वा स्वेदाम्बुवाहीनि दोषाः स्रोतांसि संचिताः ।

प्राणाग्न्यपानान् संदूष्य जनयन्त्युद्रं नृणाम्॥२॥च०चि०अ०१८

अर्थ—वातादि दोष स्वेद तथा जलवाही स्रोतों में सिश्चत होकर तथा उन्हें रोक कर और प्राण् (हृदयगत वायु), अग्नि, एवं अपान (मला-शयगत वायु) को अत्यन्त दूषित कर "उदररोग" को उत्पन्न कर देते हैं।

त्रथोदररोगस्य सामान्यत्तत्त्त्यानि । त्र्याध्मानं गमनेऽशक्तिदौर्बस्यं दुर्बताग्निता । शोथः सदनमङ्गानां सङ्गो वातपुरीषयोः ॥ ३ ॥ दाइस्तन्द्रा च सर्वेषु जटरेषु भवन्ति हि ।

ऋर्थ--- ऋफरा, चलने में ऋसमर्थता, दुर्बलता, ऋग्निमान्दा, शोथ, ऋंगों की शिथिलता, वायु एवं विष्ठा का क्कना, दाह तथा तन्द्रा यह सभी उदररोगों में पाये जानेवाले लन्नण हैं।

शोधन-किया एवं श्वासोच्छ्वास-किया विक्कत हो जाती है। यक्कत तथा प्लोहा द्राषित श्रयवा बढ़ जाते हैं। क्लोम भी ठीक नहीं रहता । वृक्क रक्त में से पूर्ववत् मूत्र नहीं छानते, श्रतः वह रक्त में ही रहता जाता है एवं स्वेदन निकलकर स्वचा में ही सिंबत होता जाता है। इन सबका फल होता है—"स्टर्-रोग"।

१ — त्रजीर्ण श्रादि तीनों हेतु श्रों का मूल हेतु भी श्राग्निमान्य ही है।

२—ऋौर पूर्वरूप यह है--

तत्पूर्वरूपं बलवर्णकांक्षा वलीविनाशो जठरे हि राज्यः ।

जीर्णापरिज्ञानविदाहवत्यो बस्तौ रुजः पादगतस्य शोफः । सु० नि० प्र० ७

पृथग्दोषेः समस्तैश्र प्लीहबद्धक्षतोदकैः ॥ ४ ॥ सम्भवन्त्युद्राण्यष्टो तेषां लिङ्गं पृथक् शृरणु । छुव्निव्सव्ध ऋर्थ-वात, पित्त, कफ, सन्निपात, प्लीहा, बद्ध, ज्ञत एवं उदक के कारण त्राठ प्रकारके उदर रोग होते हैं । उनके लज्ञण पृथक् २ सुनिये ।

वातोद्रस्य लज्ञणानि ।
तत्र वातोद्ररे शोथः पाणि-पान्-नाभि-कुक्षिषु ॥ ५ ॥
कुक्षि-पार्श्वोद्रर-कटी-पृष्ठ-रुक् पर्वभेदनम् ।
शुष्ककासोऽज्जमदोंऽथो गुरुता मलसंग्रहः ॥ ६ ॥
श्यावारुणत्वगादित्वमकस्माद्दृद्धि-हासवत् ।
सतोद्-भेद्गुद्रं तनु-कृष्ण-सिराततम् ॥ ७ ॥
श्राध्मातदृत्विच्छुब्द्माहृतं प्रकरोति च ।

वायुश्चात्र सस्कृशब्दो विचरेत्सर्वतो गति: ||८|| वा॰ नि॰ अ॰ १२ अर्थ — वातोदर के लज्ञरा यह हैं — हाथ, पाँच, नाभि एवं आमाशय पर शोथ, आमाशय, पसवाड़ों, सम्पूर्ण पेट, कमर एवं पीठ में पीड़ा, पर्वों (सिन्धयों) में पीड़ा, सूखी खाँसी, शरीरपीड़ा, कमर के निचले भाग में भारीपन, मल का रक जाना, त्वचा-नेत्र-मूत्र आदि में काला-पन एवं सुर्खी, प्रत्यत्त कारणों के विना ही उदर का बढ़ना तथा घटना, उदर में व्यथा एवं फटने कीसी पीड़ा, उदर पर पतली २ एवं काली २ सिराओं का दिखाई पड़ना, पेट को उगलियों से बजाने पर फुलाई हुई मशक के समान ध्वनि निकलना और पीड़ा एवं शब्द (कुलल २ या गड़ २) करते हुए वाय का पेट में इधर-उधर घमना।

पितोदरस्य लज्ञागानि। पित्तोदरे ज्वरो मूर्च्छा दाहस्तट्कदुकाऽऽस्यता। भ्रमोऽतिसार: पीतत्वं त्वगादायुदरं हरित्॥ ९॥ पीत-ताम्र-सिरानद्धं-सस्वेदं सोष्म दह्यते। धृमायते सृदुस्पर्शं क्षिपपाकं प्रदूयते॥ १०॥ बा० वि० अ० १२ अर्थ—िपत्तोदर के लक्त्या यह हैं-ज्वर, मूच्छी, दाह, प्यास, मुख में क्डुवापन, भ्रम, अतिसार, त्वचा आदि में पीलापन, उदर पर हरापन, पेट पर पीली एवं लाल सिराओं का दिखाई पड़ना, पेट में पसीना तथा उदमा (भाप) के साथ दाह होना, रोगी को धूआँ-सा निकलता ज्ञात होना, स्पर्श करने से उदर कोमल जान पड़ना, शीघ्र ही जलोदर हो जाना और उसमें अत्यन्त सन्ताप का अनुभव होना।

कफोदरस्य तत्त्त्यानि । श्लेष्मोदरेऽङ्गसदनं स्वाप-श्वयथु-गौरवम् । निद्रोत्क्रेशोऽरुचि: श्वास: कास: शुक्रत्वगादिता ॥११॥ उद्रं स्तिमितं स्त्रिग्धं शुक्लराजीततं महत् । चिराभिद्रद्धं कठिनं शीतस्पर्शं गुरुस्थिरम्॥१२॥ वा• नि० अ• ३२

अर्थ—कफोदर के लत्त्त्या यह हैं—अंगों में शिथिलता, निद्रा, शरीर में शोध एवं भारीपन की अधिकता, पेट गिलगिला-सा चिकना, श्वेत शिराओं से ट्याप्त एवं बहुत बड़ा हो जाना एवं उसका धीरे २ बढ़ना, कठिन हो जाना, स्पर्श करने से ठएडा प्रतीत होना, भारी तथा चिरकाल (कई मास) तक अपने ही रूप में रहना अर्थात् पित्तोदर के समान शीव जलोदर न होना।

सन्निपातोदरस्य लच्चणानि ।

स्त्रियोऽन्नपानं नख-जोम-मूत्र-विडार्तवैर्युक्तमसाधुद्वताः ।
यस्मै प्रयच्छन्त्यस्यो गरांश्च दृष्टाम्बु-दूषीविष-सेवनाद्वा ॥ १३ ॥
तेनाशु रक्तं कृषिताश्च दोषाः कुर्युः सुघोरं जठरं त्रिलिङ्गम् ।
तच्छोतवाते भृशदुर्दिने च विशेषतः कुष्यति द्द्यते च ॥ १४ ॥
स चातुरो मुद्यति हि प्रसक्तं पाण्डुः कृशः शुष्यति तृष्ण्या च ।
दृष्योदरं कीर्तितमेतदेव— वार्जिण्डा स्त्रिसं कोर्तितमेतदेव वार्जिण्डा स्त्रिसं कोर्तितमेतदेव वार्जिण्डा स्त्रिसं नाखून, लोम, मूत्र, पुरीष एवं रज

मासिकधर्म के स्नाव ) से युक्त खाने-पीने के पदार्थ में दे देती हैं। श्रथवा शत्रु कई प्रकार के गर विष (जो सद्योमारक नहीं होते ) देते हैं, इन कारणों से, अथवा दृषित जल तथा दृषीविष (शीघ न मारकर धातुओं को दूषित करनेवाला) के सेवन से (शीघ ही रक्त एवं वातादितीनों दोष कुषित होकर अपने उपर्युक्त लक्षणों से युक्त भीषण "उदररोग" को उत्पन्न कर देते हैं। शीत वायु चलने पर एवं बादल छाये रहने पर यह उदररोग विशेषरूप से कष्ट देता तथा तपने लगता है। इसका रोगी प्रायः बेहोश या बदहोश हो जाया करता है, पाग्डुरोग, ऋशता एवं प्यास से पीड़ित हो जाता है। इस उदररोग का दूसरा नाम दृष्योदर भी है।

क्रीहोदरस्य लच्चणानि ।

— ष्ठीहोद्रं कीर्तयतो निवोध ॥१५॥ विदाह्यभिष्यन्दिरतस्य जन्तोः प्रदुष्टमत्यर्थमसृक् कफश्च । ष्ठीहाभिष्टद्धं कुरुतः प्रदृद्धौ ष्ठीहोत्थमेतज्जठरं वदन्ति ॥१६॥ तद्वामपार्श्वे परिष्टद्भिति विशेषतः सीद्ति चातुरोऽत्र । मन्दज्वराग्निः कफिपत्तिलङ्गैरुपद्वतः क्षीणवलोऽतिपाण्डः । सच्यान्यपार्श्वे यकृति प्रदृद्धं क्षेयं यकृदाल्युद्रं तदेव ॥१७॥

सु० नि० अ० ७

<sup>9—</sup>यंग्रिप यहाँ यह दुष्कर्म दुराचारिणी श्रियों का ही बतलाया है। किन्तु यह उस प्रसिद्ध कार्मण या कामण का ही एक तुस्खा है। जिस का प्रचार आज सम्पूर्ण मानव हिन्दू-समाज में धार्मिक संस्कारों के साथ र प्रचलित है और इसे समाज की बूढ़ियां एवं बड़े-बूढ़े तथा गुरु या पुरोहित अपने अवोध बच्चों और बच्चियों के द्वारा बड़े चाव से सम्पन्न करवाते हैं। बहुत-से सिद्ध महारमा कहे जाने वाक्षे धूर्त आज भी इस की कमाई खाते हैं और बिशेषता यह है कि यह सब होता है परस्पर प्रेम लगाने या बढ़ाने के नाम पर या सौभाग्यवती बनने के लिये। शोक ! प्यारे विवार्थियों ! इसे समम्मने के लिये अपने देश में विवाह हादि के अवसर पर होने वाले सभी कृत्यों पर भली भाँति ध्यान दो और अपने बढ़ों से पूंछों।

श्रथं—स्लीहोदर का वर्णन भी समिभये—विदाहकारी एवं श्रभिष्य-न्दी पदार्थों के श्रधिक सेवन से बढ़े हुए रक्त तथा कफ श्रद्यन्त दूषित हो-कर फ़ीहा को बढ़ा देते हैं। बस इसी को "फ़ीहोदर" कहा जाता है। यह पेट में बाई श्रोर बढ़ता है, इससे रोगी विशेष रूप से शिथिल हो जाता है। मन्द २ ज्वर रहता है, श्रिभ मन्द हो जाती है, कफ-पित्त (निम्निलिखित) के लक्षण श्रा घेरते हैं, दुबलता एवं पाएडुरोग हो जाता है। ठीक इसी प्रकार यिंद दाहिनी श्रोर यष्ट्रत् बढ़ जाता है तो उसे "यक्टहाल्युदर" कहते हैं।

श्रथात्र दोषाणां सम्बन्धः।

उदावर्त-रुजा-ऽऽनाहैमीह-तृड्-दहन-ज्वरै:।

गौरवा-ऽरुचि-काठिन्यैर्विद्यात्तत्र मलान् क्रमात् ॥१८॥वा• वि० व० १२

श्रर्थ—उपर्युक्त प्लीहोदर या यक्टदाल्युदर में वायु श्रादि दोषों की विवेचना करनी चाहिये—उदावर्त्त, पीड़ा एवं श्रानाह से वायु; मोह, प्यास, दाह एवं ज्वर से पित्त; तथा गौरव, श्रव्यचि एवं कठोरता से कफ का कोप जानना चाहिये।

बद्धगुरोदरस्य लज्ञणानि । यस्यान्त्रमन्नैरुपलेपिभिर्वा वालाश्मभिर्वा पिहतं यथावत् । संचीयते तस्य मलः सदोषः शनैः शनैः संकरवच्च नाड्याम् ॥१९॥ निरुध्यते तस्य गुदे पुरीषं निरेति कृच्छादांप चाल्पमल्पम् । हुन्नाभिमध्ये परिद्यद्धिमेति तस्योदरं बद्धगुदं वदन्ति ॥ २० ॥

सुः निः भ॰ ७

<sup>9—</sup>इस रोग में प्लीहा अथवा यक्त इतने सूज जाते हैं कि आप पसिलयों के नीचे पेट में हाथ से दवाकर स्पर्श कर सकते हैं, कभी २ इतने कोमल होते हैं कि स्पर्श से पता नहीं चलता तो दवाने से रोगी वेदना का अनुभव करता है। यह दोनों या एक जीर्ण ज्वर में भी वढ़ जाते हैं और पाण्डरोग में भी। इनका शोध ज्वर की जीर्णावस्था में भी होता है। यह कहना अनुचित न होगा कि बंगाल का प्रसिद्ध "कालाजार" यही है। इसमें "सततक" ज्वर होता है।

श्रर्थ—जिस मनुष्य का श्रन्त्र चिपचिपाहट या पिच्छिलतायुक्त श्राहारों से श्रथवा वात एवं पाषाण या पत्थर से उक्त वस्तु श्रसावधानी से (उदर में चली जाती हैं) जैसे तैसे रुक जाता है श्रीर उसमें धीरे २ दोषयुक्त मल इकट्ठा होता जाता है जैसे नाली में संकर श्रर्थान् गूला। उसके मलाशय में पुरीप भी स्कने लगता है, यदि वह निकलता भी है तो बड़ी कठिनता से श्रीर थोड़ा थोड़ा। हृदय तथा नामि के मध्य भाग में उदर वँधता जाता है। इससे इस उदररोग की "बढ़गुद्" कहते हैं। परिसान्यदरस्य लच्चार्यान।

शल्यं तथाऽन्नोपहितं यदन्त्रं भ्रुक्तं भिनत्त्यागतमन्यथा वा । तम्मात्म्यतोऽन्त्रात्सिलिलप्रकाशः स्नावः स्रवेद्वे गुदतस्तु भूयः ।। नाभेरधश्चोदरमेति दृद्धिं निस्तुद्यते दाल्यति चातिमात्रम् । एतत्परिस्नान्युदरं प्रदिष्टम्— सु• नि• अ० ७

श्चर्थ—िकसी प्रकार श्वन्न के साथ काँटा उदर में चला जाता है, जब वह श्वामाशय से श्रन्त्र में जाता है तो उसमें चिरगामी लिंद्र कर देता है श्वथवा श्रित भोजन कर जम्भाई लेने के कारण श्वन्त्र फट जाता है। इस फटी ॲंतड़ी में से चूश्रा हुश्रा पानी का सा स्नाव बार २ गुद्मार्ग से निकलता रहता है श्रीर नाभि के निचले भाग में उदर बढ़ता है । पेट में श्रत्यन्त व्यथा एवं फटने की-सी पीड़ा होती है, इसे "परिस्नावी" उदररोग कहते हैं।

जलोदरस्य लच्चणानि ।

्—दकोद्रं कीर्तयतो निबोध ॥ २२ ॥

यः स्नेहपीतोऽप्यनुवासितो वा वान्तो विरक्तोऽप्यथवा निरूढः।

<sup>9—</sup> आगतमन्यथा वा—का अर्थ हमारे विचार में यह होना चाहिये कि बाहर से आनेवाले बाण, भाला अथवा तीच्ण मुखवाले राख्नों के द्वारा अँतड़ी में छेद हो जाता है।

२— कॅतड़ी में से चुत्रा हुका जल ही इकट्टा हो जाता है श्रीर यही उदरहृद्धि का हेतु है। इसके श्रागे चलकर वड़ते २ जलोदर होकर रोगी की मृत्यु हो जाती है।

पिबेज्जलं श्रीतलमाश्च तस्य स्रोतांसि दूष्यन्ति हि तद्वहानि ॥२३॥ स्नेहोपलिप्तेष्वथवाऽपि तेषु दकोदरं पूर्ववदभ्युपैति । स्निग्धं महत्तत्परिष्टत्तनाभि समाततं पूर्णिमवाम्बुना च । यथा दृति: ज्ञुभ्यति कम्पते च शब्दायते चापि दकोदरं तत् ॥२४॥

श्चर्थ-उदकोदर या जलोदर का भी वर्णन सुनिये-जो मनुष्य स्नेह-पान, श्रनुवासन बस्ति, वमन, विरेचन श्रथवा निरुह्ण बस्ति का सेवन कर सदा ठएडा जल पी लेता है, उसके जलवाही स्रोत दूषित हो जाते हैं अथवा श्रन्नरस के स्नेह से लिप जाते हैं तो पूर्ववत् अर्थात् छिद्रान्त्रोदर के समान जल का सञ्चयहोने लगता है ऋौर प्रसिद्ध जलोदर या "जलन्धर' नामक भीषण रोग हो जाता है। इसमें पेट चिकना एवं बहुत बड़ा हो जाता है। नाभि घूम जाती है अर्थात् उसमें गहराई नहीं रह जाती श्रीर पेट तन जाता है। पानी से भरी हुई मशक के समान पेट ऋधिक थल थल करता है अथवा कुछ थोड़ा, अँगुलियों से बजाने पर "डब डब" ध्वनि होती है, ब्रुत यही जलोदर है । अथोदररोगस्य साध्यासाध्यत्वम् ।

जन्मनैवोदरं सर्वं प्रायः कृच्छतमं मतम्।

बलिनस्तद्जाताम्बु यद्वसाध्यं नवोत्थितम् ॥२५॥

त्रार्थ-प्रायः सभी उदररोग प्रारम्भ से ही कष्टप्रद होते हैं श्रीर बलवान रोगी का नवीन उदररोग जब तक उसमें जल न भर गया हो तब तक किसी प्रकार अच्छी चिकित्सा होने से अच्छा हो सकता है। पक्षाद्वद्युदं तूर्ध्वं सर्वं जातोदकं तथा ।

प्रायो भवत्यभावाय छिद्रान्त्रं चोदरं नृणाम् ॥२६॥ च० चि० अ० १**८** 

श्चर्थ-पन्द्रह दिन के श्चनन्तर "बद्धगुदोदर" तथा वे सभी उदर जिनमें जल भरगया हो तथा छिद्रान्त्रोदर तो प्रायः श्रसाध्य होते हैं।

साध्यानामप्यवस्थाविरोषेगासाध्यत्वम् । शूनाक्षं कुटिलोपस्थमुपक्लिन्न-तनु-त्वचम् ।

वल-शोिशत-मांसाग्नि-परिक्षीर्णं च वर्जयेत ।।२७।। च॰ च॰ अ॰ १८ अर्थ-जिस रोगी की श्राँखें सूज जायँ, लिंग टेढ़ा हो जाय ( उसकी त्वचा में पानी भी भर जाता है) सम्पूर्ण शरीर की त्वचा गीली गीली सी एवं पतली हो जाय श्रौर बल, रक्त, मांस एवं श्रग्नि चीण हो जाय, उसको छोड़ दे श्रर्थात श्रसाध्य होने के कारण चिकित्सा न करे।

पार्श्वभङ्गात्रविद्वेष-शोथा-तीसार-पीडितम् ।

विरिक्तं चाप्युद्रिएां पूर्यमाएां विवर्जयेत् ॥२८॥ सु० स्० ४४ अर्थ—पसिलयों में पीड़ा, ऋरुचि, शोध एवं ऋतिसार से पीड़ित तथा जिसका विरेचन द्वारा जल निकल जाने पर भी उदर भर रहा हो, उसे छोड़ देवे।

# शोथरोगनिदानम् 🕩

शोथस्य सम्प्राप्तिः ।

रक्त-पित्त-कफान् वायुर्दुष्टो दुष्टान् बिहः सिरा । नीत्वा रुद्धगतिस्तैहिं कुर्यात्त्वङ्-मांस-संश्रयम् ॥ १ ॥ उत्सेधं संहतं शोर्थं तमाहुर्निचयादतः ।

अर्थ—( ४-४ एवं ११-१२-१३-१४ वें श्लोकों द्वारा कहे हुए कारणों से) दूषित बायु दूषित रक्त, पित्त एवं कफ को बाहर की सिराओं ( यह प्रायः त्वचा पर दिखाई पड़ती हैं) में पहुँचा कर और उसी के द्वारा रुक कर त्वचा तथा मांस में कठोर ( अथवा कोमल ) ऊँचाई उत्पन्न कर देता है। बस यह सन्निपात ( वात पित्त कफ एवं रक्त का संयोग ) से होनेवाली इस ऊँचाई को "शोथ" या, सुजन" कहते हैं।

सर्वं हेतुर्विशेषेस्तु रूपभेदान्नवात्मकम् ॥ २ ॥

दोषै: पृथग्द्रयै: सर्वेंरभिघाताद्विषादिष । वा॰ नि॰ अ॰ ११३ ऋर्थ—सभी शोथ हेतुओं के कारण उत्पन्न हुए लच्चणों के भेद से

१--यह सर्वशरीरव्यापी भी होता है भीर एकांगव्यापी भी ।

नी प्रकार के होते हैं। यथा—वात से, पित्त से, कफ से, सन्निपात से, अभिधात या चोट से और विष से।

शोथरोगस्य पूर्वरूपाणि।

तत्पूर्व रूपं दवशु: सिरायामोऽङ्गगौरवम् ॥२॥ वा• नि॰ अ॰ १ अर्थ —शोथ का पूर्वरूप यह हैं—भावी शोथ के स्थान में सन्ताप, सिराश्रों का जल जाना खोर शरीर में भारीपन ।

शोधरोगस्य कारणानि । शुद्धचामयाश्चक्तकृशावलानां क्षाराम्लतीक्ष्णोष्णगुरूपसेवा । दध्याममृच्छाकविरोधिदुष्टगरोपसृष्टान्ननिषेवणं च ॥ ४ ॥ त्रश्राँस्यचेष्टा न च देइशुद्धिर्मर्गोपघातो विषमा प्रसृतिः ।

मिथ्योपचारः प्रतिकर्मणां च निजस्य हेतुः श्वयथोः प्रदिष्टः ॥५॥

अर्थ—वमन-विरेचनादि शोधन से, रोगों से एवं उपवास से कुश तथा दुर्वेल मनुष्य द्वारा चारप्रधान, खट्टें, तीदण, उष्ण एवं गरिष्ठ पदा-थों का सेवन अथवा किसी भी मनुष्य द्वारा अधिक दही, कबी मिट्टी, अधिक शाक, चीर मत्स्यादि विरोधी एवं दूषित अथवा विष मिले अत्रों का सेवन अथवा अर्श, शारीरिक चेष्टा न करना, शरीर को बाहर (स्तानादि से), भीतर (विरेचनादि से) शुद्ध न रखना, मर्म स्थानों पर दोषों का आक्रमण, प्रसवकाल में उचित उपचार का अभाव एवं वमन-विरेचनादि के समय पथ्यादि में असावधानी यह सब दोषज' शोथ के कारण हैं।

सगौरवं स्यादनवस्थितत्वं सोत्सेथमू॰माऽथ सिरातनुत्वम् । सलोमहर्षश्च विवर्णाता च सामान्यिलिङ्गं श्वयथोः प्रदिष्टम् ॥ ६ ॥ अर्थ-सोथ का सामान्य लच्चण यह है-सम्पूर्ण शरीर या उस अंग में भारीपन, शोथ एक स्थान में व्यवस्थित नहीं होता, उँचाई

१ — ग्राभिघातज एवं विषज शोध के कारण आगे ११-१२-१३-१४ वें स्तोकों द्वारा कहे जायेंगे।

२-इस के विपरीत वणशोथ एक स्थान में व्यवस्थित होता है।

युक्त स्त्रर्थात् सूजन दिखाई पड़ने लगती है, भाप निकलना, सिरास्त्रों का तन जाना या पतली पड़ जाना, रोमांच होना तथा उस स्थान के वर्ण में परिवर्त्तन ( दोषानुसार ) हो जाना।

वातजशोधस्य लज्ञणानि ।

चलस्ततुत्वक् परुषोऽरुणोऽसितः सुषुप्तिहर्षार्तियुतोऽनिमित्ततः । प्रशम्यति पोन्नमति प्रपीडितो दिवा बली च श्वयथुः समीरणात् ।।७॥

श्चर्य—वातज शोथ के लक्तण यह हैं-इधर-उधर हटने-बढ़ने वाला, पतली त्वचावाला, खरदरा, गहरा लाल, काला तथा शून्यता, फनफ-नाहट एवं पीड़ा से युक्त, कार्ण के बिना ही शान्त होने वाला, दबाकर छोड़ने से उभरनेवाला एवं दिन में (रात्रि की अपेचा) बढ़नेवाला शोथ वातज शोथ होता है।

पित्तजशोथस्य लच्चणानि ।

मृदुः सगन्थोऽसित-पीत-रागवान् भ्रम-ज्वर-स्वेद-तृषा-मदान्वितः । य जष्यते स्पष्टस्गक्षिरागकृत् स पित्तशोथो भृत्र-दाह-पाकवान् ॥८॥

श्चर्य—कोमल, विशिष्ट प्रकार की गन्ध से युक्त, काले तथा पीले वर्णवाला तथा भ्रम, ज्वर, पसीना, प्यास एवं मद से युक्त, दाह युक्त, जिसके स्पर्श करने से पीड़ा हो, श्चाँखों में लाली श्चा जाय, श्चौर भीषण दाह एवं पाक से युक्त शोथ "पित्तशोथ" होता है।

कफजशोथस्य लत्तरणानि ।

गुरुः स्थिरः पाण्डररोचकान्वितः प्रसेक-निद्रा-विम-विक्वमान्यकृत् । स कृळुजन्मपश्चमा निपीडितो न चोत्रमेद्रात्रिवली कफात्मकः ॥ ९ ॥

श्चर्य—भारी, स्थायी, रवेत, श्चरुचि से युक्त तथा मुखस्नाव, नींद की श्चिधिकता, वमन श्रीर श्विमान्य करनेवाला, कष्टपूर्वक उत्पन्न एवं शान्त होनेवाला, दबाने से वातशोध के समान दबकर न उभरनेवाला तथा दिन की श्रपेचा रात्रि में बलवान् होनेवाला शोध "कफशोध" होता है।

१ — किन्तु थोड़े समय के अनन्तर फिर उत्पन्न हो जाता है।

द्वि-त्रिदोषजशोथस्य लत्तर्णानि निदानाकृतिसंसर्गाच्छ्वयथुः स्याद्ग द्विदोषजः ।

सर्वाकृतिः सन्निपाताच्छोथो व्यामिश्रलक्षणः ॥१ ०॥ च० स्० अ० १८

अर्थ-निदान एवं लच्चणों के मिश्रण से द्विदोपज शोथ तथा सब दोषों के सब लच्चणों के मिश्रण से "सन्निपातज शोथ" समम्मना चाहिये। अथाभिघातजशोथस्य लच्चणानि।

अभिघातेन शसादि्च्छेद-भेद-क्षतादिभिः।

हिमानिलोद्ध्यनिलैर्भछात-कपिकच्छुनै: ॥ ११ ॥

रसैः शुक्रैश्र संस्पर्शाच्छ्वयथुः स्याद्विसर्पवान् ।

भृशोष्मा लोहिताभासः प्रायशः पित्तलक्षराः ॥१२॥ वार्वान अरु १३

चर्य—मुष्टि या मुका खादि के झिमघात से झोर तलवार, भाला खादि राखों द्वारा कटने से, फटने से एवं घाव खादि के हो जाने से अथवा शीत वायु (हिम की वायु जैसे हिमालय पर) लगने से तथा समुद्र की वायु , लगने से (जेसे समुद्र के तीर पर अथवा जहाज पर यात्रा करते समय) अथवा भिलावे के फड़ों का रस झीर किवाँच या कींच के शूक लगने से जो सूजन हो जाती हैं उसे "अभिघातज शोथ" कहते हैं। इसमें पंछायुक्त फुन्सियाँ निकल खाती हैं, अत्यन्त जलन होती हैं, शोथ का स्थान लाल हो जाता है तथा प्रायः पित्तशोथ के सभी लच्चण पाये जाते हैं।

विषजशोथस्य लत्तणानि ।
विषजः सविष-प्राणि-परिसर्पण-सूत्रणात् ।
दंष्ट्रा-दन्त-नखाघातादविषपाणिनामपि ॥ १३ ॥
विण्-सूत्र-शुक्रोपहतमलवद्गस्नसङ्करात् ।
विषट्भानिलस्पर्शाद्गरयोगावचूर्णनात् ॥ १४ ॥
मृदुश्चलोऽवलम्बी च शीघ्रो दाह-रुजा-करः । बा॰ नि॰ अ॰ १३
व्यर्थ—विषेले प्राणियों के स्पर्शसे अथवा व्रलगने से तथा निर्विष

प्राणियों के भी दाढ़, दाँत एवं नाख़्त लगने से और विषेत अथवा निर्विष प्राणियों के विष्ठा, मृत्र एवं शुक्र से दूषित एवं मैले वस्तों के पहनने से अथवा विषेते वृत्त का वायु लगने अथवा विषेते वृ्णों के वृक्ते से अर्थात् शरीर पर पड़ने से जो सृजन होती है, उसे "विषजशोथ" कहा जाता है। यह कोमल, फैलनेवाला, नीचे की ओर जानेवाला, शीव उत्पन्न एवं शान्त होने वाला, दाह एवं पीड़ा करने वाला होता है। शोथस्य स्थानानि।

दोषाः श्वयथुमूर्ध्वं हि कुर्वन्त्यामाशयस्थिताः ॥ १५ ॥ पकाशयस्था मध्ये त वर्चःस्थानगतास्त्वधः ।

कृत्स्नदेहमनुपाप्ताः कुर्युः सर्वसरं तथा ॥ १: ॥ छ॰ चि॰ अ॰ २३ अर्थ—आमाशय में त्थित दोष अर्ध्वकाय (जत्रु के ऊपर ) पर, पकाशय में स्थित दोष भध्यकाय (धड़ ) पर, मलाशय में स्थित दोष अधःकाय या कमर के निचले भाग पर तथा सम्पूर्ण शरीर पर शोथ उत्पन्न कर देते हैं।

ो शोथस्य साध्यासाध्यत्वम् । यो मध्यदेशे श्वयथुः स कष्टः सर्वगश्च यः । श्रर्याङ्गे रिष्टभूतः स्याद्यशोध्वै परिसर्पति ॥१७॥

श्रर्थ—जो शोध मध्यकाय श्रथवा सम्पूर्ण शरीर पर होता है, वह कष्टसाध्य होता है; किन्तु जो श्रावे शरीर पर (श्रधनारी नटेश्वर की भाँति) होता है श्रथवा नीचे (पैरों) से ऊपर (मुख तक) फैलता है, उसे श्रसाध्य जानना चाहिये।

श्वासः पिपासा छर्दिश्च दौर्बल्यं ज्वर एव च।

यस्य चान्ने रुचिर्नास्ति श्वयथुं तं विवर्जयत् ॥ १८ ॥ स॰ चि॰ अ०२१ अर्थ-जिस रोगी को श्वास, प्यास, वमन, दुर्बलता, ज्वर एवं अन्न

में झहचि हो जाय, उसे झसाध्य जानकर छोड़ देना चाहिये।

त्रनन्योपद्रवकृतः शोथः पादसम्रुत्थितः । पुरुषं इन्ति नारीं च मुखजो गुद्यजो द्वयम् । श्रर्थ—पहराी, श्रर्श, परदुरोग श्रादि रोगों का उपद्रवभूत न होकर (जैसा कि प्रायः उक्त रोगों में हो जाया करता है) जो शोथ मनुष्य के पैरों पर उत्पन्न होकर सम्पूर्ण शरीर में हो जाता है श्रथवा स्त्री के मुख से उत्पन्न होकर सम्पूर्ण शरीर में फैल जाता है श्रथवा पुरुष-स्त्री होनों के गुग्रस्थान (लिंग, योनि एवं वस्ति) पर उत्पन्न होकर सम्पूर्ण शरीर में हो जाता है, वह श्रसाध्य है।

नवोऽनुपद्रव: शोथ: साध्योऽसाध्य: पुरेरित: ॥१९॥ वा॰ नि॰ ल॰ १३ ऋर्थ-नवीन एवं उपद्रवों से रहित शोध साध्य होता है स्त्रीर

उपर्युक्त लच्चणों सहित असाध्य होता है ।

विवर्जयेत् कुक्ष्युदराश्रितं च तथा गले मर्मणि संश्रितं च।

स्थूलः खरश्रापि भवेद्विवज्यों यश्रापि बालस्थविराबलानाम् ॥२०॥

त्र्यं – त्र्यामाशय तथा सम्पूर्ण उदर पर होने वाला अथवा गला श्रौर हृदय, बिंत आदि मर्मस्थानों पर होने वाला मोटा एवं खरदरा शोथ असाध्य होता है अथवा जो बालक, बुढ़े एवं दुर्बलों को होता है, वह भी असाध्य होता है ।

#### वृद्धिनिदानम् । वृद्धिरोगस्य सम्प्राप्तिः ।

क्रुद्धोऽनूर्ध्वगतिर्वायुः शोथ-शूल-करश्वरन् ।

मुन्को वङ्क्षणतः पाष्य फलकोषाभिवाहिनीः ॥ १ ॥

प्रपीड्य धमनीर्टिद्धं करोति फलकोषयोः ।

अर्थ —अपने कारणों से वृद्ध या कुद्ध वायु अधोगामी होकर वंत्तण (कुन्हे) से मुष्कों या अरडों या वृषणों की ओर आता हुआ अरडों

<sup>9 —</sup> यह अण्डकोष का रोग है। यह प्रायः उष्ण किन्तु आर्द्र देशों में अधिक होता है और शीत एवं रूक्ष देशों में कम। आण्डकोष एक पतली दीवार से दो भागों में विभक्त है। अतः एक कोष की वस्तु दूसरे कोष में नहीं जा सकती यही कारण है कि एक कोष में भी उक्त रोग होता है।

तथा अपडकोषों को धारण करने वाली धमनियों में पीड़ा, शोध एवं शूल उत्पन्न कर अपड अथवा अपडकाषों में "वृद्धि" नामक रोग उत्पन्न कर देता है।

वातजादिम्त्रजान्त्रवृद्धीनां क्रमेण लच्चणानि । वातपूर्णदितस्पर्भो स्था वातादृदेतुरुक् ॥ ३ ॥ पक्वोदुम्बरसंकाशः पित्तादाहोष्मपाकवान् । ककाच्छीतो गुरुः स्निग्धः कण्डूमान् कठिनोऽल्परुक् ॥ ४ ॥ कृष्णस्कोटाहतः पित्तहिद्धिलिङ्गश्च रक्तजः । कक्वनमेदसा वृद्धिर्मृदुस्तालकलोपमः ॥ ५ ॥

अर्थ—वायु से भरी मशक के समान स्पर्शवाली, रूच एवं अभिषा-तादि हेतुओं के बिना ही दुखनेवाली "वातजबृद्धि" होती है। पके गूलर के फल के समान पीली, दाह और पाक से युक्त एवं गर्भ "पित्तज बृद्धि" होती है। ठएढी, भारी, चिकनी, खुजली से युक्त, कड़ी एवं छोटी, पीड़ा से युक्त "कफजबृद्धि" होती है। काले २ फफोलों से युक्त तथा पित्तबृद्धि के लच्चाों वाली "रक्तजबृद्धि" होती है। कफजबृद्धि के लच्चाों से युक्त, कोमल तथा तालफल की आकृति से युक्त "मेदोबृद्धि" होती है।

मूत्रधारणक्षीलस्य मृत्रजः स तु गच्छतः । अम्भोभिः पूर्णदतिवत् क्षोभं याति सरुङ् मृदुः ॥ ६ ॥ मृत्रक्रच्छ्रमधस्ताच चालयन् फलकोषयोः । बा॰ नि॰ अ॰ ३३ श्रर्थ—वायु का वेग रोकने वाले पुरुष को "मूत्रवृद्धि" हो जाती है । यह वृद्धि चलते समय जल से भरी मशक के समान थलथल करके हिलती है तथा इसमें पीड़ा होती है श्रोर यह कोमल होती है, मूत्र कड़क के साथ होता है । इसमें वायु श्ररहकोषों में घूमकर नीचे को जाता ज्ञात होता है ।

अथान्त्रहुद्धेर्ल्ज्ञणानि ।
वातकोपिभिराहारैः शीततोयावगाहनैः ॥ ७ ॥
धारऐरएभाराध्वविषमाङ्गप्रवर्तनैः ।
क्षोभरौः चुभितोऽन्यैश्च चुद्रान्त्रावयवं यदा ॥ ८ ॥
पवनो विगुणीकृत्य स्वनिवेशादघो नयेत् ।
कुर्याद्वङ्क्षणसन्धिस्थो ग्रन्थ्यामं श्वयथुं तदा ॥ ६ ॥
उपेक्ष्यमाणस्य च ग्रुष्कदृद्धिमाध्मानस्वस्तम्भवतीं स वायुः ।
प्रपीढितोऽन्तः स्वनवान् प्रयाति प्रध्मापयन्नेति पुनश्च ग्रुक्तः ॥१०॥

अन्त्रदृद्धिरसाध्योऽयं वातदृद्धिसमाकृति: । वा॰नि॰अ॰ १२ अर्थ—वायु को कुपित करने वाले आहारों के सेवन से, शीत जल में नहाने से, वेगों को रोकने अथवा बलपूर्वक चिल्लाने से, मार उठाने से, मार्ग चलने से, अंगों को टेढ़ा-मेढ़ा चलाने अथवा और भी बलबद्दिप्रह तथा बृत्तादि पर से गिरने आदि से कुपित वायु अँतड़ी के छोटे अंग

१— चालयन् के स्थान में वाग्भट में वलयं पाठ है। वस्तुतः इसके स्थान में सुश्रुतानुसार "श्वयथु" होता तो ऋषिक सुन्दर होता।

२—यह एक कष्टसाध्य (श्रीपरेशन साध्य) रोग है। इसका एक ही कष्ट कारक उपाय है कुण्डलबन्धनी (भै० र०) नामक पद्दी बॉधना। चृहदन्त्र के प्रारम्भिक भाग में एक श्रष्टकार श्रवश्य है। (न जाने ईश्वर ने इसे किस लिये बनाया है) इसे ''उपान्त्र'' कहा जाता है। इसकी लम्बाई है इञ्च से ८ इञ्च तक होती है। इस उपान्त्र की बृद्धि ''श्रवन्त्रवृद्धि'' कही जाती है। यह श्रव्ताधार पेशी की दुर्वलता श्रथवा उसके कट जाने से वंक्षण में श्राकर श्रव जाता है, बस वही रोग है।

श्रर्थात उपान्त्र को विकृत कर एवं उसको श्रपने स्थान से नीचे ले जाकर वंज्ञण की सन्धि में लम्बी-सी गांठ के समान कर देता है। यदि इसका उपाय न किया जाय तो कालान्तर में वायु ऋरडकोषों में भी सूजन कर देता है। इसके पश्चात् अध्मान, पीड़ा तथा स्तब्धता भी हो जाती है। इस गांठ को (पेटी द्वारा) द्वाने से वह वायु या वही प्रन्थिरूप उपान्त्र गलल २ शब्द करता हुआ भोतर चला जाता है। जब पेटी खोल दी जाती तो फिर श्राध्मान के साथ पूर्ववत् दशा हो जाती है। यह वात-वृद्धि के समान लच्चणों से युक्त अन्त्रवृद्धि असाध्य होती है ।

नोट-इन श्लोकों को समभने के लिए सु॰ नि॰ अ॰ १२ देखिये।

वा० भ० ने श्लोक बनाने में गड़बड़ कर दिया है।

#### गलगण्डानिदानम ।

गलगण्डरोगस्य निदानम् । निवद्धः श्वयथुर्यस्य मुष्कवल्लम्बते गले ।

महान् वा यदि वा हस्वो गलगण्डं तमादिशेत् ॥१॥ सु॰ नि॰ अ॰ ११

श्रर्थ—गले पर श्रर्थात् हनुश्रों के नीचे मन्याश्रो पर जो बढ़मूल वृषण् की गुटिका के समान गुटिकायागांठ युक्त बड़ा श्रथवा छोटा शोथ हो जाता है, उसे "गलगण्ड" या "गिल्लड" या "घेघा" कहना चाहिये।

गलगण्डरोगस्य सम्प्राप्तिः।

वातः कफश्रापि गले पदुष्टो मन्ये च संश्रित्य तथैव मेदः।

कुर्वन्ति गण्डं क्रमशः स्वलिङ्गैः समन्वितं तं गलगण्डमाहुः॥ २ ॥ सु॰ नि॰ अ॰ ११

श्रर्थ—वाय, कफ एवं मेदा गले पर मन्याश्रों में जाकर जब दुष्ट हो जाते हैं, तब अपने २ लज्ञणों से युक्त गांठयुक्त शोथ उत्पन्न कर देते हैं, उन्हें गलगण्ड कहते हैं।

वातिकगलगरडस्य लच्चणानि ।

तोदान्वितः कृष्णसिरावनद्धः श्यावोऽरुणो वा पवनात्मकस्त ।

१-इस रोग में पीवा की प्रनिथयां बढ़ जाती हैं और यह रोग पर्वतों की तराई में श्रधिक होता है।

पारुष्ययुक्तिश्वरद्वद्यपपाको यहच्छया पाकमियात्कदाचित् ॥३॥ वैरस्यमास्यस्य चतस्य जन्तोर्भवेत्तथा तालुगलप्रशोषः । द्व० वि० व्य०११

श्चर्य — वायु का गलगण्ड व्यथायुक्त, काली २ शिराश्चों से व्याप्त, कुछ काला श्चथवा लाल होता है। खरदरेपन से युक्त, चिरकाल में बढ़नेवाला एवं न पकनेवाला होता है अथवा कभी २ पक भी जाता है। इससे रोगी का मुख फीका रहता एवं गला तथा तालु सूखता रहता है। कफजगलगण्डस्य लच्चगानि।

स्थिरः सवर्षो गुरुस्त्रकण्डूः त्रीतो महांश्वापि कफात्मकस्तु ॥४॥ चिराभिष्टद्धि भजते चिराद्वा प्रपच्यते मन्दरुजः कदाचित् । माधुर्यमास्यस्य च तस्य जन्तोर्भवेत्तथा तालु-गलप्रलेपः ५ छ० वि०व०००

श्रर्थ—कफ का गलगण्ड स्थायी, प्रकृत वर्ण से युक्त, भारी, भीषण खुजली से युक्त, ठरण्डा एवं बड़ा होता है। चिरकाल में बढ़ता है श्रथ्या कभी र बड़े विलम्ब से पक भी जाता है। थोड़ी पीड़ा से युक्त होता तथा इसके रोगी का हुख मीठा, तालु एवं गला लिपा-सा होता है।

मेदोजगलगण्डस्य लज्ञणानि । स्निग्घो गुरु: पाण्डर्रानष्टगन्धो मेदोभवः कण्डयुतोऽल्परुक्च । प्रलम्बतेऽलाबुवदल्पमूलो देहानुरूपक्षयबृद्धियुक्तः ॥ ६ ॥

भर्ताभ्वतञ्जाबुनदर्वभूता दशसुरूपत्तपञ्चाद्धस्तः ॥ ५ ॥ स्निग्धास्यता तस्य भवेच जन्तोर्गलेऽनुशब्दं कुरुते च तित्यम् । स॰ वि॰ वि॰ वि॰ वि

द्यर्थ—मेदा का गलगरड चिकना, भारी, रवेत, दुर्गन्ध युक्त, खुज-लीवाला एवं थोड़ी पीड़ा से युक्त होता है। लीवा या घीया के समान मूल में पतला एवं द्यागे से बड़ा तथा शरीर के घटने-बढ़ने के साथ ही घटने-बढ़नेवाला होता है। इस क रोगी का मुख चिकना होता है एवं उस के गले या करठ से सर्वदा एक प्रकार का (सांय∙सांय) शब्द या ध्वनि निकलती रहती है।

गलगण्डस्यासाध्यलच्चणानि । कृच्छ्राच्छ्वसन्तं मृदुसर्वगात्रं संवत्सरातीतमरोचकार्तम् ॥ ७ ॥ १६ मा०

## क्षीएां च वैद्यो गलगण्डयुक्तं भिन्नस्वरं चापि विवर्जयेच ।

सु॰ नि॰ अ॰ ११

चर्ध—जो रोगी कठिनता से श्वास ले सकता हो, सम्पूर्ण शरीर कोमल हो गया हो, एक वर्ष का पुराना रोग हो, रोगी च्रारुचि से पीड़ित हो, दुर्वल हो गया हो, स्वरभेद से युक्त हो तो ऐसे रोगी को ग्रासाध्य' होने के कारण छोड़ देना चाहिये।

गण्डमालारोगस्य लच्चणानि ।

"कर्कन्युकोलामलकप्रमार्गः कशांसमन्यागलवङ्क्षणेषु ॥ ८ ॥ मेदःककाभ्यां चिरमन्द्रपाकैः स्याद्ग गण्डमाला वहुमिश्च<sub>्</sub>गण्डैः ।

सु० नि० अ० ११

अर्थ—मेदा तथा कफ के विकार से कांख, जन्नु, गला एवं कूरहे में भएवर (छोटी वेर), वेर (बड़ा वेर) अथवा आमले के सदश बहुत से गएडों या गिलटियों के निकलने को "गण्डमाला" या "कण्ठमाला" कहते हैं। इन गिलटियों का पाक धीरे र (वर्षों में) तथा थोड़ा र होता है।

श्रथापचीरोगस्य लच्चणम्।

# ो ग्रन्थयः केचिदवाप्तपाकाः स्रवन्ति नश्यन्ति भवन्ति चान्ये ॥९॥

9 — यह श्रसाध्यता कुच्छून्छ्न्यस्तं एवं ''क्षीणं'' इन दो लक्षणों के श्राति-रिक्त मारक नहीं होती। केवल चिकित्सा-नैष्कश्य की सूचक है; वयों कि वाल्या-वस्था में उत्पन्न होनार वृद्धावस्था तक या यों कहि। कि श्रायु समाप्ति तक यह श्रच्छा नहीं होता है।

२—इस का मूल पाठ सु०नि० चा० १९ में बहुत ही उत्तम ढङ्ग से लिखा है। जान क्यों उपर्युक्तपाठ में भी हेरफेर किया है। अस्तु, आग उसे अवश्य ध्यान से देखिये। उससे भी उत्तम पाठ भोज महाशय का है। यथा—वातिपत्तकका बृद्धा मेदखापि समाचितम्। जंघयोः कण्डराः प्राप्य मस्याण्डस दशान् बहुन्॥ कुर्वेन्ति प्रियतांस्तेभ्यः पुनः प्रकृतिवोऽनिलाः। तान् दोषान्ध्वाणे वक्षः कक्षमन्यागलाश्रितः॥ लानाप्रकारान् कुष्ते प्रन्थीन् सा त्वपवी मता। तां तु मालाकृतिं विद्यात्कर्रपठहृद्धनुसन्थिषु। गण्डमालां विजानीयाद्यचीतुल्यवक्षणम्॥

कालानुबन्धं चिरमादधाति सैवापचीति प्रवदन्ति तज्ज्ञाः। साध्याः स्मृताः पीनसपाद्यवश्युलकासज्वरच्छर्दियुतास्त्वसाध्याः ॥

अर्थ-यह गिलटियाँ एक साथ कोई पक रही हैं, कोई पक कर वह रही हैं, कोई बहकर अच्छी हो रही हैं तो कोई उत्पन्न भी हो रही है, बस इसी प्रकार चिरकाल तक यही क्रम रहता है। इसी को "अपची" भी कहा जाता है। यह साध्य (कृच्छुसाध्य) होती हैं; किन्तु पीनस, पार्श्वशूल (फ़फ़्सशूल), कालब्बर एवं वमन से युक्त अपची असाध्य हो जाती है।

प्रन्थिरोगस्य निदानम् ।

वातादयो मांसमस्रक् प्रदुष्टाः संद्ष्य मेदश्च तथा सिराश्च। वृत्तोन्नतं विग्रथितं च शोथं कुर्वन्त्यतो ग्रन्थिरिति प्रदिष्ट: ॥११॥

अर्थ-वायु आदि दोष दुष्ट होकर मांस, रक्त, मेदा एवं सिराओं को दृषित कर गोल, ऊँचे एवं कड़े शोथ (एक स्थान में फोड़े के समान) को उत्पन्न कर देते हैं । इसे गोल, उन्नत एवं श्रथित होने के कारण "प्रन्थि" कहा जाता है।

वातजयन्थेर्लचणानि ।

त्रायम्यते दृश्च्यति तुद्यते च प्रत्यस्यते मध्यति भिद्यते च । कृष्णो मृदुर्वस्तिरिवाततश्च भिन्नः स्रवेच्चानिलजोऽस्रमच्छम् ॥१२॥ सुः नि० अ० ११

अर्थ-वायु की प्रन्थि खींचने की-सी, बिच्छू के काटने की-सी, सई चुभाने की-सी, पीटने की-सी, मथने की-सी एवं फाड़ने की-सी विविध प्रकार की वेदनात्रों से युक्त, काली, कोमल, वायु से पूर्ण, चमड़े या रबड़ की थैली के समान तनी हुई होती है। जब यह फुटती है तो इसमें से स्वच्छ गहरा लाल रक्त निकलता है।

१--इन लक्षणों को देखकर पाखात्य चिकित्सक इसे यचमा ही मान लेते हैं। श्रस्तु ।

र-इसे बिना मुँह का फोड़ा भी कहा जाता है।

#### पित्तजप्रन्थेर्छज्ञणानि ।

दन्दस्ते भ्रृप्यति दृश्च्यते च पापच्यते प्रज्वलतीव चापि । रक्तः सपीतोऽप्यथवाऽपि पित्ताद्भिन्नः स्त्रबेदुष्णमतीव चास्त्रम् ॥१३॥ स॰ नि॰ स॰ ११

मर्थ-पित्त की प्रन्थि अत्यन्त दाह से युक्त होती हैं, उसमें घृत्राँ या वाष्प निकलती है (सम्भव है सूत्त्मदर्शकयन्त्र से दिखाई पड़ता हो), विच्छू के काटने की-सी पीड़ा से युक्त होती हैं, अत्यन्त पक जाती है एवं जलने की-सी पीड़ा से युक्त होती हैं। यह लाल अथया कुछ पीली होती हैं। जब यह फूटती हैं तो अत्यन्त गर्म गहरा लाल रक्त निकलता है।

कफजप्रन्थेर्लस्यानि ।

श्रीतोऽविवर्णोऽस्परुजोऽतिकण्डः पाषाणवत् संहननोपपननः । चिराभिष्टद्धिश्च कफप्रकोपाद्भिननः स्रवेच्छुक्रघनं च पूर्यम् ॥ १४ ॥

श्रर्थ—कफ की मन्थि ठएढी, शरीर के समान वर्णवाली, थोड़ी पीड़ा एवं भीषण करड़ से युक्त, पत्थर के समान कठोरता युक्त, एवं चिरकाल (महीनों) में बढ़ने वाली होती है। यह जब फूटती है तो स्वेत तथा गाढी पीच निकलती है।

मेदोजप्रन्थेर्लचणानि । शरीर-दृद्धि-क्षय-दृद्धि-हानिः स्त्रिग्यो महान् कण्डुयुतोऽरूजश्च । मेदःकृतो गच्छिति चात्र भिन्ने पिण्याक-सर्पिःप्रतिमं तु मेदः ॥१५॥ स्र• नि• अ० ११

द्धर्थ—मेदादुष्टि जनित प्रन्थि शरीर के घटने-बढ़ने के साथ-साथ घटने-बढ़नेवाली, चिकनी, श्रन्यान्य प्रन्थियों की अपेत्ता बड़ी, खुजली एवं थोड़ी पीड़ा से युक्त होती हैं। जब यह फूटती हैं तो इसमें से तिल-कुट या तिलों के दरदरें पूर्ण एवं जमे हुए घी जैसी मेद निकलती हैं।

सिराजमन्थेर्लज्ञणानि । व्यायामजातैरवलस्य तेस्तैराक्षिप्य वायुस्तु सिरामतानम् । संकुच्य संपीड्य विशोष्य चापि ग्रन्थिं करोत्युन्नतमाशु दृत्तम् ॥ ग्रन्थिः सिराजः स तु कुच्छुसाध्यो भवेद्यदि स्यात्सरुजश्रतश्र । स चारुजश्राप्यचलो महांश्र मर्मोत्थितश्रापि विवर्जनीयः ॥ १७ ॥

त्र्यं—उन प्रसिद्ध (मुप्टिप्रहारादि या मुष्टियुद्ध ) व्यायामीं से कुपित वायु दुर्बल मनुष्य के सिराजाल को इकट्टा कर, संकुचित कर या सिकोड़ कर तथा मुखा कर ऊँची एवं गोल प्रत्यि को शीघ ही (१-२ सप्ताहों में) उत्पन्न कर देता है। इसे "सिराज" प्रत्यि कहा जाता है। यदि यह पीड़ायुक्त एवं चल अर्थात् अपने स्थान से थोड़ा इधर-उधर हटनेवाली हो तो यह कुच्छ्रसाच्य होती है और यदि सर्वथा पीड़ारहित, अचल, वड़ी अथवा मर्मस्थानों में हो तो असाध्य (सरोमारक नहीं) होती है।

श्रथार्बुदरोगस्य सम्प्राप्तिः ।

गात्रप्रदेशे कचिदेव दोषाः संमूर्च्छिता मांसमस्वयद्घ्य । इत्तं स्थिरं मन्दरुजं महान्तमनल्पमूलं चिरद्यद्वयपाकम् ॥ १८॥ कुर्वन्ति मांसोच्छ्ययमत्यगाधं तदर्बुदं शास्त्रविदो वदन्ति ।

श्रर्थ—शरीर के किसी भाग में वातादि दोष कुपित होकर मांस एवं रक्त को दृषित करके गोल, स्थायी, थोड़ी पीड़ायुक्त, बड़ा, चौड़ी मूल-वाला, चिर (वर्षों में ) से बढ़नेवाला, कदापि न पकनेवाला एवं श्रात्यन्त गहरे मूलवाला मांसोच्छ्रय (मांसपिएड) कर देते हैं; इन्हें शास्त्रवेत्ता विद्वान "श्रर्जुद" या रसौती कहते हैं।

वातेन पित्तेन कफेन चापि रक्तेन मांसेन च मेदसा वा ॥ ११ ॥ तज्जायते तस्य च लक्षणानि ग्रन्थेः समानानि तदा भवन्ति ।

सु॰ नि॰ अ॰ ११

श्रर्थ—(यह अर्वुद छ: प्रकार का होता है)—वात से, पित्त से, कफ से, रक्त से, मांस से एवं मेदा से यह श्रर्वुद उत्पन्न होता है श्रीर इस के लक्त्रण सदैव या सर्वथा प्रन्थि के समान रक्तज एवं मांसज अर्बुद के श्रतिरिक्त होते हैं। रक्तार्बुदस्य लन्नानि ।

दोषः पदुष्टो रुधिरं सिराश्च संक्षच्य संपीड्य ततस्त्वपाकम् ॥२०॥ साम्रावसुत्रद्यति मांसपिण्डं मांसाङ्क्षरैराचितमाशु दृद्धम् । करोत्यजस्रं रुधिरपद्यत्तिमसाध्यमेतद्वधिरात्मकं तु ॥ २१ ॥ रक्तक्षयोपद्रवपीडितत्वात् पाण्डर्भवेदर्बुदपीडितस्तु ।

सु० नि० भः ३१

अर्थ—अत्यन्त दुष्ट (वातादि) दोष रक्त को दूषित कर तथा सिराओं को सिकोड़ कर एवं इकटी करके (पिंडी भूत करके) पाक रहित; किन्तु स्नावयुक्त, पिरड को उत्पन्न कर देता है। इस पर मांसां- इर निकल आते हैं और यह शीघ ही बढ़ भी जाता है तथा इस में से निरन्तर रक्त निकलता रहतः है। यह "रक्तज्ञर्यर्तुद" है और असाध्य होता है। रक्तज्ञ्य से होने वाले उपद्रवों से पीड़ित होने के कारए इस अर्युद का रोगी स्वेतवर्ण हो जाता है या पार्ख्डरोगी।

मांसार्बुदस्य सम्प्राप्तः।

मुष्टिमहारादिभिरर्दितेऽङ्गे मांसं मदुष्टं जनयेद्धि शोथस् ॥ २२ ॥ अवेदनं स्निग्धमनन्यत्रर्णमपाकमश्मोपमममचाल्यम् । भदुष्टमांसस्य नरस्य गाढमेतद्भवेन्मांसपरायणस्य ॥ २३ ॥ मांसार्बुदं त्वेतदसाध्यमुक्तम् ,— सु॰ नि॰ अ॰ ३१

अर्थ—मृष्टि या मुक्के के प्रहार हारा किसी अंग में चोट आ जाने से मांस दृषित होकर शोथ कर देता है। यह शोथ वेदनारिहत, चिकना, शारीर के समान वर्णवाला, पाकरिहत, पत्थर के समान कठोर एवं अपने ही स्थान में स्थायी होता है और अधिक मांस खाने से दूषित मांसवाले मनुष्य को भी यह अर्थुद हो जाता है। यह "मांसार्युद" असाध्य कहा गया है।

श्रथार्बुदरोगस्य साध्यासाध्यविचारः। —साध्येष्वपीमानि तु वर्जयेच । समस्रुतं मर्माण यच जातं स्रोतःसु वा यच भवेदचाल्यम् ॥२४॥

अर्थ—साध्य ( वात-पित्त कफ एवं मेदा के ) अर्बुदों में भी नीचे लिले अर्बुदों को असाध्य जान कर त्याग देना चाहिये। यथा—जिस में से स्नाव निकलता हो, जो मर्मस्थानों तथा स्रोतों में उत्पन्न हुआ हो अथवा अत्यन्त कठोर या स्थिर हो।

श्रध्यर्बुदरोगस्य लच्चाम् ।

यज्जायतेऽन्यत् खलु पूर्वजाते ज्ञेयं तदद्धचर्बुदमर्बुदज्ञैः । यद्धदृद्धजातं युगपत् क्रमाद्भ वा द्विस्र्बुदं तच्च भवेदसाध्यम् ॥२५॥ स्र० वि० अ० ११

श्रर्थ—जो एक श्रर्बुद पर दूसरा श्रर्बुद हो जाता है, उसे "श्रद्धच-बुद" जानना चाहिये श्रीर जो साथ-साथ श्रथवा श्रागे पीछे श्रर्बुदों का जोड़ा उत्पन्न हो जाता है उसे "द्विरर्बुद" कहते हैं। यह श्रसाध्य होता है।

श्रथार्बुद्स्यापाके कारणानि ।

न पाकमायान्ति कफाधिकत्वान्मेदोबहुत्वाच विशेषतस्तु । दोषस्थिरत्वाद् ग्रथनाच्च तेषां सर्वार्बुदान्येव निसर्गतस्तु ॥ २६ ॥ स्र०नि० ४० ११

श्रर्थ—कफ की श्रधिकता से श्रीर विशेषतः मेदःबाहुल्य के कारण श्रथवा दोषों के स्थिर तथा प्रथित होने के कारण श्रथवा प्राकृतिक समय के कारण सभी श्रर्बुद पाक को प्राप्त नहीं होते!

# इलीप्दनिदानम्।

श्रीपद्रोगस्य सम्प्राप्तिः ।

यः सज्वरो वङ्क्षणजो भृशार्तिः शोथो नृणां पादगतः क्रमेण ।

१— अर्धुदों के न पक्ते का वास्तविक कारण निसर्ग या स्वभाव या प्राकृतिक नियम ही है। क्योंकि कफ़मेदोऽधिक अपची तथा स्थिर एवं प्रथितदोषींयुक्त प्रन्थि का पाक हो ही जाता है।

२--यह रोग भी प्रायः उष्ण एवं श्रार्व देशों में ही श्रधिक होता है । पन्नाय

तच्छ्लीपदं स्यात् कर-कर्ण-नेत्रशिश्नौष्ठ-नासास्वपि केचिदाहुः ॥१॥

अर्थ — जो अत्यन्त पीड़ा (या मन्द पीड़ा) से युक्त शोथ वंज्ञण या कूल्हे में उत्पन्न होकर धीरे २ (महीनों में ) रोगी के पैर में आ जाता है और जिसके साथ २ पांच-सात, दस—बीस दिनों बाद ज्वर आ जाया करता है उसे "ऋषिद" या "फीलपांव" या "हाथी पांव" कहा जाता है। कोई २ आचार्य हाथ, कान, नेत्र, लिंग या भगोष्टों, स्रोठ एवं नाक में भी इस रोग का होना मानते हैं।

वातजश्चीपदस्य लच्चणम् । वातजं कृष्णरूक्षं च स्कृटितं तीव्रवेदनम् । अनिमित्तरुजं तस्य बहुशो ज्वर एव च ॥ २ ॥ पित्तजं पीतसंकाशं दृग्ह-ज्वरयुतं मृदु । श्लोष्मकं स्निग्धवर्णं च श्वेतं पाण्डु गुरु स्थिरम् ॥ ३ ॥

श्रर्थ—वायु का श्लीपद काला श्रीर रुच होता है, उस स्थान की त्वचा में चीघें (चीरें) पड़ जाती हैं तथा भीषण वेदना होती हैं। विना कारण पीड़ा होती रहती है एवं बार २ ज्वर हो जाता है। पित्त का श्लीपद पीला-सा होता है, दाह एवं ज्वरसे युक्त तथा कोमछ होता है। कफ का श्लीपद चिकना, श्वेत या पीलापन लिये श्वेत, भारी एवं उपर्युक्त श्लीपदों की श्रपेचा स्थायी श्रयवा कड़ा होता है।

अथैषामसाम्यत्वम् । वल्मीकमिव संजातं कण्टकैरुपचीयते । अब्दात्मकं महत्तच वर्जनीयं विशेषतः ॥ ४ ॥ अर्थ—सांप की बाम्बी या बिरयी के शिखरों के समान कल्टकों

जंसे देशों में ढूढ़ने पर भी एक रोगी मिलना कठिन है। शरीर भर की घातुएं उक्त स्थानों में धीरे धीरे इकट्टी होती हैं।

१—इन स्थानों के अतिरिक्त आधुनिक शस्यिचिकित्सक ( डाक्टर ) भी अण्ड-कोष, स्तन एवं भगोष्ठीं पर भी मानते हैं।

या अंकुरों से व्याप्त, एक वर्ष पुराना एवं बहुत बड़ा श्लीपद सर्वधा अ-साध्य होता है ( सद्योमारक नहीं है )।

श्लीपदेषु कफस्य प्राधान्यम् ।

त्रीण्यप्येतानि जानीयात् श्लीपदानि कफोच्छ्रयात् ।

गुरुत्वं च महत्त्वं च यस्मान्नास्ति कर्फा विना ॥५॥ सु॰नि॰अ॰१२

ऋर्थ — उपर्युक्त तीनों श्लीपद कफकी ऋधिकता से होते हैं। क्योंकि भारीपन तथा मोटापन कफ के बिना कदापि नहीं हो सकता।

श्लीपदरोगस्योत्पत्तौ देशविशेषः ।

पुराणोदकभूयिष्ठाः सर्वर्तुषु च शीतलाः।

ये देशास्तेषु जायन्ते श्लीपदानि विशेषतः ॥ ६ ॥ सु॰नि॰अ॰१२

श्चर्य—जिन देशों में पुराना जल संचित रहता है श्रथवा जहां सब ऋतुएं ठरढी रहती हैं, उन्हीं देशों में विशेषरूप से श्लीपद रोग होता है।

श्लीपदरोगस्य पुनरप्यसाध्यलद्मराम् ।

यच्छुलेष्मलाहारविहारजातं पुंसः प्रकृत्याऽपि कफात्मकस्य ।

सास्नावमत्युन्नतसर्वे लिङ्गं सकण्डरं श्लेष्मयुतं विवर्ज्यम् ॥ ७ ॥

श्रर्थ—जो कफकारक आहार-विहारों से उत्पन्न हुआ हो तथा कफ की प्रकृतिवाले पुरुष को हो अथवा सावयुक्त, बहुत बड़ा, तीनों दोषों के लक्तणों से युक्त, खुलजी से युक्त अथवा केवल कफ से ही उत्पन्न हुआ हो, वह असाध्य होने के कारण त्याज्य होता है।

## विद्रधिनिदानम् ।

त्वग्-रक्त-मांस-मेदांसि संदूष्यास्थिसमाश्रिताः । दोषाः शोथं शनेषोरं जनयन्त्युच्छिता सृशम् ॥ १ ॥

१ — यह बड़ा भयानक फोड़ा है। गहरा होने के कारण महीनों तक **लेपादि** क्रिया सफल नहीं होतीः किन्तुभीतर से पक जाता है। श्रतएव चीरा देना पड़ता है और इससे लाभ भी शीघ होता है।

#### महामूलं रुजावन्तं दृत्तं वाऽप्यथवाऽऽयतम् । स विद्रधिरिति रूयातो—

श्रर्थ—श्रस्थ में श्रत्यन्त कुपित वातादि दोष त्वचा, रक्त, मांस एवं मेदा को श्रत्यन्त दूषित कर धीरे २ भीषणा शोथ (एक देशीय ब्रणशोथ के समान ) को उत्पन्न कर देते हैं। यह शोथ गहरी जलन (श्रस्थिपर्यन्त ) वाली, श्रत्यन्त पीड़ायुक्त, गोल श्रथवा लम्बी होती है। यह "विद्रधि"नाम से प्रसिद्ध है।

—विज्ञेयः षड्विधश्र सः ॥ २ ॥

पृथग्दोषैः समस्तेश्र क्षतेनाप्यस्जा तथा ।

पण्णामिप हि तेपां तु लक्षर्णं संप्रवक्ष्यते ॥३॥ सु० नि० अ० ६

श्चर्य- यह "विद्रिधि" हः प्रकार को होती है। यथा- वात से, पित्त से, कफ से चत से तथा रक्त से इन छत्रों के लच्चण श्चागे कहे जायँगे।

वातजविद्रधेर्रुच्यानि ।

कृष्णोऽरुणो वा विषमो भूशमत्यर्थवेदनः ।

चित्रोत्थानप्रपाकश्च विद्वधिर्वातसंभवः ॥४॥ सु॰ नि॰ अ॰ ९

श्रर्थ—काली श्रथवा कालापन लिये लाल, कहीं से ऊंची, तो कहीं से नीची, श्रत्यन्त वेदना से युक्त तथा विचित्र ढंग से उठने एवं पकने वाली वातज "विद्रधि" होती हैं।

पित्तजिद्रधेर्लज्ञणानि । पकोदुम्बरसंकाशः श्यावो वा ज्वरदाहवान ।

<sup>9 —</sup> महर्षि भोज ख्रादि रक्त शब्द का ख्रर्थ रक्त थातु के ख्रतिरिक्त "रज" भी कहते हैं श्रीर प्रसृता श्री ख्रथवा श्रप्रसृता के गर्भाशय में रक्त ख्रथवा रज के कक्जानां से विद्रिधि का होना मानते हैं ख्रीर उसका नाम "मकक्ष विद्रिधि" बतलाते है। महर्षि सुश्रुत ने दोनों को एक ही "रक्त-विद्रिधि" मात्र लिया है। अस्तु (म॰ को॰)

क्षिप्रोत्थानप्रपाकश्च विद्रिधि: पित्तसंभव: ॥५॥ छ० नि० न० ९ अर्थ-पके गूलरफल की सी पीली, लाल अथवा काली, ज्वर एवं दाह से युक्त तथा शीघ्र उठने एवं पकनेवाली पित्तज "विद्रिधि" होती है।

कफजविद्रधेर्लच्रणानि ।

शरावसद्दशः पाण्डः श्रोतः स्निग्धोऽल्पवेदनः ।

चिरोत्थानप्रपाकश्च विद्विधः कफसंभवः ॥६॥सु० नि० अ० ९

ऋर्थ—सिकोहे के समान उभारदार ऋथवा गहेदार, श्वेत, ठएडी (स्पर्श से ज्ञात हो सकता है या रोगी से पृछने से पता लग सकता है), चिकनी, थोड़ी वेदना से युक्त तथा चिरकाल (१-२ सप्ताह) से उठने एवं (४-५ सप्ताह में) पकनेवाली कफज "विद्रधि" होती है।

पाकानन्तरं सञ्जातास्रावस्य लव्याप् ।

तनु-पीत-सिताश्चेपाम(सावा: क्रमश: स्मृता: । सु॰ नि॰ अ॰ ९ अर्थ-पकने पर उपर्युक्त विद्रधियों के स्नाव इस प्रकार के होते हैं । यथा-वात-विद्रधि का स्नाव पतला या थोड़ा, पित्त-विद्रधि का पीला एवं कफ-विद्रधि का रवेत होता है ।

सान्निपातिकविद्रघेर्त्वचणानि । नाना-वर्षा-रुजा-स्नावो घाटालो विषयो महान् ॥ ७ ॥

विषमं पच्यते चापि विद्रिधि: सान्निपातिक: । सु॰ निः अ॰ ६ अर्थ—नाना प्रकार के (दोषानुसार) वर्गों, पीड़ाझों एवं स्नावों से युक्त, घाटोदार अर्थात् अत्यन्त ऊँची, विषम—कहीं से ऊंची, तो कहीं से नीची, अत्यन्त बड़ी (चौड़ाई में) तथा विषम ढंग से पकनेवाली अर्थात् कहीं से पक जाती है तो कहीं से कची रहती है। कहीं गहरे पकती है तो कहीं उपर-ऊपर से । यह सन्निपातज "विद्रिधि" होती है।

श्रथाभियातज्ञविद्रघेर्लज्ञानि । तैस्तैर्भावेरिभइते क्षते वाऽपथ्यकारिणः ॥ ८ ॥ क्षतोष्मा वायुविसृतः सरक्तं पित्तमीरयेत् । श्रर्थ—लकड़ी-पत्थर श्रादि के द्वारा चोट लगने श्रथवा घाव हो जाने पर भी श्रपथ्य-सेवी मनुस्य के उस (चोट खाये हुए) स्थानकी उष्मा या गर्मी वायु की सहायता से फैलकर रक्तयुक्त पित्त को (जो श्राहत स्थान पर एकत्रित होता है) दृषित कर देता है। उस रोगी को ज्यर, प्यास एवं साह उत्पन्न हो जाती है। वह श्रागन्तुक या चतजनित "विद्रिधि" कही जाती है। इसमें पित्त के लच्चग पाए जाते हैं।

रक्तजविद्रघेर्लच्यानि।

कृष्णस्फोटारुतः श्यावस्तीत्र-दाह-रुजाकरः ॥१०॥

पित्तविद्रधिलिङ्गस्तु रक्तविद्रधिरुच्यते । सु॰ नि॰ अ॰ ६

त्र्यर्थ—काले फफोलों से व्याप्त, काली, भीषण दाह एवं पीड़ा करने-बाली तथा पित्तविद्रधि के लज्ञ्ग्णों से युक्त रक्तज "विद्रधि" होती है।

श्रन्तविद्रधि--

पृथक् संभूय वा दोषाः क्वपिता गुल्मरूपिएम् ॥११॥ वल्मीकवत् सम्रनद्भम्तः कुर्वन्ति विद्वधिम् । गुदे वस्तिमुखं नाभ्यां कुर्सो वङ्क्षणयोस्तथा ॥ १२ ॥ दृक्कयोः ष्ठीिद्व यकृति हृदि वा क्रोम्नि वाऽप्यथ। तेषामुक्तानि लिङ्गानि बाह्यविद्वधिलक्षणैः ॥ १३ ॥

श्रर्थ—वातादि दोष कुपित होकर श्रकेले २ श्रथवा सब मिलकर गुल्म जैसे (पिहले) तथा (कुछ कालबाद) बांबी के समान (शिखराकृति) एवं कटोर "अंतर्बिद्रधि" को निम्नलिखित स्थानों में कर देते हैं। वे स्थान यह हैं—गुद ( विलयाँ ) वस्ति या मूत्राशय का मुख, नामि, कुन्ति (श्रा-माशय एवं गर्भाशय), वंन्तण (कुल्हे), वृक्त (गुरदे), श्रीहा, यकृत्,

१- यह फोड़ा भौतरी अवयवीं में होता है।

हृद्य तथा कोम । इन विद्रघियों के उत्तर्ण ( स्नावादि ) बाहर की विद्र-घियों के ही लन्नणों के समान होते हैं ।

श्रिधिष्ठानिवशेषेण लिङ्गं मृणु विशेषतः ।
गुदं वातिनरोधश्र वस्तौ कृच्छ्राल्पमूत्रता ॥ १४ ॥
नाभ्यां हिका तथाऽऽटोपः कुसौ मास्तकोपनम् ।
कटी-पृष्ठ-ग्रहस्तीत्रो वङ्सणोत्थे तु विद्रघौ ॥ १५ ॥
टक्कयोः पार्श्वसंकोचः प्लीह्रयुच्छ्वासावरोधनम् ।
सर्वाङ्गप्रग्रहस्तीत्रो हिंद कासश्र जायते ।

श्वासो यकृति हिका च क्रोम्नि पेपीयते पयः ॥१६॥ छ॰ नि॰ न्र॰ १०११ अर्थ—स्थान के भेद से इनके विशिष्ट लच्चणों को सुनिये—गुद

विद्रिध से अधोवायु का निरोध, विस्ति में विद्रिध होने से कड़क के साथ थोड़ा मूत्र, नाभि में होने से हिका एवं उदर का गुड़गुड़ाना, कुच्चि में होने से वायु का कोप, वंच्चण में होने से कमर एवं पीठ में भीषण जकड़न, वृक्क में होने से पाश्वों की सिक्कड़न, प्लीहा में होने से सांस्क्लिने में कष्ट, हृदय में होने से सम्पूर्ण शरीर का बुरी तरह जकड़ या अकड़ जाना एवं खांसी, यकृत् में होने से श्वास एवं हिक्का तथा क्रोम में होने से अधिक पानी पीना। यह लच्चण होते हैं।

विद्रधीनां स्नावमार्गाः, साध्यासाध्यत्वं च ।
नामेरुपरिजाः पक्वा यान्त्यूर्ध्वमितरे त्वधः ।
ब्रधः स्नुतेषु जीवेनु स्नुतेष्ट्र्यं न जीवित ॥ १७ ॥
[ विद्रधिर्नाभिसञ्जातः स्नवत्यूर्ध्वमधोऽपि च । ]
हृन्-नाभि-वस्ति-वर्ज्या ये तेषु भिन्नेषु बाह्यतः ।
जीवेत कदाचित पुरुषो नेतरेषु कदाचन ॥१८॥ छ० वि० व०ः ।
कर्षा — नाभि से उपर ( गुदा तथा वस्ति के क्यांतिरिक्त सब ) होनेवाली विद्रधि जब पकती है, तो उसका मवाद सुख-मार्ग से तथा नामि
के नीचेवाली विद्रधियों का मवाद नीचे श्रर्थात् गुद्मार्ग एवं मूत्रमार्ग से

निकलता है। अधःस्रावी विद्रिधयों में कदाचित रोगी बच जाता है; किन्तु ऊर्ध्व स्नावियों में नहीं बचता। हृद्य, नाभि एवं वस्ति के अन्या-न्य स्थानों की विद्रिध यदि बाहर की श्रोर फूटती है तो किसी प्रकार रोगी मृत्य से बच जाता है; किन्तु हृदय, नाभि तथा वस्ति की विद्रिध भले ही बाहर की श्रोर फूटे, तो भी रोगी मर ही जाता है। साध्या विद्रधयः पश्च विवर्ज्यः सान्निपातिकः ।

अप-पक-विद्यथत्वं तेषां शोथवदादिशेत् ॥ १९ ॥ वा० वि० अ० ११

अर्थ-वाह्य अथवा अन्तर्विद्रिधयों में से पाँच साध्य तथा सन्निपातज श्रसाध्य होती है। इनकी पकापक तथा पच्यमानावस्था अणशोध के ही समान होती है।

श्राध्मातं वद्धनिष्यन्दं छर्दि-हिका-तृपा-अन्वितम् ।

रुजा-श्वास-समायुक्तं विद्विर्नाशयेत्ररम् ॥ २० ॥ द्व० ५० ३३

श्रर्थ-फूला हुत्रा, जिसका साव रुक गया हो, कै, हिचकी तथा प्यास से युक्त और पीड़ा एवं श्वास से युक्त "विद्रधि" रोगी की मार डालती है।

> व्रणशोधनिदानमः त्रणशोथस्य लक्त्रणम् ।

एकदेशोत्थितः शोथो व्रणानां पूर्वलक्षणम् ।

षड्विधिः स्यत् पृथक्-सर्व-रक्ता-ऽऽगन्तु-निमित्त-जः ॥१॥

शोथाः पडेते विज्ञेयाः प्रागुक्तैः शोथलक्षरौः।

विशेष: कथ्यते चैषां पकापकादिनिश्रये ॥ २ ॥

त्रर्थ-एक स्थान में जो शोथ' (जिसे फोड़ा कहा जाता है) हो

१--इस प्रकरण में सुश्रुत के श्रामपक्वेषणीयाध्याय का श्रानुवाद करने का प्रयत्न किया गया है। किन्तु बहुत-सी वार्ते माधवजी ने छोड़ दी हैं। अतएव यह प्रकरण पढ़ते समय सुश्रुत का उक्त श्रध्याय श्रवश्यमेव देख लेना चाहिये ।

२-- बणाय शोथः व्रणशोधः इति चतुर्थी तत्प्रवः ।

जाता है, ज्ञण (घाव) का पूर्वरूप होता है। वह वात, पित्त, कफ, सिन्नपात, रक्त एवं आगन्तुक (मुक्का पाषाण आदि का अभिघात) कारणों से उत्पन्न होने के कारण छः प्रकार का होता है। इन छुत्रों के लक्तण वे होते हैं, जो पहिले शोथ के लक्तण (शोथाधिकार में) कहे जा चुके हैं; किन्तु इनकी पकता अपकता तथा पच्यमानता का निश्चय करने के लिये विशिष्ट लक्तण (इस प्रकरण में) कहे जाते हैं।

व्रणशोथस्य वातादिभेदेन विशेषलन्तरानि ।

विषमं पच्यते वातात् पित्तोत्थश्चाचिराचिरम् ।

कफजः पित्तवच्छोथो रक्तागन्तुसमुद्भवः ॥ ३ ॥

अर्थ—वायु का त्रणशोध विल्वण ढंग (कहीं से पका कहीं से कचा) से, पित्त त्रणशोध शीव्र, कफ का देर में तथा-रक्तज एवं आगन्तुक त्रण्शोध पित्तजशोध के समान अर्थात शोव्र ही पकता है।

श्रथामत्रणशोथस्य लत्त्रणानि ।

मन्दोष्मताऽरुपशोथत्वं काठिन्यं त्वक्सवर्णता ।

मन्दवेदनता चैतच्छोथानामामलक्षणम् ॥ ४॥

श्चर्य—यदि अगुरोथ में दाह अत्यन्त थोड़ा हो, सूजन भी थोड़ी ही हो, कड़ापन हो उस स्थान की त्वचा शरीर के हो वर्ण वाली हो अर्थात् उसके वर्ण में कुछ परिवर्तन न हुआ हो तथा वेदना भी थोड़ी ही हो तो सममता चाहिये कि अभी अगुरोध' (फोड़ा) कक्का है।

पच्यमानशोथस्य लज्ञणानि।

## दह्यते दहनेनेव क्षारेखेव च पच्यते।

यशपि व्रण होने के लिये इस प्रकार का शोथ होना आवश्यक है; परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि इससे व्रण अवश्य ही हो। यह फोडा नाम से प्रसिद्ध जो शोथ होता है, वह त्वचा एवं मांस में ही होता है

९—इस श्रवस्था में विम्लापनादि किया करने से फोड़ा बैठ जा सकता है। किन्तु यदि यह खाने एवं लगाने की श्रोपियों से दोषों की श्रिकता के कारण शान्त न किया जा सके तो पच्यमानावस्था श्रारम्भ हो जाती है। पिपीलिकागरोनेव द्रयते छिद्यते तथा ॥ ५ ॥
भिद्यते चैव क्रस्नेरा दण्डेनेव च ताङ्यते ।
पीड्यते पार्रिग्नेवान्तः स्वीभिरिव तुद्यते ॥ ६ ॥
सोपाचोषो विवर्षाः स्यादङ्गुल्येवावघट्यते ।
त्रासने क्रयने स्थाने क्रान्ति दृश्विकविद्यवत् ॥ ७ ॥
न गच्छेदाततः शोथो भवेदाध्मातबस्तिवत् ।
ज्वरस्तृष्णाऽक्षिश्वेव पच्यमानस्य लक्षराम् ॥ ८ ॥

श्चर्य—जब रोगी अर्णशोथ में श्रिप्तिद्वारा जलने, चारद्वारा पकने, हजारों लाखों चीटियों द्वारा एक साथ काटने, शक्षद्वारा छेदने तथा फाइने, दर्णडेद्वारा पीटने, हाँथों से मसलने एवं सुइयों से बींधने श्रादि श्रानेक प्रकार की पीड़ाओं का श्रानुभव करता है, भीतरी दाह एवं चीस या टीस पड़ती है, अंगुलियों के दबाने की सी पीड़ा होती है, बिच्छु के इसे मनुष्य के समान न बैठने, न लेटने तथा न खड़े रहने में ही रोगी को खुर मिलता है, शोथ फुली हुइ बस्ति के समान तथा रोगी को ज्वर, प्यास एवं भोजन में श्राम्य होती है। तो जानना चाहिये कि फोड़ा पक रहा है।

परिपक्वत्रण्योथस्य लच्चणानि । वेदनोपश्चमः शोथोऽलोहितोऽल्पो न चोन्नतः । पादुर्भावा वत्तीनां च तोदः कण्हर्म्युद्वर्मुद्वः ॥ ९ ॥ उपद्रवाणां पश्चमो निम्नता स्फुटनं त्वचाम् । बस्ताविवाम्बुसंचारः स्याच्छोथेऽङ्गुलिपीडिते ॥ १० ॥ पूयस्य पीडयत्येकमन्तमन्ते च पीडिते । भक्ताकाङ्क्षा भवेच्चेत्तच्छोथानां पक्कलक्षणम् ॥ ११ ॥

श्चर्य — जब पेच्यमान ब्रग्णशोथ की सभी वेदनाएँ कुछ शान्त हो जायँ, शोथ पर लाली न रह जाय श्वौर वह दब जाय, उँचाई भी घट जाय, सिकुड़न ( फुरियाँ ) पड़ जाय, सुई चुभाने की वेदना तथा बार २ सुजली चलने लगे, ब्बर, रुष्णा चादि लपद्रव (जो कि पच्यमान में कहे गये हैं) शान्त हो जायँ चौर खचा खयं फट जाय अर्थात् मवाद बहने लग जाय श्रें आँगुली से दबाने पर फोड़े के भीतर पीव का सखार ऐसे होता है; जैसे मशक में पानी का तथा एक चोर दबाने से पीब दूसरी चोर जाकर टकराती है चौर इस दशा में रोगी को पीड़ा का चनुभव होता है तथा जब रोगी को भोजन करने की इच्छा होने लगती है तो सममना चाहिये कि खब फोड़ा पक गया है।

पाककाले दोषाणां सम्बन्धः।

नर्तेऽनिलाह रुङ् न विना च पित्तं पाकः कफं चापि विना न पूयः। तस्माद्धि सर्वान् परिपाककाले पचन्ति शोथांस्रय एव दोषाः ॥ १२ ॥

सु॰ सु॰ अ॰ १७

श्चर्थ — वायु के विना किसी भी प्रकार की वेदना नहीं हो सकती, पित्त के विना पाक नहीं हो सकता एवं कफ के विना पूय या पीव नहीं बन सकती, श्चतएव पकते के समय फोड़ों को तीनों दोप पकाते हैं।

निःशेषानिःसृतस्य पूयस्य दोषः ।

कञ्जं समासाद्य यथैव विद्वर्वाय्वीरितः संदहित प्रसद्य । तथैव पूर्यो ह्यविनिःस्रतो हि मांसं सिराः स्नायु च खादतीह॥१३॥

सु० सू० अ० १७

त्र्यर्थ—जैसे वायु से प्रेरित होकर ऋषि घास को जोरों से जला देती है, बस ठीक इसी प्रकार फोड़ा का पीव भी यदि न निकाला जाय तो

१--- यह लक्षण वहीं के फोड़ो में होता है जहां की त्वचा पतली एवं कोमल होती है; वर्योकि उसको चीरने की श्रावश्यकता नहीं पहती वह स्वयं फट जाती है।

२--- यह लक्षण वहीं के फोकों में पाया जाता है जहां की त्वचा मोटी एवं कठोर होती है वह स्वयं नहीं फटती; क्रिपित चीरा लगाना पढ़ता है।

३—कुछ महर्षियों का विचार इससे भिन्न है। उनका कहना है कि — कालान्त-रेणाभ्युदितं तु पित्तं कृत्दा वशे वातकफौ प्रसद्धा। पचत्यतः शोणितमेषपाको ख्रतः परेषां विद्वशां द्वितीयः ॥ पित्त रक्त को एका देता है यस वही "पूय" बन जाता है। १७ मा०

मांस-सिरा एवं स्नायु को खा जाता है, अर्थात् नष्ट कर देता है। ' व्रणस्यामपकादिज्ञानाज्ञाने गुणदोषी। आर्थ विद्ह्यमानं च सम्यकृपकं च यो भिषक्।

त्राम विद्धमान च सम्यक् पक च या भिषक् । जानीयात् स भवेद्व वैद्यः शेषास्तस्करहत्त्वयः ॥ १४ ॥

यश्ळिनत्याममज्ञानाद्व यो वा पक्रमुपेक्षते ।

श्वाचाविव मन्तव्यो ताविनिश्चितकारिएगी ॥१५॥ सु॰ स्॰ श॰ १७ श्रुष्ट — जो चिकित्सक कन्ने, चकरदे एवं पके फोड़े को ठीकर सममता है, वही "वैद्या" कहलाने का अधिकारी है। शेष चिकित्सक चोर हैं, अ्रोर जो चिकित्सक कन्ने फोड़े को चोर डालता है अथवा जो पके फोड़े को डोचा करता है अथीत् उसमें चोरा नहीं लगाता वे दोनों चाएडाल के समान हैं; क्योंकि वे ठोक चिकित्सा नहीं जानते।

# शारीरव्रणनिदानम् ।' व्यास्य भेदाः।

दिशा त्रणः स विज्ञेयः शारीरागन्तुभेदतः । दोषैरायस्त्रयोगन्यः शस्त्रादिक्षतसंभवः ॥ १ ॥

ऋर्थ — त्रसा या घाव दो प्रकार का होता है १-शारीर २-ऋागन्तुक। इन दोनों में पहिला वातादि दोषों से एवं दूसरा शत्र, सींग तथा दांत ऋादि लगने से होता है।

९ —इस कथन का तात्पर्य यह है कि यदि फोड़ा स्वयं फ़ूटकर बह जाय तब तो ठीक और यदि ज फ़ूटे तो चीरा लगाना चाहि । तथा शोधन किया भली प्रकार करनी चाहि रे। यदि थोड़ा भी प्रमाद हुत्रा तो नासूर ( नाड़ो त्रग ) हो सकता है।

२ — यह चिकित्सकों के लिने चेतानी है, उन्हें चाहि कि इन क्लोकों को सब रोगों की चिकित्सा करते समय स्मरण रखें।

श—शारीरिक दोषों (वातादि) द्वारा अणशोय होकर जन घाष के रूप में परिणत हो जाता है तब उस के लक्षणों का विकिथय करने के लिए यह प्रकरण लिखा गया है।

स्तब्धः कठिनसंस्पर्शो मन्दस्रावो महारुजः। तचते स्फरति श्याचो त्रणो मास्तसंभवः ॥ २ ॥ तृष्णा-मोह-ज्वर-क्लेद-दाह-दुष्टचवदारखैः। त्रणं पित्तकृतं विद्याद् गन्धैः स्रावैश्व पृतिकैः ॥ ३ ॥ बहुपिच्छो गुरु: स्निग्ध: स्तिमितो मन्द्वेदनः। पाण्डुवर्णोऽल्पसंक्षेदश्चिरपाकी कफव्रणः ॥ ४ ॥ रक्तो रक्तसुती रक्तात् द्वि-त्रि-जः स्यात्तदन्वयैः।

अर्थ - स्तब्ध अर्थात् हिलने-डुलने से त्रण में पीड़ा हो, उँगली से दबाने पर कठोर ज्ञात हो, स्नाव थोड़ा निकलता हो, पीड़ा अधिक हो, न्यथा हो, कभी २ त्रणा में फड़कन हो एवं त्रण का वर्ण कुछ, काला हो तो सममना चाहिये कि "वातव्रण" है। प्यास, मोह, ज्वर, पन्छा, दाह, सड़न एवं श्रवदारण (त्रण का फटना) से युक्त त्रण हो तथा उसमें से दुर्गन्धयुक्त स्नाव निकलता हो तो सममना चाहिये कि "पित्तज-त्रण" है। चिचिपाहट अधिक हो, पन्छा थोड़ा हो एवं पकने में अधिक समय लगे तो समभना चाहिये "कफजत्रमण" है। त्रण लाल हो तथा उसमें से रक्त अथवा रक्तवर्ण का स्नाव निकते तो "रक्तजत्रण्" सममना चाहिये। दो अथवा तीन दोषों के उपर्युक्त लच्चण मिलने से "द्विदोषज" अथवा "त्रिदोषज त्रण्" समभना चाहिये।

व्रणानां साध्यासाध्यत्वम् । त्वङ् मांसजः सुखे देशे तरुणस्यानुपद्वः ॥ ५ ॥ धीमतोऽभिनवः काले सुखे साध्यः सुखं त्रणः। गुणैरन्यतमेहीनस्ततः कृच्छो त्रणः स्मृतः ॥ ६ ॥ सर्वैर्विहोनो विज्ञेयस्त्वसाध्यो भूर्युपद्रवः। ७० चि० ४० १३ त्रर्थ-केवल' त्वचा चौर मांस में होनेवाला, सुखकरांदेश ( ऋर्थात्

१ विद्धिका वर्ण अस्थिपर्यन्त गहरा होता है । श्रतः यह लक्षण केवल त्वचा में

शरीर का वह देश जहाँ पर त्रण शीघ भर जाय तथा भूमि देश जैसे मरुदेश तथा राजपूताना का बीकानेर राज्य ) में पचीस वर्ष से न्यून श्रायु बाले पुरुष का, उपद्रवों से रहित, बुद्धिमान् ( पथ्यादि रखनेवाला ) मनु-ष्य का, नवीन एवं सुखकर काल में (जैसे शीतऋतु में) हुआ त्रण सुख-साध्य होता है। उपर्युक्त लच्चणों में यदि न्यूनता हो तो त्रण कष्टसाध्य होता है। यदि सुखसाध्य के सभी लक्षण ने पाये जायँ तथा बहुत-से उपदव भी हों तो बर्ण "श्रसाध्य" समभना चाहिये।

दुष्टत्रणस्य लत्तराम् ।

पूर्तिः पूर्यातिदुष्टास्वस्नान्युत्सङ्गी चिरस्थितिः ॥ ७ ॥

दुष्टो त्रणोऽतिगन्धादिः शुद्धतिङ्गविपर्ययः । च॰ चि॰ अ० १३

श्चर्य-जिस ब्रग् में से दुर्गन्ध श्चाती हो, पीव एवं श्चत्यन्त दूषित रक्त निकला करता हो, प्रकोटर या खोह से युक्त हो, चिरकाल तक ( चिकित्सा करने पर भी ) रहने वाला, विचित्र गन्धों से युक्त एवं निम्न-लिखित शुद्धत्रण के अचलों से रहित "दुष्टत्रण" होता है।

शुद्धव्रणस्य लच्चणानि ।

जिह्वातलाभोऽतिमृदुः श्रक्ष्णः स्त्रिग्घोऽल्पवेदनः ॥ ८ ॥

सुच्यवस्थो निरास्नाव: शुद्धो त्रण इति स्मृत:। च० च० ब० १३ श्रर्थ-जीभ के समान वर्ण एवं श्रत्यन्त छोटे २ अंदुरों से युक्त, ऋत्यन्त कोमल, साफ, चिकना, थोड़ी वेदना से युक्त, कोटर आदि से रहित एवं दृषित स्नाव से रहित "शुद्धत्रण्" होता है।

रुद्यमाखद्रग्रस्य लच्चग्रानि । कपोतवर्णप्रतिमा यस्यान्ताः हेदवर्जिताः ॥ ६ ॥

स्थिराश्च पिडकावन्तो रोहतीति तमादिशेत । सु॰ सु॰ अ॰ २३

अर्थ-जिस बगु का अन्तभाग या सीमा कब्तर के समान वर्ण (पाएड धूसर) से युक्त हो तथा क्लेदरहित, थोड़ा हिलने डुलने पर भी होने वाली साधारण कुन्सियाँ श्रौर श्रधिक मांस में होनेवाले फोड़ों में ही लागू समम्बना चाहिये।

न फटनेवाला त्र्यौर छोटी २ पिड़का या अंकुरों से युक्त हो, उसे सममता चाहिये कि भर रहा है ।

सम्यग्रूढस्य लच्चणानि । रूढवर्त्मानमग्रन्थिमश्चनमरुजं त्रणम् ॥ १० ॥

त्ववसवर्णं समतलं सम्यग्रूब्ढं विनिर्दिशेत् । सु॰ सू॰ भ॰ २३ ऋर्थ—त्रण का स्थान भली प्रकार भर गया हो, उसमें गाँठ, शोध एवं किसी प्रकार की पीड़ा न हो, त्वचा के समान वर्ण हो ऋौर उसमें थोड़ी भी गहराई न हो तो सममता चाहिये कि ऋण ठीक २ भरा है।

त्रगानां कृच्छ्रसाध्यत्वम् ।

कुष्ठिनां विषज्जुष्टानां शोषिणां मधुमेहिनाम् ॥ ११ ॥ त्रणाः कुच्छ्रेण सिध्यन्ति येषां चापि त्र**णे** त्रणाः ।

वसां मेदोऽथ मज्जानं मस्तुलुङ्गं च यः स्रवेत् ॥ १२ ॥

आगन्तुजो त्रणः सिद्धचेन्न सिद्धचेदोपसंभवः । छ॰ स॰ अ॰ २३ अर्थ— 'कोढ़ियों के, विषपीड़ितों के, शोधरोगियों के एवं मधुमेह के रोगियों के त्रया अथवा जिनके अर्थों में अण (फोड़े होकर) हो जाते हैं, उनके त्रण कठिनता से अच्छे होते हैं और जिस अर्था में से बसा, मेदा, मजा एवं मस्तुछंग (शिर के भीतर रहनेवाला मस्तिष्क द्रव्य जिसे मजा कहा जाता है) वह रहा हो वह अर्था यदि आगन्तुक है तो अच्छा हो सकता है, किन्तु यदि दोषज या शारीरिक है तो अच्छा नहीं होता।

१—इसके विपरीत रूढ़ भी "ब्रासम्यक् रूढ़" समभाना चाहिये (भला विचारिये तो ऐसा क्यों 2)

र—तथा यच्मा, मधुमेह एवं वर्णों से शक्तिहीन हो जाने के कारण ऐसा होता है।

३—इन पांची रोगियों के जगप्रक धात्रधातुओं के कमशः कुछ से दूषित, विष से अर्द्धस्त, शुष्क एवं मूत्र के साथ बहने तथा दोषीं की प्रबलता के कारण ऐसा होता है।

त्रयानां गन्धिवशेषेयासाध्यत्वम् ।
मद्यागुर्वाज्य-सुमनः पद्म-चन्दन-चम्पकः ॥ १३ ॥
सगन्धा दिव्यगन्धाश्च सुमूर्षू णां त्रयाः स्मृताः ।
ऋर्थ--जिन रोगियों के त्रयों में से मद्य, त्र्यगरू, घी, चमेली,कमल, चन्दन एवं चम्पा-पुष्प के समान त्रथवा त्रौर भी किसी प्रकार की उत्तम गन्ध चा रही हो तो समक्ष लेना चाहिये कि वह रोगी मर जायगा ।

त्रणानामसाध्यलच्चगानि ।

ये च मर्मस्वसंभूता भवन्त्यत्यथंवेदनाः ॥ १४ ॥
दह्यन्ते चान्तरत्यथं बहिः शीताश्च ये त्रणाः ।
दह्यन्ते बहिरत्यथं भवन्त्यन्तश्च शीतलाः ॥ १५ ॥
माण-मांस-क्षय-श्वास-कासा-ऽरोचक-पीडिताः ।
महद्ध-पूय-रुधिरा त्रणा येपां च मर्मसु ॥ १६ ॥
क्रियाभिः सम्यगारूच्या न सिध्यन्ति च ये त्रणाः ।
वर्जयेद्पि तान् वेद्यः संरक्षन्नात्मनो यशः॥१७॥ छ० उ० अ० १९
धर्य-जो त्रण मर्मस्थानों पर उत्पन्न न होकर भी भीषण वेदनाञ्चों
से युक्त हो ध्यवा जो भीतर से ज्ञत्यन्त दाह्युक्त एवं बाहर से ठएडे हों
अथवा जो बाहर से दाहयुक्त एवं भीतर से ठएडे प्रतीत हों श्रथवा जो
बल-मांस की हानि, खास, कास एवं अवचि से युक्त हों तथा जिनमें
से श्रत्यधिक पीव एवं रक्त निकलता हो श्रथवा जो मर्मस्थानों में हों,
ध्यवा जो त्रण श्रच्छी से श्रच्छी चिकित्सा करने पर भी श्रच्छे न हुए
हों; चिकित्सक का कर्त्यंच्य है कि श्रपनी कीर्त्ति को श्रक्षुरण् बनाये रखने
के लिये ऐसे त्रणों की चिकित्सा न करे।

सच्योवणनिदानम् ।' श्रथागृन्तुवर्णानां लच्चणानि । नानाधारमुखैः शस्त्रैर्नानास्थाननिपातितैः ।

१-स्यः श्रर्यात् सहसा या शीघ्र या तत्काल होनेवाला त्रण या धाव ।

भवन्ति नानाकृतयो व्रखास्तांस्तान्निबोध मे ॥ १ ॥ छित्रं भित्रं तथा विद्ध क्षतं पिच्चितमेव च ।

घृष्टमाहुस्तथा षष्ठं तेषां वक्ष्यामि लक्षरणम् ।।२।। छ॰ वि॰ वि॰ वि॰ विश्व वाले व्यर्थ—भिन्न प्रकार की धार (जैसे तलवार की) तथा मुख वाले (जैई मुई, वाण, भाला व्यादि का) राखों के भिन्न २ स्थानों पर लगने से भिन्न २ प्रकार के व्या या घाव हो जाते हैं; उनका विवरण मुमसे सुनो। वे व्या नामों से छः प्रकार के होते हैं यथा—१-छिन्न, २-भिन्न, ३-विद्ध, ४-चृत, ४-पिहित चौर ६-घृष्ट। इनके भिन्न २ लच्चण कहता हूँ।

छिन्नवणस्य लत्तराम्।

तिर्यक् छिन्न ऋजुर्वाऽपि यो त्रणस्त्वायतो भवेत् ।

गात्रस्य पातनं तिद्ध छिन्नमित्यभिधीयते ।।३।। छ॰ वि॰ अ॰ २ अर्थ—तिरङी अथवा सीधी काट के कारण जो त्रण विस्तृत होकर अङ्ग (अंगुली- बाजू आदि ) को शरीर से पृथक् वा अलग कर देता है, उसे "छिन्नत्रण" कहा जाता है ।

भिन्नव्रणस्य लच्चणम्।

शक्ति-दन्तेषु-खड्गाग्र-विषासौराशयो इतः ।

यत् किंचित् प्रस्नवेत्तद्धि भिन्नलक्षणमुच्यते ।।४।। सु॰ चि० व० २ व्यर्थ — बर्छा, दाँत (जैसे हाथी तथा सूत्रप्र का लम्बा तीखा दाँत), बाण, तलबार की नोंक एवं सींग (जैसे बैल की) के लगने से आशय (वस्ति मलाशय आदि) फट जाय और उसमें से कुछ (मूत्रम्ल आदि) बाहर निकलने लग जाय, तो वह "भिग्न व्रण" कहा जाता है।

श्रथावयवविशेषाणां कोष्ठसंहत्वम् ।

स्थानान्यामाग्निपकानां मूत्रस्य रुधिरस्य च ।

हृदुण्डुकः फुप्फुसश्च कोष्ठं इत्यभिधीयते ॥ ५ ॥

अर्थ — आम का स्थान "आमाशय" अग्नि का स्थान "अग्न्याशय", पक का स्थान "पकाशय", मूत्र का स्थान "मूत्राशय", रक्त का स्थान "रकाशय",(यकृत्-लीहा) हृदय, उण्डुकतथा फुल्फुस यह सब "कोष्ठ" नाम से प्रसिद्ध हैं'।

तिस्मन् भिन्ने रक्तपूर्णे ज्वरो दाहश्च जायते।
मृत्रमार्ग-गुदा-ऽऽस्येभ्यो रक्तं घाणाच गच्छिति ॥ ६ ॥
मृच्छी श्वासस्तुपाऽऽध्मानमभक्तच्छन्द एव च ।
विण्-मृत्र-वात-सङ्गश्च स्वेदास्त्रावोऽक्षिरक्तता ॥ ७ ॥
लोहगन्धित्वमास्यस्य गात्रदौर्गन्ध्यमेव च ।
हुच्छुलं पाश्वयोशचापि—

अर्थ—इन कोष्ठों में कहीं से भी भेदन होने के कारण रक्त भर जाने से निम्न लच्चण उत्पन्न हो जाते हैं—उत्तर, दाह; मूत्र मार्ग, गुद, मुख तथा नाक के रास्ते रक्त निकलता है, मूच्छां, श्वास, प्यास, अफरा, अफिन, विष्ठा, मूत्र तथा वायु (अपान और उद्गार) का निरोध हो जाता है। पसीना आने लगता है, आँखें लाल हो जाती हैं। मुख में से तपाकर बुआए हुए लोह की सी गन्ध आने लगती है तथा शरीर से दुर्गन्ध आती है: इदय और पसलियों में शुल होता है'।

-विशेषं चात्र मे शृह्य ।। ८ ।।

त्र्यामाञ्चयस्ये रुधिरे रुधिरं छुर्द्यस्यिष । त्र्याध्मानमतिमात्रं च शूलं च भृशदारुणम् ॥ ९ ॥ पकाशयगते चापि रुजा गौरवमेव च ।

<sup>9—</sup>यह सब श्रंग जिसमें रहते हैं, उसे "मध्यकाय" या धड़ कहा जाता है। इसके फटते ही श्रंतड़ी श्रौर श्रवयव बाहर निकल श्राते हैं, इसे भी "भिष्ण" ही कहना चाहिये।

२--इन लक्ष्णों से आप भिन्न २ कोष्टों या अवयवीं के मेदन का अनुमान कर सकते हैं, ध्यान से देखिये ।

अधःकाये विशेषेण शीतता च भवेदिह ॥१०॥ छ॰ चि॰ अ॰ र

त्रर्थ—उपर्युक्त लक्ष्णों के श्रातिरिक्त निम्नलिखित स्थानों में भेद न होने से निम्नलिखित विशिष्ट लक्षण भी पाये जाते हैं—आमाशय में रक्त इकट्ठा होता है, तो रक्त की के होती है। भयानक श्रफरा तथा श्रत्यन्त भीषण शूल होता है। यदि पकाशय में रक्त इकट्ठा होता है, तो उसमें पीड़ा एवं भारीपन हो जाता है श्रीर श्राधा' शरीर (विस्ति से नीचे पंरों तक) विशेष रूप से शीतल हो जाता है।

विद्धव्रणस्य लच्चाम्।

स्रक्ष्मास्यशलयाभिहतं यदङ्गं त्वाशयं विना ।

उत्तुण्डितं निर्गतं वा तद्द विद्धमिति निर्दिशेत् ॥११॥ सु०वि०अ०२

श्रथं—श्राशयों के श्रतिरिक्त श्रङ्गों में जब कोई सूरम मुखवाला शक्य (जैसे सुई, काँटा या तीर) चुभकर टूट (थोड़ा बहुत शरीर में ही रह जाता है) जाता श्रथवा सर्वथा निकल जाता है, तो उस त्रण को "विद्ध" या "विंधना" कहना चाहिये।

त्ततत्रग्रस्य लद्मणम् ।

नातिच्छित्रं नातिभित्रमुभयोर्लक्षणान्वितम्।

विषमं त्रणमङ्गे यत् तत्क्षतं .त्वभिधीयते ॥ १२ ॥ सु॰ चि॰ अ॰ २

श्चर्य—जिसमें न तो छिन्न के ही श्चौर न तो भिन्न के ही पूर्ण लत्तण हों; किन्तु दोनों के ही कुछ २ लत्त्रण मिलते हों, इस प्रकारका जो शरीर पर टेडा-मेडा त्रमा हो जाता हैं, उसे "त्तत" कहा जाता हैं।

१—शीतता चाष्यघोनामेः स्वेभ्यो रक्तस्य चागमः सु० चि० घ्र०२ में यही पाठ है और यही उत्तम भी है।

२—श्रंग कटकर गिर भी नहीं जाता श्रौर कोई श्राराय भी नहीं फटता; किन्दु, कटना कहा ही जाता है और उसमें से रक्त श्रादि निकलने के कारण फटना भी कहा जा सकता है; किन्दु वण का लक्षण न होने के कारण इसे "क्षत" कहते हैं, यह वही वण है जो चाकू छुरी श्रादि लगने से हो जाता है।

पिच्चितव्रणस्य लच्चणम् ।

महारपीटनाभ्यां तु यदङ्गं पृथुतां गतम् ।

सास्थि तत् पिचितं विद्यात् मज्ज-रक्त-परिप्तुतम्।।१३।।सु॰चिः अ॰२

श्रर्थ—भारी पत्थर श्रादि के नीचे श्रा जाने से या वेलनी (कल-बाढ़ी) में पिच जाने से जो श्रङ्ग हड्डी-सिंहत चिपटा हो जाता है या पिचक जाता है श्रीर मजा तथा रक्त से लथपथ हो जाता है उसे "पिच्चत" कहा जाता है।

घृष्टत्रग्रस्य लत्त्रणम् ।

घर्षणादभिघाताद्वा यदङ्गं विगतत्वचम् ।

उषा-स्नावान्वितं तच्च घृष्टमित्यभिधीयते ॥ १४ ॥ सु॰ चि॰ अ॰ २

श्रर्थ—खरोंच लगने से अथवा रगड़ लगने से जब केवल त्वचामात्र द्धिल जाती है, उस स्थान में दाह होता है एवं पानी-सा (लसीका) निकल श्राता है, तो उसे "पृष्ट" कहते हैं।

सशल्यत्रणस्य लच्चणम् ।

श्यावं सशोथं पिडकाचितं च मुहुर्मुंहु: शोणितवाहिनं च । मृदुद्गतं बुद्रबुदतुल्यमांसं त्रणं सशल्यं सरुजं वदन्ति ॥१५॥

सु॰ सू॰ अ॰ २६

श्रर्थ— 'किसी ब्रण् में जब भीतर शल्य रह जाता है तो निम्नलत्त्रण्य पाप जाते हैं — ब्रण् का स्थान काला, शोधयुक्त, छोटी २ फुन्सियों से व्याप्त होता है, उसमें से वार २ (श्रङ्ग हिलाने पर) रक्त निकला करता है, उस स्थान का मांस कोमल एवं बुद्बुद (बुलबुला) के समान ऊँचा हो जाता है तथा उसमें पीड़ा होती रहती है।

कोष्ठभेदस्य लच्चराम्।

त्वचोऽतीत्य सिरादीनि भित्त्वा वा परिहृत्य वा ।

९—श्रन्तःस्य शिल्य की श्रपनी विशेषताओं के श्रनुसार योड़े-बहुत लक्षण पाए जाते हैं, इन सब लक्षणों का होना श्रावश्यक नहीं है। यह स्मरण रखना चाहिये कि श्राशयों के श्रतिरिक्त स्थानों में शह्ययुक्त व्रण के यह लक्षण हैं।

कोष्ठे मतिष्ठितं शल्यं कुर्यादुक्तानुपद्रवान् ॥१६॥ छ॰ वि॰ अ॰ २

श्चर्य—जो शल्य त्वचाश्चों को पार कर सामने आनेवाली शिरा, स्नायु आदि को फाड़ कर श्चथवा इधर उधर हट कर या उनके मध्य में से होकर कोष्ठ (आमाशयादि) में जाकर भीतर ही रह जाता है, वह उक्त (श्लो० ६-१० में कहे हुए) उपद्रवों को करता है।

श्रथासाध्यकोष्टभेदस्य लत्तराम् ।

तत्रान्तर्लोहितं पाण्ड-शीत-पाद-करा-ऽऽननम् ।

श्रोतो स्छ्वासं रक्तनेत्रमानद्धं च विवर्जयेत् ॥१७॥ छु॰ खि॰ अ॰ २ अर्थ--जिस रोगी के कोष्ठ में रक्त भर गया हो, पाँव, हाथ एवं मुख श्वेत तथा शीत हो गये हों, साँस ठएडा आ रहा हो, आँखे लाल हो गई हों एवं पेट पूल गया हो, तो उसे आसाध्य समक्त कर छोड़ देना चाहिये। मांस-शिरास्नाप्विथ-सन्य-मर्मेट-जातानां चुतानां

सामान्यलच्चाानि।

भ्रमः प्रलापः पतनं प्रमोहो विचेष्टनं ग्लानिरथोण्णता च । स्रस्ताङ्गता मूर्च्छनमूर्ध्ववातस्तीत्रा रुजा वातकृताश्च तास्ताः॥१८॥ मांसोदकाभं रुधिरं च गच्छेत् सर्वेन्द्रियार्थोपरमस्तथैव । दशार्थसंख्येष्वय विक्षतेषु सामान्यतो मर्मसु लिङ्गसुक्तम्॥१९॥

[• उ० अ० १४

श्रर्थ—श्रम, प्रताप, पुर्वककर गिर पड़ना, बदहोश हो जाना, हाथ-पाँव पटकना, मुस्त हो जाना, गर्मा का श्रमुभव होना, हिलने-डुलने में असमर्थ हो जाना, मूर्चिछत हो जाना, डकार श्राना एवं वायु के आचेप-कादि रोगों का प्रादुर्भाव हो जाना, चत-स्थान में से मांस के धोवन-जैसा रक्त निकलना श्रीर सव इन्द्रियों के झान का विनाश हो जाना, यह सव (सम्पूर्ण श्रथवा थोड़े-बहुत) लच्चग्य पश्चविध मर्मों पर षाव हो जाने से उत्पन्न हो जाते हैं।

मर्मरहितानां शिरादीनां विद्धलत्त्रणानि । सुरेन्द्रगोपपतिमं प्रभूतं रक्तं स्रवेत् तत् क्षतजश्च वायुः । करोति रोगान् विविधान् यथोक्तान् सिरासु विद्धास्वथवा क्षतासु॥२०॥

श्रर्थ—सिराश्रों के (धमिनयों के भी) विद्ध श्रथवा स्त होने पर उन में से वीरबहूटी (यह कृमि बरसात के दिनों में खेतों में पाया जाता है इस की पीठ लालवर्ण की मखमल के समान रोमयुक्त होती है) के समान लाल रंग का रक्त श्रिष्ठिक मात्रा में निलकता है, इस रक्त के निकलने (श्रिष्ठ मात्रा में) से कृपित वायु अनेक प्रकार के वातरोगों को उत्पन्न कर देता है।

कौञ्ज्यं अरीरावयवावसाद: क्रियास्वशक्तिस्तुम्रुला रुनाश्च । चिराद्व त्रणो रोहति यस्य चापितं स्नायुविद्धं पुरुषं व्यवस्येत्॥२१॥

श्चर्य—कुबड़ापन, रारीर के भीतरी श्रङ्गों का श्रवसाद ( चेप्राहीन होना ), गमनादि कार्यों में श्रसमर्थता एवं भीषण् पीड़ाएँ हों श्रौर जिसका त्रण् (घाव ) देर रो भरे उस मनुष्य को "स्नायुविद्ध" जानना चाहिये।

शोषाभिद्रद्भिस्तुमुला रुजश्र वत्तक्षयः सर्वत एव शोथः।

क्षतेषु सन्धिष्वचलाचलेषु स्यात् सर्वकर्मोपरमश्र लिङ्गम् ॥ २२ ॥

अर्थ—चेष्टावान् ' एवं चेष्टाहीन सन्धियों में घाव होने से यह लच्चा होते हैं। यथा—शोथ का बढ़ना, भीषण पीड़ाएँ, बल का ह्रास, सन्धि के सब ओर सूजन एवं सन्धि की सब चेष्टाओं (संकोचन, प्रसारण, समावत्तन या प्रमाना ) का विनाश।

घोरा रुजो यस्य निज्ञादिनेषु सर्वास्त्रवस्थासु च नैति ज्ञान्तिम् । भिषग्विपश्चिद्ग विदितार्थस्त्रत्रस्तमस्थिविद्धं पुरुषं व्यवस्येत् ॥२३॥ सु० स्०ल० ३५

अर्थ-जिस रोगी को रात-दिन भीषण पीड़ाएँ हों, किसी भी अव-स्था (खड़े-बैठे) में सुख न मिले, ऐसे रोगीको बुद्धिमान् एवं शास्त्रवे-त्ता चिकित्सक "अस्थिविद्ध" जाने।

शास्त्रासु हन्योः कटणां च चेष्टावन्तस्य सन्धयः ।
 शेषास्त्र सन्धयः सर्वे विज्ञातन्याः स्थिरा ब्रुधैः ॥

## श्रथेषां मर्भविद्धानां लत्त्रणातिदेशः।

यथास्वमेतानि विभावयेच लिङ्गानि मर्मस्वभिताडितेषु ।

सु० सू० अ० २५

श्चर्य—भिन्न प्रकार के (चारों प्रकार के ) मर्मस्थानों पर आने से इन उपर्युक्त लत्ताणों को भ्रम-प्रलाप श्चादि लत्ताणों के साथ २ भली प्रकार जानने का प्रयत्न करना चाहिये।

मांसज्ञतस्य लज्ञग्गम्।

पाण्डर्विवर्णः स्पृत्रितं न वेत्ति यो मांसमर्मण्यभिपीडितः स्यात्।२४।

अर्थ-मांस मर्म पर आघात पहुँचने से रोगीका वर्ण पीलापन लिये श्वेत एवं कान्तिहीन हो जाता है तथा उसे स्पर्श का बोध नहीं होता। सर्वेषां त्रगानां सामान्योपद्रवाः

विसर्पः पक्षघातश्च सिरास्तम्भोऽपतानकः । मोहोन्मादत्रणरूजो ज्वरस्तृष्णा हनुग्रहः ॥ २५ ॥ कासश्छदिंरतीसारो हिका श्वासः सवेपशुः ।

पोडशोपद्रवा: प्रोक्ता व्रणानां व्रणचिन्तकै:।।२६।। छु॰ सु॰ अ॰ २४ व्यर्थ—व्यण विशेपज्ञों ने विसर्प, पत्ताघात, सिरास्तम्भ, व्यपतानक, मोह, उन्माद, व्रण में त्रानेक प्रकार की पीड़ाएँ, उवर, प्यास, हनुप्रह, कास, विम, व्यतिसार, हिचकी, श्वास एवं कम्पन, यह सोलह व्रण के उपद्रव माने हैं।

## भगननिदानम् ।

भग्नस्य भेदाः ।

भन्न समासाद्वद्विविधं हुताँश काण्डे च सन्धौ च हि तत्र सन्धौ।

१ — ऋस्थियों के टूटनं, फूटने एवं सरकने श्रादि का विनिधय ।

२—''हुताश'' सम्बोधन विचारणीय है, क्योंकि यह सातों श्लोक सु० नि० अ० १५ के गय का प्यानुवाद मात्र है; शब्द वही है, क्रम वहीत्रीर भाव भी वही है।

उत्पिष्ट-विश्लिष्ट-विवर्तितं च तिर्यमातं क्षिप्तमधश्र पट् च ॥१॥

श्रथं—( भगवान् आत्रेय कहते हैं) हे आग्निवेश ? संदेप से भग्न दो प्रकार का होता है। ?—काएड अर्थात् हड्डी में, २—सिन्ध अर्थात् हड्डियों के जोड़ में। इन दोनों में सिन्धमन्न छः प्रकार का होता है ?—उत्पष्टि अर्थात् सिन्धस्थान या उसमें रहनेवाले "श्लेषक" कफ का पिस जाना, २—विश्लिष्ट अर्थात् सिन्ध का कुछ खुल जाना, ३—विवंतित अर्थात् सिन्ध का घूम जाना, इसे "मोच" कहते हैं, ४—तिर्यंगात अर्थात् टेढ़ा हो जाना, ४—चिन्न अर्थात् सिन्ध का अधिक हट जाना, और ६—अधः चिन्न सिन्ध की निचठी हड्डी का एक और खिसक जाना। सिन्धभन्नत्वाणानि।

प्रसारणा-ऽञ्कञ्चन-वर्तनोग्रा रुक् स्पर्शविद्वेषणमेतदुक्तम् ।

सामान्यतः संनिधगतस्य लिङ्गम्-

श्रर्थ—सिन्धगत है अमें प्रकार के भन्न का लक्तण यह है—पसारते, सिकोड़ते एवं घुमाते समय उस स्थान में श्रत्यन्त वेदना होती है और रोगी उस स्थान को छूने भी नहीं देना चाहता

अथोत्पिष्टादीनां लच्चणानि ।

उत्पिष्टसन्धेः श्वयथुः समन्तात् ॥२॥

विश्लेषतो रात्रिभवा रुना च, विश्लिष्टने तौ च रुना च नित्यम् ॥ विवर्तिते पार्श्वरुनश्च तीव्राः, तिर्यग्गते तीव्ररुना भवन्ति ॥३॥ क्षिप्तेऽतिशृत्तं विषयत्वपस्थनोः क्षिप्ते त्वधो रुग् विघटश्च सम्धेः ॥

ऋर्ध-उत्पष्टलज्ञग-सन्धि के सब स्रोर स्जन तथा रात्रि में (दिन की ऋपेसा) ऋधिक पीड़ा, विश्लिष्टलज्ञग-उपर्धुक दोनों लज्ञ्यों के

९—विवित्तिसम मोच है, यह विवाद की बात है। मोच भम के अन्तर्गत नहीं है; क्योंकि इसमें अस्थियों में किसी प्रकार की च्युति या विकार नहीं होता।

२ — सन्धिमंग या सन्यिमुक्त में श्रस्थि पर किसी प्रकार की विकृति नहीं होती। किन्तु काण्डभम में श्रस्थि का दूरना, फूटना, छितका उतरना श्रादि विकृतियाँ हो जाती हैं।

अतिरिक्त सार्वकालिक वेदना, वित्रतितलत्त्रग-सन्धिपार्थ में तीव्र पीड़ा, तिर्थगातलत्त्रग्-भीषण् वेदना, तिप्तलत्त्रग् अत्यन्त शूल तथा अध्यियों में विषमता, अधः निप्तलत्त्रण पीड़ा एवं सन्धि का हट जाना।

काराडेभग्नस्य भेदाः लच्चायानि च ।

काण्डे त्वतःकर्कटका-प्रवक्षणं-विचुणितं पिचितमस्थिछछिका ॥४॥ काण्डेषु भग्नं द्यतिपातितं च मज्ञागतं च स्फुटितं च वक्रम् । छित्रं द्विधा द्वादशधाऽपि काण्डे स्रस्ताङ्गता शोथरुजातिद्यद्धिः ॥५॥ संपीडचमाने भवतीह शब्दः स्पर्शासहं स्पन्दन-तोद स्रूलाः । सर्वास्ववस्थासु न शर्मलाभो भग्नस्य काण्डे खतु चिक्रमेतद् ॥६॥

श्रथं—श्रव काएडभन्न का विवरण लिखते हैं १ कर्कटक इधरउधर से चोट लगने के कारण बीच में केकड़े (प्रसिद्ध प्राणिविशेष)
की पीठ के समान गाँठ-सी उठश्राना। २ श्राश्वकर्ण-घोड़े के कान के
समान श्राश्यिखरड का खड़ा हो जाना। ३-विवर्णित हड्डी का चूर चूर
हो जाना। ४-पिन्नत हड्डी का पिचक जाना। ४-श्राश्यञ्जलिका हड्डी का
छिलका उतर जाना। ६-काएडभन्न ट्रटे श्रङ्ग का छटक जाना। ७-श्रतिपातित कटकर श्रङ्ग का गिर जाना। ८-मञ्जगत श्रिथ के साथ ही
उसके भीतर भी मजाधरा मिज्जी का भी फट जाना। ९-र्कुटित फूट
जाना (वंशनिलका के समान) १०-वक ट्रटे विना ही टेढ़ा हो जाना।
११-१२-दो प्रकार का छिन्न थोड़ा एवं बहुत (सर्वथा नहीं) कट
जाना। इस प्रकार बारह प्रकार का काएडभन्न होता है, इसके सामान्य
लच्च यह हैं श्रङ्ग हिलाने में श्रसमर्थता, शोथ तथा पीड़ा की श्रथनत
श्रधिकता, दबाने पर शब्द (किड़किड़ ऐसा), छू देने पर भी कष्ट का
श्रनुभव, कुछ कम्प, व्यथा शुल और किसी श्रवस्था में श्राराम न मिलना।
काएडे भन्नस्य नामानुसारिलच्लाम्।

भग्नं तु काण्डे बहुधा प्रयाति समासतो नामिभरेव तुल्यम् ॥७॥ अर्थ—उपर्युक्त भग्नविशेषों के अतिरिक्त और भी अनेक प्रकार के काएडभग्न हो सकते हैं; किन्तु उपर्युक्त भग्नों के लक्षण उनके नामों के अनुसार होते हैं।

## काण्डे भग्नस्य कष्टसाध्यत्वम् । श्रल्पाशिनोऽनात्मवतो जन्तोर्वातात्मकस्य च ।

उपद्रवैर्वा जुष्टस्य भग्नं कृच्छ्रेण सिध्यति ॥ ८ ॥ सु॰ नि॰ अ॰ ३

त्र्यर्थ—ग्रत्यन्त थोड़ा खानेवाले (त्र्यिमान्चादि से पीड़ित ) त्रात्म-बल से रहित, वातप्रकृतिवाले तथा उपद्रवों (ज्ञत-ज्ञीण, कुछ श्वास श्रादि ) से पीड़ित रोगी का भग्न कुच्छ्रसाध्य होता है ।

काराडे भग्नस्यासाध्यत्वम् ।

भिन्नं कपालं कटघां तु सन्धिमुक्तं तथा च्युतम् । जघनं प्रतिपिष्टं च वर्जयेद्ग हि विचक्षराः ॥ ९ ॥

त्र्यर्थ—कपालास्थि फट गई हो, कमर की सन्धि खुल ऋथवा पृथक् हो गई हो तथा जघन की ऋस्थि पिस गई हो, तो उसे बुद्धिमान् चिकि-त्सक छोड़ देवे, व्यर्थ प्रयत्न न करे।

त्र्यसंश्लिष्टकपालं च ललाटे चूर्णितं च यत् ।

भग्नं स्तनान्तरे पृष्ठे शंखे मूर्धिन च वर्जियेत् ॥ १० ॥ सुवनिवन्त्रवार

श्रर्थ—कपालास्थि का जोड़ खुल गया हो, माथे की श्रस्थि चूर २ हो गई हो, उर:स्थल टूट गया हो, पीठ ( पृष्ठवंश ), शंख ( पुटपुटी ), शिर की श्रस्थियाँ टूट गई हों तो श्रसाध्य समझना चाहिये।

सर्वेषां भग्नानामनवधानादसाध्यत्वम् ।

सम्यक् सन्धितमप्यस्थि दुर्निचेपनिबन्धनात् ।

संक्षोभाद्व वाऽपि यद्द गच्छेद्द विकियां तच्च वर्जयेत् ॥ ११ ॥

त्रर्थ—भली प्रकार जुड़ी हुई हड्डी भी यदि उचित स्थान पर न टिकाने के कारण, ठीक २ बन्धन क्रिया न होने के कारण अथवा अभि-

९—हमारे विचार में यहाँ "अक्षाध्य" का अर्थ "मारक" नहीं समफ्तना चाहिये, क्योंिक ऐसा नहीं होता। हों इनके भीतर अवयवों पर आघात होने पर मृत्यु अवस्य हो जाती है। जैस शिर में मेजे, पृष्ठवंश में सुकुम्णा, कायड पर एवं उरास्थल में हृदय तथा फुफ्सों पर आघात होने पर मृत्यु हो जाती है।

घात आदि से हिल जाने के कारण बिगड़ जाय अर्थात् टेढ़ी-मेढ़ी हो जाय तो उसे छोड़ देवे अर्थात् वह सीधी नहीं हो सकती (फिर टूटने पर सीधी हो भी सकती है )। अथास्थिविरोषेण भग्नविरोषः ।

तरुणास्थीनि नम्यन्ते भिद्यन्ते नलकानि च ।

कपालानि विभज्यन्ते स्फुटन्ति रुचकानि च ।।१२॥ छ०नि०अ० १९

त्रर्थ-तरुण अर्थात् कोमल ( जैसे कान-नाक आदिको ) अस्थियाँ नम जाती हैं ( टूटती नहीं, जैसे पहलवानों के कान ), नलक अर्थात् लम्बी तथा खोखली श्रास्थियाँ (जो हाथ-पाँव में हैं) फूट जाती हैं, कपालास्थियाँ फट जाती हैं एवं रुचक अर्थात् दाँत टट जाते हैं।

# नाडीव्रणनिदानम् ।

नाडीव्रगस्य सम्प्राप्तिः।

यः शोथमाममतिपक्तमुपेक्षतेऽज्ञो यो वा त्रणं प्रचुरपूयमसाधुरृत्तः। अभ्यन्तरं प्रविश्वति प्रविदार्यं तस्य स्थानानि पूर्वविहितानि ततः स पूराः १

श्रर्थ-जो मूर्ख ( उचित चिकित्सा न करानेवाला ) तथा श्रसाधुवृत्त (मिध्याहार करनेवाला) रोगी कच्चे-पक्के एवं अधिक पूययुक्त त्रण की उपेचा करता है, उसके ब्रण का पीब पहिले कहे हुए (त्वचा, मांस, सिरा, स्नाय, सन्धि, ऋश्यि, कोष्ठ एवं मर्म) स्थानों को विदीर्ण कर भीतर की त्रोर प्रविष्ट हो जाता है ( ऊपर से त्रण बन्द हो जाता है, किन्त भीतर दोष संचित रहता है )।

नाडीशब्दस्य निरुक्तिः। तस्यातिमात्रगमनाद्वगतिरिष्यते तु नाडीव यद्व वहति तेन मता तु नाडी।

१-जिन वर्णों का शोधन रोपण विधिपूर्धक नहीं हुआ और जो गहरे हो गये हैं, वे "नाडीवण" या "नासूर" हो जाते हैं । ये वर्ण कई दिनों या महीनों तक बन्द रहकर पुनः फूटते हैं श्रौर मवाद निकल जाने पर बन्द होकर पुनरिप पूर्ववत् फूटते हैं। यह परम्परा तब तक चलती है जब तक कि उचित चिकित्सा नहीं होती।

दोषैस्त्रिभिर्भवति सा पृथगेकशश्च संमूर्च्छितैरपि च शल्यनिमित्ततोऽन्या२ स॰ वि॰ व॰ १०

ं अर्थ-पूर्य के अतिकाल पर्यन्त निकलने के कारण इसे "गति" कहा जाता है अथवा नाली के समान बहने के कारण "नाडी" कह सकते हैं। यह पाँच प्रकार की होती है—यातज, पित्तज, कफज, सिश्र-पातज एवं शल्य लगने के कारण।

वातजनाडया लच्चणम् । तत्रानिलात् परुष-सुक्ष्म-मुखी सशूला फेनानुबिद्धमधिकं स्नवति क्षपासु । सु० नि० थ० ९

श्रर्थ—वातज नाडीव्रण का मुख खरदरा एवं सूदम होता है, उसमें शूल होता है, एवं रात्रि में भागयुक्त तथा श्रधिक स्नाव निकलता है।

पित्तजनाड्या लक्त्रणम् ।

पित्तात् तृषा-ज्वर-करी परिदाहयुक्ता

पीतं स्रवत्यधिकमुष्णमहःसु चापि ॥ ३ ॥ छ० नि० अ० ९

अर्थ-पित्तज नाडी त्रण से प्यास एवं ज्वर हो जाया करता है, त्रण के आस-पास दाह होता है तथा दिन में पीला एवं गर्म स्नाव अधिक निकलता है।

कफजनाड्या लच्चणम्।

**ज्ञेया कफाद बहु-घनार्जुन-पिच्छिला-आ** 

स्तब्धा सकण्डुररुजा रजनौपदृद्धा । सु॰ नि॰ अ॰ ९

त्र्यर्थ—कफज नासूर में से बहुत गाढ़ा, सफेद एवं लसीला स्नाव निकलता है, त्रण कठोर होता है, खुजली एवं पीड़ा से युक्त होता है। ये[सब लज्ञण रात्रि में कुछ बढ़ जाया करते हैं।

त्रिदोषजनाड्या लत्त्रणम् ।

दाह-ज्वर-श्वसन-मूर्च्छन-वक्त्रशोषाः यस्यां भवन्त्यभिहितानि च लक्षणानि ॥ ४ ॥ तामादिशेत् पवन-पित्त-कफमकोपाद

घोरामसुक्षयकरीमिव कालरात्रिम् ।

सु० नि० अ० १ :

श्रर्थ-जिसमें दाह, ज्वर, श्वास, मूर्च्छा, मुखशोष एवं पूर्वोक्त तीनों दोषों के सभी लक्तण हों, उसे सन्निपातज नाडीत्रण समभना चाहिये। यह प्राणनाशिनी कालरात्रि के समान बड़ा ही भीषण होता है।

शल्यजनाड्या लच्चणानि ।

नष्टं कथंचिद्नुमार्गमुदोरितेषु स्थानेषु शल्यमचिरेख गति करोति॥ सा फेनिलं मथितमुष्णमस्यिविभिन्नं

स्रावं करोति सहसा सरुजा च नित्यम् । प्र॰ नि॰ ध॰ १

श्रर्थ—शल्य किसी प्रकार पूर्वोक्त त्वचामांसादि स्थानों में घुसकर शीघ ही "नाडीव्रण्" कर देता है, इसमें से एकाएक मागयुक्त, मथा हुश्रा-सा गर्म, एवं रक्तमिश्रित स्नाव निकलता है तथा इसमें सर्वदा पीड़ा होती रहती है।

नाडीव्रणस्य साध्यासाध्यत्वम् ।

नाडी त्रिदोषप्रभवा न सिध्येत शेषाश्चतस्रः खलु यत्नसाध्याः ॥६॥ सः नि॰ शः क

श्चर्य-सन्निपातज नाड़ीत्रण कभी श्रच्छा नहीं होताः किन्तु श्चव-शिष्ट चारों नाड़ीत्रण यत्नपूर्वक चिकित्सा करने से श्रच्छे हो जाते हैं।

भगन्दरनिदानम्' । भगन्दरस्य पूर्वरूपाणि । गुदस्य द्वयङ्गले चेत्रे पार्श्वतः पिडकाऽऽर्तिकृत् ।

<sup>9—</sup>गुद के श्रास-पास के नाड़ीवण को "भगन्दर" कहा जाता है। इससे विस्ति एवं शुकाशय तक में छिद्र हो जाते हैं। उक्त भगन्दरों के श्रतिरिक्त तीन भगन्दर और भी होते हैं, यथा 9 ऋजु, २ परिचेपी, ३ श्रशोंज (श्रशे से होनेवाजा), मस्तों के काटने श्रयवा उनमें फोड़ा होने से भी हो जाता है। श्राधिकतर इसी के रोगी होते हैं।

भिन्ना भगन्दरो ज्ञेयः स च पश्चविधो मतः ॥ १ ॥

श्रर्थ—गुदद्वार के श्रास-पास दो अंगुल के घेरे में श्रत्यन्त वेदना-युक्त फुंसी निकल श्राती है जब वह (पककर) फूट जाती है तो उसे "भगन्दर" कहते हैं श्रोर वह पाँच प्रकार का होता है।

शतपोनकाख्यभगन्दरस्य लच्चराम् ।

कषायरूक्षेस्त्वितकोपितोऽनिलस्त्वपानदेशे पिडिकां करोति याम् । उपेक्षणात् पाकष्रुपैति दारुणं रुजा च भिन्नाऽरुणफेनवाहिनी॥२॥

तत्रागमो मूत्र-पुरीष-रेतसां व्रागैरनेकैः शतपोनकं वदेत् ।

श्रर्थ—कसैले तथा रत्त पदार्थों के श्रात्यन्त सेवन से कुपित वायु गुद के श्रास-पास फुड़िया उत्पन्न कर देता है। उचित चिकित्सा न करने से वह बुरी तरह पक जाती है श्रोर उसमें पीड़ा होती है श्रोर जब फूट जाती है तो उसमें से लाल एवं मागयुक्त स्नाव निकलता रहता है। श्रागे चलकर मृत्र, पुर्गप एवं शुक्त धातु भी उसमें से होकर निकलने लगता है श्रोर उस त्रणु में श्रानेक छोटे २ छिद्र हो जाते हैं श्रात: इसे "शतपोनक" कहा जाता है।

अथोद्द्रशिरोधराख्यभगन्दरस्य लच्चणानि ।

प्रकोपर्योः पित्तमतिप्रकोपितं करोति रक्तां पिडकां गुदाश्रिताम् ॥३॥ तदाऽऽश्चपाकाहिमपूर्तिवाहिनीं भगन्दरं तुष्ट्रिशरोधरं वदेत् ॥ ४॥

श्रर्थ—पित्तकारक पदार्थों के सेवन से श्रात्यन्त क्रुपित पित्त गुद के श्रास-पास रक्तवर्ण की पुंसी कर देता है, जब वह शीघ ही पककर फूट जाती है, तो उसमें से गर्म, दुर्गन्धयुक्त स्नाव निकलने लगता है । ऊँट की गर्दन के श्राकारवाली होने के कारण इसे "उष्ट्रशिरोधर" भगन्दर कहते हैं।

परिस्नाविभगन्दरस्य लज्ञायानि । कण्ड्रयनो घनस्नावी कठिनो मन्द्वेदनः । श्वेतावभासः कफजः परिस्नावी भगन्दरः ॥ ५ ॥ ऋर्थ-कण्ड्रयुक्त, गाढे़ स्नाववाला, कठोर, थोड़ी पीड़ायुक्त एवं श्वेत- सा भगन्दर कफ के कारण होता है, इसे ''परिस्नावी'' भगन्दर कहा जाता है।

शम्बूकावर्तास्यभगन्दरस्य लक्त्यानि । वहु-वर्ण-रुजा-स्नावा पिडका गोस्तनोपमा । अम्बूकावर्तवन्नाडी शम्बूकावर्तको मत: ।। ६ ।।

अर्थ — अनेक प्रकार के वर्णों, पीड़ाओं (शूल, दाह, करडू) एवं स्नावों से युक्त, गौ के स्तन जैसा तथा घोंघा ( छोटा शंख ) के से आवर्त्तवाला भगन्दर "शम्यूकावर्त" कहलाता है। यह सम्निपातज होता है।

श्रथोन्मार्गिभगन्दरस्य लच्चणानि ।

क्षताद्व गतिः पायुगता विवर्धते ह्युपेक्षणात् स्युः क्रिमयो विदार्य ते । प्रकुर्वते मार्गमनेकथा सुर्खेर्वणैस्तदुन्मार्गि भगन्दरं वदेत् ॥ ७ ॥

श्रर्थ—िकसी प्रकार गुद के श्रास पास चत (घाव) हो जाने के कारण नासूर हो जाता है। उपेचा करने से वह बढ़ने लगता है श्रोर उसमें किम उत्पन्न हो जाते हैं। वे किमि उसे फाड़कर श्रनेक प्रकार के मुखोंवाले बया कर देते हैं। इसे "उन्मागी" भगन्दर कहा जाता है।

भगन्दरस्य साध्यासाध्यलज्ञणानि ।

घोराः सायितुं दुःखाः सर्व एव भगन्दराः । तेष्वसाध्यस्त्रिदोषोत्थः क्षतजश्च विशेषतः ॥ ८ ॥ छु० नि० ४० ४ ऋर्थ — सभी भगन्दर बड़ी कठिनता से ऋच्छे होते हैं, किन्तु सक्नि पातज एवं चतज भगन्दर तो सर्वथा श्रसाध्य ही होते हैं।

भगन्द्रस्यासाध्यलच्यानि ।

वात-मूत्र-पुरीषाणि क्रिमयः शुक्रमेव च।

भगन्दरात् स्रवन्तस्तु नाशयन्ति तमातुरम् ॥ ९ ॥

अर्थ—जब भगन्दर में से होकर अधोवायु, मूत्र, पुरीष एवं शुक्र निकलने लगते हैं अथवा उसमें क्रिमि पड़ जाते हैं, तो रोगी मर जाता है।

#### उपदंशनिदानम् । अथोपदंशस्य कारणानि ।

इस्ताभिधातात्रख-दन्त-पातादधावनाद्ग-रत्यतिसेवनाद्वा ।

योनिपदोपाच भवन्ति शिश्ने पञ्चोपदंशा विविधापचारैः ॥ १ ॥

श्चर्य—हाथ के श्वभिघात (कर-मैथुनादि से) से, नख तथा दाँत ( मुख-मैथुनादि से) लगने से, न घोने ( मैथुन के पश्चात् या यों ही) से, श्रिषक मैथुन करने से, दूषित ( रजस्वला या प्रदरादि रोगों से पीड़ित) योति में मैथुन करने से, दूषित ( रजस्वला या प्रदरादि रोगों से पीड़ित) योति में मैथुन करने से श्रथवा श्रन्यान्य श्रनेक प्रकार के ( गुद-मैथुन, चतुष्पदी गमन एवं गन्दे जल के स्पर्श श्रादि ) श्रपचारों से लिंग पर ( पहिले मणि पर उसके कोमल होने के कारण् ) पाँच प्रकार के "उपदंश" नामक त्रण् हो जाते हैं। ( इस रोग में पहिले फुंसी होती हैं। कुछ दिन बाद वह फूट जाती हैं तो त्रण् हो जाता है। )

नातिकोपदंशस्य लच्नणानि ।

सतोदभेदैः स्फुरिंकः सकुष्णैः स्फोटैर्व्यवस्येत पत्रनोपदंशम् । पीतैर्बहुक्लेदयुतैः सदाहैः पित्तेन रक्तात् पिशितावभासैः ॥ २ ॥ स्फोटैः सकुष्णैः रुधिरं स्रवन्तं रक्तात्मकं पित्तसमानलिङ्गम् । सकण्डुरैः शोथयुतैर्महद्भिः शुक्लैर्घनैः स्नावयुतैः कफेन ॥ ३ ॥

<sup>9—</sup>उपस्थे लिंगे योनौ वा दंशः उद्दंशः ( ययि यह अपाणिनीय है; परन्तु सम्भव है कि नामकरणकर्ता का यही अभिप्राय हो, अस्तु ) इस प्रकार उक्त स्थान के विवैत वर्ण को उपदंश कहा जाता है तथा "योनिप्रदोषात्" इस हेतु वचन से संकामक भी मान लिया जाता है; परख तो भी प्रसिद्ध "फिरंगरोग" ( आतराक ) से वह भिन्न ही है। 9—आज से सिद्यों पूर्व माननीय भाविमश्र ने इसे प्रथक् लिखा है। २—यह पारंपरीण भी नहीं है। ३—इससे गठिया एवं कुछ होने को सम्भावना नहीं। ४—साधारण लेपदि से अच्छा हो जाता है। ५—इसका वण कोमल होता है। ६—मैथुन से तीसरे चौथे दिन दिखाई पहता है। ७—इसमें शलाकाक्कृति अरगु पाया जाता है। फिरंग इससे विपरीत होता है। परिशिष्ट देखिये।

श्रथं—यदि फुंसियाँ तथा घाव सुई के चुमने की एवं फटने कीन्सी पीड़ा से युक्त हों, उसमें फरफराहट का श्रनुभव हो तथा उसमें कुञ्ज कालापन हो तो वातज उपदंश समम्भना चाहिये। यदि फुंसियाँ या घाव पीले, श्रत्यन्त सड़न से युक्त तथा दाहयुक्त हों तो पित्तज उपदंश समम्भना चाहिये। यदि वे लाल मांस के समान वर्णवाले, कुञ्ज काले, रक्त बहानेवाले एवं पित्तज उपदंश के लच्चणों से युक्त हों तो रक्तज उपदंश समम्भना चाहिये। यदि वे करुडू तथा शोध से युक्त, विशाल, रवेत, कठोर श्रथवा गाढ़े स्नाव को बहानेवाले हों तो कफ्तज उपदंश समम्भना चाहिये।

सान्निपातिकोपदंशस्य लत्त्रणानि । नानाविध-स्राव-रुजोपपत्रमसाध्यमाहुस्त्रिमलोपदंशम् ।

श्रर्थ—यदि वे श्रनेक प्रकार ( उपर्युक्त ) से स्नाव को बहानेवाले तथा पींड़ाओं से युक्त हों तो सन्निपातज उपदंश समभता चाहिये । यह श्रसा-ध्य होता है ।

अथासाच्योपदंशस्य लत्तरणानि ।

विशीर्णमांसं क्रिमिभिः प्रजग्धं मुष्कावशेषं परिवर्जयेच्च ॥ ४ ॥

श्चर्थ—यदि उपदंश के कारण िलंग का मांस सड़ कर फट गया हो, क्रिमियों द्वारा खाया जा चुका हो, केवल श्चण्डकोष शेष रह गया हो तो उसे श्रसाध्य होने के कारण छोड़ देना चाहिये।

पुनरुपदंशस्यासाध्यलच्यानि ।

सञ्जातमात्रे न करोति मृदः क्रिया नरो यो विषये प्रसक्तः। कालेन शोथ-क्रिमि-दाइ-पाकैर्विशीर्णशिक्षो घ्रियते स तेन ॥ ५ ॥

श्रर्थ—जो मूर्ख मनुष्य उपदंश की प्रारम्भिक श्रवस्था में उचित चिकित्सा नहीं करवाता श्रीर मैथुन करता जाता है वह कुछ काल के पश्रात् कमशः शोथ, किमि, दाह एवं पाक के कारण लिंग के सड़ कर कटजाने से मर जाता है।

लिङ्गवर्त्याख्यरोगस्य लज्ञणानि । अङ्करैरिव संघातैरुपर्युपरि संस्थितै:। क्रमेण जायते वर्तिस्ताम्रचुडशिखोपमा ॥ ६ ॥ कोषस्याभ्यन्तरे सन्धौ सर्वसन्धिगताऽपि वा । ( सर्वेदना पिच्छिला च दुश्चिकित्स्या त्रिदोपजा।) लिङ्गवर्तिरभिरुयाता लिङ्गार्श इति चापरे ॥ ७ ॥

श्रर्थ-लिंग-मणि के श्रावरण के भीतर मणि श्रीर लिंग दिख-काओं की सन्धि में अथवा दिएडकाओं की सम्पूर्ण सन्धि में बत्ती के श्राकार का उभा हो जाता है वह धीरे २ क्रमशः उत्पर उत्पन्न होनेवाले अंकरों द्वारा ऊँचा होता जाता है, उसकी श्राकृति मुरगे की शिखा के समान हो जाती है। उसमें कुछ २ पीड़ा होती रहती है तथा चिपचिपाहट होती है। यह सन्निपातज होने के कारण कष्टसाध्य होता है। यह "लिंगवर्ति" नाम से विख्यात है: किन्त कछ विद्वान इसे "लिंगारी" भी कहते हैं।

> शूकदोषनिदानम्। शूकरोगस्योत्पत्तिक्रमः।

अक्रमाच्छेफसो रुद्धि योऽभिवाञ्छति मृहघी: ।

व्याधयस्तस्य जायन्ते दश चाष्ट्रौ च शुक्रजाः ॥ १ ॥

श्रर्थ-जो मूर्ख मनुष्य ( दुष्ट मित्रों के बहकावे में श्राकर ) शास्त्र-विहित उपायों के विपरीत निन्दित उपायों द्वारा लिंग।को बड़ा करना

<sup>9-</sup>मानव प्राणि के मन में दो कारणों से लिंगवृद्धि की इच्छा होती है। १--जोड़ा न मिलने से. २--बरी संगति से उत्पन्न बरी भावनात्रों से। पहिला तो बहुत श्रावश्यक है। देखि। वात्स्यायन कामसूत्र । दूसरा श्रनावश्यक एवं बुरा है। किसी प्रकार के लिंगबृद्धिकर उपायको संस्कृत भाषा में ''शूक'' कहा जाता। है श्रथमा एक प्रकार के जलबन्तु (सम्भवतः जिन्हें जुलाहा कहा जाता है, जो कि बरसातमें पानी पर सैक में की संख्या में तैरते या दौड़ते दिखाई पड़ते हैं ) को "शूक" कहा जाता है, इनका पूर्वकाल में प्रयोग किया जाता होगा । उत्तम उपाय तो हानिकारक नहीं होते; किन्तु दूषित उपार्यों से उक्त रोग हो जाते हैं।

चाहता है, उसके लिंग पर श्रठारह प्रकार के निम्नलिखित रोग हो जाते हैं । सर्विपकाया लज्ञणाम् ।

गौरसर्षपसंस्थाना शूकदुर्भ प्रहेतुका ।

पिडका श्लेष्मवाताभ्यां ज्ञेया सर्पपिका तु सा ॥ २ ॥

श्रर्थ— लिंग वृद्धिकर उपायों के श्रनुचित उपयोग से कुपित कफ तथा वायु के कारण खेत सरसों के बीज-जैसी पुन्सी निकल श्राती है, उसे "सर्विपका" कहते हैं।

अथाधीलिकाया लच्चाम्।

कठिना विषमैर्भुग्नैर्वायुनाऽष्ठीलिका भवेत ।

शूकैर्यत् पूरितं शश्वद्व ग्रन्थितं नाम तत् कफात् ॥४॥ छ० नि० अ० १४

श्रर्थ—विषम एवं कुटिल शुकों के लगने से कुपित वायु द्वारा कठोर फुन्सी हो जाती है, उसे "श्रष्ठालिका" कहते हैं श्रीर जो उक्त कारण से कुपित कफकोप से गाँठ-सी हो जाती है, उसे "प्रथित" कहते हैं।

कुम्भिकाया लज्ञणम् ।

कुम्भिका रक्तपित्तोत्था जाम्बवास्थिनिभाऽशुभा ।

तुल्यजां त्वलजीं विद्याद् यथाप्रोक्तां विचक्षणः ॥४॥ सु॰नि॰ष॰१४

श्रर्थ—उक्त कारण से कृपित रक्तिपत्त से जामुन की गुठली की-सी भीषण सूजन हो जाती है, तो उसे "कुम्भिका" कहा जाता है श्रौर पूर्वीक "श्रलजी" (प्रमेहिपिडका) केसमान जो होती है उसे "श्रलजी" कहते हैं।

मृदितस्य लत्तरणम् ।

मृदितं पीडितं यच संरब्धं वातकोपतः।

पाणिभ्यां भृज्ञसंमूढे संमूढपिडका भवेत् ॥ ५ ॥ 🛚 सु०नि० व० १४

श्रर्थ—हाथों (हस्त-मैथुन श्रादि से) से मर्दन एवं पीडन करने से जो शोथ हो जाता है, उसे "मृदित" कहते हैं। यह वायु से होता है श्रौर यदि श्रिषक पीड़न से फुन्सी हो जाती है तो उसे "संमूदपीडिका" कहते हैं। श्रथाधिमन्थस्य तत्त्रणानि । दीर्घा बहुचश्र पिडका दीर्यन्ते मध्यतस्तु याः ।

सोऽधिमन्थः कफासग्रभ्यां वेदना-रोमहर्ष-कृत् ॥६॥ सु॰ उ॰ अ॰ १४

श्चर्य—उक्त कारण से कुपित कफ-रक्त से जो बहुत-सी लम्बी २ फुन्सियाँ हो जाती हैं श्चीर वीच में से फट जाती हैं, उस रोग को "श्च-धिमन्थ" कहा जाता हैं; उसमें वेदना एवं रोमहर्ष होता है।

पुष्करिकाया लच्चगानि ।

पिडका पिडकान्याप्ता पित्त-शोणित-सम्भवा।

पद्मकर्णिकसंस्थाना ज्ञेया पुष्करिका तु सा ॥७॥ छ० नि० अ० २

श्चर्य-पित्त-रक्त से होनेदाली बहुत-सी फुन्सियोंसे घिरी हुई कमल की किएका के समान एक पुन्सी हो जाती है, उसे "पृष्करिका" कहते हैं। स्पर्शह़;न्याख्यशुक़रोगस्य लच्चाणानि।

स्पर्शहानि त जनयेच्छोणितं श्रुकद्षितम् । सु॰ नि॰ न॰ १४

श्रर्थ-शूक से दृषित रक्त स्पर्शज्ञान को नष्ट कर देता है, उसे "स्पर्श्हानि" कहते हैं।

श्रथोत्तमाया लत्त्रगानि ।

शतपोनकस्य लत्त्त्यानि । छिद्रै रेखुमुखेर्लिङ्गे चितं यस्य समन्ततः ॥९॥ वातशोगितजो व्याधिः स ज्ञेयः शतपोनकः । छ॰ नि ७० १४ अर्थ—बातरक्त के कोप से लिंग पर सब त्रोर छोटे २ मुख वाले छिद्र हो जाते हैं, उसे "शतपोनक" कहा जाता है ।

### त्वक्पाकस्य लच्चणानि ।

वातिपत्तकृतो इंयस्त्वक्पाको ज्वर-दाह-कृत् ।।१०।। सु॰ नि॰ अ॰ १४ ऋर्थ—वात-पित्त के कारण लिंग की त्वचा पक जाती है ज्वर एवं दाह होने लगता है। इसे "त्वक्पाक" कहते हैं।

शोणितार्बुदस्य लच्चणानि । कृष्णैः स्फोटैः सरक्ताभिः पिडकाभिनिपीडितम् ।

यस्य वास्तुरुजश्रोग्रा क्रेयं तत् शोिि तार्बुदम् ॥११॥ छ॰ नि॰ अ॰ १४ अर्थ — जिस रोग में काले २ फफोलों तथा लाल २ फुन्सियों से लिंग भर जाता है, श्रीर उन स्थानों में भयानक पीड़ा होती है उसे "शोििय-तार्बुद" कहा जाता है। (यह रक्त से होता है)।

मांसार्बुद्रय लच्चणानि ।

मांसदोषेण जानीयादर्बुदं मांससम्भवम् । सु॰ नि॰ अ॰ १४ अर्थ-जिक कारण से दूषित मांस की विकृति के कारण मांस में "अर्बुद्" या रसौली हो जाती है।

मांसपाकस्य लच्चणानि ।

कीर्यन्ते यस्य मांसानि यस्य सर्वाश्च वेदनाः ॥१२॥ विद्यात्तं मांसपाकं तु सर्वदोषकृतं भिषक् । छ॰ नि॰ अ॰ १४

श्रर्थ—जिस रोग में लिंग का मांस कट या सड़ जाता है श्रीर सभी प्रकार की (शूल-दाह-कण्डू) पीड़ाएँ होती हैं, उसे सिन्नपातज "मांस-पाक' जानना चाहिये।

विद्रध्याख्यशूकरोगस्य लच्चणानि ।

विद्रिधि सन्निपातेन यथोक्तमिति निर्दिशेत् ॥१३॥ सु॰ नि॰ अ॰ १४

श्रर्थं—सम्निपात से पूर्वोक्त विद्रिध के समान लिंग पर "विद्रिध" भी हो जाता है। (यद्यीप उसकी सम्प्रिमि नहीं घट सकती; क्योंकि लिंग में श्रिस्थि नहीं है, किंतु तत्सदृश होने के कारण यह नाम दिया गया है)। तिलकालकस्य लच्चणानि ।

कृष्णानि चित्राण्यथवा श्रूकानि सविषाणि वा । पातितानि पचन्त्याशु मेडू निरवशेषतः ॥ १४ ॥ कालानि भृत्वा मांसानि शीर्यन्ते यस्य देहिनः ।

सित्रपातसमुत्थांस्तु तान् विद्यात् तिलकालकान् ॥ १५ ॥ अर्थ—काले, विचित्र एवं विषेते शुकों का जब लिंग पर लेपादि के रूप में प्रयोग किया जाता है, तो वे लिंग को सर्वथा पका देते हैं, उस मनुष्य के लिंग का मांस काला होकर फटने एवं सड़ने लगता है, इस

श्रथैव्वसाध्यरोगाणां नामानि ।

तत्र मांसार्बुदं यच मांसपाकश्च यः स्मृतः ।

रोग को "तिलकालक" कहते हैं, यह सन्निपातज है।

विद्रिधिश्च न सिध्यन्ति ये च स्युस्तिलकालकाः ॥१६॥ख॰नि॰अ॰१४

ऋर्थ—इन उपर्युक्त रोगों में मांसार्बुद, मांसपाक, विद्रिध एवं तिल-कालक नामक रोग श्रन्छे नहीं होते ।

# कुष्ठनिदानम्।

कुष्ठोत्पत्तौ हेतवः ।

विरोधोन्यन्नपानानि द्रव-स्निग्ध-गुरूणि च । भजतामागतां छदिं वेगांश्रान्यान् प्रतिघ्रताम् ॥ १ ॥ व्यायाममतिसन्तापमतिभ्रुक्त्वा निषेविणाम् । धर्म-श्रम-भयाऽऽर्तानां द्वतं शीताम्बुसेविनाम् ॥ २ ॥ अजीर्णाध्यश्चिनां चैव पश्चकर्मापचारिणाम् ।

९—यह एक निन्दास्यद रोग है। यह आर्द्र तथा नम जल-वायुवाले देशों में अधिक होता है। जैसे उद्दोसा तथा बंगाल में। इसके अन्य कारणों के साथ ही उन किमियों को नहीं भूलना चाहिये; जिनको महर्षियों ने "कुष्टैककर्मणः"कहा है।

नवाम-द्ध-मत्स्यातिलवणाम्लं-निषेविणाम् ॥ ३ ॥ माप-मृलक-पिष्टात्र-तिल-क्षीर-गुडाशिनाम्। व्यवायं चाप्यजीर्गेऽन्ने निद्रां च भजतां दिवा ॥ ४ ॥ विपान गुरून् धर्षयतां पापं कर्म च कुर्वताम् । वातादयस्त्रयो दुष्टास्त्वग्रक्तं मांसमम्बु च ॥ ५ ॥ दूषयन्ति स कुष्ठानां सप्तको द्रव्यसंग्रहः।

त्र्यतः कुष्टानि जायन्ते सप्त चैकाद्शैव च ॥ ६ ॥

अर्थ-विरोधी (रस, गुरा, विपाक एवं वीर्य विरुद्ध ) खानपान तथा अतिद्रव, स्निग्ध एवं गुरु (स्वाभगुरु, मात्रागुरु एवं संस्कारगुरु) पदार्थों के श्रधिक सेवन से, त्राती हुई वमन तथा श्रन्यान्य मूत्र-पूरी षादि के वेग को रोकने से, भरपेट खाकर ब्यायाम तथा सूर्य या श्राग्न के ताप का सेवन करने, घाम (धूप), परिश्रम (दौड़ना आदि) एवं भय से पसीना २ होकर सहसा शीतल जल पीने या उसमें नहाने से, पूर्वभुक्त ब्राहार के न पचने पर ब्रौर भी ब्रधिक खा लेने से, पञ्चकर्म ( वमन, विरेचन, नस्य, निरुहण तथा श्रनुवासन ) करते समय अपध्य करने से, नवीन धान्यों ( गेहूं ऋादि ) के बने भोजन, दही, मछली का मांस, श्रधिक नमक एवं खटाई का श्रति सेवन करने से, उर्द, मूली, पीठी के पदार्थ (बड़े-भल्ले आदि) तिल दुग्ध एवं गुड़ के अधिक सेवन से, आहार न पचने पर ही मैथुन करने से, दिन में (प्रीष्मकाल के श्रातिरिक्त काल में ) सोने से, ब्राह्मण या प्राणीमात्र तथा श्रपने बडे लोगों का अपमान करने से अथवा बुरे कामों के करने से वायु आदि तीनों दोष कुपित होकर त्वचा, रक्त, मांस एवं लसीका या शरीर के जलीय भाग को द्षित कर देते हैं। बस यह सातों द्रव्यों की सम्मिलित विकृति (प्रारम्भिक अवस्था में, आगे चलकर तो मेदा आदि धात भी दूषित हो जाते हैं ) सबका कारण होती है । इसी से सात महाकष्ठ तथा

१—इन कारणों के श्रतिरिक्त वंशज दोष, श्रातशक तथा स्पर्श-दोष भी कुछ का कारण होता है।

ग्यारह क्षुद्रकुष्ठ मिलाकर घठारह प्रकार के कुछ उत्पन्न हो जाते हैं।

महाकुञानां सप्तधात्वम् । कुष्टुानि सप्तधा दोषैः पृथग् इन्द्रैः समागतैः ।

सर्वेष्विप त्रिदोषेषु व्यवदेशोऽधिकत्वतः ॥ ७ ॥ बा॰ नि॰ अ॰ १४

अर्थ—वात, पित्त, कफ, वातिपत्त, वातकफ, पित्तकफ तथा सिन-पात से सात प्रकार के कुष्ठ होते हैं। यद्यपि सभी कुष्ठ त्रिदोषज होते हैं, तथापि उपर्युक्त सात भेद केवल उन २ दोष तथा दोषों की अधिकता के कारण ही माने जाते हैं।

कुष्ठानां पूर्वरूपाणि । ऋति-श्रक्ष्ण-खर-स्पर्श-स्वेदास्वेद-विवर्णतः । दाहः कण्डूस्त्वचि स्वापस्तोदः कोटोन्नतिर्म्रमः ॥ ८ ॥ व्रणानामधिकं सूर्वं शीघोत्पत्तिश्विरस्थितिः । स्टानामपि २६अत्वं निमित्तेऽत्पेऽतिकोपनम् ॥ ९ ॥ रोमहर्षोऽस्रजः काण्यं कुष्ठलक्षणमग्रजम् । वा॰ नि॰ अ० १४

अर्थ—रवचा का स्पर्श अत्यन्त चिकना अथवा खरदरा हो जाना, पसीना अधिक निकलना अथवा सर्वथा बंद हो जाना, रारीर का वर्ण बदल जाना (कालापन या सुर्खी आ जाना), दाह, खुजली, त्वचा रान्य हो जाना, सुई के चुभने की पीड़ा, चकत्ते (घष्फड़) निकलना, चकर आना, यदि शारीर पर कोई फोड़े-फुन्सी या अन्य प्रकार से घाव हो जाय तो उसमें अत्यन्त पीड़ा होना, शींघ फोड़ा आदि निकलना तथा उसका चिरकाल तक अच्छा न होना अथवा अच्छा होने पर भी उसके स्थान में रूखापन रहना तथा थोड़े अपध्य से भी पुनः उत्पन्न हो जाना, रोमा अ होना एवं रक्त काला हो जाना, यह सब कुठ का पूर्वरूप है।

सप्तमहाकुष्ठानां लच्चणानि । कृष्णारुणकपाचामं यह रूक्षं परुषं तनु ॥१०॥ कापालं तोदबहुत्तं तत् कुष्ठं विषमं स्मृतम् । श्रर्थ — मृत्पात्र के तुकड़े (ठीकरे) के समान (गोलाई-रहिन) काला, लाल, रूखा, खरदरा, पतला (ऊँचाई-रहित) तथा अत्यन्त व्यथायुक जो (कुष्ठ का त्रग्रा) होता है, उसे "कापालकु3" कहा जाता है, यह कष्टसाध्य होता है।

रुग्-दाह-राग-कण्डूभिः परीतं रोमपिञ्जरम् ॥११॥ उद्म्बरफलाभासं कुष्टमौदुम्बरं वदेत् ।

ऋर्थ — पीड़ा, दाह, सुर्खी एवं कएडू से युक्त, पीले रोमों (रोम तो प्रायः मड़ ही जाते हैं, बचे-खुचे पीले हो जाते हैं) से युक्त, गूलर फल के समान लाल जो त्रण होता है उसे "झौटुम्बर" कुष्ट कहते हैं।

रवेतं रक्तं स्थिरं स्त्यानं स्निग्धमुत्सन्नमण्डलम् ॥१२॥

कृच्छ्रमन्योन्यसंयुक्तं कुष्टं मण्डलग्रुच्यते ।

श्चर्य – सुफेद श्रथवा लाल, स्थिर (शीव्र न फैलनेवाला या विरकाल तक रहनेवाला), गीला २ सा या चिपचिपाहटवाला, चिकता, ऊँचा (मोटाई युक्त, गोल तथा जो प्रथक् २ उत्पन्न होकर श्चापस में मिल जाय, ऐसा जो ब्रण होता है, उसे "मण्डल" कुष्ठ कहते हैं।

कर्कशं रक्तपर्यन्तमन्तः श्यावं सवेदनम् ॥१३॥ यदृष्यजिद्वसंस्थानमृष्यजिद्वं तदुच्यते ।

श्रर्थ—खरदरा, सब श्रोर से लाल, मध्य में काला, वेदनायुक एवं भाल (रीछ) की जीभ जैसा (उसकी जीभ उपर्युक्त लच्चणों वाली ही होती हैं) जो बण होता है उसे "ऋष्यजिह्न" कहते हैं।

सश्वेतं रक्तपर्यन्तं पुण्डरीकदलोपमम् ॥१४॥

सोत्सेधं च सरागं च पुण्डरीकं तदुच्यते।

अर्थ—कुछ श्वेत ( गुलाबी ); इघर-उघर से लाल, ठीक लाल कमल की पँखड़ी का सा; मोटाई युक्त एवं ललाई युक्त जो त्रगा होता है, उसे "पुरुडरीक" कहते हैं।

श्वेतं ताम्रं तनु च यद्ग रजो घृष्टं विमुर्ञ्जित ॥१५॥

## प्रायश्चोरसि तत् सिध्ममलाबुकुसुमोपमम् ।

श्रर्थ—रवेत खथवा लाल, पतला, धिसने पर जिसपर से भूसी-सी कड़े, प्रायः वज्ञःश्यल ( छाती पर ) पर होने वाला तथा लीवा या घीया के फूल के समान वर्णवाला ( रवेत ) कुष्ट "सिध्म" कहलाता है।

यत् काकणन्तिकावर्णं सपाकं तीव्रवेदनम् ॥ १६ ॥

त्रिदोषितङ्गं तत् कुष्ठं काकर्णं नैव सिध्यति । च॰ चि॰ अ॰ ७

ऋर्थ- चुंघची या गुञ्जा या रत्ती के समान वर्णवाला ( ऋत्यन्त लाल ), पाकयुक्त एवं भीषण् पीड़ा-सिह्त कुछ "काकण" कहलाता है, यह त्रिदोषज होता है ऋौर कभी श्रच्छा नहीं होता ।

अर्थेकादशक्षुद्रकुष्टानां लच्चणानि ।

श्रस्वेदनं महावास्तु यन्मत्स्यशकलोपमम् ॥ १७ ॥

तदेककुष्ठं,---

श्चर्य — पसीने से रहित तथा बहुत स्थान घेरे हुए मछली की त्वचा के समान (उफना २ सा) जो त्रण होता है, उसे 'एककुष्ठ'' कहा जाता है।

-- चर्माख्यं बहुलं हस्तिचर्मवत् ।

ऋर्थ—हाथी के चमड़े की-सी (काली-खरदरी) एवं मोटी जो त्वचा हो जाती है उसे "चर्मछुछ" कहते हैं।

श्यावं किएा-खरस्पर्शं परुषं किटिभं समृतम् ॥ १८ ॥

द्यर्थ—काला सा, त्रण का स्थान खरदरा एवं रूखा (खुरक) जो कुछ होता है उसे "किटिभ" कहते हैं।

वैपादिकं पाखि-पाद-स्फुटनं तीत्रवेदनम् ।

अर्थ-हाथ की हथेली तथा पैरों के तलवों का फटना एवं अत्यन्त

१—यह जब अत्यन्त साधारण होता है, तब इसे "सेहुकाँ" या "छिम" कहते हैं।

२-इसे "भैंसियादाद" भी कहा जाता है।

पीड़ा होना "वैपादिक<sup>3</sup>" कुष्ठ कह्**लाता है** ।

कण्ड्मद्भिः सरागैश्र गण्डेरलसकं चितम् ॥ १९ ॥

अपर्थ- जुजली युक्त एवं लाल गएडों (गढ़ों बिना मुँह के फोड़ों ) से व्याप्त जो कुछ होता है, उसे "अलसक" कहते हैं।

सकण्डू-राग-पिडकं दद्रमण्डलमुद्गातम्।

त्र्यर्थ—खुजली, लाल तथा छोटी २ पिडकान्त्रों से युक्त उफना हुत्रा-सा प्रायः गोल जो कुछ होता है, उसे "दह्र" या "दाद" कहते हैं।

रक्तं सश्र्लं कण्ड्रमत् सस्फोटं यद् गलत्यपि ।

तच्चर्मदलमाख्यातं संस्पर्शासहम्रच्यते ॥ २० ॥

चर्थ—लाल, गूल तथा करडू से युक्त फफोलोंवाला, उनके फूटने पर गलनेवाला तथा जिसमें छूने से भी वेदना होती हो उसे "चर्मदल" या "चम्मल" कहते हैं।

सुक्ष्मा बहुचः पीडकाः स्नाववत्यः पामेत्युक्ताः कण्डुमत्यः सदाहाः । सैव स्कोटैस्तीवदाहैरुपेता ज्ञेया पाण्योः कच्छुरुग्रा स्किचोश्च ॥२१॥

श्रर्थ—क्रोटी २ बहुत सी, पन्छा बहानेवाली, करहुयुक्त, एवं खुजाने के पश्चात् दाह से पीड़ित जो फुन्सियाँ निकल आती हैं, उन्हें "पामा" या "पाँव" या "खुजली" कहते हैं । यह जब भयानकरूप से निकलती हैं तो उसे "कच्छू" कहा जाता है; इसमें फुन्सियाँ बड़ी २ तथा श्वेत मुखवाली निकलती हैं । उनमें बड़ी ही दाह होती है और इसका प्रभाव हाथों तथा चुतड़ों पर अधिक होता है । इसे पामा से पृथक् नहीं समकता चाहिये ।

१--"बिवाई" इससे पृथक् होती है। क्षुद्ररोगों में देखिये।

२— इन रोगों मैं जो कण्डू होती है, वह सर्वदा नहीं होती। ज्यों २ खुजाया जाता है, त्यों २ खुजलो बढ़ती है, रोगी को बड़े ही प्रमानन्द का प्रमुभव होता है। कुछ काल तक खुजाते २ रोगी धककर हट जाता है तो उसमें भीषण दाह होने लगता है।

यह रोग शीत काल तथा वसन्त में प्रायः संकामकरूप में फैलता है।

स्फोटाः श्यावारुणाभासा विस्फोटाः स्युस्तनुत्वचः ।

श्रर्थ—लाल एवं काले से, पतली त्वचावाले (श्रिप्ति से जले के समान) जो फफोले उठ श्राते हैं, उन्हें "विस्फोट" कहा जाता है।

रक्तं श्यावं सदाहार्ति शतारुः स्याद्व बहुत्रणम् ॥ २२ ॥

श्रर्थ—लाल, काला, दाह एवं पीड़ा से युक्त तथा बहुत-से त्रणींवाला जो कुष्ठ होता है, उसे "शतारु" कहते हैं।

सकण्डः पिडकाश्यावा बहुस्रावा विचर्चिका । च॰ चि॰ अ॰ ७

अर्थ कराडूयुक्त, काली एवं बहुत पन्छा बहानेवाली फुन्सी को "विचर्चिका" कहा जाता है।

वातजादिकुष्टानां लच्नणानि ।

खरं श्यावारुणं रूक्षं वातकुष्टं सवेदनम् ॥ २३ ॥

पित्तात् प्रकथितं दाह-राग-स्नावान्वितं मतम् ।

कफात क्लेटि धर्न स्त्रिग्धं सकण्डू-शैत्य-गौरवम् ॥ २४ ॥

दिलिङ्गं दुन्द्वं कुष्टं त्रिलिङ्गं सानिपातिकम्।

श्रर्थ — उपर्युक्त सब कुटों में जो कुछ खरदरे, काले, लाल, रूखें एवं वेदनायुक्त होते हैं, वे "वातज" कुछ कहे जाते हैं। जो सड़न, दाह, सुर्खी एवं पन्छा बहाने वाले होते हैं, वे "पित्तज" कहे जाते हैं। जो गीले २, मोटे, चिकने तथा करड़, शीतता एवं भारीपन से युक्त-होते हैं वे "कफज" कहे जाते हैं और दो २ दोषों के लच्चणों से युक्त "दिदोषज" तथा तीनों दोषों के लच्चणों से युक्त "दिदोषज" तथा तीनों दोषों के लच्चणों से युक्त "त्रिदोषज" कहे जाते हैं।

रसादिसप्तधातुगतकृष्टानां लज्ञ्यानि । त्वक्स्थे वैवर्ण्यमङ्गेषु कुष्ठे रौक्ष्यं च जायते ॥ २५ ॥ त्वक्स्वापो रोमहर्षश्च स्वेदस्यातिप्रवर्तनम् ।

श्रर्थ—जब कुष्ठ का प्रभाव केवल त्वचा पर होता है तो निम्न लक्षण पाये जाते हैं। यथा—शरीर के वर्ण में परिवर्तन, रूखापन, त्वचा में शून्यता, रोमाख्र एवं पसीना श्रिषक निकलना। कण्डूर्तिपूयकश्चेव कुष्ठे शोणितसंश्रिते ॥ २६ ॥ बाहरूपं वक्त्रशोषश्च कार्कश्यं पिडकोद्धगमः।

श्रर्थ—जब रक्त पर प्रभाव पड़ता है तो यह लक्त्मण होते हैं। यथा-करडू, पीव निकलना, कुछ की श्रिधिकता, मुखशोथ, शरीर में खरदरापन तथा फ़ुन्सियों का निकलना।

तोदः स्फोटः स्थिरत्वं च कुष्टे मांससमाश्रिते ॥ २७ ॥

ऋर्य—जब मांस पर प्रभाव पड़ता है तो सुई के चुभने की सी पीड़ा, फफोला उठना एवं त्रण चिरकाल तक रहनेवाला होता है।

कौण्यं गतिक्षयोऽङ्गानां संभेदः क्षतसर्पणम् ।

मेदःस्थानगते लिङ्गं प्रागुक्तानि तथैव च ॥ २८ ॥

श्रर्थ—मेदा धातु पर प्रभाव पड़ने से हाथ पैरों की उँगलियाँ गिर जाती हैं, अंगों की गति में रुकावट, त्रगों का फटना, घाव का फैलना एवं पूर्वोक्त कुछ के लच्चण भी हो जाते हैं।

नासाभङ्गोऽक्षिरागश्च क्षतेषु क्रिमिसंभवः। स्वरोपघातश्च भवेदस्थि-मज्ज-समाश्रिते ॥ २९ ॥

अर्थ—जब अस्थि एवं मजा धातु में कुष्ठ होता है तो नाक बैठ जाती है (नाक की तहिंगास्थि गलकर गिर जाती है अथवा नाक की बिचली दीवार गल जाने से नाक बैठ जाती है), आँखों में सुरखी आ जाती है, घावों में कृमि पड़ जाते एवं स्वर बिगड़ जाता है।

दम्पत्योः कुष्ठबाहुल्याद् दुष्ट-शोणित-शुक्रयोः ।

यद्पत्यं तयोर्जातं ज्ञेयं तद्िष कुष्टितम् ॥३०॥ सु॰ नि॰ अ० ५ ऋर्य —यदि स्त्री-पुरुष दोनों या एक का कुष्ट की ऋधिकता के कारण् शोखित (गर्भोषयोगी रक्त या डिम्ब) तथा शुक्र दूषित' हो जाता है तो उनकी जो सन्तान होती है, उसे भी कुष्ट हो जाता है।

९—यह दुष्टि शोणित-शुक्तको उत्पादक-शक्ति को नष्ट नहीं करती और इससे होने वाली सन्तान कभी २ जन्म से ही कुष्ट प्रस्त होती है अथवा कुछ काल के पक्षात उसे कुष्ट हो जाता है।

कुष्ठस्य साध्यादिभेदाः।

साध्यं त्वग्-रक्त-मांस-स्थं वातश्लेष्माधिकं च यत् ।

मेद्सि द्वन्द्वजं याप्यं वर्ज्यं मज्जा-ऽस्थिसंश्रितम् ॥ ३१ ॥
श्रर्थ—रवचा, रक्त एवं मांस में स्थित कुष्ट तथा वात-ककप्रधान कुष्ट साध्य होता है । मेदा में स्थित तथा द्वंद्वज कुष्ट याप्य होता है । मज्जा एवं श्रस्थि का कुष्ट श्रसाध्य होता है ।

क्रिमि-तृड्-दाइ-मन्दाग्नि-संयुक्तः यत् त्रिदोपजम् । प्रभिन्नं प्रसुताङ्गं च रक्तनेत्रं इतस्वरम् ॥ ३२ ॥

पञ्चकर्मगुणातीतं कुष्टं हन्तीह मानवम् । सुः स्० अ० ३ः

अर्थ—किमि, प्यास, दाह, अफ्रिमान्य से युक्त अथवा त्रिदोपज अथवा जो सम्पूर्ण शरीर पर फूट निकला हो तथा जिसमें से पन्छा निकलता हो, रोगी की आँखे लाल होगई हों, स्वर बैठ गया हो, पश्चकर्म (वमन विरेचनादि) करने पर भी कुछ लाभ न हुआ हो तो कुछ रोगी को मार डालता है।

कुष्ठेषु दोषाणां सम्बन्धः।

वातेन कुष्टं कापालं पित्तेनोंदुम्बरं कफात् ॥ ३३ ॥
मण्डलारूयं विचर्ची च ऋष्यारूयं वातपित्तजम् ।
चर्मेककुष्टं किटिभं सिध्मालसविपादिकाः ॥ ३४ ॥
वातश्चेष्मोद्भवाः ब्लेष्मपित्ताद्व दद्वज्ञतारुषी ।
पुण्डरीकं सविस्फोटं पामा चर्मदलं तथा ॥ ३५ ॥
सर्वैः स्यात काकणं—

श्रर्थ—"कापाल" वायु से, "श्रोदुम्बर" पित्त से, "मराडल" एवं "विचिचक" कफ से, "ऋष्यजिह्न" वातिपत्त से, "चर्म" "एक कुष्ठ" "किटिभ" "सिष्भ" "श्रलसक" एवं "विपादिका" वातकफ से; दृहु, शतारु, पुराडरीक, विस्फोट, पामा श्रोर कच्छु एवं चर्मदल कफिपित्त से तथा काकण कुष्ठ सिश्नपात से होता है। –पूर्वत्रिकं दद्घ सकाकणम्।

पुण्डरीकर्ष्यजिहे च महाकुष्टानि सप्त तु ॥ २६ ॥ द्यर्थ-पहिले तीन द्यर्थात् कापाल, द्यौदुम्बर एवं मण्डल, दद्रु, का-कर्ण, पुरुद्धरीक तथा ऋष्यजिह्न यह सात महाकुष्ट कहे जाते हैं।

किलासकुष्टस्य लच्चणम् ।
श्वित्र या श्वेत कुष्ट या फुलबहरी ।
कुष्टैकसंभवं श्वित्रं किलासं वारुणं भवेत् ।
निर्दिष्टमपिरस्नावि त्रिधातुद्भवसंश्रयम् ॥ ३७ ॥
वाताद् रूक्षारुणं पितात् ताम्र कमलपत्रवत् ।
सदाहं रोमविध्वंसि कफात् श्वेतं घनं गुरु ॥ ३८ ॥
सकण्ड्रं कमाद् रक्तमांसमेदःसु चादिशेत् ।
वर्णोनैषेटगुभयं कृच्छुं तच्चौत्तरोत्तरम् ॥ ३८ ॥ वा० नि० अ० १४

श्रर्थ—श्वित्र कुष्ठ दो प्रकार का होता है १ रवेत, २ कुछ लाल । इसके कारण वही हैं जो कुछ के । इनमें कुछ के समान किसी प्रकार का स्नाव नहीं निकलता । यह तीनों दोषों से उत्पन्न होता है और रक्त, मांस एवं मेदा नामक तीनों धातुओं में इसकी स्थिति होती है । वायु से होनेवाला श्वित्र रूस एवं कुछ लाल, पित्त से कमलपत्र के समान लाल, दाहयुक एवं रोम—नाराक (रोम उखड़ जाते हैं) तथा कफ से श्वेत, मोटा, भारीपन से युक्त एवं करुडूयुक्त होता है, यह तीनों श्वित्र कमन्ना: रक्त, माँस एवं मेदा में होते हैं । श्वित्र और किलास में केवल वर्ण का ही भेद है, श्वित्र से किलास कष्टसाध्य होता है।

श्रथास्य साध्यासांध्यत्वम्।

अशुक्लरोमाऽबहुलमसंश्लिष्टमथो नवम् ।

<sup>9—</sup>यद्यपि उक्त तीनों ही धातुओं में रस का आश्रय माना है, किन्तु शुक्र— शोणित पर भी इसका प्रभाव होता है। क्योंकि श्वित्र रोग माता-पिता की सन्तान में भी होता देखा गया है।

अनिग्नदुग्धजं साध्यं श्वित्रं वर्ज्यमतोऽन्यथा ॥ ४० ॥

श्चर्य—श्वित्र स्थान के रोम सुफेद न हो गये हों, मोटा न हो, श्वित्र दाग श्चापस में मिल न गये हों, नया हो तथा श्चग्नि के कारण उत्पन्न न हुश्चा हो, तो श्वित्र साम्य होता है। इसके विपरीत श्वसाम्य। गुद्धपाणितलोष्ठेषु जातमप्यचिरन्तनम्।

वर्जनीयं विशेषेण किलासं सिद्धिमिच्छता ॥ ४१ ॥ वा॰ नि॰ अ० ४

ऋर्थ-लिंग, योनि, हाथ की हथेली एवं खोठों पर जो किलास या श्वित्र होता है, वह नया ही क्यों न हो तो भी ख्रसाध्य होता है।

संकामकरोगाणामुपसंख्यानम् ।

पसङ्गाद्व गात्रसंस्पर्शाद्व निःश्वासात् सहभोजनात् । एकाशय्यासनाच्चेव वस्त्रभाल्यानुलेपनात् ॥ ४२ ॥

कुष्ठं ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिष्यन्द एव च ।

श्रोपसर्गिकर्गेगाश्च संकामन्ति नरान्नरम् ॥ ४३ ॥ द्व० नि० अ० ४

श्रर्थ—मैथुन करने से, शरीर का स्पर्श करने से, साँस द्वारा वायु का भीतर प्रवेश होने से, एक थाली में भोजन करने से, एक बिस्तर पर सोने तथा एक श्रासन पर बैठने से; वस्त्र, माला तथा लेप, उबटन श्रादि के सेवन से, कुष्ठ, ज्वर, शोष ( यद्दमा ), नेत्राभिष्यन्द तथा श्रौर भी प्रतिश्याय, विसूची, सुजाक, श्रातशक श्रादि संक्रामक रोग एक से दूसरे मनुष्य पर संक्रमण कर लेते हैं।

### श्रीतिषिक्तोदर्दकोठनिदानम् । श्रीतिषित्तरोगस्य सम्प्राप्तिः । श्रीतमास्तसंस्पर्शात् प्रदृष्टौ कफमास्तौ ।

<sup>9—</sup>यह प्रायः श्रहाकालस्थायी रोग है । इसका मुख्य लक्षण है कि सहसा धप्पक निकल श्राते हैं त्रौर घण्टा दो घएटा में मिट जाते हैं । जब इसका दौरा होने लगता है तो इसे "कोठ" कहा जाता है । दौरे का श्रम्तर एक घण्टा से वर्षों सक भी होता है । प्रकार में इस रोग को "रक्तपित्ती" या "पित्ती" कहते हैं ।

पित्तेन सह संभूय बहिरन्तर्विसर्पतः ॥ १ ॥

श्चर्थ-शीत वायु लगने से कफ तथा वायु दुष्ट होकर एवं पित्त के साथ मिल कर त्वचा श्चीर रक्त में विकृति उत्पन्न कर देते हैं।

शीतपित्तस्य पूर्वरूपाणि ।

पिवासा-ऽरुचि-इल्लास-देहसादाऽङ्गगौरवम् ।

रक्तलोचनता तेषां पूर्वरूपस्य लक्षणम् ॥ २ ॥

अर्थ-उपर्युक्त सम्प्राप्ति के अनन्तर प्यास, अरुचि, जी मिचलाना, शरीर में अवसन्नता, अंगों में भारीपन एवं आँखों में सुर्खी यह पूर्वरूप हो जाते हैं।

श्रयोदर्दरोगस्य लज्ञ्णानि । वरटोदष्टसंस्थानः शोथः संजायते बहिः । सकण्ड्रस्तोदबहुलश्रुर्दि-ज्वर-विदाहवान् ॥ ३ ॥ उदर्दिमिति तं विद्याच्छीतपित्तमथापरे । वाताधिकं शीतपित्तमुदर्दस्तु कफाधिकः ॥ ४ ॥

श्रथं—पूर्वहूप के श्रनन्तर त्वचा पर बरें (भिराड) के दंशस्थान के समान शोथ हो जाता है, इस शोथ में कर इ एवं सुई के चुमने की सी पीड़ा होती है; वमन, जबर एवं दाह होता है। बस इसे "उदर्द" जानना चाहिये। कुछ श्राचार्य इसे "शीतिपत्त" भी कहते हैं। एक ही रोग के दो नाम रखने का हेतु यह है कि शीतिपत्त में वायु की प्रबलता एवं उदर्द में कफ की प्रबलता होती है।

श्रथोदर्दरोगस्य तत्त्तरणान्तरम् । सोत्सङ्गेश्र सरागेश्र कण्डूमद्भिश्च मण्डलैः।

१—इसे "धप्पड" या "चकत्ता" कहा जाता है। वह शरीर पर २-४ से लेकर सैकड़ों तक होते हैं। कमी—कमी सम्पूर्ण शरीर में एक जैसा व्याप्त हो जाता है।

२---यह लक्षण भी है और उपराय भी।

गैशिर: कफजो व्याधिरुदर्द इति कीर्तितः ॥ ५ ॥

श्चर्थ—बीच से निम्न, लाल, करहू युक्त जो मरडल या चकत्ते निकल श्चाते हैं, उन्हें "उदर्द" कहा जाता है। यह कफज रोग है, इसका वेग प्रायः शीतकाल में होता है।

काठरोगस्य लच्चगानि ।

असम्यग्वमनोदीर्णपित्तश्लेष्मान्ननिग्रहै:।

मण्डलानि सकण्डूनि रागवन्ति बहूनि च ।

उत्कोठः सानुवन्धश्र कोठ इत्यभिधीयते ॥ ६ ॥

श्रर्थ—श्रनुचित वमन के कारण बढ़े हुए पित्त कफ से तथा वमन के रोकने से जो शरीर पर कर्ण्ड्युक लाल २ बहुत-से चकते निकल श्राते हैं (श्रीर शान्त हो जाते हैं), उनहें "कोठ" कहा जाता है; किन्तु यदि इसका बार—बार दौरा होता है, तो इसीको "उत्कोठ" कहा जाता है।

#### अम्लपित्तानदानम्।

श्रथाम्लपित्तस्य सहेतुकं स्वरूपम् ।

विरुद्ध-दुष्टाम्बु-विदाहि-पित्तपकोपि-पानान्न-भुनो विदग्धम् । पित्तं स्वहेत्प्रचितं पुरा यत् तदम्लपित्तं प्रवदन्ति सन्तः ॥ १ ॥

अर्थ-पहिले ही अपने कारगों से सिक्कत और पुनः विरोधी (वीर्यविरुद्ध), दृषित (गले-सड़े), अम्ल, विदाहकारी एवं पित्त को विकृत करनेवाले अन्नपान के सेवन करने से जो पित्त विदग्ध अर्थात् खट्टा हो जाता है उससे होनेवाले रोग को "अम्लपित्त" कहते हैं।

श्रथाम्लपित्तस्य लच्नगानि ।

त्र्रविपाक-क्रमोत्वलेश-तिक्ताम्लोद्गगर-गौरवै: । हृत्-कण्टदाहा-ऽरुचिभिश्राम्लपित्तं वदेद्भिषक् ॥ २ ॥

१ — पाचक पित्त विदाध होकर ऋथिक मात्रा में भुक्त -भोजन में मिल जाता है, अतः वह खट्टा हो जाता है, वस यही "अम्बिपित" है।

२९७

श्चर्य—श्चन्त का न पचना, सुस्ती, जी मिचलाना, कडुवे एवं खट्टे डकार श्राना, शरीर में भारीपन, हृदय तथा गले में दाह एवं श्वरुचि इन लच्चणों से युक्त ''श्वम्लपित्त'' नामक रोग कहना चाहिये ।

अम्लिपत तीन प्रकार का होता है। १—अधोगामी, २—ऊर्ध्वगामी,

३--- डभयगामी !

श्रथाधोगताम्बिपत्तस्य लत्तराानि । तृड्-दाइ-मूर्च्छो-भ्रम-मोहकारि प्रयात्यधो वा विविधपकारम् । हृष्टास-कोठानलसाद-हर्ष-स्वेदाङ्गपीतत्वकरं कदाचित् ॥ ३ ॥

श्रर्थ—प्यास दाह, मूच्छी, भ्रम एवं मोह (श्रर्द्धमूच्छी) को करने-वाला तथा भिन्न भन्न प्रकार से गुरमार्ग द्वारा (श्रितसार के समान) निकलनेवाला श्रम्लिपत्त "श्रथोगामी श्रम्लिपत्त" कहलाता है। इससे कभी २ निम्निलिखित लच्चण हो जाते हैं—जी मिचलाना, कोठ (शीत-पित्त देखिये), श्रिमान्य, रोमहर्ष, पसीना एवं श्रंगों में पीलापन।

श्रथोर्घ्यगामिनोऽम्लिपत्तस्य लज्ञ्णानि । वान्तं हिरत्-पीतकःनील-कृष्णमारक्तरक्ताभमतीव चाम्लम् । मांसोदकाभं त्वतिपिच्छिलाच्छं श्लेष्मानुजातं विविधं रसेन ॥४॥ भ्रके विदग्धे त्वथवाऽप्यभ्रक्ते करोति तिक्ताम्लविमं कदाचित् । उद्गारमेवंविधमेव कण्ड-हृत्-कृक्षि-दाहं शिरसो रुजं च ॥५॥ कर-चरण-दाहमौष्ण्यं महतीमरुचि जवरं च कक्रपित्तम् । जनयति कण्ड्-मण्डल-पिडकाश्वतिचितगात्र-रोगचयम् ॥६॥

चर्थ — हरी, पीली, नीली, काली, च्रत्यन्त लाल च्रथवा कुछ लाल, अत्यन्त खट्टी, मांस के घोवन की सी, च्रत्यन्त लसदार, स्वच्छ, कफ-मिश्रित तथा खनेक प्रकार के रस से युक्त वमन होती हैं । कभी २ ख्राहार के पाककाल में ख्रथवा पच जाने पर कहुई खीर खट्टी के होती हैं और इसी प्रकार का उद्गार ( डकार ) भी ख्राता हैं । करठ, हृद्य तथा पेट में दाह होता हैं । शिर में पीड़ा होती हैं । इससे हाथ पैरों में दाह, शरीर या उरस्थल में गर्मी या जलन, भीषण अरुचि, ज्वर, कफ-

चित्त (इतन्त्र सदस्य बीचे लिखा है) नामक रोग, करहू, धप्पड़, फुन्सियों से शरीर का ज्यात हो जाना, यह लत्त्रण "ऊर्ज्यमामी" अन्त्रिपच के हैं।

अथाम्लपित्तरोगस्य साध्यासाध्यत्वम् । रोगोऽयमम्लपित्ताख्यो यत्नात् संसाध्यते नवः ।

चिरोत्थितो भवेद याप्यः कृच्छुसाध्यः स कस्यचित् ॥७॥

श्रर्थ—यह "श्रम्लिपत्त" नामक रोग प्रारम्भिक श्रवस्था में यन्न-पूर्वक चिकित्सा करने से श्रच्छा हो सकता है श्रीर पुराना याप्य हो जाता है। किसी-किसी रोगी का कष्ट साध्य भी हो जाता है।

श्रथात्र वातश्रेष्मणीः सम्बन्धः ।

सानिलं सानिलकफं सकफं तच लक्षयेत्।

दोषतिङ्गेन मतिमान भिषङ्मोहकरं हि तत् ॥ ८ ॥

त्र्यं—बुद्धिमान् चिकित्सिक को चाहिये कि इस रोग में वायु, वात-कफ तथा कफ का सम्बन्ध निम्नलिखित लच्चाणों द्वारा भली प्रकार समम लेवे। क्योंकि यह रोग चिकित्सक को धोखें में डाल देता है।

कम्प-मलाप-मृच्छा-चिमिचिमि-गात्रावसाद-शुलानि । तमसो दर्शन-विभ्रम-विमोह-हर्षाण्यनिलकोपात् ॥ ९ ॥

श्चर्य-वायु की अधिकता से निम्न लत्तरा हो जाते हैं-कम्प, प्रलाप, मूरुक्षी शरीर में चुनचुनाहट एवं श्रवसन्नता, ग्रुल, आँखों के आगे अँधेरा आना, चक्कर, बदहोशी एवं रोमाख्न ।

कफिनष्टीवन-गोरव-जडताऽरुचि-शीत-साद-विम-लेपाः । दहन-बल-साद-कण्ड्र-निद्राचिद्रं कफानुगते ।। १० ॥

श्रथं—कफ की श्रधिकता से निम्न लज्ञ्ण होते हैं-कफ का थूकना, शरीर में भारीपन एवं जकड़न, श्रक्षचि, शीत लगना, श्रवसन्तता, कें, मुख या शरीर भर में चिपचिपाहट, श्रम्नि तथा बल की हानि, खुजली तथा नींद की श्रधिकता।

१—श्रधोगामी में "पित्तातिसार" तथा ऊर्ध्वगामी में "छर्दि" रोग का अम हो सकता है।

उभयमिदमेव चिह्नं मारुत-कफ-संभवे भवत्यक्के । ऋर्थ—वायु एवं कफ से होने वाले स्त्रम्लिपत्तमें उपर्युक्त दोनों लच्चण पाये जाते हैं ।

तिक्ताम्ज-कटुकोद्दगार-हत्-कुक्षि-कण्ड-दाहकृत् ॥ ११ ॥ भ्रमो मूर्च्छाऽघचिरछर्दिरालस्यं च शिरोष्ठना । प्रसेको मुखमाधुर्यं श्लेष्मपित्तस्य लक्षणम् ॥ १२ ॥ त्रर्थ—"कफपित्त" नामक रोग का लक्षण यह है—कडुवे, खट्टे एवं

त्रर्थ—"कफपित्त" नामक रोग का लत्तण यह है—कडुने, खट्टे एवं चरपरे डकार, हृदय, पेट तथा गलेमें दाह, श्रम, मूर्च्छा, श्ररुचि, वमन, श्रालस्य, शिर में पीड़ा, मुख से पानी जाना श्रीर मुख में मीठापन।

# विसर्पनिदानम् ।

विसर्परोगस्य हेतवो भेदाश्च।
लवणाम्न-कट्टण्णादि-संसेवा-दोषकोपतः।
विसर्पः सप्तथा क्षेयः सर्वतः परिसर्पणात्॥१॥
पृथकत्रयित्रभिश्चेको विसर्पो द्वन्द्वजास्त्रयः।
वातिकः पैत्तिकश्चेव कफजः सान्त्रिपातिकः॥ २॥
चत्वार एते वीसर्पा वक्ष्यन्ते द्वन्द्वजास्त्रयः।
श्चाग्नेयो वातिपत्ताभ्यां ग्रन्थाख्यः कक्षवातजः॥ ३॥
यस्तु कर्दमको घोरः स पित्तकफसंभवः। बः वि० अ० ११

श्रर्थ—नमकीन, खट्टे, चरपरे तथा उष्णवीर्य द्रव्यों के श्रति सेवन से कुपित वातादि दोषों से सात प्रकार का "विसर्प" नामक रोग हो जाता है। यह सब फैलने के कारण ही "विसर्प" कहलाता है। तीनों दोषों से तीन, सिन्नपात से एक तथा द्विदोषज तीन इस प्रकार सात

१—विसर्प तथा कुष्ठ के दोष एवं दृष्यों में कोई अपन्तर न होने पर भी दोनों में आपकाश-पाताल का अपन्तर है। लक्षणों पर ध्यान दोजिये। विसर्प शीघ ही शान्त हो जाता है अथवा मार डालता है और कुष्ठ दीर्घकालानुबन्धी होता है।

तरह का होता है—वातिक, पैत्तिक, कफज तथा सन्निपातज, इस प्रकार चार तथा द्वन्द्वज तीन यथा वातिपत्त से "त्राग्नेय" कफवात से "प्रन्थि" नामक एवं पित्तकफ से "कर्रमक" नामक भीषण विसर्प होता है। इन सबका विवरण त्रागे दिया जायगा।

विसर्पाणां समुत्पत्तौ दृष्य-दोष-सम्बन्धस्तल्लत्ताणानि च । रक्तं लसीका त्वङ्-मांसं दृष्यं दोषास्त्रयो मलाः ॥ ४ ॥ विसर्पाणां समुत्पत्तौ विज्ञेयाः सप्त धातवः ।

श्चर्य—रक्त, उसीका, त्वचा एवं मांस यह चार दूष्य तथा वात, पित्त तथा कफ यह तीन दोष इस प्रकार सब मिलाकर सात धातु विसर्पों की उत्पत्ति के कारण होते हैं।

तत्र वातात् स वीसर्पो वातज्वरसमव्यथः ॥ ५ ॥ शोथ-स्फुर्-निस्तोद-भेदाऽःयासार्ति-हर्षमान् । पित्ताह् द्वतगतिः पित्तज्वरत्तिङ्गोऽतिलोहितः ॥६॥ च॰ चि॰ अ॰ ३३ कफात् कण्ह्युतः क्रिग्यः कफज्वरसमानस्क् । सिन्नपातसम्रस्थित्र सर्विलङ्गसमन्वितः ॥ ७ ॥ वा॰ नि॰ अ॰ ३३

श्रर्थ—वायु से जो विसर्प होता है उसके सब लच्चण वातज्वर के ही समान होते हैं किन्तु नीचे लिखे लच्चण श्रिषक होते हैं—शोथ, फड़कन, सई के चुभने की-सी पीड़ा, फटने की-सी पीड़ा, थकावट, पीड़ा एवं रोमहर्ष। पित्त से जो विसर्प होता है उसमें पितज्वर के लच्चणों के श्रतिरिक्त विसर्प श्रत्यन्त लाल एवं शीध फैलनेबाला होता है। कफज विसर्प में कफज्वर के लच्चणों के साथ २ विसर्प में खुजली एवं स्निग्धता होती है। सन्निपातज विसर्प उपर्युक्त तीनों दोषोंके लच्चणों से यक्त होता है।

द्यथान्निवसर्पस्य लच्चणानि । वातिपत्ताज्जवर-च्छर्दि-मूर्च्छाऽतीसार-तृड्-भ्रमैः । ग्रन्थिभेदाग्निसदनतमकारोचकैर्युतः ॥ ८ ॥ करोति सर्वमङ्गं च दीप्ताङ्गारावकीर्णवत् ।
यं यं देशं विसर्पश्च विसर्पति भवेत् स सः ॥ ९ ॥
शान्ताङ्गारासितो नीलो रक्तो वाऽऽग्रु च चीयते ।
अप्रिद्रग्थ इव स्कोटैः शीघ्रगत्वाद् द्वतं स च ॥ १० ॥
मर्मानुसारी वीसर्पः स्याद्ववातोऽतिवलस्ततः ।
व्यथतेऽङ्गं हरेत् संज्ञां निद्रां च श्वासमीरयेत् ॥ ११ ॥
हिक्कां च स गतोऽवस्थामीहशीं लभते न ना ।
कचिच्छर्मारतिग्रस्तो भूमि-शय्याऽऽसनादिषु ॥ १२ ॥
चेष्टमानस्ततः हिष्टो मनो-देह-ममोहवान् ।
दुष्पवोधोऽश्नुते निद्रां सोऽग्निवोसर्प उच्यते ॥ १३ ॥

श्राचित्र में जो विसर्प होता है उसमें वमन, मूच्छी, अित-सार, प्यास, भ्रम, शन्थिभेद (सिन्धियों में फटने की सी पीड़ा), अिन-मान्य, आँखों के आगे अँधेरा एवं अरुचि होती हैं। यह विसर्प सम्पूर्ण शरीर को जलते हुए अंगारों के समान दाहयुक्त कर देता हैं। जिस भाग में फैलता है वह कोयले के समान काला, नीला अथवा लाल हो जाता और वहाँ अिन से जले हुए के समान फफोले उठ आते हैं। यह विसर्प शीधगामी होने के कारण किसी न किसी मर्म पर शीध ही पहुँच जाता है। इस कारण वायु अत्यन्त प्रबल हो जाता है। अंगों में पीड़ा होती है। संज्ञा एवं नींद नष्ट हो जाती है। श्वास और हिचकी बढ़ जाती है। वह वेचारा रोगी मनुष्य ऐसी अवस्था में पहुंच कर किसी प्रकार भूमि, शय्या एवं आसन आदी में सुख लाभ नहीं करता। दुखी होकर हाथ पाँव पटकता है, मानसिक एवं शारीरिक ज्ञान से रहित हो जाता है। अर्थान मर जाता है। इसे "अगिनविसर्ण" कहते हैं।

१— प्रन्यकर्ता ने वाग्भट के कथनानुसार 'प्रन्थिमेद' लिखा है, परन्तु इसकी जगह 'सन्धिमेद' श्रधिक उपगुक्त है। चरक देखिये।

प्रत्थिवसर्पस्य लज्ञ्णानि ।
कफेन रुद्धः पवनो भित्त्वा तं बहुधा कफम् ।
रक्तं वा द्यद्ररक्तस्य त्वक्-सिरा-स्नायु-मांसगम् ॥१४॥
दूषियत्वा तु दीर्घाणु-दृत्त-स्थृल-खरात्मनाम् ।
ग्रन्थीनां कुरुते मालां सरक्तां तोत्र-रुग्-ज्वराम् ॥१५॥
श्वास-कासाऽतिसाराऽऽस्यशोष-हिक्का-विम-भ्रमेः ।
मोहवैवर्ण्य-मृच्छीऽङ्गभङ्गाग्निसदनैर्युताम् ॥१६॥
इत्ययं ग्रन्थिवीसर्पः कफ-मारुत-कोपजः । बा॰ नि॰ अ॰ १३

श्रर्थ—वायु कफ से रूक जाता है तत्पश्चात् कफ को फाड़ देता है श्रथवा श्रधिक रक्तवाले पुरुष की त्वचा, सिरा, स्नायु एवं मांस में गये हुए रक्त को दूषित कर लम्बी, छोटी श्रथवा गोल, मोटी एवं खर्दरी बहुत सी गांठें उत्पन्न कर देता है। यह गाँठ कुछ लाल होती हैं। इनसे भीषण पीड़ा, ज्वर, श्वास, कास, श्रतिसार, मुखरोष, हिचकी, कै, श्रम, मोह, विवर्णता, मृच्छी, अंगों में टूटने की सी पीड़ा एवं श्रानिमान्य हो जाता है। यह कफवात के कोप से होने वाला "ग्रन्थिवसर्प" कहलाता है।

कर्दमिवसर्पस्य लज्ञ्णानि ।
कफिपताज्ज्वरः स्तम्भो निद्रा तन्द्रा शिरोरुजा ॥१७॥
श्रङ्गावसादविचेषौ प्रलापाऽरोचकश्रमाः ।
मृच्छिपिहानिभेदोऽस्थ्नां पिपासेन्द्रियगौरवम् ॥ १८ ॥
श्रामोपवेशनं लेपः स्रोतसां स च सर्पति ।
पायेणामाशयं गृह्णन्नेकदेशं न चातिस्क् ॥ १९ ॥
पिडकैरवकीर्णोऽतिपीत-लोहित-पाण्डरैः ।
स्निग्घोऽसितो मेचकाभो मलिनः शोथवान् गुरुः ॥२०॥
गम्भीरपाकः प्राज्योष्मा स्पृष्टः क्रिकोऽवदीर्यते ।

पङ्कवच्छीर्णमांसश्च स्पष्ट-स्नायु-सिरा-गणः ॥ २१ ॥ शवगन्धी च वीसर्पः कर्दमाख्यमुशन्ति तम् । वा• वि• अ॰ १३

श्रथं—कफिपत के कारण जो विसर्प होता है उससे ज्वर, शरीर की जकड़न, नींद, उँघाई, शिर में पीड़ा, अंगों में श्रवसन्नता एवं उन्हें इधर-उधर पटकना, प्रलाप, श्रुह्मि, श्रम, मूच्छ्री, श्राम्नमान्द्य, हिंदूर्यों में भारीपन श्र्यात् विषय प्रह्ण में दुर्वलता, श्राम पड़ना श्र्यात् श्रामातिसार एवं मुख नासा श्रादि होतों में विपिचपाहट होती है श्रीर यह विसर्प कहीं भी उत्पन्न होकर प्रायः श्रामाश्य की श्रोर (श्र्यात् नाभि तथा सत्नों के मध्य भाग में ) फैलता है। इसमें श्राधिक पीड़ा नहीं होती तथा श्रुव्यत पीली, लाल एवं श्र्वेत फुन्सियाँ निकल श्राती हैं। यह विसर्प चिकना, कुछ काला, मैला, शोथगुक्त भारी, गहरे पाक से गुक्त एवं श्रिष्ठ क्ष्मा से गुक्त होता है। स्पर्श करते ही फुन्सियाँ फूट जाती हैं, उनमें से पन्छा निकलता रहता है। मांस गलने के कारण उस स्थान में कीचड़ सा हो जाता है श्रीर स्नागु तथा शिराएँ स्पष्ट दिखाई पड़ने लगती हैं। उसमें से मुरदे की सी गन्ध श्राती हैं। इस विसर्प को "कर्दम" (कीचड़ सा होने के कारण) कहते हैं।

च्तिवसर्पस्य लच्चणानि । बाह्यहेनोः क्षतात् ऋुद्धः सरक्तं पित्तमीरयन् ॥२२॥ वीसर्पं मास्तः कुर्यात् कुल्तत्थसदृशैश्वितम् ।

स्फोटैः शोथ-ज्वर-रुजा-दाहाट्यं श्यावशोणितम् ॥२३॥

श्रर्थ—बाहरी कारगों से (श्रर्थात् विषद्ग्ध शस्त्र श्रथवा विषैते दाँत तथा नाखून लगने से ) जो घाव होता है उससे कुपित वायु रक्त-युक्त पित्त को प्रेरित कर "विसर्प" कर देता है । उस स्थान में कुलशी के बीजों के से फफोले निकल श्राते हैं श्रीर साथ ही शोथ, ज्वर, पीड़ा, दाह एवं रक्त काला हो जाता है । इसे "ज्ञतज" कहते हैं ।

ज्वरातिसारो वमथुस्त्वङ्मांसदरणं क्रमः।

अरोचकाविपाकों च विसर्पाणामुपद्रवाः ॥२४॥ छ॰ नि॰ अ॰ १० अर्थ—विसर्पों में निम्नलिखित उपद्रव भी हो जाते हैं—ज्वर, अतिसार, कें, त्वचा और मांस का फटना, सुस्ती, अरुचि एवं अनपच।

विसर्पस्य साध्यासाध्यत्तज्ञ्णानि । सिध्यन्ति वात-कफ-पित्त-कृता विसर्पाः सर्वात्मकः क्षतकृतश्च न सिद्धिमेति । पित्तात्मकोऽञ्जनवपुश्च भवेदसाध्यः

कृच्छाश्र मर्मसु भवन्ति हि सर्व एव ॥२५॥

श्रथं—वातज, कफज एवं पित्तज विसर्प श्रन्छे हो जाते हैं, किन्तु सिन्नपातज तथा चतज विसर्प कभी श्रन्छे नहीं होते । श्रीर वह पित्तज विसर्प भी जिसके कारण शरीर काला हो जाय श्रसाध्य होता है तथा मर्मस्थानों के सभी विसर्प कष्टसाध्य होते हैं।

# विस्फोटनिदानम्।

विस्कोटरोगस्य हेतवः । कट्वम्ल-तीक्ष्णोष्ण-विदाहि-रूक्ष-क्षारेरजीर्णाध्यशनातपेश्व । तथर्तुदोषेण विपर्ययेण कुप्यन्ति दोषाः पवनादयस्तु ॥१॥ त्वचमाश्रित्य ते रक्त-मांसाऽस्थीनि प्रदूष्य च । घोरान् कुर्वन्ति विस्कोटान् सर्वान् ज्वरपुरःसरान् ॥२॥

त्र्यं चरपरे, खट्टे, उष्णवीर्य, विदाहकारी, रुच्च एवं खारे पदार्थों के श्रिधिक सेवन से, श्रनपच से, भोजन के न पचने पर भी दुबारा भोजन करने से तथा धूप लगने से, ऋतुकाल की विकृति से एवं ऋतु-काल के सर्वथा परिवर्तन से वायु श्रादि दोष क्रुपित हो जाते हैं। वे दोष

<sup>9—</sup>इस रोग का आक्रमण युवा एवं दृढों की अपेक्षा वर्षो पर अधिक होता है। अन्य ऋतुओं की अपेक्षा वसन्त में अधिक होता है। यह संकामक भी होता है। कभी कभी जनपदोद्ध्वंस के रूप फैतता है वर्तमान हिन्दूसमाज श्रौषधि की अपेक्षा पूजा आदि पर अधिक श्रद्धा रखता है, अस्तु ।

त्वचा में आश्रित होकर रक्त, मांस एवं श्रस्थियों को दूषित करके भीषण् विस्फोटों ( सुफेद फुन्सियों ) को उत्पन्न कर देते हैं। इनके दिखाई पड़ने के पहिले (३-४ दिन पहिले से ) ज्वर आ जाता है। इस रोग को "विस्फोट" या बड़ी माता, कहते हैं। विस्फोटकानां लच्चणानि।

अविदग्धनिभाः स्फोटाः सज्वरा रक्तपित्तजाः।

कचित सर्वत्र वा देहें विरफोटा इति ते रमृताः ॥ ३ ॥

अर्थ-शरीर पर कहीं कहीं ( प्रायः माथेपर बालों की सीमा के नीचे श्रवश्य होते हैं ) या सब जगह ( तिल रखने योग्य स्थान भी नहीं बच जाता है ) जो श्रामिद्ग्ध के समान फफोले (बड़ी बड़ी : निसयाँ ) निकल त्राते हैं, उन्हें "विश्फोट" कहा जाता है। इसका पूर्वरूप व्वर होता है श्रीर यह रक्तपित्त के कोप से होते हैं।

शिरोस्क् शूलभूयिष्ठं ज्वरस्तृट् पर्वभेदनम्।

सकृष्णवर्णता चेति वातविस्फोटलक्षणम् ॥ ४ ॥

त्रर्थ—शिर में पीड़ा, शरीर में भीषण शृल, ज्वर, प्यास, सन्धियों में फटने की सी पीड़ा एवं शरीर में कुछ कालापन, यह बातज विस्फोट के लचण हैं।

ज्वर-दाइ-रुजा-स्नाव-पाक-तृष्णाभिरन्वितम् ।

पीत-लोहित-वर्णं च पित्तविस्फोटलक्षणम् ॥ ५ ॥

श्चर्य-ज्वर, दाह, पीड़ा, विस्फोटों में से स्नाव निकलना तथा उनका पकना, 'यास एवं शरीर या फफोलों का वर्ण पीला या लाल होना, यह पित्तज विस्फोट का लक्ष्मा है।

छद्ये<mark>रोचकजाड्</mark>यानि कण्डू-काठिन्य-पाण्डुताः ।

अवेदनश्चिरात पाक: स विस्फोट: कफात्मक: ॥ ६ ॥

श्रर्थ-के, श्रहचि, हुस्ती, विस्फोटों में खुजली, कठोरता, हुफेदी, थोड़ी पीड़ा तथा विलम्ब (२१ दिन) से पाक यह कफज विस्फोट का लच्चरा है।

वातिपत्तकृतो यस्तु कुरुते तीववेदनाम् । कण्डू-स्तैमित्य-गुरुभिर्जानीयात्कफवातिकम् ॥ ७ ॥ कण्डूर्दाहो ज्वरञ्जुर्दिरेतैस्तु कफपेत्तिकः ।

अर्थ —वातिपत्तज ( द्वन्द्वज ) विस्फोटों में भीषण पीड़ा, कफवातज विस्फोटों में खुजली, गीलापन तथा भारीपन और कफिपत्तज विस्फोटों में खुजली, दाह, ज्वर, तथा कै, यह लज्ञण होते हैं।

सान्निपातिकविस्फोटकस्य लत्त्रणानि । मध्ये निम्नोन्नतोऽन्ते च कठिनोऽल्पपपाकवान् ॥ ८ ॥ दाह-राग-तृषा-मोह-च्छर्दि-मूर्च्छा-रुजा-ज्वराः ।

प्रलापो वेपशुस्तन्द्रा सोऽसाध्यः स्यात् त्रिदोषजः ॥ ९ ॥

श्चर्थ—जो विस्कीट बीच से निम्न तथा सब छोर से ऊँचे श्चर्थात् गड्ढेदार एवं कठोर होते हैं, थोड़े पाक से युक्त, दाह, वर्ण (काला, लाल या पीला एवं खेत ) से युक्त, मोह, कै, मूच्छां, पीड़ा, ज्वर, प्रलाप, कम्प एवं तन्द्रा से युक्त होते हैं, वे त्रिदोषज श्चतएव श्चसाश्य होते हैं।

रक्तजविस्फोटकस्य लज्ञणानि ।

रक्ता रक्तसम्रत्थाना गुङ्जा-विद्वमसन्निभाः । वेदितव्यास्तु रक्तेन पैत्तिकेन च हेतुना ॥ १० ॥ न ते सिद्धि समायान्ति सिद्धैयोगश्रतैरपि ।

श्रर्थ—रक्तज विश्फोट लाल तथा घुँघची (गुआ, रत्ती) तथा मूंगे के सदश श्राकृतिवाले होते हैं, यह रक्त पित्त की विकृति से होते हैं श्रीर सैकड़ों सिद्धयोगों से भी श्रच्छे नहीं हो सकते।

एकदोषोत्थितः साध्यः क्रच्छसाध्यो द्विदोषजः । सर्वदोषोत्थितो घोरस्त्वसाध्यो भूर्युपद्रवः ॥ ११ ॥

अर्थ-एक दोषज विस्फोट साम्य, द्विदोषज कष्टसाम्य तथा त्रिदोषज और उपद्रवों से युक्त असाम्य होता है।

हिका श्वासोऽरुचिस्तुःणा अङ्गसादो हृदि व्यथा ।

विसर्पज्वरहृङ्खासा विस्फोटानाम्रुपद्रवाः ॥ १२ ॥ ऋर्य-च्यह विस्फोटों के ज्यद्रव हैं ।

## मसुरिकानिदानम्।

मसूरिकारोगस्य निदानपूर्विका सम्प्राप्तिः । कट्वम्ल-लवर्ण-क्षार-विरुद्धाध्यश्चनाशनेः । दुष्ट-निष्पाव-शाकाद्येः प्रदुष्ट-पवनोदकैः ॥ १ ॥

क्र्रग्रहेक्षणाचापि देशे दोषाः समुद्धताः ।

जनयन्ति शरीरेऽस्मिन् दुष्टरक्तेन सङ्गताः ॥ २ ॥

मस्राकृतिसंस्थानाः पिडकाः स्युर्मस्रिकाः ।

त्र्यं — कटु, बम्ल, लवण, खारे, विरोधी द्रव्यों के सेवन से, अध्यशन करने से, सड़े हुए मटर या शाक खाने से, जल-वायु में विकृति हो जाने से, प्रान्त पर क्रूर प्रह की दृष्टि पड़ने से, वायु श्रादि दोष कुपित हो जाते हैं तथा शरीर में रक से मिलकर मसुरी के समान श्राकृतिवाली फुन्सि-यों को उत्पन्न कर देते हैं, उनको "मसुरिका" कहते हैं।

मसूरिकायाः पूर्वरूपाणि।

तासां पूर्वं ज्वरः कण्डूर्गात्रभङ्गोऽरतिर्भ्रमः ॥ ३ ॥

त्वचि शोथः सर्वेवर्ण्यो नेत्ररागश्च जायते ।

त्रर्थ — इसका पूर्वरूप यह हैं — ज्वर, खुजली, शरीर में टूटने की सी पीड़ा, वेचैनी, चक्र, त्वचा पर शोथ तथा सुर्खी झौर श्राँखों में भी सुर्खी।

वातजमसूरिकाया लज्ज्णानि।

स्फोटाः श्यावारुणा रूक्षास्तीत्रवेदनयाऽन्विताः ॥ ४ ॥ कठिनाश्चिरपाकाश्च भवन्त्यनिलसंभवाः । सन्ध्यस्थिपर्वणां मेदः कासः कम्पोऽरतिः क्रमः ॥ ५ ॥

९—इसे छोटी माता कहते हैं। क्योंकि इसके दाने विस्कोट की अपेक्षा छोटे होतेंहें ।

शोषस्ताल्वोष्ठजिह्वानां तृष्णा चारुचिसंयुता ।

श्रर्थ—वातज विस्फोट (मस्रिका के दाने ) काले, लाल, रूखें, वेदनायुक्त, कठोर एवं देर से पकनेवाले होते हैं। इसके लक्त्रण यह हैं—सन्धियों, हड्डियों एवं पर्वों में फटने की सी पीड़ा, कास, कम्प, वेचैनी, सुस्ती, तालु, ओठ तथा जीभ का स्ट्ला, रुष्णा एवं श्ररिच।

पित्तजमसूरिकाया लक्स्णानि ।

रक्ताः पीतासिताः स्फोटाः सदाहास्तीव्रवेदनाः ॥ ६ ॥ भवन्त्यचिरपाकाश्च पित्तकोपसमुद्भवाः । विड्मेदश्चाङ्गमर्दश्च दाहस्तृष्णाऽर्श्वचस्तथा ॥ ७ ॥

मुखपाकोऽक्षिरागश्च ज्वरस्तीत्रः सुदारुणः।

च्चर्थ-पित्तज विस्फोट लाल, पीले, काले, दाह तथा वेदना से युक्त एवं शीव ही पकनेवाले होते हैं। पित्तज मसूरिका के लत्त्रण यह हैं— अतिसार, शरीर में मदन की-सी पीड़ा, दाह, प्यास, अमचि, मुखपाक, आँखों में सुर्खी तथा भीषण और असहा ज्वर।

रक्तजमसूरिकाया लज्ञणानि।

रक्तजायां भवन्त्येते विकाराः पित्तलक्षणाः ॥८ ॥

त्र्यं - रक्तज मसूरिका में पित्तज मसृरिका के ही सब लन्नग्र होते हैं।

कफजमसूरिकाया लच्चणानि । कफप्रसेकः स्तैमित्यं शिरोरुग्गात्रगौरवम् । हृष्ट्रासः सारुचिर्निद्रा तन्द्राऽऽलस्य-समन्विताः ॥ ९ ॥ श्वेताः स्निग्धा सृशं स्थूलाः कण्डुरा मन्द्वेदनाः ।

श्रर्थ—कफज मस्रिका के लत्त्रण यह हैं—यथा कफ जाना, शरीर में गीलापन, शिर में पीड़ा, शरीर में भारीपन, जी मिचलाना, श्ररुचि, नींद की श्रधिकता, तन्द्रा एवं श्रालस्य । इसकी फुन्सियाँ रवेत, चिकनी,

मसुरिकाः कफोत्थाश्च चिरपाकाः प्रकीर्तिताः ॥ १० ॥

उपर्युक्त मसूरिकाओं की अपेत्ता बड़ी बड़ी, करडूयुक्त, थोड़ी नेदनावाली तथा विलम्ब से पकनेवाली होती हैं।

सान्निपातिकमसूरिकाया लच्चणानि । नीलाश्चिपिटविस्तीर्णा मध्ये निम्ना महारुजाः ।

चिरपाकाः पूतिस्नावाः प्रभूताः सर्वदोषजाः ॥ ११ ॥

कण्ठरोधाऽरुचिस्तम्भप्रलापाऽरति-संयुताः ।

दुश्चिकित्स्याः सम्रुद्दिष्टाः पिडकाश्चर्मसंज्ञिताः ॥ १२ ॥

श्रर्थ—सन्निपातज मसूरिका के दाने नीले, चिपटे, चौड़े, बीच से गढ़देदार, श्रस्यधिक पीड़ा से युक्त, विलम्ब से पकने वाले, दुर्गन्धियुक्त स्नाव बहानेवाले तथा संख्या में बहुत होते हैं। इसके लच्च्या यह हैं— कण्ठ रुकना, श्रक्षच, शरीर की जकड़न, प्रलाप तथा बेचैनी। यह मसूरिका कष्टसाध्य होती है। इसे "चर्म" भी कहा जाता है।

रोमान्तिकाया लज्ञणानि ।

रोमक्रूपोन्नतिसमा रागिण्यः कफपित्तजाः।

कासारोचकसंयुक्ता रोमान्त्यो ज्वरपूर्विकाः ॥ १३ ॥

श्रर्थ—मस्रिका का ही भेद रोमान्तिका होती हैं। 'उसका विवरण इस प्रकार है—जैसे घाम या पित्ती निकलने में श्रत्यन्त छोटी २ फुन्सियाँ हो जाती हैं, ठीक वैसी ही यह होती हैं। इनका वर्ण लाल होता है। कफपित्त से उत्पन्न होती हैं। कास तथा श्रक्ति से युक्त होती हैं। इसका पूर्व रूप ज्वर होती हैं। इसे खसरा कहते हैं।

रसादिसप्तधातुगतमसूरिकाणां लच्चणानि ।

तोयबुद्रबुदसंकाशास्त्वग्गतास्तु मस्र्रिकाः ।

स्वल्पदोषाः प्रजायन्ते भिन्नास्तोयं स्रवन्ति च ॥ १४ ॥

श्रर्थ—त्वचागत मसूरिका की फुन्सियाँ पानी के बुलबुले के समान होती हैं। इनमें रोगी को श्रधिक कष्ट नहीं होता। जब यह फूटती है तो पानी निकलता है।

रक्तस्था लोहिताकाराः शीघ्रपाकास्तनुत्वचः ।

साध्या नात्यर्थेदुष्टाश्च भिन्ना रक्तं स्रवन्ति च ॥ १५ ॥

श्रर्थ—रक्तगत मसूरिका की फुन्सियाँ लाल, शीघ्र पकनेवाली तथा पतली त्वचावाली होती हैं। ये यदि श्रत्यन्त दूषित न हो गयीं हों तो सुखसाध्य होती हैं। जब फूटती तो रक्त या लाल पन्छा निकलता है।

मांसस्थाः कठिनाः स्निग्धाश्चिरपाका घनत्वचः ।

गात्रश्र्ल-तृषा-कण्डू-ज्वरा-रति-समन्विताः ॥ १६ ॥

श्रर्थ — मांसगत मसूरिका कठोर, चिकनी, देर से पकनेवाली, मोटी त्वचावाली, शरीर में पीड़ा, प्यास, कषडू, ज्वर तथा बेचैनी से युक्त होती हैं।

मेदोजा मण्डलाकारा मृद्वः किंचिदुन्नताः।

घोरज्वरपरीताश्च स्यूलाः स्त्रिग्धाः संवेदनाः ॥ १७ ॥ संगोहा-ज्रति-संतापाः कश्चिदाभ्यो विनिस्तरेत ।

श्रर्थ — मेदोगत मसूरिका गोल ( चकलीदार ), कोमल, कुछ ऊँची, भीषरा ज्यर से युक्त, मोटी, चिकनी, वेदना युक्त, बदहोशी, बेचैनी तथा सन्तापयुक्त होती है। इससे कोई २ रोगी बचता है; प्रायः मर ही जाता है।

चुद्रा गात्रसमा रूक्षाश्चिपिटाः किंचिदुन्नताः ॥ १८ ॥

मज्जोत्था भृशसंमोहवेदनारतिसंयुताः।

छिन्दन्ति मर्मधामानि पाणानाशु हरन्ति हि ॥ १९ ॥

भ्रमरेणेव विद्यानि कुर्वन्त्यस्थीनि सर्वतः ।

श्रयं—श्वस्थि तथा मजा गत मसूरिका छोटी २, शरीर के ही समान वर्णवाली या सर्वथा ऊँचाईरिहत, रूच, चिपटी, कुछ ऊँचाईवाली, अत्यन्त बदहोशी, पीड़ा एवं वेचैनी से युक्त होती है। भ्रमर (ततैया या दन्दैया) से कटी हुई के समान हिंडुयों में पीड़ा होती है, श्रोर मर्मस्था-नों में कटने की—सी पीड़ा कर शीघ ही प्रायों को हुर लेती है।

पकाभाः पिडकाः स्निग्धाः सुक्ष्माश्चात्यर्थवेदनाः ॥२०॥

स्तैमित्यारति-संमोह-दाहोन्माद-समन्विताः ।

शुक्रजायां मसूर्यां तु लक्षणानि भवन्ति हि ॥ २१ ॥ निर्दिष्टं केवलं चिह्नं दृश्यते न तु जीवितम् ।

श्रर्थ—ग्रुक्तगत मसूरिका पकी सी ज्ञात होती है, चिकनी, श्रत्यन्त ब्रोटी २, श्रत्यधिक पीड़ायुक्त, गीलापन, वेचैनी, बदहोशी, दाह तथा उन्माद से युक्त होती है। शुक्रगत मसूरिका में यह लक्षण होते हैं। लक्षण तो लिख दिये गये हैं, किन्तु रोगी इससे बच नहीं, सकता।

दोषमिश्रास्त सप्तेता द्रष्ट्व्या दोषलक्षर्णैः ॥ २२ ॥

अर्थ—इन सातों प्रकार की मसूरिकाओं में पूर्वोक्त बातादि दोषों के लच्नणों पर भी ध्यान देना चाहिये।

सुखसाध्यमसूरिकाणां निर्देशः।

त्वग्गता रक्तजाश्चैव पित्तजाः श्लेष्मजास्तथा ।

श्लेष्म-पित्त-कृताश्चैव सुखसाध्या मसूरिकाः ॥ २३ ॥

श्चर्थ — वचागत, रक्तज, पित्तज, कफज तथा कफपित्तज (द्वन्द्वज) मस्रिकार्ये सुखसाध्य होती हैं।

श्रथासाध्यमसूरिकाणां लत्त्रणानि ।

वातजा वातिपत्तोत्थाः श्लेष्म-वात-कृताश्च याः।

कृच्छुसाध्यतमास्तस्माद्व यत्नादेता उपाचरेत् ॥ २४ ॥

मर्थ —वातज, वातिपत्तज एवं कफवातज जो मस्रिकार्ये होती हैं वे कष्टसाध्य होती हैं। श्रतः उनकी चिकित्सा यत्नपूर्वक करनी चाहिये।

त्रसाध्याः सन्निपातोत्थास्तासां वक्ष्यामि लक्षणम् ।
पवालसहत्राः काश्चित् काश्चिज्जम्बूफलोपमाः ॥ २५ ॥
लोहजालसमाः काश्चिद्तसीफलसंनिभाः ।
श्रासां बहुविधा वर्णा जायन्ते दोषमेदतः ॥ २६ ॥
श्रर्थ—सन्निपातज मसूरिकार्थे श्रसाध्य होती हैं तथा उनके लक्षण
इस प्रकार हैं—यथा कोई २ मुंगे की-सी, कोई २ जामुन के फल की-सी,

कोई २ लोहजाछ (फुन्सियों पर काली २ सिराएँ दिखाई पड़ने लगती हैं) से ढँकी-सी तथा कोई २ तीसी के फलों की सी ( मुर्खी लिये काली चिपटी एवं लम्बी ) होती हैं। दोषों की अधिकता के अनुसार इसके वर्ण नाना प्रकार के हो जाते हैं।

सर्वासां मसूरिकाणामावस्थिकलज्ञाणानि ।
कासो हिका प्रमेह्य ज्वरस्तीत्रः सुद्रारुणः ।
प्रलापथारितमू च्र्जा तृष्णा दाहोऽतिघूर्णता ॥ २७ ॥
सुलेन प्रस्रवेद रक्तं तथा घाणेन चन्नुषा ।
कण्ठे प्रयुर्का कृत्वा श्वसित्यत्यर्थवेदनम् ॥ २८ ॥
मस्रिकामिभूतस्य यस्यैतानि भिष्ण्वरैः ।
लक्षणानि च दृश्यन्ते न द्यादत्र भेषजम् ॥ २९ ॥

अर्थ—कास, हिच्की, प्रमेह (गाढ़ा श्रीर श्रीषक मृत्र होना), भीषण एवं श्रसछ ज्वर, प्रताप, वेचैनी, मृच्छी, प्यास, दाह, प्रना (जैसे कछ मनुष्य देखता है), मुख, नाक तथा श्रांख से रक्त जाना, कण्ठ में पुरघुर ध्वनि होना, श्रत्यन्त कष्ट के साथ श्वास श्राना, यह सब लच्च जिस मसूरिका में देखे जायँ उनको श्रीषध नहीं देना चाहिये, श्रर्थात् वह श्रसाध्य होती है।

मस्रिकायाः सामान्यासाध्यतज्ञाणानि ।

मस्रिकाभिभूतो यो भृशं घाणेन निःश्वसेत् ।

स भृशं त्यजति पाणान् तृपार्तो वायुद्भितः ॥ ३०॥

ऋर्थ —जो मस्रिकापीड़ित रोगी केवल नाक से साँस लेता हो,
प्यास से पीड़ित हो तथा उसका वायु वढ़ गया हो तो समक्ष लेना
चाहिये कि यह मर जायगा।

मसूरिकाया उपद्रवाः । मसूरिकान्ते शोथ: स्यात् कूर्यरे मिणवन्थके । तथांऽसफलके चापि दुश्चिकित्स्य: सुदारुण: ॥ ३१ ॥ अर्थ—मसूरिका के अनन्तर छुहनी, मिण्विन्ध (पहुंचा) तथा अंसफलक (कन्वे के पीछे) दुखदायी शोध हो जाता है, वह कष्टसा-ध्य होता है (श्रसाध्य नहीं)।

## श्चद्ररोगनिदानम् ।

श्रथाजगल्लिकारोगस्य लच्चणम् ।

स्निग्धाः सवर्णा प्रथिता नीरुना मुद्दगसन्निभाः ।

कफवातोत्थिता ज्ञेया वालानामजगिक्धका: ॥१॥ छ॰ नि॰ अ॰ १३ अर्थ--बालकों के शरीर पर चिकनी, शरीर के ही समान वर्ण

अथ--बालका के शरार पर चिकता, शरार के हा समान वंग वाली, प्रथित (कठोर), पीड़ा रहित तथा मूंग के समान (कुछ लम्बी), कफ और वायु के कारण उठी हुई फुन्सियाँ निकल आती हैं, इन्हें "अजगिल्लका" कहते हैं।

यवप्रख्याया लत्त्रणम्।

यवाकारा सुकठिना ग्रथिता मांससंश्रिता ।

पिडका कफवाताभ्यां यवप्ररूपेति सोच्यते ।।२।। सु॰ नि॰ अ॰ १३ अर्थ--जी के समान ( दोनों स्रोर नोकदार लम्बी ), कठोर, प्रथित (पुष्ट) तथा मांस में स्थाधित कफवातज फुन्सी "यवप्रख्या" कही जाती है।

श्चन्त्रालज्या लक्तराम् । घनामवक्त्रां पिडकामुन्नतां परिमण्डलाम ।

त्रन्त्रालजीपल्पपूर्यां तां विद्यात् कफवातजाम् ॥३॥सु॰ नि॰ अ॰ १३ ऋर्थ--पुष्ट, सुखरहित, ऊँची, चकलीदार, थोड़ी पूययुक्त तथा कफवातज फ़न्सी "खन्त्रालजी" कहलाती है ।

१ —यह शोथ कभी २ पक जाता है तो व्रणकी चिकित्सा से अच्छा हो जाता है।

२ — यह आकृतिगण है इसमें मृदु एवं दारुण सभी प्रकार के कितने ही रोगों का वर्णन संचेष से कर दिया गया है। इनका वर्णन छुद्र या संक्षिप्त या छोटा होने के कारण इन्हें "क्षद्र रोग" कहा गया है।

यह भी शीतला के समान मानी जाती हैं, इन्हें "लून्द हें" कहा जाता है।

विवृताया लत्त्रसम् । एकोटस्वरमंत्रियाम ।

विवृतास्यां महादाहां पकोदुम्बरसंनिभाम् । विवृतामिति तां विद्यात् पित्तोत्थां परिमण्डलाम् ॥ ४ ॥

सु० नि० ४० १३

श्चर्य—चक्तीदार, श्चरयधिक दाहयुक्त, पके गूलर के समान लाल, फूटने पर चौड़े घाववाली पित्तज फुन्सी को "विवृता" जानना चाहिये। कच्छपिकाया लच्चगुम्।

प्रथिताः पश्च वा षड् वा दारुणाः कच्छपोपमाः । कफानिलाभ्यां पिडका क्षेया कच्छपिका बुधैः ॥ ५ ॥

सु० मि० अ० १३

श्चर्य—पुष्ट, पाँच श्रथवा छः, भीषण तथा कछुवे की पीठ की-सी फुन्सियों को "कच्छपिका" जानना चाहिये। यह कफवातज होती है।

वल्मीकस्य लक्त्रणम् ।

ग्रीवांस-कक्षा-कर-पाद-देशे सन्यों गले वा त्रिभिरेव दोषेः। ग्रन्थः स वल्मीकवदकियाणां जातः क्रमेणेव गतः प्रदृद्धिम् ॥६॥ ग्रुत्वेरनेकैः स्नुति–तोदवद्भिर्विसर्पवत् सर्पति चोन्नताग्रैः। वल्मीकमाहुर्भिषजो विकारं निष्पत्यनीकं चिरजं विशेषात्॥ ७॥ स्व विश्व अरु १३

श्रुध—गरदन, कन्धों, हाथ, पाँव, सन्धियों श्रथवा गले में तीनों दोषों के कोप के कारण बाँवी (बिरयी) के समान कई शिखरोंवाली गाँठ उत्पन्न हो जाती है। यदि उचित चिकित्सा न की जाय तो यह धीरे २ बड़ी हो जातो है तथा श्रागे चलकर उन ऊँचे शिखरों में मुख हो जाते हैं। उनमें से पन्छा निकलता रहता है। सूई के चुमने की-सी पीड़ा होती हैं। धीरे २ विसर्प के समान इधर उधर फैलता जाता है। जब उचित चिकित्सा के श्रभाव से यह पुराना होजाता है तो "श्रसाध्य हो जाता हैं" ऐसा चिकित्सक मानते हैं। बाँबी के सदश होने के कारण इसका नाम "वल्मीक" है।

#### अथेन्द्रविद्धाया लक्षणम् ।

पद्मकर्णिकवन्मध्ये पिडकाभिः समाचिताम् ।

इन्द्रविद्धां तु तां विद्याद्व वातिपत्तोत्थितां भिषक् ॥ ८ ॥

सु॰ नि॰ अ॰ १३

ऋर्य — जो एक बड़ी फुन्सी कमल की किर्णिका के समान चारों ओर से छोटी २ फुन्सियों से घिरी हुई होती है, उसे "इन्द्रविद्धा" कहा जाता है। यह वातपित्तज होती है।

गर्दभिकाया लच्चणम् ।

मण्डलं रुत्तमुत्सन्नं सरक्तं पिडकाचितम् ।

रुजाकरीं गर्देभिकां तां विद्याद्व वातिपत्तजाम् ॥ ६ ॥

त्रर्थ-गोल, ऊँचा, कुछ लाल तथा छोटी २ फुन्सियों से घिरा हुत्रा एक मण्डल या चकत्ता हो जाता है, उसमें अत्यधिक वेदना होती है। इसे "गर्दभिका" कहते हैं। यह वातिपत्त से उत्पन्न होती है।

पाषाग्पगर्भस्य लच्चणम् ।

वात-श्लेष्म-समुद्गभूतः श्वयथुईनुसन्धिजः ।

स्थिरो मन्दरुजः स्निग्धो ज्ञेयः पाषारागर्दभः ॥१०॥

अर्थ—वातकफ के कारण हनुके ऊपर की संधि में (कान के नीचे) सूजन हो जाती है। यह कठोर, थोड़ी पीड़ा युक्त तथा चिकनी होती है। इसे "पाषासमर्वभा" कहा जाता है।

पनसिकाया लच्चणम् ।

कर्णस्याभ्यन्तरे जातां पिडकामुग्रवेदनाम् ।

स्थिरां पनसिकां तां तु विद्याद्व वातकफोत्थिताम् ॥ ११ ॥ ऋर्थ-कर्णगुद्दा के भीतर भीषण् पीड़ायुक्त तथा कठोर जो फुल्सी

निकल श्राती है, उसे "पनिसका" कहते हैं। यह कफवातज होती है।

१—यह प्रायः एक शिश्रोर होती है, कहीं २ इसे शीतला के समान पृज्यते हैं। इसे कपेण्ड कहा जाता है। जालगर्दभस्य लन्नग्रम् ।

विसर्पवत् सर्पति यः शोथस्तनुरपाकवान्।

दाह-ज्वर-करः पित्तात् स क्षेयो जालगर्दभः ॥ १२ ॥

श्चर्य-जो पतला तथा पाकरहित शोथ विसर्प के समान इधर उधर फैलता एवं दाह तथा ज्वर से युक्त होता है, उसे "जालगर्दभ" कहते हैं। यह पित्तज होता है।

श्रथेरिवेल्लिकाया लक्त्रणम्।

पिडकामुत्तमाङ्गस्थां वृत्तामुग्र-रुना-ज्वराम् ।

सर्वात्मिकां सर्वेलिङ्गां जानीयादिरिवेछिकाम् ॥ १३ ॥

श्रर्थ—शिर पर गोल, भयानक पीड़ा तथा ब्वर से युक्त, सन्निपातज अतएव सव लच्चणोंवाली पिछका "इरिवेल्लिका" कहलाती है।

कचाया लच्गानि।

बाहु-पार्श्वास-कत्तेषु कृष्णस्कोटां सवेदनाम् ।

पित्तमकोपसम्भूतां कञ्जामित्यभिनिर्दिश्चेत्।।१४।। छु॰ नि॰ अ॰ १३ अर्थ--बाहु, पसवाङे, कंघे तथा कज्ञा या काँख में काली, वेदनायुक्त फुन्सी निकल त्र्याती है, उसे "कज्ञा ।" कहा जाता है। यह पित्त की ऋधिकता से होती है।

गन्धमालाया लच्चणम् ।

एकामेतादशीं दृष्टा पिडकां स्कोटसंनिभाम् ।

त्वग्गतां पित्तकोपेन गन्थमालां प्रचक्षते ।।१५।। सु॰ वि॰ अ॰ १३ ऋर्थ--यिद इस प्रकार की एक ही फुड़िया दिखाई देवे ऋौर वह केवल फफोले के समान त्वचा में ही हो, तो उसे "रगन्थमाला" कहते हैं।

9—यह प्रायः कमराः सात फुबिया निकल कर शान्त होती है, इसे "कन्छ-राली" कहते हैं ।

२—इसे "बगलबन्ध" कहते हैं । सुश्रुत के मूल पाठ में "गन्धमाला" के स्थान में "गन्धनामा" पाठ है । यह भी ऋगुद्ध है "गन्धनाम्नी" पाठ होना चाहिये । श्रथाप्तिरोहियीरोगस्य लच्च्यम्।
कक्षाभागेषु ये स्फोटा जायन्ते मांसदार्याः।
अन्तर्दाह-ज्वर-करा दीप्तपावकसन्त्रिभाः॥ १६॥
सप्ताहाद्व वा दशाहाद्व वा पक्षाद्वा प्रन्ति मानवम्।

तामिप्ररोहिणीं विद्यादसाध्यां सर्वदोषजाम्।।१७।। सु॰ नि॰ नि॰ नि॰ नि

ऋर्थ—काँख में जो फोड़े उत्पन्न हो जाते हैं, वे पक जाने पर मांस को फाड़ कर चौड़ा घाव कर देते हैं। भीतरी अवयवों (हृदय, आमा-शय आदि) में दाह तथा शरीर में उवर कर देते हैं। जलती आग के समान अर्थात लाल होते हैं उचित चिकित्सा न होने से सात, दस अथवा पन्द्रह दिन में रोगी को मार डालते हैं। इसे "अप्रिरोहिशी।" कहा जाता है। यह सिन्निपातज तथा असाध्य होती है।

चिष्पाख्यश्चद्ररोगस्य लच्चणम् । नखमांसमिष्ठष्टाय वायुः पित्तं च देहिनाम् । कुर्वाते दाहपाको च तं व्याधि चिष्पमादिशेत् ॥ १८ ॥

तदेवाल्पतरेंदों पें: पुरुषं कुनखं वदेत् ॥ १९ ॥ सु॰ नि॰ अ॰ १३ अर्थ—नख के नीचे मूल के मांस में स्थित होकर वात पित्त, नख में वेदना दाह एवं पाक कर देते हैं । इस रोग को चिप्प कहा जाता है । इसी प्रकार यदि दोषों के विकार से नारुन खरदरा हो जाता है तो उसे कुनख कहा जाता है ।

त्र्यशानुशयीरोगस्य लत्त्रराम् । गम्भीरामल्पसंरम्भां सवर्षामुपरिस्थिताम् । पादस्यानुशर्यां तां तु विद्यादन्त:मपाकिनीम् ॥२०॥धु०नि०अ०१३

९—इसे बहुतसे चिकित्सक "प्लेग" सिद्ध करने का यत्न करते हैं।

२—कुनख का मृल लक्ष्ण सुश्रुत नि॰ त्र॰ १३ में इस प्रकार है:— अभिघातात प्रदुष्टी यो नखो रूओऽसितः खरः । भवेत्तं कुनस्रं विद्यात् कुलीनमिति संज्ञितम् ।।

डार्थ-पैर के ऊपरी भाग में गहरी, थोड़े सूजनवाली, त्वचा के समान वर्ण से युक्त तथा भीतर से पकनेवाली जो फुड़िया हो जाती है, उसे ''अनुशयी" कहते हैं।

विदारीरोगस्य लच्चणम् ।

विदारीकन्दवदृष्टत्ता कक्षावङ्क्षणसन्धिषु ।

शर्कराख्यक्षुद्ररोगस्य लच्चणम् ।

प्राप्य मांस-सिरा-स्नायृः श्लेष्मा मेदस्तथाऽनिलः । ग्रन्थि करोत्यसौ भिन्नो मधु-सर्पिर्वसा-निभम् ॥ २२ ॥ स्रवत्यास्नावमनिलस्तत्र दृद्धि गतः पुनः । मांसं संशोष्य ग्रथितां शर्करां जनयेत् ततः ॥ २३ ॥ दुर्गन्धि क्रिश्नमत्यर्थं नानावर्णं ततः सिराः ।

स्रवन्ति रक्तं सहसा तं विद्यात् शर्करार्बुदम् ॥२४॥ छ० नि०४० १३

श्रर्थ—कफ तथा वायु मांस, सिरा, स्नायु तथा मेदा को दूषित कर गाँठ उत्पन्न कर देते हैं जब वह गाँठ फटती है तो उसमें से शहद, घी तथा वसा का-सा स्नाव निकलने लगता है। इसके श्रनन्तर वायु श्रीर भी बढ़कर मांस को सुखाकर गाँठ बना देता है। तत्पश्चात् उसी गाँठ को "शर्करा" कर देता है। इसके बाद सिराश्रों में से दुर्गन्धयुक्त, श्रव्यन्त सड़ा हुआ, श्रनेक वर्ण का रक्त एकाएक निकलने लगता है। इसे "शर्करार्बृद" कहते हैं।

पाददार्या तत्त्वणम् । परिक्रमणशीतस्य वायुरत्यर्थरूक्षयोः ।

१—इसको भी कुछ वैद्य 'प्लेग' मानते हैं।

पादयो: कुरुते दारीं पाददारीं तमादिशेत्।।२५॥ खु० वि० वि० वि० वि अर्थ — अधिक (प्रायः नंगे पैरों) घूमनेवाले पुरुष के अत्यन्त रूच पैरों में वायु कुपित होकर उनमें (निचले भाग में) दारी या दारियाँ कर देता है। उसे "पाददारी" या विवाई कहते हैं।

कदरस्य लच्चग्रम्।

शर्करोन्मथिते पादे क्षते वा कण्टकादिभिः।

ग्रन्थिः कोलवदुत्सन्नो जायते कदरं हि तत् ॥२६॥ सु॰ नि॰ अ॰ ११ श्रर्थ—कह्नड श्रादि चुभ जाने से श्रथवा कांटा श्रादि लगने से पैर में जो वेर की सी कड़ी तथा थोड़ी ऊँची गाँठ हो जाती है, उसे "कदर" कहते हैं।

श्रथालसकस्य लत्त्रणम् ।

'क्रिञ्राङ्गुस्यन्तरौ पादौ कण्डू-दाह-रुजान्वितौ ।

श्रथेन्द्रज्ञप्तस्य लज्ञ्यम् । रोमकूपातुगं पित्तं वातेन सह मूर्च्छितम् । प्रच्यावयति रोमाणि ततः श्लेष्मा सन्नोणितः ॥२८॥ रुणिद्ध रोमकूपांस्तु ततोऽन्येषामसंभवः ।

१---प्रायः शीतकाल में यह श्रधिक होती है।

२ — कड़ा जूता पहनने से भी यह रोग हो जाता है। इसे "ब्रहन" कहते हैं। इसके कड़े भाग को कुछ दिन बाद कटवाते जाते हैं श्रीर पुनः होता जाता है। कभी कभी श्रष्टछा हो जाता है।

३—उक्त कारण से यह द्वाय की अंगुलियों में भी हो जाता है। लोग इसे "खिरदी" कहते हैं।

तिदन्द्रलुप्तं खालित्यं रहोति च विभाव्यते ।।२९।। छ॰ नि॰ अ॰ १३ अर्थ—रोमों की जड़ में वायु से मिला पित्त रोमों या बालों को गिरा देता है। तदनन्तर रक्तयुक्त कफ रोमकूपों को रोक देता है। ऋतः दूसरे रोम या बाल उत्पन्न नहीं हो सकते। इसे "इन्द्रलुप्त" "खालित्य" तथा "रह्या रेक्टते हैं।

दारुणकस्य लच्चणम्।

दारुणा क॰डुरा रूक्षा केशभूमिः प्रपाटचते ।

कफ-मास्त-कोपेन विद्यादारुएकं तु तम् ।।३०।। खु॰ नि॰ अ॰ १३ अर्थ—कफ वायु के कोप से केशों की भूमि (शिर) कड़ी, खुजली युक्त, रुखी तथा कुछ फटी सी हो जाती है। इसे "दारुणक" या रूसी या कर कहते हैं।

ऋथा रूंषिकाया लच्चणानि ।

ब्रहंषि बहुवक्त्राणि बहुक्केदीनि मूर्धिन तु।

कफासक्किमिकोपेन नृग्णां विद्याद्रुंपिकाम्।।३१॥ छु॰ नि॰ अ॰ १३ ऋर्थ—कफ, रक्त तथा क्रिमियों के विकार से शिर में बहुत से मुखोंवाली तथा सड़नयुक्त बहुत सी फुन्सियाँ (पीली २) निकल ऋाती हैं। इसे "ऋरुंपिका" कहते हैं।

पलितस्य लच्चग्यम्।

क्रोध-शोक-श्रमकृतः शरीरोष्मा शिरोगतः।

पित्तं च केशान् पचित पिल्तं तेन जायते ॥३२॥ सु॰ नि॰ अ० १३ धर्थ—कोध, शोक तथा श्रधिक परिश्रम के कारण शरीर की बाष्प तथा पित्त शिर में जाकर केशों को ( दाढ़ी मोंछ को भी ) खेत कर देतें हैं । इसे "पिलत'" कहते हैं ।

९—ये तीनों नाम भिन्न-भिन्न स्थान के रोम या बाल गिरने के लिये प्रयुक्त होते हैं। यथा:—दाड़ी मोंछ में इन्द्रलुप्त, शिर में खालित्य तथा शरीर में कहाा। २—यह प्रायः गन्दे रहने बालों को होती है। इसमें दुर्गन्ध श्राने लगती है। ३—यह बुदापे में होता ही है, इसके पहिले भी हो जाता है।

#### युद्धनिषडकाया लत्तरणम् । शाल्मलीकण्टकप्ररूयाः कफ-मारुत-रक्तजाः ।

युवानिपडिका यूनां विज्ञेया मुखदूषिका ।।३३।। धु॰ कि॰ क॰ १३ व्याय कि कि का से युवावस्था में स्त्रीपुरुषों के मुख पर सेमल के काँटों की सी फुन्सियाँ निकल खाती हैं। इन्हें "युवानिपडिका" कहते हैं। यह मुख की त्वचा को दूषित या असुन्दर कर देती हैं।

पद्मिनीकण्टकस्य लद्माग्म्।

कण्टकैराचितं दृत्तं मण्डलं पाण्डु कण्डुरम् ।

पद्मिनीकण्टकप्रख्येस्तद्।ख्यं कफवातजम् ॥३४॥ छु॰ नि॰ अ॰ १६ अर्थ-जो पद्मिनी के काँटों के-से श्रंकुरों से ब्याप्त खेत तथा गोल चकत्ता हो जाता है उसमें खुजली भी होती है। उसे "पद्मिनी-कण्टक" कहते हैं। यह कफवातज होता है।

जतुमणेर्लच्चणम् ।

समग्रत्सन्नमरुजं मण्डलं कफर्क्तजम् ।

सहजं लक्ष्म चैकेषां लक्ष्यो जतुर्माणस्तु सः ॥३५॥ छ॰ नि॰ अ॰ १३

श्रर्थ—कफ तथा रक्त के कारण सम (त्वचा के बराबर) श्रथवा ऊँचा श्रीर पीड़ा रहित जो मण्डल हो जाता है श्रथवा बहुतों को सहज भी लच्चण होता है। उसे "\*जनुमणि" या "लशुन" श्रथवा "लच्चण" कहते हैं।

मषकस्य लत्त्रणम्। अवेदनं स्थिरं चैव यस्मिन् गात्रे प्रदृश्यते।

मापवत् कृष्णमुत्सन्नमनिलान्मपकं तु तत् ॥ ३६ ॥ यु॰ नि॰ अ॰ १२

१—यह फुन्सियाँ कीलंदार होती हैं। दबाने से खेत कील निकलती है। प्रायः यह उन्हीं को निकलती हैं को तगड़े और तन्दुरुस्त होते हैं।

२ — लाल और काला दाग होता है। इससे लोग शुभाशुभ का भी अनुमान करते हैं।

२१ मा०

श्चर्य-शारीर पर कहीं भी वेदनारिहत, सर्वदा रहनेवाला, उर्द का-सा काला तथा ऊँचा जो मस्सा होता है, उसे "मधक" कहते हैं। यह वायु से होता है।

तिलकालकस्य लत्त्रणम् । कृष्णानि तिलमात्राणि नोरुजानि समानि च । वात-पित्त-कफोच्छोपात्तान् विद्यात्तिलकालकान् ॥३७॥ छ॰ कि॰ क॰ १३

द्यर्थ — बात, पित्त तथा कफ के सूखने से शरीर पर कहीं भी काले २ ( लाल भी ) तिल के से, पीड़ारहित तथा त्वचा के बराबर ( ऊँचे नहीं ) जो दाग होते हैं उन्हें "तिलकालक" या "तिल" कहते हैं।

न्यच्छस्य लच्चाम्।

महद्ग वा यदि वा चाल्पं श्यावं वा यदि वाऽसितम् । नीहजं मण्डलं गात्रे न्यच्छमित्यभिधीयते ॥३८॥ सु॰ वि॰ व॰ १६

अर्थ-मड़ा अय । छोटा काला अथवा खेत तथा पीड़ा रहित शरीर पर जो दाग हो जाता है, उसे "न्यच्छ" या माई कहते हैं।

न्यङ्गस्य रुक्तणम् । क्रोधायासमकुपितो वायुः पित्तेन संयुतः । युखमागत्य सद्दसा मण्डलं विस्जत्यतः ॥ ३९ ॥ नीवर्ज तनुकं श्यावं युखे व्यङ्गं तमादिशेत् । कृष्णमेवगुणं गात्रे युखे वा नीलिकां विदुः ॥४०॥ छ० वि० ७० १३

अर्थ — क्रोध तथा परिश्रम से कुषित वायु पित के साथ मिल कर मुख पर आकर एकाएक दागं कर देता है। यह पीड़ारहित, पतला तथा कुछ काला होता है। इसे "मुखब्यंग" कहते हैं। इसी प्रकार यदि अधिक काला दाग शरीर अथवा मुख पर हो जाता है तो उसे "नीलिका" कहते हैं।

परिवर्तिकाया लच्चणम्। मर्दनात् पीडनाद्दाऽपि तथैवाप्यभिघाततः। मेढ्रचर्म यदा वायुर्भजते सर्वतश्वरत् ॥ ४१ ॥ तदा वातोपस्रष्टत्वात् तचर्म परिवर्तते । मर्गेरघस्तात् कोशश्व ग्रन्थिरूपेण लम्बते ॥ ४२ ॥ सरुजां वातसंभूतां तां विद्यात् परिवर्तिकाम् । सकण्ड्ःकठिना वापि सैव श्लेष्मसम्रुत्थिता॥४३॥सु• ७० ७० १३

अर्थ—मर्दन (तैलादि लगाते समय) से, पीड़न (हस्त मैथुन द्वारा) से तथा श्रमिघात था चोट (लड़ाई मगड़े में) लगने से जब सब श्रोर घूमने वाला (ठ्यान) वायु लिंग की त्वचा में क्रुपित हो जाता है तो वायु के विकार से वह त्वचा मिणु के नीचे गाँठ के समान फूल कर लटकने लगती है। इसे "परिवर्त्तिका" कहते हैं। वायु की प्रवलता के कारण इसमें पीड़ा होती है। यदि कफ की प्रवलता हो तो यह करह्युक एवं कठोर होती है।

अथावपाटिकाया लच्चणम् ।

श्रव्पीयः स्वां यदा हर्षाद्व बलाद्व गच्छेत् स्त्रियं नरः ।

हस्ताभिघातादपि वा चर्मण्युद्वर्तिते बलात् ॥ ४४ ॥

यस्पावपाटचते चर्म तां विद्यादवपाटिकाम् । सु॰ वि॰ अ॰ १३

अर्थ—अत्यन्त छोटे योनिञ्जिद्ववाली स्त्री (कन्या अथवा संकुचित
योनिवाली स्त्री ) के साथ जो मनुष्य कामान्य होकर बलात्कार करता
है अथवा हस्ताभिघात से जिसके लिंग की त्वचा बलपूर्वक पीछे खिचा

जाती है उसकी त्वचा फट जाती है, इसे "अवपाटिका" कहते हैं।

निरुद्धप्रकशस्य लत्त्रयम् । वातोपसृष्टे मेद्रे वै चर्म संश्रयते मिणम् ॥ ४५ ॥ मिणश्रमीपनद्धस्तु मृत्रस्रोतो रुणद्धि च । निरुद्धप्रकशे तस्मिन् मन्द्रभारमवेदनम् ॥ ४६ ॥ मृत्रं प्रवर्तते जन्तोर्मणिर्विव्रियते न च । निरुद्धमकशं विद्यात् सरुनं वातसम्भवम् ॥४७॥ छु॰ कि॰ क॰ १३
श्रर्थ—जब वायु लिंग की त्वचा में विकृति उत्पन्न कर देता है तो
त्वचा मिंग पर सट जाती है अर्थात पीछे नहीं हटती। इस त्वचा से
मिंग कस जाने के कारण मूत्रमार्ग संकुचित हो जाता है। मार्ग संकुचित
होने के कारण कुछ पीड़ा के साथ बूँद २ या पतली धार से मूत्र उतरता
है और मिंग पर से त्वचा नहीं उतरती। कुछ २ पीड़ा होती रहती है ।
यह वातज "निरुद्धप्रकरा" नामक रोग है।

सनिरुद्धगुदस्य लज्ञ्याम् । वेगसन्थारणाद्वायुर्विदतो गुदसंश्रितः । निरुणद्धि महास्रोतः सुक्ष्मद्वारं करोति च ॥ ४८ ॥ मार्गस्य सौक्ष्म्यात् कृष्क्वेण पुरीषं तस्य गच्छति ।

सिन्नरुद्भुदं व्याधिमेतं विद्यात् सुदारुएम् ॥४९॥सु॰ नि॰ अ० १६ अर्थ—पुरीष का वेग रोकते से कुपित अपान वायु महास्रोत अर्थात् मलमार्ग को संकुचित कर उसका डार छोटा कर देता है तथा मार्ग संकुचित होने के कारए। रोगी का पुरीष बड़ी कठिनता से निकलता है। इस भीषण व्याधि को "सिन्निरुद्धगुद" कहते हैं।

अथाहिपूतनस्य लच्चणम् ।

शकुद्र-मूत्र-समायुक्तेऽधौतेऽपाने शिशोर्भवेत ।

स्वित्रे वाऽस्नाप्यमाने वा कण्डू रत्तकफोद्भवा ॥ ५० ॥

कण्ड्यनात् ततः क्षिपं स्फोटः स्नावश्र जायते ।

एकी भूतं त्रार्री घों रंतं विद्याद हिपूतनम् ॥५१॥सु॰ नि॰ अ॰ १६ श्रर्थ— 'बच्चे के चूतड़ न धोने के कारण उन पर मूत्र तथा पुरीष लगा रहने से श्रथवा पसीना श्राने पर भी न नहलाने से रक्त एवं कफ के विकार से खुजली हो जाती हैं। खुजाने से शीघ्र ही फुन्सियाँ निकल श्राती हैं। उनमें से पन्छा जाने लगता है। श्रागे चल कर सब फुन्सियों

<sup>9---</sup>माता-पिता की असावधानी से अबोध बच्चे को कष्ट भोगना पहता है।

का एक ही घाव हो जाता है। यह बड़ा ही बुरा "श्रहिपूतन" नामक रोग है।

वृषयाकच्छ्वा तत्त्वयाम् । स्नानोत्सादनहोनस्य मलो वृषयासंस्थितः । यदा प्रक्रियते स्वेदात् कण्डूं जनयते तदा ॥ ५२ ॥ कण्ड्यनात्ततः क्षिप्रं स्कोटः स्नावश्च जायते ।

पाहुर्द्रपणकच्छ् तां श्लेष्म-रक्त-प्रकोपजाम् ॥ ५३ ॥ ध॰ नि॰ अ॰ १३

श्रर्थ—स्तान उबटन (बटना) श्रादि का सेवन न करने वाले मतुष्य के श्ररडकोशों पर मैल इकट्टा हो जाता है। जब पसीना श्राने से वह गीला होता है तब खुजली कर देता है। खुजाने से शीघ ही फुन्सियाँ निकल श्राती हैं। उनमें से पन्छा जाने लगता है। कफ रक्त के कोप से होनेवाले इस रोग को "वृषणुकच्छू!" कहते हैं।

गुद्भंशस्य लच्चणम् ।

प्रवाहणातीसाराभ्यां निर्गच्छति गुदं बहिः ।

रूक्ष-दुर्बल-देहस्य-गुदभंशं तमादिशेत् ॥ ५४ ॥ इ० नि० ४० १३

अर्थ — रूस एवं दुर्बल रोगी की गुद (गुद की बिलयाँ) अधिक काँसने अथवा अतिसार से (प्रायः मलोत्सर्ग के समय) बाहर निकल आती हैं। इसे "गुदभंश" या "काँच निकलना" कहते हैं।

शुकरदंष्ट्रकस्य लह्मग्रम्।

सदाहो रक्तपर्यन्तस्त्वक्पाकी तोव्रवेदनः।

कण्डूमान् ज्वरकारी च स स्यात् शूकरदं ज्र्कः ॥५५॥ छ॰ नि॰ अ॰ १३

श्चर्य —दाहयुक्त, सब श्चोर से लाल, भीषण पीड़ावाला, कर्य्ह्युक्त, ज्वर करने वालातथा त्वचा को पकानेवाला "शुक्रदंष्ट्रक' रोग होता है।

९ यह रोग प्रायः वर्षाऋतु में होता है। लोग इसे दह समक्रा कर दवा लगाते लगाते परेशान हो जाते हैं, किन्तु यह जाता है सफाई से ही ।

### मुखरोगनिदानम्'।

मुखरोगस्य हेतवः।

श्रानुप-पिश्वित-क्षीर-द्धि-मत्स्याऽतिसेवनात् ।

मुखमध्ये गदान् कुर्युः कुद्धा दोषाः कफोत्तराः ॥१॥

श्चर्य-श्चान्पमांस (वराह श्चादि का मांस), दुग्ध, दही एवं मझली के श्चतिसेवन से कफप्रधान दोष मुखगह्वर में रोगों को उत्पन्न कर देते हैं। यहाँ मुखरोगों का निदान श्चीर सम्प्राप्ति कह दी गयी है।

वातजौष्ठरोगस्य लद्गग्रम् ।

कर्कशी परुषी स्तब्धी सम्माप्तानिलवेदनी ।

दाल्येते परिपाटचेते त्रोष्ठौ मारुतकोपतः ॥ २ ॥

चार्य-वायु के कोप से ओष्ठ खरदरे, कड़े एवं वायु की वेदना से युक्त हो जाते हैं तथा श्रुत्यन्त फट जाते हैं या कुछ फट जाते हैं।

पैत्तिकौष्ठरोगस्य लच्चग्रम् ।

चीयते पिडकाभिश्व सरुजाभिः समन्ततः ।

सदाह-पाक-पिडको पीताभासौ च पित्ततः ॥ ३ ॥

अर्थ-पित्त के कोप से ओष्ठ पीड़ायुक्त फुन्सियों से चारों ओर से ज्याप हो जाते हैं और उनमें दाह एवं पाक होने लगता है तथा ओष्ट्रों का वर्ण पीला-सा हो जाता है।

कफजौष्ठरोगस्य लच्चाम्।

सवर्णाभिश्र चीयेते पिडकाभिरवेदनौ।

भवतस्तु कफादोष्टी पिच्छिली शीतली गुरू ॥४॥ सु॰ नि॰ अ॰ १६

चर्थ-कफ के कीप से चोष्ठ चोष्ठों के ही समान वर्णवाली पिडकाओं से ज्याप्त हो जाते हैं चौर उनमें थोड़ी पीड़ा भी होती है तथा चोष्ठ चिपचिपे ठएडे एवं भारी हो जाते हैं

१ यहाँ से "शलाकातन्त्र" का प्रारम्भ होता है । यहां मुख शब्द का ऋभिप्राय मुखगढर से है । मुखमण्डल या चेहरे से नहीं ।

त्रिदोषजौष्ठरोगस्य लज्ज्यम् ।

सकुत्कृष्णो सकृत्पीतो सकृष्डवेतौ तथैव च ।

सिश्रपातेन विज्ञज्ञेयावनेकपिडकाचितौ ॥ ५ ॥ मु॰ नि॰ न॰ १६ श्रर्थ-सन्निपात के कोप से छोष्ठ कभी काले, कभी पीले श्रीर कभी रवेत हो जाया करते हैं (यह सब कालसम्प्राप्ति के अनुसार ही दोष कोप के कारण होता है ) श्रीर श्रीष्ठों पर वातादि दोषों के अनुरूप वर्णों तथा वेदनाओं से युक्त फुन्सियाँ भी निकल आती हैं।

रक्तजीष्टरोगस्य लच्चणम् ।

खर्जुरफलवर्णाभिः पिडकाभिर्निपीडितौ।

रक्तोपसृष्टौ रुधिरं स्रवतः शोणितप्रभौ ।।६।। स्र॰ नि॰ न॰ १६

अर्थ-रक्त के विकार से छोष्ठ खजूर के फल के समान (रक्त) वर्णवाली फुन्सियों से पीड़ित होते हैं। कभी २ श्रोष्ठों से रक्त भी निकलता है, अथवा उनका वर्ण लाल हो जाता है।

मांसजीष्ठरोगस्य लच्चणम् ।

गुरू स्थूलो मांसदुष्टी मांसपिण्डवदुद्वगती ।

जन्तवश्रात्र मूर्च्छन्ति नरस्योभयतो मुखात् ॥७॥सु॰ नि॰ न॰ १६

त्रर्थ-मांस<sup>े</sup>के विकार से ब्रोष्ठ भारी, मोटे तथा मांस के लोथड़े के समान उफने ( कुरूप ) से हो जाते हैं श्रौर मुख के इधर-उधर सक्कणियों में भी कृमि पड़ जाते हैं। "उभयतोमुखाः" इस पाठान्तर के अनुसार ये किमि दुमुँहे होते हैं। अस्तु, इछ भी हो, किन्तु देखा गया है कि ये किमि श्वेत वर्ण के तथा बिना पैर के एवं जी बराबर लम्बे होते हैं।

मेदोजौष्ठरोगस्य लन्नगम्। सर्पिर्मण्ड-प्रतीकाशो मेदसा कण्डुरी गुरू। अच्छं स्फटिकसंकाशमास्रावं सवतो भृशम्।। ८ ।। तयोर्क्रणो न संरोहेत् मृदुत्वं च न गच्छति । सु॰ नि॰ थ० १६ अर्थ-मेदा के विकार से ओष्ट घतमण्ड के सदश वर्णवाले. खुजली से युक्त एवं भारी हो जाते हैं। स्फटिक (बिल्लीर) के समान श्वेत वर्ण का स्नाव (पञ्छा, मवाद) निरन्तर निकलता रहता है । इनका त्ररा ( घाव ) न तो भरता ही है श्रीर न कोमल होता है।

नोट-यह निचला श्लोकार्द्ध कुञ्ज असंगत श्रीर प्रचित्र ज्ञात होता है। क्योंकि यह पाठ वर्त्तमान सुश्रत में विद्यमान नहीं है श्रीर इसे असाध्य रोगों की श्रेगी में भी नहीं गिना है।

श्रथाभिघातजौष्टरोगस्य लत्तराम् । क्षतजाभौ विदीर्येते पाटचेते चाभिघाततः ॥ ६ ॥ ग्रथितौ च तथा स्यातामोष्ठौ कण्डूसमन्वितौ । सु॰ नि॰ न॰ १६ अर्थ-किसी प्रकार की चोट लगने से श्रोष्ठ लाल, श्रधिक श्रथवा कुछ फट जाते हैं। उनमें गाँठ एड़ जाती है श्रथना खुजली होने लगती है। नोट-ये पाँचों लच्चरा भिन्न २ प्रकार के आघातों से होते हैं। सर्वत्र एक साथ नहीं होते। कएड केवल किसी कएड-जनक द्वय के स्पर्श से होती है।

शीतादस्य छत्तरणानि । शोणितं दन्तवेष्टेभ्यो यस्याकस्मात् प्रवर्तते । दुर्गन्धीनि सकृष्णानि प्रक्रेदीनि मृद्नि च ॥ १० ॥ दन्तमांसानि शीर्यन्ते पचन्ति च परस्परम् । शीतादो नाम स व्याधिः कफ्त-शोणित-सम्भवः ॥११॥ सु० नि० अ० १६

दन्तमृल या दन्तवेष्ट या मसुड़ों के रोग । श्रर्थ-जिस रोग में मसड़ों में से किसी प्रकार के श्राघात के बिना ही रक्त निकला करता है। कुछ समय बीतने पर मसूड़े क्रमशः दुर्गन्धि-यक, काले, गीले-से तथा कामल हो जाते हैं। तत्पश्चात् वे नष्ट होने तथा परस्पर पकने लगते हैं, उस रोग को "शोताद" नाम से पुकारा जाता है। यह कक तथा रक्त के विकार से उत्पन्न होता है।

नोट-इससे दाँतों की जड़ें दिखाई पड़ने लगती हैं।

दन्तपुप्पुटकस्य लच्चणम् ।

दन्तयोख्रिषु वा यस्य श्वयथुर्जायते महान् ।

दन्तवेष्टस्य लच्चणम् ।

स्रवन्ति पूयरुधिरं चला दन्ता भवन्ति च ।

दन्तवेष्ट: स विक्केयो दुष्टशोणितसम्भवः ॥१३॥ सु॰ वि॰ अ॰ १३ अर्थ—जिस रोग में मस्डों में से मवाद अथवा रक्त निकला करता है और दाँत हिलने लगते हैं। वह रक्तविकार से उत्पन्न होने वाला "दन्तवेष्ट" नामक रोग होता है।

शौषिरस्य लच्चणम्।

श्र्यथुर्दन्तमृलेषु रुजावान् कफरक्तजः।

महाशौषिरस्य लच्चाम् ।

दन्ताश्रलन्ति वेष्टेभ्यस्तालु चाप्यवदीर्यते।

यस्मिन् स सर्वजो व्याधिर्महाशौषिरसंज्ञितः । १९।। प्र• नि॰ व॰ १६

श्रथं—जिस रोग में मसूड़ों से दाँत हिल जाते हैं तथा तालु फट जाता है, वह सिश्चपात से जत्पन्न होने वाला "महाशौषिरग" नामक रोग होता है।

परिदरस्य लक्षणम् । दन्तमांसानि शीर्यन्ते यस्मिन् ष्ठीवति चाप्यसक् । पित्तासक्षफजो व्याधिर्श्वेयः परिदरो हि सः ॥ १६ ॥ सु० वि० व०१३ अर्थ—जिस रोग में मसूड़े नष्ट हो जाते हैं और रक्त निकला करता है, वह पित्त रक्त तथा कफ के विकार से "परिदर" नामक रोग माना जाता है।

श्रथोपकुशस्य लत्तराम् ।

वेष्टेषु दाहः पाकश्वताभ्यां दन्ताश्रलन्ति च।

( अविद्विताः प्रस्नवन्ति शोणितं मन्दवेदनाः । )

( अध्यायन्ते सुते रक्ते मुखं पूति च जायते ॥ )

यस्मिन् सोपकुशो नाम पित्तरक्तकृतो गदः ॥ १७ ॥

श्चर्य—जिस रोग में मसुड़ों में दाह श्चौर पाक होता है श्चौर उन्हीं के कारण दाँत हिलने लगते हैं, वह पित्तरक्त की विकृति से "उपकुश" नामक रोग कहा जाता है।

वैदर्भस्य लच्चण्म्।

घृष्टेषु दन्तमांसेषु सरम्भो जायते महान्।

चला भवन्ति दन्ताश्च स वैदर्भोऽभिघातजः ॥१८॥ सु॰ नि॰ ४० १६

अर्थ — किसी प्रकार मस्डों पर आधात लगने से उसमें सुजन अथवा दाह एवं पाक हो जाता है तत्पश्चात दाँत हिल जाते हैं, वह अभि-धात से "वैदर्भ" नामक रोग होता है।

खलिवर्द्धनस्य लच्चग्रम् ।

मारुतेनाधिको दन्तो जायते तोत्रवेदनः।

स्वितवर्धनसंज्ञोऽसौ जाते रुक च प्रशाम्यति ॥१९॥ सु॰ वि॰ व॰ १६

श्रर्थ—वायु के कोप से मसूड़ों में दन्तपंक्ति के श्रतिरिक्त जब कभी अधिक दाँत निकलने लगता है तो बड़ी पीड़ा होती है, जब वह पूर्णतया निकल श्राता है तो पीड़ा शान्त हो जाती है इसे "खलिबर्द्धन" कहा जाता है। यह "हुड" नाम से प्रसिद्ध है।

करालस्य लच्चणम्।

शनैः शनैः प्रकुरुते वायुर्दन्तसमाश्रितः ।

करालान् विकटान् दन्तान् करालो न स सिध्यति ॥२०॥ खु॰ नि॰ भ० १६ अर्थ — दन्तवेष्ट वायु दाँतों को धीरे २ श्रागे पीछे तथा असुन्दर कर डालता है, यह "कराल" नामक रोग श्रसाध्य होता है।

श्रिधमांसस्य लच्चणम्।

हानव्ये पश्चिमे दन्ते महान् शोथो महारुजः।

लालास्रावी कफ़क़तो विद्वेयः सोऽधिमांसकः ॥ सु॰नि॰ अ॰१६

अर्थ—हनु की अन्तिम दाढ़ के मस्हें में अत्यन्त पीड़ायुक्त बड़ी-सी सूजन हो जाती है और लार जाने लगती है। इसे कफ की विकृति से होनेवाला "अधिमांसक" रोग जानना चाहिये।

दन्तनाडीनां लच्चगानि ।

दन्तमृत्तगता नाड्य: पश्च क्षेया यथेरिता: ॥२१॥ सु॰ नि॰ म॰ १३ ऋर्थ—मसूड़ों के भीतर पाँच प्रकार के नाडीव्रण (नासूर) हो जाते हैं इनका विवरण "नाडीव्रणनिदान" में देखना चाहिये।

दालनाख्यदन्तरोगस्य लज्जणम् ।

दीर्यमारोष्विव रुजा यस्य दन्तेषु जायते ।

दालनो नाम स व्याधिः सदागतिनिमित्तजः ॥२२॥ धु॰ नि॰ व॰१३

दाँतों के आठ रोग।

अर्थ-जिस रोग में दाँतों के फटने की-सी पीड़ा होती है, वह वायु के कोप से "दालन" नामक रोग होता है।

नोट-"दाँत दुखना" या "दाँत का दर्" इसी को कहा जाता है।

कृमिदन्तकस्य लच्चणम्।

कृष्णशिखद्रश्रलः स्नावी ससंरम्भो महारुजः।

अनिमित्तरुजो वाताद्व विज्ञेयः क्रिमिद् न्तकः ॥२३॥ सु॰ वि॰ वि॰ १६ अर्थ—जिस रोग में दाँत में काला छिद्र (गड्डा) हो जाता है और वह दाँत हिलने लगता है, लार जाया करता है, शोध (मस्ड़ों में) हो जाता है, किसी प्रकार के अपध्यादि के बिना ही भयानक

पीड़ा ( बीच २ में नहीं भी होती ) होती है, वह वायु से ( सत्य तो यह है कि किमि ही इस रोग के हेतु होते हैं ) "क्रिमिदन्तक" नामक रोग होता है।

नोट—यह प्रायः दाढ़ों या जाढ़ों अर्थात् पिछले दुहरे दाँतों में ही होता है और जब तक किमि नहीं निकल जाते तब तक कष्ट देता रहता है। पञ्जाब में बंगाला नामक खानाबदोश जाति के लोग मन्त्र द्वारा इन किमियों को प्रत्यन्त निकाल देते हैं। इस कार्य में उन्हें पूर्ण सफलता मिलती है।

भञ्जनकस्य लद्गाग्म् ।

वक्त्रं वक्रं भवेद्ग यस्य दन्तभङ्गश्च जायते ।

कफ-वातकृतो व्याधि: रा मञ्जनकसंज्ञित: ॥२४॥ सु॰ वि॰ वि॰ १६ अर्थ—जिस रोग में मुख (हनु) टेढ़ा हो जाता है और दाँत (धीरे २) टूट जाते हैं, वह कफवात से होनेवाला रोग "मञ्जनक" कहलाता है।

दन्तहर्षस्य लच्चणम् ।

शीत-रूक्ष-प्राचाताम्ल-स्पर्शानामसहा द्विजाः ।

पित्त-मारुत-कोपेन टन्तहर्षः स नामतः ॥२५॥ सु॰ नि॰ अ० १३

श्चर्य—जिस रोग में दाँत शीत, रूखे, वायु एवं खट्टे स्पर्शों का सहन नहीं कर सकते, वह पित्त तथा वायु के कोप से "दन्तहर्ष" रोग होता है।

दन्तशर्कराया लचणम्।

मालो दन्तगतो यस्तु पित्त-मारुत-शोषितः।

शर्करेव खरस्पर्शा सा ज्ञेया दन्तशर्करा ॥२६॥ छ० वि० अ० १६

ऋर्य—जिस रोग में दाँतों का मल पित्त तथा वायु के कोप से सूख कर शर्करा (बालू या रेत ) जैसा खरखरा चूर्ण होकर उतरने लगता है, बह "दन्तशर्करा" नामक रोग होता है।

कपालिकाया लच्चणम् । कपालेष्विव दीर्यत्सु दन्तानां सैव शर्करा ।

कपालिकेति विद्येया दन्तविनाशिनी ॥२७॥ सु॰ नि॰ म॰ १६ अर्थ—वही उपर्युक्त शर्करा जब कपाल (ठिटरी या पपड़ी) के रूप में उतरने लगती है तो उसे "कपालिका" कहा जाता है। इससे श्रन्ततो गत्वा दाँत नष्ट हो जाते हैं यह सभी श्रवस्थात्रों में हो सकती है।

श्यावदन्तस्य लच्चाम ।

याऽसुङमिश्रेण पित्तेन दग्धो दन्तस्त्वशेषतः।

श्यावतां नीलतां वापि गतः स श्यावदन्तकः ॥२८॥ सु॰ नि॰ अ॰ १६

अर्थ-जिस रोग में रक्तमिश्रित पित्त के विकार से सम्पूर्ण दाँत श्याव (कुछ काला) श्रथवा नीला हो जाता है, उसे "श्यावदन्तक" कहा जाता है।

नोट-यह प्रायः दाँत में रेखा (स्वर्णकील) आदि लगाते समय उसके सजीव भाग पर लग जाने से भी हो जाया करता है।

दन्तविद्रधेर्त्तत्त्रणम् । दन्तमांसे मत्तेः सास्त्रबाद्यान्तः श्वयथुर्गुरुः ।

सदाह-रुक् स्रवेद्व भिन्नः पूर्यास्रं दन्तविद्रधिः ॥ २९ ॥

अर्थ-रक्तमिश्रित वायु आदि तीनों दोषों के विकार से मसुड़ों में बाहर-भीतर भारी सूजन हो जाती है, उसमें दाह एवं पीड़ा भी होती है, तत्पश्चात् फूटने पर दृषित रक्तमिश्रित पीच निकलने लगती है, यह "दन्तविद्धि" नामक रोग है।

नोट-यह वस्तुतः दन्तवेष्टों का रोग है। न जाने क्यों इसे प्रन्थकर्त्ता ने दंतरोगों में स्थान दे दिया।

जिह्वारोगाणां लच्चणानि ।

जिह्याऽनिलेन स्फुटिता प्रसुप्ता भवेच शाकच्छदनप्रकाशा । पित्तेन दद्यत्यपचीयते च दीघैं: सरक्तेरपि कण्टकैश्र ।

केफन गुर्वी बहुलाचिता च मांसोच्छुयैः शाल्मलिकण्टकाभैः ३० सु० नि॰ अ० १६

जिहा के रोग-

त्रर्थ—वायु के विकार से जिह्ना (जीभ) फटी, शून्य ( रसप्रह्ण में असमर्थ ) शाकपत्र के समान काँटेदार हो जाती है और पित्त से उसमें दाह होती है तथा जीभ लम्बे और कुछ लाल २ काँटों से युक्त हो जाती है। इसी प्रकार कफ से भारी, मोटी एवं सेमल के काटों ( मूल में मोटे श्रागे से तीखे ) जैसे मांसांकुरों में व्याप्त हो जाती है।

श्रलासरोगस्य लच्चणम्।

जिह्नातले यः श्वयथुः प्रगादः सोऽलाससंज्ञः कफरक्तमूर्तिः । जिहां स तु स्तम्भयति प्रदृदो मूलेच जिहा भृत्रमेति पाकम् ३१ सु० नि॰ स॰ १६

अर्थ-जिह्ना के ऊपरी भाग में जो गहरी सूजन हो जाती है उसे "अलास" कहा जाता है। यह कफ रक्त से उत्पन्न होता है। वह बढ़ कर जिह्ना को स्तब्ध कर देता है श्रीर श्रन्त में जीभ के मूल में भयानक पाक भी हो जाता है।

श्रथोपजिह्वाया लच्चणम्।

जिह्वाग्ररूपः श्वयथुर्हि जिह्वामुन्नम्य जातः कफरक्तमूलः । लालाकरः कण्डुयुतः सचोषः सा तूपजिहा पठिता भिषिभः॥३२॥ सु० नि० स० १६

ऋर्य-जीभ के नीचे उसे कुछ ऊपर उठाकर ठीक जिह्ना की श्राकृतिवाली लार, खुजली तथा चीस (पीड़ा विशेष) से युक्त "उपजिद्धा" नामक व्याधि होती है। यह भी रक्तकफ से ही होती है।

करठशुरडचा लच्चाम्।

श्लेष्मासम्भ्यां तालुमूले पद्यो दीर्घः शोथो ध्मातबस्तिप्रकाशः । नुष्णा-कास-श्वास-कृत् तं वदन्ति व्याधि वैद्याः कण्ठशुण्डोति नाम्ना ॥ तालु ( मुख की छत ) के रोग-

अर्थ कफरक के विकार से तालु के मूल में अर्थात् काकली या

कीवा ही बड़ जाता है अथवा लटक आता है अथवा फूली हुई बस्ति (रबड़ आदि की थैली) के समान फूल जाता है। उसी से प्यास, कास एवं श्वास हो जाते हैं। इसे वैद्य लोग ''करठशुरखी'' कहते हैं।

नोट—श्वास कास के रोगियों को देखते समय इस रोग पर श्रवस्य श्यान देना चाहिये, नहीं तो व्यर्थ परेशानी उठानी पड़ती है। तुष्डिकेयी लज्ञणम्।

शोथ: स्थूलस्तोद-दाह-प्रपाकी प्रगुक्ताभ्यां तुण्डिकेरी मता तु ।

सु॰ नि॰ अ॰ १६

श्चर्य —कफरक्त के ही विकार से तालु में मोटी सूजन हो जाती है उसमें तोद, दाह और पाक होजाता है; इसे "तुण्डिकेरी" कहते हैं।

श्रप्रुवस्य लत्तराम् । मृदुः शोथो लोहितः शोणितोत्थो होयोऽप्रुषः सज्वरस्तीव्रस्क् च ३४

मृदुः शाथा लाहितः शार्णतित्था इयाऽध्रुषः सज्वरस्तात्ररुक् च ३४ स॰ वि॰ वि॰ १६

अर्थ—रक्त के विकार से तालु में एक श्रीर कोमल, लाल, ज्वरयुक्त तथा भयानक पीड़ायुक्त सूजन हो जाती है, उसे "श्रश्रृष" कहा जाता है।

#### कच्छपस्य लच्चणम्।

कूर्मोन्नतोऽवेदनोऽश्रीघ्रजन्मा रोगो हेयः कच्छपः श्लेष्मणा तु ।

सु∘ नि• अ र १६

च्चर्य-कफ के विकार से तालु में कछुवे की पीठ जैसा उँचा, थोड़ी पीडावाला, धीरे धीरे बढ़ाने वाला जो शोथ होता है; उसे "कच्छप" कहा जाता है।

ताल्वर्बुद्स्य लज्ज्ञ्णम् ।

'पद्माकारं तालुमध्ये तु शोथं विद्याद्व रक्तादर्बुदं मोक्तलिक्नम् ३५

९—भोज ने इसे और भी स्पष्ट कर दिया है— उपर्यंत भनेषद्धो यथा पद्मस्य कर्णिका । पारर्थतबां कुरैंदी चैंगीसा चाप्यवसीदति ॥ स्ठेम्मरक्तसमुत्थानां तत्तावर्ववद्संद्वितम् । श्रर्थ—रक्त के विकार से तालु के मध्य में कमल की कर्णिका के श्राकार का शोथ हो जाता है। इसे "श्रर्बुद" कहा जाता है। यह पूर्वोक्त श्रर्बुद के लच्चणों से ही युक्त होता है।

माससंघातस्य लच्चणम्।

दुष्टं मांसं नीरुनं तालुमध्ये कफाच्छूनं मांससंघातमाहुः। सु॰ नि॰ अ॰ ६६ अर्थ—तालु के मध्य में कफ से दुष्ट मांस विना पीड़ा के सूज जाता है, इसे "मांससंघात" कहा जाता है।

ताळुपुरपुटस्य लन्नग्रम् ।

नीस्क् स्थायी कोलमात्रः कफात्स्यान्मेदोयुक्तात्पुप्पुटस्तालुदेशे ।।३६॥ श्रर्थ—मेदामिश्रित कफ से तालु के मध्य में बदरीफल (बेर) के सदश पीड़ारहित सदैव रहनेवाला रोग "तालुपुपुट" कहलाता है। तालुक्षांषस्य लच्चणम्।

शोषोज्यर्थं दीर्यते चापि तालुः श्वासश्रोग्रस्तालुशोषोऽनिलाच । ऋर्थ—तालु सूख जाता है ऋौर फट जाता है, एवं भयानक श्वास हो जाता है, वह वायु से "तालुशोष" नामक व्याधि होती हैं।

तालुपाकस्य लत्तराम् ।

पित्तं कुर्यात् पाकमत्यर्थघोरं तालुन्येनं तालुपाकं वदन्ति ।।३७॥ सु॰ अ० नि० १६

श्चर्य-पित्त तालु में श्चत्यन्त भीषण् पाक कर देता है, इसे "तालु-पाक" कहा जाता है।

रोहिणीरोगस्य संप्रप्तिः।

गलेऽनितः पित्तकफो च मूर्च्छितोपदूष्य मासं च तथैव शोणितम्। गलोपसंरोधकरैस्तथाऽङ्कुरैनिहन्त्यस्न व्याधिरियं हि रोहिणी ३८ सु॰ कि॰ अ॰ १६

### कएठ के रोग—

श्चर्थ—वायु बढ़े हुए पित्त एवं कफ को मांस तथा रक्त को दूषित करके गत्ने के भीतर उसको रोक देनेवाले मांसांकुरों के द्वारा प्राणों को नष्ट कर देता है, इसका नाम "रोहिग्यी" है।

### वातजादिरोहिणीनां लच्चणानि।

जिह्वासमन्ताद्व भृशवेदनास्तु मांसाङ्कुराः कण्ठविरोधिनो ये । सा रोहिणी वातकृता मदिष्टा वातात्मकोपद्रवगादयुक्ता ॥ ३९ ॥

श्रर्थ—गले के भीतर जिह्नामूल के इधर-उधर कण्ठ को रोक देनेवाले मांसांकुर उत्पन्न हो जाते हैं। यह वायु की 'रोहिणी" होती हैं। इसमें वायु के भीषण उपद्रव (कम्प स्तम्भादि) उत्पन्न होकर प्राण् हर लेते हैं।

क्षिपोद्गमा क्षिप-विदाह-पाका तीत्रज्वरा पित्तनिमित्तजा तु । स्रोतोत्रिरोधिन्यचलोद्गता च स्थिराङ्करा या कफसंभवा सा ॥४०॥

श्रर्थ—शीघ उत्पन्न होनेवाली, शीघ विदग्ध एवं परिपक होने वाली, भीषण ज्वर से युक्त पित्तजनित "रोहिणी" होती है। करुठमार्ग को रोकनेवाली, श्रचल, उठी हुई तथा स्थिर श्रंकुरोंवाली कफजनित "रोहिणी" होती है।

गम्भीरपाकिन्यनिवार्यवीर्या त्रिदोषितङ्गा त्रितयोत्थिता च । स्कोटैथिता पित्तसमानितङ्गा साध्या प्रदिष्टा रुधिरात्मिका तु ॥४१॥

सु॰ नि॰ ४० १६

श्चर्य —गहरे पाकवाली, सर्वथा इप्साध्य एवं तीनों दोषों के लच्चणों से युक्त सन्निपातजनित "रोहियी" होती है। फफोलों ( झालों) से युक्त पित्तज रोहियी के लच्चयोंवाली रक्षज "रोहियी" होती है और यह साध्य होती है।

#### कण्ठशालूकस्य लच्चग्रम् ।

कोलास्थिमात्रः कफसंभवो यो ग्रन्थिर्गले-कण्टक-शूकभूतः। खरः स्थिरः शस्त्रनिपातसाध्यस्तं कण्टशालूकमिति ब्रुवन्ति ॥४२॥ स॰ नि॰ अ॰ १६

श्रर्थ—बैर के गुठली के बराबर, कफ से होनेवाली, काँटे श्रथवा तुष के समान चुमनेवाली, खर्दरी, राख्निक्य (श्रीपरेशन) के विना स्थायी रहनेवाली जो गाँठ गले के भीतर हो जाती है, उसे "कण्ठशालूक" कहते हैं।

## श्रधिजिह्नकस्य लत्त्रणम्।

जिह्नाग्ररूपः श्वयथुः कफात्तु जिह्नोपरिष्टादपि रक्तमिश्रात् । क्नेयोऽघिजिहः खलु रोग एष विवर्जयेदागतपाकमेनम् ॥४३॥

सु० नि० अ० १६

श्चर्य—रक्तमिश्रित कफ के विकार से जिह्ना के ऊपर जिह्ना के अप्रभाग के समान रूपवाला शोध हो जाता है, इसे "ऋधिजिह्ना" नामक रोग जानना चाहिये। यदि यह पक जाता है तो असाध्य हो जाता है।

#### बलयस्य लच्चणम्।

बलास एवायतम्रुऋतं च शोथं करोत्यन्नगति निवार्यः। तं सर्वर्थेवाप्रतिवार्यवीर्यं विवर्जनीयं वलयं वदन्ति ॥ ४४॥

सु॰ नि॰ अ॰ २६

ऋर्य-कफ विरहत तथा ऊँचे शोध को उत्पन्न कर देता है। यह शोध श्रनमार्ग को रोक देता है। यह शोध सर्वश्रा श्रसाध्य होने के कारण त्याज्य होता है। इसे "वलय" कहते हैं।

बलाशस्य लच्चणम् ।

गले तु शोर्थं इस्तः पट्टद्धो श्लेष्मानिलो श्वासरुजोपपन्नम् । मर्मच्छिदं दुस्तरमेनमाहुर्वलाशसंज्ञं निपुरणा विकारम् ॥ ४५ ॥ स॰ वि॰ अ॰ १६

अर्थ-बढ़े हुए कफ तथा वायु गले के भीतर श्वास एवं पीड़ा से युक्त शोथ कर देते हैं। शालाक्य तंत्रवेत्ता वैद्य इस मर्म (कंठ) घाती दु:साध्य (असाध्य) रोग को "बलाश" कहते हैं।

#### एकवृन्दस्य लन्नग्रम् ।

द्वतोत्रतोऽन्तःश्वयशुः सदादः सकण्डरोऽपाक्यमृदुर्गुरुश्च । नाम्नैकद्वन्दः परिकीर्तितोऽसौ व्याधिर्वज्ञास-क्षतज-मस्तः ॥४६॥

पुरु निरु अरु १६

श्चर्य-गोल, ऊँचा, दाह तथा खुजली से युक्त, थोड़ा पकने वाला,

कठोर एवं भारी शोथ गले के भीतर हो जाता है। यह व्याधि "एकवृन्द" नाम से कही गई है और यह कफ तथा रक्त से उत्पन्न होती है।

वृत्दस्य लक्तराम् ।

समुन्नतं वृत्तममन्ददाइं तीत्रज्वरं वृन्दमुदाहरन्ति । तचापि पित्त-क्षतज-प्रकोपाज्ज्ञेयं सतीदं पवनात्मकं तु ॥ ४७ ॥ सु० नि० अ० १६

श्चर्य-ऊँचा, गोल, भीषण दाह से युक्त तथा भीषण ज्वर से युक्त "वृन्द" नामक रोग होता है। यह भी पित्त-रक्त के प्रकोप से उत्पन्न होता है, किन्तु यदि इसमें तोद हो तो वायु का प्रकोप समम्मना चाहिये।

शतन्नीरोगस्य लच्चणम्।

वर्तिर्घना कण्ठनिरोधिनी या चिताऽतिमात्रं पिशितपरोहै:। अनेकरुक् प्राणहरी त्रिदोपाज्ज्ञेया शतद्दनी च शतद्दिनरूपा ॥४८॥ स० नि॰ अ० १६

श्रर्थ-बत्ती-जैसी, कठोर, कएठ को रोक देनेवाली, मांसांकुरों से अत्यन्त व्याप्त, अनेक प्रकार की पीड़ाओं से युक्त तथा प्राणनाशक "शतब्री" नामक व्याधि होती है। यह सन्निपात से होती है एवं "शतब्री" शस्त्र विशेष के समान सैकडों ( सब रोगियों ) को मारनेवाली अर्थात श्रसाध्य होती है ।

## गलायुरोगस्य लच्चाम्।

ग्रन्थिर्गले त्वामलकास्थिमात्रः स्थिरोऽतिरुग् यः कफ-रक्त-मूर्तिः। संलक्ष्यते सक्तमिवाशनं च स शस्त्रसाध्यस्तु गलायुसंज्ञः ॥४९॥ सुः निः सः १६

अर्थ-गले के भीतर आमले की गुठली के समान, स्थिर तथा श्रत्यन्त पीड़ा युक्त जो प्रनिथ हो जाती हैं श्रीर रोगी को प्रास-सा श्रदका प्रतीत होता है, यह कफरक्त के विकार से "गलायु" नामक रोग होता है यह भी शस्त्रसाध्य ही होता है।

गलविद्रधेर्लच्याम्।

सर्वं गलं व्याप्य समुत्थितो यः शोथो रुजः सन्ति च यत्र सर्वाः।

स सर्वदोषैर्गलविद्रधिस्तु तस्यैव तुल्यः खलु सर्वजन्यः ॥ ५० ॥ स॰ वि॰ वि० १६

श्चर्य—सम्पूर्ण गले को घेर कर जो शोध उत्पन्न होता है श्रीर जिसमें सभी प्रकार की पीड़ाएँ होती हैं, वह सन्निपात से "गलविद्रधि" नामक रोग होता है। इसके लच्चाए पूर्वोक्त विद्रधि के समान ही होते हैं।

### गलीघस्य लज्ञणम्।

शोथो महानन्नजलावरोधी तीव्रज्वरो वायुगतेर्निहन्ता । कफेन जातो रुधिरान्वितेन गले गलौधः परिकोर्त्यते तु ।। ५१ ॥ स॰ नि॰ अ॰ १६

श्रर्थ—श्रन्न पान की गति को रोकनेवाला,भीषण ज्वर से युक्त, श्रन्त में श्वासमार्ग को भी रोक देनेवाला जो बड़ा-सा सूजन गले के भीतर हो जाता है, वह 'गलोघ" कहलाता है। यह कफरक्त से उत्पन्न होता है।

#### स्वरघ्नस्य लज्ञ्णम्।

यस्ताम्यमानः श्वसिति प्रसक्तं भिन्नस्वरः शुष्क-विम्रक्त-कण्टः । कफोपदिग्धेष्वनिलायनेषु क्षेयः स रोगःश्वसनात् स्वरघः॥ ५२ ॥ स॰ वि॰ अ॰ १६

द्यर्थ—जिस रोग में बाँखों के सामने ब्रन्वेरा, श्वास, स्वरभेद, करण्ठशोथ एवं बोलने में ब्रसमर्थता होती है तथा वायुकोष्ठ (फुफुस) कफपूर्ण हो जाते हैं, यह वायु से उत्पन्न "स्वरन्न" नामक रोग होता है।

## मांसतानस्य लच्चणम्।

पतानवान् यः श्वयथुः सुकष्टो गलोपरोधं कुरुते क्रमेण । स मांसतानः कथितोऽवलम्बी प्राणप्रखुत् सर्वकृतो विकारः ॥५३॥ स॰ वि॰ वि॰ १६

श्चर्य-जो विस्तार युक्त, दु:खदायी शोथ धीरे धीरे गले को रोक लेता है, वह "मांसतान" कहलाता है। श्रीर वह लटकनेवाला प्रायाधा-तक सान्निपातिक रोग है। 'विदार्या लच्चणम्। सदाहतोदं श्वयथुं सुताम्रमन्तर्गले पूर्ति-विशोर्ण-मांसम्। पित्तेन विद्याद्व वदने विदारीं पार्श्वे विशेषात् स तु येन शेते॥५४॥ सु॰ नि॰ अ॰ १६

श्रर्थ—गले के भीतर दाह तथा तोद से युक्त, रक्त वर्णवाला, दुर्गन्धि एवं सड़े मांस से युक्त जो पित्तजनित शोध हो जाता है, उसे "विदारी" कहा जाता है। यह प्रायः उसी श्रोर होता है, जिस श्रोर से मनुष्य श्रिधिक लेटता है।

सर्वसराख्यमुखरोगस्य लच्चणुम्।

स्फोटै: सतोदैर्वदनं समन्ताद्व यस्याचितं सर्वसरः स वातात् । रक्तैः सदाहैस्तनुभिः सपीतेर्यस्याचितं चापि स पित्तकोपात् । अवेदनैः कण्डुयुतैः सवर्णेर्यस्याचितं चापि स वै कफेन ॥५५॥ स० वि० अ० १६

सम्पूर्ण मुख की कला के रोग-

श्रर्थ—वायु से मुखगह्वर की दीवारों ( कला ) में सब श्रोर वेदना-युक्त इत हो जाते हैं, उसे वातिक सर्वसर; पित्त से लाल, दाहयुक्त, पतले या सूदम एवं पीले इत हो जाते हैं, उसे पैतिक सर्वसर श्रोर थोड़ी वेद-नायुक्त, खुजलीवाले, खस्थ स्थान के समान वर्णवाले जो इत हो जाते हैं, उसे कफजनित सर्वसर कहा जाता है।

१—भोज के कथनानुसार यह स्नायु जाल में होता है— पित्तन जातो बदने विकारः पार्वे विशेषात् स तु येन शेते । स्नायुप्रतानप्रभवो विशेषादाहप्रपाकप्रचुरो विदारी ।

२—रक्तिकृति से भी 'सर्वसर'' होता है, उसके लक्षण प्रायः पैतिक सर्वसर के समान होते हैं। इसमें जोंक द्वारा रक्त निकलवा देना लाभदायो होता है, शेष तीनों में विरेचन। इस रोग को मुखाक श्रयवा मुख श्रामा कहते हैं। इसमें प्रायः पाचन क्रिया की विकृति ही होती है।

श्रसाध्यमुखरोगाणां लंदाणानि । त्र्योष्ठपकोपे वर्ज्याः स्युर्गास-रक्त-त्रिदोषजाः । दन्तमृलेषु वज्यौं च त्रिलङ्गगति-शौषिरौ ॥ ५६ ॥ दन्तेषु च न सिध्यन्ति श्याव-दालन-भञ्जनाः। जिह्वारोगे त्वलासस्तु तालव्येष्वर्बुदं तथा ॥ ५७ ॥ स्वरघ्नो वलयो दृन्दो बलाशश्च विदारिका ॥ गलौघो मांसतानश्च शतधी रोहिसी गले ॥ ५८ ॥ श्रसाध्याः कीर्तिता होते रोगा नव दश्चैव तु । तेषु चापि क्रियां वैद्यः प्रत्याख्याय समाचरेत ॥५६॥

स॰ नि॰ अ॰ १६ श्रर्थ-मुखरोगों में निम्नलिखित रोग श्रसाध्य होते हैं-श्रोष्टरोगों में मांस, रक्त एवं सन्निपात के रोग । मसुड़ों के रोगों में सान्निपातिक नासर तथा शौषर । जन्तरोगों में "श्यावदन्तक" "दालनक" तथा "भञ्ज-नक"। जिह्वारोगों में श्रलास। तालुरोगों में श्रवृद्। गलरोगों में स्वरघ्र, वलय, वृन्द, बलाश, विदारिका, गलीघ, मांसतान, शतन्नी तथा रोहिगी। इस प्रकार यह उन्नीस रोग यद्यपि स्त्रसाध्य होते हैं तथापि वैद्य का कर्तव्य है कि वह रोग की श्रसाध्यता बतलाकर चिकित्सा करे।

# कर्णरोगिन दानमें।

कर्णशूलस्य लद्गराम्।

समीरणः श्रोत्रगतोऽन्यथा चरन् समन्ततः शूलमतीव कर्णयोः । करोति दोवेश यथास्वमादृतः स कर्णश्रुलः कथितो दुराचरः ॥१॥

श्चर्य-कान के भीतर प्रतिलोमगतिशील वायु कान के छिद्र में तथा

१--- आकर्णनो स्योगी अर्थग को "कर्ण" कहा जाता है। कर्णशष्क्रली. कर्ण-ग्रहा. कर्णताल एवं शब्दवाहक-संस्थान का नाम "कर्ण" है।

उसके श्रास पास भीषण शूल उत्पन्न कर देता है। यदि वायु कदाचित् दूसरे दोषों से श्रावृत हो जाता है तो यह रोग दुःसाध्य श्रयवा कभी श्रसाध्य भी हो जाता है। इसे "कर्णशूल" श्रयवा कान दुखना या "टाँट वजना" कहा जाता है।

कर्णनादस्य लच्चणम्।

'कर्णस्रोतःस्थिते वाते शृ्णोति विविधान् स्वरान् । मेरी-मृदङ्ग-शङ्खानां कर्णनादः स उच्यते ॥ २ ॥

श्रथ—कर्णक्षोत (शब्दवाही स्रोत) जब वायु से दूषित हो जाता है तो रोगी ढोल, मृदंग तथा शंख श्रादि के विविध स्वरों को मुनता है। इस रोग का नाम "कर्णनाद" है।

बाधिर्यस्य लत्त्रग्रम्।

यदा शब्दवहं वायुः स्रोत त्राष्ट्रत्य तिष्ठति।

शुद्धः श्लेष्मान्वितो वापि बाधिर्यं तेन जायते ॥ ३ ॥

च्चर्य-जन केवल वायु घ्रथवा कफ से युक्त वायु शब्दवाही स्रोत को सर्वथा रोक लेता है तब "बाधिर्य" घ्रथवा "बहरापन" हो जाता है। कर्णस्वेडस्य लज्ञाणुम्।

वायुः पित्तादिभिर्युक्तो वेणुघोषोपमं स्वनम् ।

करोति कर्णयोः क्ष्त्रेडं कर्णक्ष्त्रेडः स उच्यते ॥ ४ ॥

श्रर्थ-पित्त तथा कफ से युक्त वायु से कानों में वंशी का-सा शब्द सुनाई पड़ता है। इसे "कर्णदेवेड" कहा जाता है।

कर्णस्रावस्य लच्चणम् ।

शिरोऽभिघातादथवा निमञ्जतो जले प्रपाकादथवापि विद्रधे:।

१ — विदेह-त्रचन श्रौर भी विशद है । यथा— शिरोगतो यदा वागुः श्रोत्रयोः प्रतित्वते । तदा तु विविधान शब्दान् समीरयित कर्णयोः ॥ शृंगारकौबनादं ा मग्डककाकयोस्तया । तन्त्रीमृदंगशब्दं वा सामत्यस्वनं तथा ॥ गीताऽध्ययनवंशानां निर्धोषं च्वेडनं तथा । श्रपामिव पतन्तीनां शक्टस्येव गच्छतः ॥ श्वसतामिव सर्पाणां श्रसदशः यते स्वनः ।

स्रवेद्व हि पूर्यं श्रवणोऽनिलार्दितः स कर्णसंस्राव इति प्रकीर्तितः।।५॥

अर्थ-जिसी प्रकार सिर में चोट लगने से, जल में डुबकी लगाने ( इस समय कान में पानी पड़ जाने से ) से अथवा कान की फ़न्सी के पक जाने से स्नाव निकलने लगता है श्रीर भयानक पीड़ा भी होती है। यह "कर्णस्नाव" अथवा कान बहना कहलाता है।

कर्णकरड्वादिरोगाणां लच्चणम्।

'मारुतः कफसंयुक्तः कर्णकण्डं करोति च ।

पित्तोष्मशोषितः श्लेष्मा कुरुते कर्णागूथकम् ॥ ६ ॥

श्रर्थ-कफयुक्त वायु कान में खुजली कर देता है। इसे "कर्णकण्डू" कहते हैं। पित्त की ऊष्मा (गरमी) से कान में श्लेष्मा सख जाता है तो उसे "कर्णगृथक" कहा जाता है । कर्णप्रतिस्यहरोगस्य लच्चणम्।

स कर्णगुथो द्रवतां गनो यदा विलायितो घ्राणमुखं प्रपद्मते। तदा स कर्णपतिनाइसंज्ञितो भवेद्विकारः शिरसोऽर्धभेदकृत ॥ ७ ॥

श्रर्थ-वही उपरोक्त कर्णगृथ स्वयं पिघल कर श्रथवा स्नेहन स्वेदन करने से पिघल कर जब नाक श्रथवा मुख के मार्ग से निकलता है तो इसे "कर्णप्रतिनाह" कहा जाता है। इससे "त्राधा सीसी" नामक प्रसिद्ध रोग भी हो सकता है।

'क्रिमिकर्णकस्य लच्चणानि । यदा तु मुच्छन्त्यथवापि जन्तवः सृजन्त्यपत्यान्यथवापि मिसकाः ।

9-- ये दोनों रोग कभी एक साथ हो जाते हैं अथवा पहिले खुजली होती है श्रीर फिर खीं इ निकल कर शान्त हो जाती है। सर्वपर्तल इसकी श्रञ्छी श्रीषधि है।

२--- महर्षि निमि का पाठ भी पाठनीय है-

रतेष्मित्रलोन्मिश्रे कोथे शोणितमांसजे । मुच्छेन्ति जन्तवस्तत्र कृष्णास्ताम्रासितारुणाः ॥ भक्षयन्तीव ते कर्णं कुर्वन्तो विविधा रुजः। किमिकण त तं विद्यात् सिन्नपातप्रकोपजम् ॥

तद्वयञ्जनत्वाच्छ्रवको निरुच्यते भिषम्भिराद्यैः क्रिमिकर्णकोगदः॥८॥ स॰ ३० ४० २०

श्रर्थ—जब कान में किसी प्रकार की सड़न उत्पन्न होने से किमि पड़ जाते हैं श्रथवा मक्खियों (जिनको किरौनी या हाई मक्खी कहते हैं) के बैठने से क्रिमि उत्पन्न हो जाते हैं तो वैद्य इसे क्रिमि पड़ने के कारण "क्रिमिकर्णक" रोग कहते हैं।

कर्णप्रविष्टकीटादीनां लच्चणानि ।

पतङ्गाः शतपद्यश्च कर्णस्रोतः प्रविश्य हि ।

अरतिं व्याकुलत्वं च भृशं कुर्वन्ति वेदनाम् ॥ ९ ॥

कर्णो निस्तुचते तस्य तथा फरफरायते ।

कीटे चरति रुक् तीव्रा निष्पन्दे मन्दवेदना ॥१०॥ छ० नि० ७० १६

'कर्णिक्षिद्र में जब कभी फितिंगे झथवा शतपदी (कानसिलाई नामक पतला श्रीर लम्बा कीड़ा) प्रविष्ट हो जाते हैं तो बेचैनी, व्याकुलता एवं वेदना को उत्पन्न कर देते हैं। कान में व्यथा तथा फरफराहट होती है। जब वह जन्तु चलता है तो भीषण वेदना श्रीर जब ठहर जाता है तो मन्द वेदना होती है।

कर्णविद्रधेर्त्तवराम्।

क्षताभिघातप्रभवस्तु विद्रधिर्भवेत्तथा दोषकृतोऽपरः पुनः । सरक्तपीतारुणमस्रमास्रवेत् प्रतोद-यूमायन-दाह-चोषवान् ॥ ११ ॥

श्चर्य—त्तत, श्रभिषात श्रथवा दोषकोप से कान में "विद्रधि" हो जाता है। उसमें व्यथा-धूम सा निकलना, दाह एवं टीस होती है और पकने पर लाल, पीला एवं श्ररुण (हिरौद्धी के रंग का) श्रस्न (रक्तमि-श्रित पूर्य) निकलता है।

कर्णपाकस्य लद्माग्म् ।

कर्णपाकस्तु पित्तेन कोथ-विक्लेद-कृद्ध भवेत् ।

९—जब तक किम नहीं निकलता तब तक बड़ा कष्ट होता है। जीवित निका-लने का उत्तम उपाय है कान मैं पानी भर देना और प्राणयाम ।

# कर्णविद्रधिपाकाद् वा जायते चाम्बुपूरणात् ॥१२॥

स॰ उ॰ अ॰ २०

अर्थ-पित्त के विकार से दुर्गन्धयुक्त सड़न और आर्द्रता से युक्त "कर्णपाक" नामक रोग होता है। यह कान की फुन्सी के पकने अथवा कान में पानी भर जाने से भी हो जाया करता है।

पृतिकर्णस्य लच्चणम् ।

पूर्य स्रवित पूर्ति वा स ज्ञेयः पूर्तिकर्णकः ।

श्चर्य-जब कान से दुर्गन्धयुक्त पीब निकला करती है तो उसे "'पतिकर्ण" कहा जाता है।

कर्णशोध-कर्णार्बुद-कर्णाशंसां लच्चणानि। कर्णशोथार्बुदार्शांसि जानीयादुक्तलक्षर्णैः ॥ १३ ॥ अर्थ-कान में शोथ, अर्बुद एवं अर्श भी हो जाता है, किन्तु उनके लच्चण वे ही होते हैं जो उनके अधिकारों में कहे गये हैं।

चरकोक्तकर्णरोगचतुष्टयस्य लच्चणानि ।

नादोऽतिरुक्कफर्णमलस्य शोषः स्नावस्तनुश्राश्रवणं च वातात्। शोथ: सरागो दरणं विदाह: सपीत-पूर्ति-स्रवणं तु पित्तात् ॥१४॥ वैश्रत्य-कण्ड-स्थिरशोथ-शुक्तः स्निग्ध-स्नुतिः स्वल्परुजः कफाच । सर्वाणि रूपाणि च सन्निपातात् स्नावश्च तत्राधिकदोषवर्णः ॥१५॥

श्चर्य-वायु से अनेक प्रकार का नाद,पीड़ा,कर्णमल का स्खना,थोड़ा अथवा पतला स्नाव एवं बहरापन । पित से सूजन, रंग (पीला, लाल), फटना, दाह एवं पीला तथा दुर्गन्धयुक्त स्नाव । कफ से विरुद्ध श्रवण या बहरापन, खुजली, स्थायी शोथ, श्वेत स्रौर चिपचिपा स्नाव एवं थेड़ी

१--- कर्णशाय, कर्ण-विद्रधि, कर्ण-पाक एवं पृतिकर्ण के हेतु वा लक्षणों में काफी समानता है अथवा अवस्थामेद ही मेद का कारण है। अस्तु, रोगियों को देखते समय भली भाँति विचार कर लेना चाहिये।

पीड़ा । सन्निपात से उपर्युक्त सभी लज्ञ्ण तथा सब प्रकार के स्राव किन्तु भीषण्ता एवं श्रधिकता से युक्त होते हैं ।

परिपोटकस्य लच्चणम् ।

सौकुपार्याचिरोत्सृष्टे सहसाऽतिपवर्थिते ।

कर्णशोथो भवेत पाल्यां सरुनः परिपोटवान् ।

कृष्णारुणनिभः स्तब्धः स वातात् परिपोटकः ॥१६॥ स॰ चि॰ व॰ २५

कर्णपाली (बाह्यावयव) के रोग-

श्रर्थ—कोमलता के कारण, बड़ी श्रायु में कर्णवेध करने से श्रथवा सहसा (शीव) कर्णवेध करने श्रथवा उसे सहसा बढ़ाने से कर्णपाली में पीड़ा युक्त काला, लाल, कठोर एवं परिपोट (कुछ फटा) युक्त शोथ हो जाता है, इसे "परिपोटक" कहा जाता है।

उत्पातरोगस्य लुज्ज्यम्।

गुर्वाभरणसंयोगात्ताडनाद्व घर्षणादपि ।

शोथ: पाल्यां भवेत् श्यावो दाह-पाक-रुजाऽन्वित: ॥ १७ ॥

रक्तो वा रक्तपित्ताभ्यामुत्पातः स गदो मतः। मु॰ वि॰ अ॰ २४

श्रर्थ—भारी भूषणों के धारण से, ताड़न से एवं रगड़ लगने से कर्णपाली में दाह, पाक एवं पीड़ा से युक्त श्याव श्रथवा रक्त वर्ण का शोथ हो जाता है। यह रक्तपित्त के विकार से "उःपात"नामक रोग होता है।

उन्मन्थकदुःखवर्धनयोर्लज्ञणानि ।

कर्णं बलाइ वर्धयतः पाल्यां वायुः प्रकुप्यति ॥ १८ ॥

कफं संग्रह्म कुरुते शोथं स्तब्धमवेदनम् ।

उन्मन्थक: सकण्डूको विकार: कफवातज: ॥१६॥ सु॰ वि॰ अ॰ २४ अर्थ-कर्णपाली को बलपूर्वक वेधने अथवा बढ़ाने से उसमें वायु कृपित हो जाताहै और कफ से मिलकर कठोर तथा थोड़ी वेदना से युक्त शोथ कर देता है। उसमें खुजली भी होती है। यह कफ वात के कोप से "उन्मन्थक" नामक रोग होता है। संवर्ध्यमाने दुर्विद्धे कण्डू-पाक-रुजा-ऽन्वितः।

शोथो भवति पाकश्च त्रिदोषो दुःखवर्घनः ॥२०॥ छ॰ चि॰ म॰ २४ श्रर्थ-युक्तियुक्त कर्णवेध श्रथवा कर्णवर्द्धन न होने से करडू, दाह एवं पीड़ा से युक्त शोथ हो जाता है और उसमें पाक भी हो जाता है। यह सानिपातिक "दु:खबर्द्धन" नामक रोग होता है।

परिलेहिनो लत्तराम । कफासक्किमयः कुद्धाः सर्पपाभा विसर्पिणः ।

कुर्वन्ति पाल्यां पिडकाः कण्डू-दाह-रुजाऽ-न्विताः॥ २१ ॥

कफास्टक्किमसंभूतः स विसर्पत्रितस्ततः।

लिहेत् संशब्कुलीं पालीं परिलेहीति स स्मृत: ॥ २२ ॥

सु० चि० अ० ३४

श्रर्थ-कफ, रक्त तथा क्रिमियों के विकार से सरसों के सदश फैल-नेवाली एवं कण्डू, तह तथा पीड़ा से युक्त फ़ुन्सियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। यह रोग कफ, रक्त तथा किमियों से उत्पन्न इधर उधर फैलते २ शाकु-लीयुक्त पाली को नष्ट कर देता है। इसे "परिलेही" कहते हैं।

## नासारोगनिदानम् ।

पीनसरोगस्य लच्चग्रम् ।

ैत्रानद्यते यस्य विशुष्यते च मक्तियते धृष्यति चापि नासा ।

मस्त्रलंगोचितः श्लेष्मा यदा पित्ताद् विद्ह्यते ।

१---नासारन्ध्र एवं गन्धप्राही संस्थान "नासा" कहलाता है।

२--यह पाठ चरक एवं सुश्रुत दोनों में है, किन्तु तीसरा श्लोकार्ध केवल सुश्रुत में है। इस रोग में तीनों दोषों के लक्षण होने पर भी इसे वात-कफज कहना या पुराने टीकाकार गदाधरजी का श्रनिल को श्रनल पढ़ना व्यर्थ का भगड़ा बढ़ाना है। हमारे विचार में यह वचन प्रायिक है। क्योंकि सुश्रुत के "विधूप्यते" तथा 'पापच्यते' यह दोनों वचन पित के विना किसी प्रकार संगत नहीं हो सकते । मधुकोश में बहुत ही सुन्दर पाठ है-यथा-

न वेत्ति यो गन्धरसांश्च जन्तुर्जुष्टं व्यवस्येत्तमपीनसेन । तं चानिल-श्लेष्मभवं विकारं ब्रयात् प्रतिश्यायसमानिलङ्गम् ॥१॥

अर्थ - जिस जन्तु की नासा रुक जाय (श्वास वायु की गति नहीं हो सकती, इसमें प्रायः एक नासापुट रुकता है कभी दोनों भी ), कभी सूख जाय, कभी गीली रहे (पानी जाय) एवं उससे धूत्राँ-सा निकले, गन्ध तथा रस का अनुभव न हो ऐसे रोगी को अपीनस अथवा पीनस का रोगी समम लेना चाहिये। प्रतिश्याय के समान लच्चणींवाले इस रोग को वात-कफ से उत्पन्न हुआ कहना चाहिये।

प्रतिनस्यस्य लच्चणम् ।

दोषैर्विदग्धैर्गल-तालु-मूले सम्मूर्च्छितो यस्य समीरणस्तु । निरेति पूर्तिर्मुख-नासिकाभ्यां तं पूर्तिनस्यं प्रवदन्ति रोगम् ॥२॥

अर्थ - जिस रोग में वायु गला तथा तालु के मूल में दूषित दोषों से मिल जाता है श्रौर मुख एवं नाक से दुर्गन्धियुक्त होकर निकलता है। उसे "पृतिनस्य" कहते हैं ।

नासापाकस्य लच्चणम ।

घाणाश्रितं पित्तमरूंपि कुर्याद्यस्मिन् विकारे बलवांश्र पाकः। तं नासिकापाकमिति व्यवस्येद्व विक्लेट्-कोथावथवाऽपि यत्र ॥३॥ सु० उ० अ० १२

अर्थ-जिस रोग में नाक में स्थित पित्त कुछ फुन्सियों को उत्पन्न कर देता है वे बुरी तरह पक भी जाती हैं एवं उनमें पन्छा तथा सड़न भी हो जाती है। उसे "नासिकापाक" रोग सममना चाहिये।

प्रयरक्तस्य लच्चाम्। दोषेविंदग्धेरथवाऽपि जन्तोर्ल्लाटदेशेऽभिहतस्य तैस्तै:।

> तदास्क् पिच्छिलं नासा बहु सिंघाणकं स्रवेत् ॥ सकण्ड-दाह-पाकं च तं त विद्यादपीनसम्।

नासा स्रवेत पूर्यमष्टिग्विमिश्रं तं पूर्यरक्तं प्रवदन्ति रोगम् ॥ ४ ॥

म्रर्थ—जिस रोग में वातादि दोषों का विदाह होने से तथा मस्तक में किसी प्रकार का भीतरी आधात लगने से मनुष्य की नाक से रक्तमि-श्रित पीब निकलने लगता है । उस रोग को "पूय-रक्त" कहते हैं।

च्चवयुरोगस्य लच्चणम्।

घ्राणाश्रिते मर्मणि संप्रदुष्टो यस्यानिलो नासिकया निरेति । कफानुजातो बहुशोऽतिशब्दस्तं रोगमाहुः क्षत्रथुं विधिज्ञाः ॥ ५॥

९० उ० भ

श्रर्थ—जिस रोग में घाणाश्रित मर्म अर्थात् शृङ्गाटक नामक मर्म में वायु दृषित हो जाता है श्रीर बार बार कफिमिश्रित (च्छी) इस प्रकार का ऊँचा शब्द करता हुआ निकलता है उसे विद्वान् "च्चथु" या "छींक" कहते हैं।

श्रागन्तुजत्त्वयोर्लज्ञणम् ।

तीक्ष्णोपयोगादभिक्तिघतो वा भावान् कटूनर्कनिरीक्षणाद्वा । सुत्रादिभिर्वा तरुणास्थिमर्मण्युद्वाटितेऽन्यः क्षवधुनिरेति ॥ ६ ॥

दु० उ० ४१० २३

श्रर्थ—ती त्या द्रव्य (मिरच श्रीर सूखा तम्बाकू श्रादि) के प्रयोग से, कटु द्रव्य (कायफल की छाल श्रादि) के सूंघने से, सूर्य की श्रोर (मुख खोल कर) देखने से श्रथवा सूत्र (कपड़ा की बत्ती बना कर नाक के भीतर देने से) श्रादि से तरुगास्थि मर्म श्रर्थात् श्रंगाटक के स्पर्श से छींक श्रा जाती है।

नोट — कृत्रिम उपायों से उत्पन्न होने के कारण इसे आगन्तुज माना जाता है।

भ्रंशथुरोगस्य सत्तराम्।

पश्चरयते नासिकया तु यस्य सान्द्रो विदग्धो लवणः कफस्तु । प्राक्संचितो मूर्थनि सूर्यतप्तस्तं श्रंशथुं रोगम्रुदाहरन्ति ॥ ७ ॥ स॰ उ॰ अ॰ २० श्चर्य—जिस रोग में सिर में पिहले से संचित परचात् सूर्य के ताप से पिघला हुश्चा गाढा, विदग्ध (पीला-सा) एवं नमकीन कफ नासा-मार्ग से निकलने लगता है, उसे "भ्रंशधु" कहते हैं।

दीप्राख्यनासारोगस्य लच्चणम् ।

घाणे भृत्रं दाहसमन्विते तु विनिःसरेद्वधूम इवेह वायुः । नासा प्रदीप्तेव च यस्य जन्तोव्याधि तु तं दीप्तमुदाहरन्ति ॥ ८ ॥

स्॰ उ॰ अ॰ ३२

अर्थ — जिसकी नाक में अत्यन्त दाह होता है, धूवें के समान वायु निकलता एवं नाक जली-सी झात होती है, उस मनुख्य के उस रोग को "दीप्त" कहते हैं।

प्रतीनाहस्य लज्ञणम्।

उच्छ्वासमार्गं तु कफः सवातो रुन्थ्यात् प्रतीनाहमुदाहरेत्तम् ।

सु० उ० अ० १२

श्चर्य —िजिस रोग में वायुयुक्त कफ खासमार्ग श्चर्यात् केवल नाक को रोक देता है, उसे "प्रतीनाह" कहना चाहिये।

नासास्रावस्य लत्तरणम्।

ब्राणाद्धनः पीतसितस्तनुर्वा दोषः स्रवेत् स्नावसुदाहरेत्तम् ॥ ९ ॥ स॰ ३० ४० २२

अर्थ-जिस रोग में नाक से गाढ़ा अथवा द्रव, पीला अथवा श्वेत दोष (कफ पित्त ) निकलता है, उसे "स्नाव" कहना चाहिये। नासाशोषस्य ल गाम।

धाँएाश्रिते स्रोतिस मारुतेन गाढं प्रतप्ते परिशोषिते च ।

कृच्छात् श्वसेदूर्ध्वमधश्च जन्तुर्यस्मिन् स नासापरिशोष उक्तः॥१०॥

श्चर्य-जिस रोग में वायु से नासामार्ग तप ( उच्या-गर्म ) एवं सुख

भ-इसका निम्नलिखित पाठान्तर बड़ा उत्तम है। उसे भी देखिये-- प्राणाश्रिते क्लेम्मणि माठतेन पित्तन गाउं परिशोपिते च।

जाता है और रोगी बड़ी कठिनता से ऊपर नीचे (केवल नाक से) श्वास ले सकता है, उसे "नासापरिशोष" कहा गया है।

त्राम-पक्षपीनसयोर्लज्ञुणम् । शिरोगुरुत्वमरुचिर्नासास्रावस्तनुः स्वरः ।

क्षामः द्वोवत्यथाभीक्ष्णमामपीनसलक्षणम् ॥ ११ ॥

श्रर्थ—शिर का भारीपन, श्ररुचि, नाक से पतला पानी जाना, स्वर का बैठ जाना एवं बार २ श्रुकना यह "श्राम पीनस" का लच्चरा है ।

श्त्रामलिङ्गान्वतः श्लेष्मा घनः खेषु निमज्जति । स्वर-वर्ण-विश्चद्धिश्च परिपकस्य लक्षणम् ॥ १२ ॥

श्चर्थ—श्चाम पीनस के सभी लच्चणों के रहने पर भी केवल भेद इतना होता है—रलेष्मा गादा हो जाता है श्वथवा स्रोतों में ही लीन हो जाता है श्चार स्वर एवं वर्ण साफ हो जाता है। इसे परिपक (निराम) पीनस कहते हैं।

प्रातश्यायरागस्य सप्राप्तिः। सन्धारणाजीर्णरजोतिभाष्यकोषर्त्ववैषम्यितरोभितापैः। प्रजागरातिस्वपनाम्बुत्तोतैरवश्यया मैथुन-वाष्प-धूमैः॥ सस्त्यानदोषे त्रिरसि पद्दछो वायुः प्रतिश्यायम्रदीरयेत् ॥ १३॥

अर्थ--मलमूत्रादि के वेग रोकने से, अर्जीण से, अधिक बोलने से, क्रोध से, ऋतुओं की विपरीतता से, सिर पर धूप आदि की गर्मी लगने से, अधिक जागने से, अधिक सोने से, वर्षा में भींगने से, शीत लगने से, ओस में सोने या घूमने से, मैथून से, भाफ लगने से एवं

१—''ततुत्वमामलिगानाम्'' अर्थात् आम पीनस के लक्षणों में कमी या मृहुता यह णठ बहुत ही उत्तम है।

इन उपर्युक्त २ से १२ तक के ज्यारह श्लोकों में पीनस के ही लक्षणों का विशाद वर्णन है। क्योंकि पीनस में ये सभी लक्षण पाये **वा**ते हैं।

धूकाँ छगने से जमे हुए कफ से युक्त शिर में बढ़ा हुका वायु "प्रतिश्याय" नामक रोग को उत्पन्न कर देता है । चयं गता मूर्धनि मास्तादय: पृथक् समस्ताश्च तथैव शोणितम् ।

प्रकुप्यमाणा विविधैः प्रकोपर्णैस्ततः प्रतिश्यायकरा भवन्ति हि ॥१४॥ स॰ उ॰ अ॰ २४

श्रर्थ-शिरमें सिद्धित पृथक् २ श्रथवा मिले हुए वायु श्रादि श्रथवा रक्त भी श्रनेक प्रकार के हेतुश्रों से कुपित होकर "प्रतिरयाय" नामक रोग को उत्पन्न कर देते हैं ।

प्रतिश्यायस्य पूर्वरूपाणि ।

क्षवप्रद्वत्तिः श्चिरसोऽतिषूर्णता स्तम्भोऽङ्गमर्दः परिहृष्टरोमता । उपद्रवाश्राप्यपरे पृथग्विधा दृणां प्रतिश्यायपुरःसराः स्मृताः ॥१५॥

सु० उ० अ० २४

ऋर्थ-प्रतिश्याय के पूर्वरूप इस प्रकार हैं-हीकें स्राना, शिर भरा-सा ज्ञात होना, शरीर में जकड़न, अंगों का दुखना, रोमाख्न होना एवं स्रानेक प्रकार के स्वीर भी लत्त्रण उत्पन्न होने लगते हैं'।

वातजादिप्रतिश्यायानां लच्तणानि।

त्रानद्धा पिहिता नासा तनुसावप्रसेकिनी ।
गलताल्वोष्ठशोषश्च निस्तोदः शङ्खयोस्तथा ॥ १६ ॥
क्षवप्रद्वित्तरत्पर्थं वक्त्रवैरस्यमेव च ।
भवेत् स्वरोपद्यातश्च प्रतिश्यायेऽनिलात्मके ॥ १७ ॥
श्चर्य—वायु के प्रतिश्याय में नाक कुछ श्रथवा सर्वथा हक जाती है।

१—इन कारणों से शोघ्र ही प्रतिश्याय हो जाता है श्रौर दो तीन दिनों में ही वह अच्छा भी हो जाता है।

२---यह प्रतिश्याय कृष्छुसाध्य होता है।

३—विदेहोक पूर्वरूप ये हैं—पूर्वरूपाणि दश्यन्ते प्रतिश्याये भविष्यति । प्राणधूमायनं मन्य( श्राधमन्य )क्षवधुस्तालुदारणम् । कण्ठप्यंसो मुखस्रावः शिरसः पूरणं तथा ।

२३ मा०

नाक से पानी जाता है। गला, तालु एवं श्रोठ सूखने लगते हैं, पुटपुटी में व्यथा होती है, श्रिधिक ब्रींकें श्राती हैं, मुख का स्वाद विगड़ जाता है श्रीर स्वरभेद हो जाता है।

उष्णः सपीतकः स्नावो घाणात् स्नवति पैत्तिके । कृशोऽतिपाण्डुः सन्तप्तो भवेदुष्णाभिपीडितः ॥ १८ ॥ सधूममग्रि सहसा वमतीव स मानवः ।

श्रर्थ — पित के प्रतिश्याय में नाक से गर्म तथा पोला सा पानी जाता एवं रोगी करा तथा पोला हो जाता है, श्रीर उसका शारीर गर्म रहता तथा वह उन्याता का श्रिक श्रवासक करता है। यहाँ तक कि उसे मुख से भूम सहित श्राग निकलती प्रतीत होती है।

घाणात् कफ: कफकृते शोतः पाण्डः स्रवेद् बहुः । शुक्रावभासः शुक्रालो भवेद्गगुरुश्चिरा नरः ॥ १९ ॥ कण्ठ-ताल्वोष्ट-श्चिरसां कण्ड्रभिरभिपीडितः । छ॰ ड॰ अ॰ २४ अर्थ—कफु के प्रतिरयाय में नाक से शीत, रवेत एवं अधिक कफ्

निकता करता है। रागो का वर्ण श्वेत-सा, ऋाँखें श्वेत एवं सिर भारी हो जाता है ऋौर गला, तालु, ऋोठ तथा सिर में भीषण खुजली होती है।

सान्निपातिकप्रतिश्यायस्य लच्चणम् ।

भृत्वा भृत्वा प्रतिश्यायो यस्याकस्मान्त्रिवर्तते ॥ २० ॥ सम्प्रको वाऽप्यपत्रवो वा स सर्वेत्रभवः स्मृतः । सु॰नि॰ ७० २४

श्रर्थ—जिस रोगी का प्रतिश्याय प्रत्यत्त कारणों के बिना ही बार-बार उपन्न होता है श्रीर बार-बार शान्त हो जाता है, कभी शीघ ही दोष पाक हो जाता है, कभी नहीं भी होता'। इसे सन्निपात का प्रति-श्याय कहा गया है।

हुप्रप्रतिश्यायस्य तत्त्रणानि । प्रक्रियते पुनर्नासा पुनश्च परिशुष्पति ॥ २१ ॥

१---पाक तथा अपाक के वे ही लक्षण होते हैं जो कि पीनस के।

पुनरानहाते वाऽपि पुनर्वित्रियते तथा ।

निश्वासो वाऽतिदुर्गन्धो नरो गन्धान् न वेत्ति च ॥ २२ ॥

एवं दुष्टमतिश्यायं जानीयात् कुच्छ्नसाधनम् । छु॰ नि॰ अ॰ १०

ऋर्य-नाक बारबार गीली होती श्रीर बारबार स्लती है ए बारबार
रुकती तथा बारबार खुलती है । श्वास में दुर्गन्ध स्त्राती है, किन्तु रोगी
स्रन्य प्रकार की गन्धों का स्रानुभव नहीं करता । इसे कष्टसाच्य दुष्ट
प्रतिश्याय जानना चाहिये ।

रक्तजप्रतिश्यायस्य लज्ञणम् । रक्तजे तु प्रतिश्याये रक्तस्रावः प्रवर्तते ॥ २३ ॥ ताम्राक्षश्च भवेजन्तुरुरोघातपपीडितः । दुर्गन्थोच्छ्वासवदनो गन्धानपि न वेत्ति सः ॥ २४ ॥

• उ० अ० २४

श्रर्थ—रक्त के प्रतिश्याय में नाक से रक्तस्राव होता है। रोगी की श्रांखें लाल हो जाती हैं। रोगी उरोघात नामक रोग से पीडित हो जाता है। रोगी श्वास तथा मुख में विशेष प्रकार की दुर्गन्य का श्रनुमव करता है, किन्तु श्रन्य प्रकार की गन्धों का श्रनुमव नहीं कर सकता। श्रसाध्यप्रतिश्यायस्य लहाएाम्।

सर्व एव प्रतिश्याया नरस्याप्रतिकारिणः।

दुष्टतां यान्ति कालेन तदाऽसाध्या भवन्ति हि ॥२५॥

श्चर्य--उचित चिकित्सा न करानेवाले रोगी के सभी प्रतिश्वाय कुछ काल के पश्चात् दुष्ट श्वथवा श्वसाध्य हो जाते हैं। मूर्च्छन्ति चात्र क्रिमय: रवेता: स्निग्धास्तथाऽणव: ।

क्रिमितो यः शिरोरोगस्तुल्यं तेनास्य लक्षणम् ॥२६॥ प्र॰ व॰ व॰ २४

श्रर्थ—इस प्रतिश्याय में कभी कभी श्वेत, चिकने एवं सूर्म क्रिमि उत्पन्न हो जाते हैं। इसके वे ही लच्चण होते हैं जो कि क्रिमि-जनित शिरोरोग के। प्रवृद्धप्रतिश्यायानां विकारान्तरकर्तृत्वम् । वाधिर्यमान्ध्यमद्यत्वं घोरांश्च नयनामयान् ।

भोथाग्रिसादकासांश्र हुद्धाः कुर्वन्ति पीनसाः ॥२७॥ कु॰ क॰ क॰ २४

श्रर्थ—समय पर उचित चिकित्सा न होने से बढ़े हुए पीनस नीचे लिखे रोगों को उत्पन्न कर देते हैं—बहरापन, श्रन्थापन, गन्धझान का नाश, श्रांखों के रोग, शोथ, श्रिमान्य तथा खाँसी।

श्रन्येऽपि नासारोगाः।

त्रर्बुदं सप्तथा श्रोथाश्वत्वारोऽर्घश्वतुर्विधम् । चतुर्विधं रक्तपित्तमुक्तं घारोऽपि तद्विदः ॥२८॥ सु॰ ड॰ ४० १२

श्रर्थ—नाक में सात प्रकार का श्रर्शुद, चार प्रकार का शोध, चार प्रकार का श्रर्श एवं चार प्रकार का रक्तिपत्त भी हो सकता है।

> नेत्ररोगनिदानम्।' नेत्ररोगस्य हेतवः।

उष्णाभितप्तस्य जले प्रवेशाद्ध दूरेक्षणात् स्वप्नविषर्ययाच ।
स्वेदाद्ध रजो-धूम-निषेवणाच छर्देविघाताद्ध वमनातियोगात् ॥ १ ॥
द्रवात् तथाऽन्नान्निश्च सेविताच विष्मूत्र-वात-क्रम-निग्रहाच्च ।
प्रसक्त-संरोदन-कोप-शोकाच्छिरोऽभिघातादतिमद्यपानात् ॥ २ ॥
तथा ऋत्नां च विषर्ययेण क्लेशाभिघातादिनिभेशुनाच्च ।
बाष्पग्रहात् सुक्ष्मनिरीक्षणाच नेत्रे विकारान् जनयन्ति दोषाः ॥३॥

श्रर्थ—धूप, श्रिप्त श्रथवा परिश्रम से श्रमितप्त होकर श्रर्थात् पसीने से लथपश्च होकर एकाएक शीतल जल में प्रवेश करने श्रर्थात् नहाने से, दूर की वस्तुओं को निरन्तर देखने से, श्रसमय सोने से, आँख में

१—पद्मन, वरमँ, कनीनिका, रवेतभाग, कृष्णमण्डल तथा दृष्टमण्डल को "नेत्र" कहा जात है।

पिया पड़ने से, धूल अथवा धूट्टां डाधिक लगने से, विकृत बमन रोकने से, अधिक वमन होने से, रात्रि में द्रव भोजन खाने से, विष्टा, मूत्र एवं अधोवायु का वेग रोकने से, निरन्तर रोने से, क्रोध एवं शोक करने से, सिर में चोट लगने से, अधिक मद्यपान करने से, ऋतुओं के बिगड़ने से, मानसिक क्लेश से, अधिक मैथुन से, आँसुओं के रोकने से एवं सूदम वस्तुओं को देर तक देखने से कुपित हुए दोष आँखों में रोग उत्पन्न कर देते हैं।

श्रथाभिष्यन्दरोगस्य प्रकाराः।

वातात् पित्तात् कफाइ रक्तादभिष्यन्दश्रतुर्विधः । प्रायेण जायते घोरः सर्वनेत्रामयाकरः ॥ ४ ॥

श्रर्थ—वात, पित्त, कफ तथा रक्त के विकार से "श्रिभिष्यन्द" नामक रोग हो जाता है। यह प्रायः बड़ा कष्टदायी होता श्रीर इससे श्रांख के सभी रोग हो सकते हैं। इसी को श्रांख श्राना या "श्रांख दुखना" कहा जाता है।

वाताभिष्यन्दस्य लच्चणम् ।

निस्तोदन-स्तम्भन-रोमहर्ष-संघर्ष-पारुष्य-शिरोऽभितापाः।

विशुष्कभावः शिशिराश्रुता च वाताभिपन्ने नयने भवन्ति ॥ ५ ॥

० उ० ६

श्चर्य—वायु के श्वभिष्यन्द के निम्निलिखित ल्लाग होते हैं—व्यथा. श्वांख घुमाने में असमर्थता, रोमाञ्च, रड़क (जैसे श्रांख में बालु का कण पड़ गया हो), खरदरापन, शिर में पीड़ा, सूखी श्रांखें दुखना अथवा शीत श्रांसु निकलना।

पैत्तिकाभिष्यन्दस्य लत्त्रणम् ।

दाहमपाकौ शिशिराभिनन्दा धूमायनं वाष्पसमुच्छ्रयश्च । उष्णाश्रता पीतकनेत्रता च पित्ताभिपन्ने नयने भवन्ति ॥ ६ ॥

सु॰ उ॰ अ॰ ६

१-- श्रियों को मासिक धर्म रुकने से भी नेत्ररोग हो जाते हैं।

श्रथं—पित्त के श्रभिष्यन्द में 'निम्न लिखित लच्च्या होते हैं—दाह, भीषण पाक, (कदाचित्) शीत वस्तु के लेपादि से शान्तिलाभ, श्रांख से घुश्रां-सा निकलता प्रतीत होना, श्रत्यधिक श्रांसू ।निकलना, गर्म श्रांसू निकलना, श्रांख पीली हो जाना ।

श्रीष्मकाभिष्यन्दस्य लह्मणम् ।

उष्णाभिनन्दा गुरुताऽक्षिशोथः कण्डूपदेहावतिशीतता च ।

स्नावो ग्रुहु: पिच्छिल एव चापि कफाभिपन्ने नयने भवन्ति ।।।।। स॰ उ॰ अ॰ ६

अर्थ—कफ के श्रभिष्यन्द में निम्न लत्त्र्या होते हैं—गर्म (लेप प्रत्तालनादि) से मुख का अनुभव, श्राँख में भारीपन एवं शोथ, खुजली तथा मैल या कीचड़ या गिड़ का श्रधिक श्राना, शीत श्रधिक झात होना बार २ लसदार पानी निकलना ।

रक्तजाभिष्यन्दस्य लक्षणम् ।

ताम्राश्रुता लोहितनेत्रता च नाड्यः समन्तादतिलोहिताश्र ।

पित्तस्य लिङ्गानि च यानि तानि रक्ताभिपन्ने नयने भवन्ति ॥८॥

डार्थ—रक्त के श्रभिष्यन्द में निम्न लत्ताय होते हैं—लाल श्राँसू जाना, श्राँखें लाल होना एवं श्राँख में श्रत्यन्त लाल सिराएँ दिखलाई देना श्रौर पित्ताभिष्यन्द के जितने लत्ताया कहे गये हैं, वे सभी इसमें भी पाये जाते हैं।

अथाधिमन्थस्य लत्त्रगुम्।

<mark>द्वद्वे</mark>रेतैरभिष्यन्दैर्नराणामक्रियावताम् ।

तावन्तस्त्वधिमन्थाः स्युर्नयने तीत्रवेदनाः ॥९॥ सु० उ० अ० ६

श्रर्थ—उचित चिकित्सा न करानेवाले रोगियों के बढ़े हुए अभि-ष्यन्दों से चार ही प्रकार के "अधिमन्थ" नामक रोग हो जाते हैं। इनमें बड़ी भीषण पीड़ा होती हैं।

श्रथास्य लुज्ञणान्तरम् ।

**ज्ञत्याच्यत इवात्यर्थं नेत्रं निर्मध्यते तथा।** 

शिरसोऽर्भ च तं विद्याद्धिमन्थं स्वलक्षर्णैः ॥१०॥ छ॰ कि॰ क॰ ६ द्यर्थ—वायु द्यादि के द्यभिष्यन्दों के उपर्युक्त लक्षर्णों के द्यतिरिक्त इसमें निम्न लिखित दो लक्षर्ण और उत्पन्न हो जाते हैं। १–मानों नेत्र उखाड़ा जा रहा है। २–स्राधा शिर मानों मथा जा रहा है।

नोट--रोगी इसी प्रकार के शब्दों में श्रपना कष्ट सुनाया करता है। अथात्र दोषभेदेन कालाविधः।

इन्याइ दृष्टि श्लैष्मिकः सप्तरात्रादधीमन्थो रक्तजः पश्चरात्रात् । त्राषड्रात्राद्व वातिको वै निइन्यात् मिथ्याचारात् पैत्तिकः सद्य एव ॥ स॰ व॰ ध॰ ६

श्रर्थ—कफ का श्रधिमन्थ सात रात्रियों में, रक्त का पाँच रात्रियों में, वायु का छः रात्रियों में एवं पित्त का शीघ ही (एक दो रात्रियों में) दृष्टि (दर्शनशक्ति) को नष्ट कर देता है। यह सब श्रनुचित श्राहार-विहार से होना सम्भव है। श्रन्यथा नहीं होता'।

सामनेत्ररोगस्य लच्चणम्।

उदीर्णवेदनं नेत्रं राग-शोथ-समन्वितम्।

घर्ष-निस्तोद-श्रुला-ऽश्रयुक्तमामान्वितं विदु: ।।१२।। सु॰ उ० अ० ६

श्चर्य-जिस श्राँख में अत्यन्त पीड़ा, वर्ण लाल, शोथ, रड़क, व्य-था, शूल एवं श्राँमुओं की श्रधिकता हो, उसे श्राम दोष से युक्त सम-मना चाहिये।

निरामनेत्ररोगस्य लच्चणम् ।

मन्द्वेदनता कण्ड्रः संरम्भाश्रुपशान्तता ।

प्रशस्तवर्णता चाक्ष्णोः संपद्धं दोषमादिशेत् ॥१३॥ सु॰ ड॰ ड॰ ६

<sup>9—</sup>इस रोग में दिनशब्द को छोबकर रात्रिशब्द का उल्लेख इस लिये किया गया है कि रात्रि में ही अधिक कष्ट होता है। रोगी हाय २ करते रात विताता है। उचित चिकित्सा होने से रोगी की दृष्टि बच भी जाती है और यदि मारी बाती है तो किसी प्रकार से सुधर नहीं सकती।

च्चर्य—जिस ब्रॉल में वेदना कम हो गई हो, खुजली हो, शोथ या उठाव या जोर तथा ब्रॉसूशान्त हो गये हों ब्रीर स्वाभाविक वर्ण हो गया हो, उस में "दोष पाक" हो गया समकता चाहिये। अर्थात् इस दशा में दोष पच जाने से ब्रॉल सर्वथा अच्छी हो जाती है।

े सरोथान्तिपाकस्य लत्तराम् । 'कण्डूपदेहाश्रुयुतः पक्कोदुम्बरसंनिभः । संरम्भो पच्यते यस्तु नेत्रपाकः स कोथजः ।

शोथहीनानि लिङ्गानि नेत्रपाके त्वशोथने॥१४॥ बु॰ उ॰ अ॰ ६ अर्थ—शोथ से होने वाले नेत्रपाक में खुजली, मैल तथा आँसू आते हैं, आँख पके गूलर फल के समान लाल हो जाती है और शोथ होकर अन्त में पक जाती है। शोथ के बिना ही जो "नेत्रपाक" होता है, उस में शोथ के अतिरिक्त उपर्यक्ष सब लच्चण होते हैं।

हताधिमन्थस्य लत्त्राग्म्।

उपेक्षणादक्षि यदाऽधिमन्थो वातात्मकः सादयति शसद्ध । रुजाभिरुग्राभिरसाध्य एव हताधिमन्थः खत्नु नाम रोगः ॥ १५॥

सु॰ उ॰ अ॰ ६

अर्थ — जब वायु के "अधिमन्य" की उपेत्ता की जाती है अर्थात् उचित चिकित्सा नहीं की जाती तब वह भीषण पीड़ाओं से आँख (नेत्रबुद्युद्) को नष्ट कर देता है और यह "हताधिमन्य" नामक रोग सर्वथा असाध्य होता है।

<sup>9-</sup> इस रोग में थ्रांख का डेला (नयन बुद्बुद्) पक जाता है, पीव निकलने लगती है, अपन में थ्रांख बैठ जाती है, रोगी सदा के लिए अन्या या काना हो जाता है। बहुत लोग थ्रांख वाजा बनने के लिये पत्थर की कृत्रिम श्रांख लगवा सेते हैं। इस रोग के लक्षणों को सुक्रुत से उद्भृत करते समय माध-पजी ने एक पूरा ही श्लोक छोड़ दिया है। सम्भवतः इस लिये कि रोगो की श्रांख तो नष्ट हो ही जायगी अधिक लक्षण लिखने से क्या प्रयोजन ?।

# वातपर्ययस्य लच्चम्।

वारं वारं च पर्येति भ्रुवौ नेत्रे च मास्तः।

रुजश्च विविधास्तीवाः स झेयो वातपर्ययः ॥१६॥ सु० व० व० व अर्थ—वायु बार बार भों से आँख में और आँख से भों में दौड़ती है तथा अनेक प्रकार की भीषण् पीड़ायें होती हैं। यह "वातपर्यय" कहलाता है

शुष्काचिपाकस्य लच्चाम् ।

यत् क्रिणितं दारुण-रूक्ष-वर्त्म संदद्धते चाविलदर्शनं यत् । सुदारुणं यत्प्रतिबोधने च शुष्काक्षिपाकोपहतं तदक्षि ॥ १७ ॥ सः वः वः वि

श्रर्थ—जो नेत्रबुद्बुद् (डेला) वरीनी से ढक जाता है, बरीनी श्रमु-न्दर एवं रूच हो जाती है, दाह होता है, दर्शनशक्ति दुर्बेख या नष्ट हो जाती है, श्राँख खोलने में श्रसमथता होती है, इसे 'शुष्काचिपाक कहा जाता है।

श्चन्यतोवातस्य लच्चणम्।

यस्यावट्टकर्ण-शिरो-इनुस्थो मन्यागतो वाऽप्यनिलोऽन्यतो वा । कुर्याद्वजं वै भ्रुवि लोचने च तमन्यतोवातम्रदाहरन्ति ॥ १८ ॥

० उ० अ० ६

श्रर्थ—जिस रोग में श्रवटु (घाटा वा गाटा) कान, सिर एवं इतु में रहने वाला श्रथवा मन्या नामक सिराओं में रहने वाला श्रथवा श्रन्य स्थानों (पीठ श्रादि) में रहने वाला वायु भीं तथा श्रांखों में पीड़ा उत्पन्न करता है, उस रोग को 'श्रन्यतोवात" कहते हैं।

श्रम्लाध्युषितस्य लच्चग्यम् ।

श्यावं लोहितपर्यन्तं सर्वं चाक्षि पपच्यते ।

सदाहकोथं सास्नावमम्लाध्युषितमम्लतः ॥ १९ ॥ सु॰ नि॰ अ॰ ६ अर्थ--जिस रोग में आँस कुछ काली-सी हो जाती है, सब ओर से

१-इस रोग से नेत्र बुद्बुद् सूखकर छोटा हो जाता है।

लाल हो जाती है, दाह श्रीर शोथ होता है, पानी जाने लगता है, उसे श्रम्ल पदार्थों के सेवन से उत्पन्न होने के कारण "श्रम्लाष्युषित" कहते हैं।

सिरोत्पातस्य लच्चणम् ।

अवेदना वाऽपि सवेदना वा यस्याक्षिराज्यो हि भवन्ति ताम्राः । मुहुर्विरज्यन्ति च याः स ताद्यज्याधिः सिरोत्पात इति प्रदिष्टः ॥

श्रर्थ—पीड़ारहित श्रथवा पीड़ासहित श्रांख (ढेले) की सिराएँ एकाएक लाल हो जाती हैं श्रोर एकाएक लालिमारहित श्रर्थात् पूर्व-वत् हो जाती हैं। इस प्रकार की व्याधि को "सिरोत्पात" कहा जाता है।

सिराग्रहर्षस्य लज्ञणम् ।

मोद्यात् सिरोत्पात उपेक्षितस्तु जायेत रोगस्तु सिराप्रदर्षः । ताम्राभमस्रं स्रवति श्गाढं तथा न शक्रोत्यभिवीक्षितुं च ॥२१॥

० उ० ।

श्रर्थ—यदि उपर्युक्त सिरोत्पात की उचित चिकित्सा न की जाय तो "सिराप्रहर्प" नामक रोग हो जाता है। इस से लाल वर्ण का पानी अत्यधिक निकलने लगता है और वह रोगी सामने की श्रोर (प्रकाश को भी) नहीं देख सकता।

कृष्ण भाग के रोग— सत्रणशुक्तस्य लच्चणम्।

निमग्ररूपं तु भवेद्ग हि कृष्णे सुच्येव विद्धं प्रतिभाति यद्ग वै । स्नावं स्वयेदुष्णमतीव यच तत्सत्रणं शुक्रसुदाहरन्ति ।। २२ ॥

सु० उ० ४० ५

श्चर्थ—नेत्रबुद्बुद् के काले भाग में सुई से बिंबे हुए के समान गढ्ढा सा दिखाई देता है और उसमें से श्रत्यन्त उच्चा पानी निकला करता है' इसे त्रण सहित शुक्र या शुक्र कहते हैं।

१-किसी किसी में से पानी नहीं निकलता।

सत्रगाशुक्तस्य साम्यासाम्यत्वम् । दृष्टेः समीपे न भवेत्तु यच न चावगाढं न च संस्रवेद् हि । अवेदनं वा न च युग्मशुक्तं तिसिद्धिमायाति कदाचिदेव ॥ २३ ॥

श्चर्य—वही उपर्युक्त शुक्र यदि दृष्टि के सर्वथा समीप न हो, अत्यन्त गहरा न हो, उसमें से स्नाव न निकत्ते, पीड़ा न हो श्चीर ना दो शुक्र हों तो वह किसी प्रकार अच्छा हो सकता है।

श्रव्रणशुक्तस्य लच्चणम् ।

ैस्यन्दात्मकं कृष्णगतं सचोषं शङ्खेन्दुकुन्दमतिमावभासम् । वैहायसाभ्रमततुप्रकाशमथात्रणं साध्यतमं वदन्ति ॥२४॥ छ० व० ७० ०

श्रथं—श्रभिष्यन्द के कारण नेत्र के कृष्ण्मगण्डल में होनेवाला, टीस से युक्त, शंख तथा चन्द्रमा श्रथवा कुन्दपुष्प के समान श्वेत एवं निर्मल श्राकाश में प्रायः सायंकाल दिखाई देनेवाले पतले बादल के दुकड़े के सदश त्रण्यहित शुक्र होता है। यह सर्वथा साध्य है श्रर्थात् सामान्य चिकित्सा से ही श्रच्छा हो जाता है।

श्रवणशुक्तस्य कृच्छुसाध्यत्वम् ।

गम्भीरजातं बहुलं च शुक्लं चिरोत्थितं चापि वदन्ति कृच्छुम्। अर्थ-गहरा, विस्तृत एवं पुराना (एक वर्ष से अधिक समय का) अग्रारहित शुक्र भी कष्टसाध्य कहा जाता है।

विच्छन्नमध्यं पिशितादृतं वा चलं सिरासुक्ष्ममदृष्टिकुच ।

द्वित्वम्गतं लोहितमन्ततश्च चिरोत्थितं चापि विवर्जनीयम् ॥ २५ ॥ स॰ उ॰ अ॰ ५

त्रर्थ-नीच से कटा हुआ (दो या कई भागों में विभक्त) मांस से ढका हुआ, अपना स्थान बदलनेवाला, सूच्म सिरात्रों से ज्याप्त,

<sup>9—</sup>इसी की फूलाया फूली कहा जाता है। वर्णमेद से यह तीन प्रकार का होता है— 9 शंख (सर्वया स्वेत), २ चन्द्रमा (रक्तता की लिए स्वेत), ३ क्रन्द (क्रण्णता की लिये स्वेत)।

दर्शनशक्ति को नष्ट करनेवाला, दो पटलों (परदों) में भया हुवा, सब स्रोर से लाल एवं पुराना त्रग्णरहित भी शुक्र स्रसाध्य होने के कारण त्याज्य होता है।

श्रस्य प्रकारान्तरेगासाध्यलच्चणानि ।

उष्णाश्रुपातः पिडका च नेत्रे यस्मिन् भवेन्मुद्गगिनभं च शुक्लम्। तदप्यसाध्यं प्रवदन्ति केचिदन्यच्च यत् तित्तिरिपक्षतुरुयम् ॥२६॥ स॰ उ॰ अ॰ ४

श्रथं—जिस नेत्र में से गर्म श्राँस निकलते हों श्रथवा उसमें फुन्सी हो गई हो श्रथवा मूंग के दाने का-सा शुक्र हो (यह दो परदों में होता है) श्रथवा जो तीतर के पंख-जैसा (विचित्र धुमिला) हो उसे छु श्राचार्य श्रसाध्य मानते हैं, किन्तु महर्षि विदेह तो इसे साध्य ही मानते हैं।

श्रक्तिपाकात्ययस्य लक्त्रणम्।

श्वेतः' समाक्रामित सर्वतो हि दोषेण यस्यासितमण्डलं च । तमक्षिपाकात्ययमक्षिरोगं सर्वात्मकं वर्जयितव्यमाहुः ॥ २७ ॥

सु॰ उ॰ अ० ५

श्चर्य—जिस रोग में दोष से उत्पन्न हुई रवेतता काले मण्डल को सब श्रोर से ढाँक लेवी हैं, उस सान्निपातिक नेत्ररोग को "श्रिचिपा-कात्यय" कहते हैं श्रीर यह श्रसाध्य होता है। श्रजकाजातस्य लच्चणम्।

त्रजापुरीपप्रतिमो रुजावान् सलोहितो लोहितपिच्छिला**सः** ।

विगृह्म कृष्णं प्रचयोऽभ्युपैति तचाजकाजातमिति व्यवस्येत् ॥२८॥ सु॰ ड॰ अ॰ ४

श्रर्थ—बकरी की मेंगन-जैसा, पीड़ा से युक्त, (केवल उत्पन्न होते समय पीड़ा होती है फिर नहीं) कुछ लाल एवं लाल तथा चिपचिपे या लसीले पानी को बहानेवाला, काले मण्डल में प्रचय या प्रवर्द्धन या मस्सा निकल श्राता है। इसे "श्रजकाजात" कहा जाता है।

१-इस फली से सम्पूर्ण कृष्णमण्डल स्वेत हो जाता है ।

#### दृष्टि के रोग—

श्रदणः प्रथमपटलस्थितदोषाणां लज्ञ्णानि ।

मथमे पटले दोषा यस्य दृष्ट्यां व्यवस्थिताः ।

त्रव्यक्तानि स रूपािए कदाचिद्य पश्यति ॥२९॥ द्व॰ उ॰ अ॰ **॰** 

अर्थ—हिष्ठ के पिहले श्रर्थात् भीतर के परदे में जब दोष हो जाते हैं तो वह रोगी सभी पदार्थी श्रर्थात् श्रज्ञरादि को स्पष्ट नहीं देख सकता, परन्तु कभी २ देख भी सकता है।

द्वितीयपटलस्थदोषस्य लच्चराम्।

दृष्टिर्भुत्रं विद्वलित द्वितीयं पटलं गते ।
मिक्षका मशकांश्रापि जालकानि च पश्यति ॥ ३० ॥
मण्डलानि पताकांश्र मरीचीन् कुण्डलानि च ।
पिर्प्लवाँश्र विविधान् वर्षमश्रं तमांसि च ॥ ३१ ॥
दूरस्थानि च रूपाणि मन्यते स समीपतः ।
समीपस्थानि दूरे च दृष्टेर्गोचरविश्रमात् ॥ ३२ ॥
यत्रवानिष चात्यर्थं सूचीपाशं न पश्यति । इ० ड० ७० ७

श्रथं — दूसरे परदे में जब दोष श्रा जाते हैं तो नीचे लिखे लच्छण होते हैं — दृष्टि व्याकुल हो जाती है, मिक्खयां, मच्छड़ एवं जाल (जैसे मकड़ी का जाला) दिखाई देते हैं। गोल २ मण्डल, ध्वजा, मरीचियाँ (जो कि रेत में चमकते हुए कणा दिखाई दिया करते हैं), कुण्डल की श्राकृतियाँ, अनेक प्रकार की जल की लहरें, वर्षा (बरसते हुए जल कर्णा) बादल तथा श्रम्थकार दिखाई पड़ते हैं। वह रोगी दूर की वस्तुओं को समीप मानता है एवं समीप की वस्तुओं को दूर मानता है। यह सब दृष्टि का विषय श्रम्थविश्व हो जाने से होता है। यही कारण है कि ऐसा रोगी यत्न करने पर भी सूई का नाका (छिद्र) नहीं देख सकता।

हतीयपटलगतदोषस्य लच्चास्। जिन्दीं पश्चित नाधस्तात् हतीयं पटलं गते ॥ ३३ ॥ महान्त्यिप च रूपाणि छादितानीव चाम्बरेः । कर्ण-नासा-ऽक्षि-हीनानि विकृतानीव पश्चित ॥ ३४ ॥ यथादोषं च रज्येत दृष्टिदोंषे बलीयसि । छु॰ उ॰ अ॰ ॰

श्चर्य—जब दोष तीसरे परदे में श्चा जाता है तो प्राणी ऊपर देख सकता है परख्न नीचे नहीं देख सकता' है। बड़ी से बड़ी वस्तुओं को कपड़ों से ढकी हुई सी देखता है। किसी मनुष्य को देखते समय उसे कान, नाक, एवं श्चाँख से हीन श्चथवा बिगड़ी हुई शकल का देखता है। इस रोग में जो दोष प्रबल होता है उसी के श्चनुसार दृष्टि का वर्ण भी हो जाता है।

अन्येऽपि दृष्टिविकाराः।

त्राधःस्थिते समीपस्थं दूरस्थं चोपरिस्थिते ॥ ३५ ॥ पार्श्वस्थिते तथा दोषे पार्श्वस्थं नैव पश्यित । समन्ततः स्थिते दोषे संकुलानीव पश्यित ॥ ३६ ॥ दृष्टिमध्यस्थिते दोषे महद्द हस्वं च पश्यित । दिधा स्थिते द्विधा पश्येद्व बहुधा चानवस्थिते ॥ ३७ ॥ दोषे दृष्ट्याश्रिते तिर्यक् स एकं मन्यते द्विधा । छ॰ व॰ क॰ •

श्चर्य—उसी तीसरे परदे के निचले भाग में दोष रहने से समीप की वस्तुओं की, उपर के भाग में रहने से दूर की वस्तुओं को तथा दाहिनी एवं बाईं श्चोर रहने से दाहिनी श्चोर श्चौर बाईं श्चोर की वस्तु-श्चों को नहीं देख सकता। सब श्चोर दोष के रहने से वस्तुओं को प्रथक्र नहीं देख सकता। दृष्टि के मध्य में दोष के रहने से बड़ी वस्तु छोटी दिखाई पड़ती है। दोष के दो भागों या कई भागों में विभक्त होने से

१- लक्य के अतिरिक्त नीचे के अंशों को नहीं देख सकते।

एक ही वस्तु दो या कई दिखाई पड़ती हैं। दृष्टि में दोष तिरछा रहने से भी एक वस्तु दो दिखाई पड़ती हैं।

चतुर्थपटलगतदोषस्य लज्ञयाम् । तिमिराख्यः स वे दोपश्चतुर्थं पटलं गतः ॥ ३८ ॥

रुणद्धि सर्वतो दृष्टिं लिङ्गनाशमतः परम् । त्रम्भित्रिष् तमोभृते नातिरूढे महागदे ॥ ३६ ॥ चन्द्रादित्यो सनक्षत्रावन्तरिचे च विद्युतः ।

निर्मतानि च तेजांसि भ्राजिष्णुत्यथ पश्यति॥४०॥ छ॰ छ॰ अ॰ ७

श्चर्य—चौथे परदे में जब दोष आ जाता है तो तिमिर नामक रोग हो जाता है। इस में दोष सब श्चोर से दृष्टि को ढाँक लेता है। (दोष धीरे २ श्चौर कभी २ सहसा भी ढँक लेता है) इसी से "लिंगनारा" या अन्धापन कहा जाता है। (लिंग श्चर्यात् दर्शनराक्ति का नारा या नष्ट हो जाना "लिंगनारा" कहलाता है) इस अन्धकरस्वरूप महाव्याधि के भीषण रूप धारण करने के पहिले रोगी चन्द्रमा, सूर्य, तारे, मेघों में चमकती हुई बिजली एवं और भी निर्मल (स्वच्छ) चमकने वाली वस्तश्चों की देख सकता है।

स एवं लिङ्गनाशस्तु नीलिका काचसंज्ञितः। सु॰ ड॰ ब॰ ७

अर्थ-उपर्युक्त लिंगनाश "नीलिका" एवं "काच" के भेद से दो प्रकार का होता है।

े दोषभेदाद् विचित्ररूपदर्शनम् । वातेन चापि रूपाणि भ्रमन्तीव च पश्यति ॥ ४१ ॥ स्रावित्नान्यरूणाभानि व्याविद्धानीव मानवः ।

श्चर्य—वायु से उत्पन्न होने वाले लिंगनाश की प्रारम्भिक श्रवस्था में मनुष्य को सभी वस्तुएँ घूमती हुई सी, धुमिली लाल सी एवं टेढ़ी-मेढी सी दिखलाई पड़ती हैं।

<sup>¹</sup>पित्तेनादित्य-खद्योत-शक्रचाप-तडिद्ग-गुणान् ॥ ४२ ॥

१—चर्तमान पुस्तकों में मूल को छोड़कर निम्न पाठ को रखने की न जाने क्या ब्रावहयकता थी-'वृत्यतक्षेव शिखिनः सर्वे नीलंच परयति ।'

शिखिवई विचित्राणि नीलकृष्णानि पश्यति ।

त्रप्रध-पित्त से होने वाले लिंगनाश की प्रारम्भिक दशा में मनुष्य सूर्य, जुगनू, इन्द्रधनुष एवं बिजली की लहरों को देख सकता है। सभी बस्तुएँ मोर के पंखों के समान विचित्र, नीली एवं काली-सी दिखाई पड़ती हैं।

कफेन पश्येद्रृपाणि स्त्रिग्धानि च सितानि च ॥ ४३ ॥ ( पश्येदस्रक्ष्माण्यत्यर्थं व्यस्रमेवाभ्रसंप्तवम् । )

सिललप्लावितानीव परिजाड्यानि मानवः।

श्चर्य—कफज लिंगनारा की प्रारम्भिक दशा में सभी वस्तुएँ चिकनी, रवेत श्चीर मोटी दिखाई देती हैं। बादलों से रहित श्चाकारा भी बादलों से ढँका ज्ञात होता तथा सभी द्रव्य जल में डूबे श्चथवा भींगे दिख लाई पड़ते हैं।

पश्येद्ग रक्तेन रक्तानि तमांसि विविधानि च ॥ ४४ ॥ स सितान्यांप कृष्णानि पीतान्यांप च मानवः।

ऋर्य—रक्त के लिंगनारा की पहिली श्रवस्था में सभी द्रव्य लाल एवं श्रनेक प्रकार के श्रन्थकार तथा श्वेत पदार्थ भी काले श्रथवा पीले ज्ञात होते हैं।

सिन्नपातेन चित्राणि विष्तुतानीव पश्यति ॥ ४५ ॥

बहुधा च द्विधा चापि सर्वाण्येव समन्ततः ।

हीनाधिकाङ्गान्यपि तु ज्योतींष्यपि च भूयसा ॥ ४६ ॥ सु॰ उ० अ० ७

श्रर्थ—सन्निपात से होनेवाले लिंगनाश की प्रारम्भिक दशा में सभी पदार्थ विचित्र एवं चख्रल दिखलाई पड़ते हैं। एक ही द्रव्य अनेक श्रयवा दो श्रयवा सब श्रोर श्रयवा अंग हीन (श्रपूर्ण) श्रयवा श्रिक्तंग (यथा दो सींगवाली गौ चार सींगवाली) दिखलाई पड़ता है, किन्सु चमकदार द्रव्यों को भली प्रकार देख सकता है।

परिम्लायिसंज्ञस्य तिमिरस्य लन्नगाम्।

पित्तं कुर्यात् परिम्लायि मूर्च्छितं पित्ततेजसा ।

पीता दिशस्तु खद्योतान् भास्करं चापि पश्यति ॥४७॥ विकीर्यमाणान् खद्योतैर्द्वक्षांस्तेजोभिरेव वा । सु॰ ड॰ अ॰ ७

श्रथं—चतुर्थ पटल गत पित्त पित्त के तेज श्रर्थात् रक्त से मिलकर ''परिम्लायि" नामक रोग को उत्पन्न कर देता है। इस रोग के रोगी को दिशाएँ पीली एवं जुगत् दिखलाई पड़ते हैं श्रीर ऐसा झात होता है जैसे सूर्य का उदय हो रहा हा तथा वृत्तों पर जुगत् श्रथवा अन्यान्य चमकनेवाले पदार्थ रखे हों।

वक्ष्यामि षडिवधं रोगैर्लिङ्गनाश्चमतः परम् ॥ ४८ ॥

अर्थ-इस के अनन्तर वर्णीया रंगों के भेद से छः प्रकार का "लिंगनाश" कहा जायगा।

#### वातादिरागोद्देशः।

'रागोऽरुणो मास्तजः प्रदिष्टो म्लायो च नीलश्च तथैव पितात् । कफात् सितः शोणितजः सरक्तः समस्तदोषप्रभवो विचित्रः ॥४९॥

ऋर्थ—िलंगनाश (मोतिया) का वर्ण वायु से लाल, पित्त से मिलन तथा नीला, कफ से श्वेत, रक्त से लाल एवं सिन्नपात से विचित्र (रंग-विरंग) होता है।

श्रथात्र वातिकरागस्यैव वैशिष्टचम् ।

त्रक्षां मण्डलं दृष्टचां स्थूलकाचारु**णप्रभम् । सु० द० अ०**७

लिंगनाशों का विशद वर्णन निम्न प्रकार से है-

ऋर्थ — दृष्टि पर वातजनित ऋरुण लिगनाश ( मोतिया ) मोटे काँच के समान तथा कुछ लाल रंग का गोला होता है।

परिम्लायितिमिरस्य विशेषल्ज्ञग्रानि ।

परिम्लायिनि रोगे स्यात् म्लायि नीलं च मण्डलम् ॥ ५० ॥ दोषक्षयात् स्वयं तत्र कदाचित् स्यातु दर्शनम् । छ॰ उ॰ अ॰ •

अर्थ-परिम्लायी नामक रोगमें जो "लिंगनाश" होता है, वह मलिन,

१—ये रंग गहरे नहीं होते ऋषितु हस्के से होते हैं।

२४ मा०

नीला और गोल होता है'। इसमें कभी कभी स्वयं दोष चीया हो जाने से दीखने भी लगता है।

लिङ्गनाशस्य विशिष्टलच्चणानि ।

प्रक्षां मण्डलं वातात् चञ्चलं परुषं तथा ॥ ५१ ॥

पित्ताद्व मण्डलमानीलं कांस्याभं पीतमेव च ।

श्लेष्मणा बहुलं पोतं शङ्ख-कुन्देन्दु-पाण्डरम् ॥ ५२ ॥

चलत्पन्नपलाशस्थः शुक्तो बिन्दुरिवाम्भसः ।

मृज्यमाने च नयने मण्डलं तद्व विसर्पति ॥ ५३ ॥

प्रवाल-पन्नपत्राभं मण्डलं शोणितात्मकम् ।

दृष्टिरागो भवेत् चित्रो लिङ्गनाशे त्रिदोषने ।

यथास्वं दोषलिङ्गानि सर्वेष्वेच भवन्ति हि ॥ ५४ ॥

40 30 80 @

धर्य—वायु से लिंगनाश कुछ लाल, गोल, चछल, ( इघर उधर इटने वाला ) एव खरदरा; पित्त से गोल, नीला, कांस्यधानु के वर्णवाला एवं पीला; कफ से मोटा, पीला, शांख, कुन्द एवं चन्द्रमा के समान तथा पीलापन लिये श्वेत होता है एवं कमलपुष्प की पंखड़ी पर स्थित जल-बिन्दु के समान श्वेत (कुछ लाली लिये ) होता है। कभी कभी छाँख हाथ के मल देने पर यह मण्डल फैल जाता है। रक्तसे मूंगे तथा ( गहरा लाल ) पद्मपत्र ( कुछ लाल ) के समान लाल होता है। त्रिदोष के लिंगनाश का रंग विचित्र होता है। छाधक क्या लिलें प्रत्येक लिंगनाश का रंग विचित्र होता है। छाधक क्या लिलें प्रत्येक लिंगनाश के रंग विचित्र होता है। छाधक क्या लिलें प्रत्येक लिंगनाश के रंग विचित्र होता है।

नेत्ररोगाणां परिगणनम्।

पढ् लिङ्गनाशाः पडिमे च रोगा दृष्ट्याश्रयाः पट् च पडेव वाच्याः।

सु॰ उ॰ अ॰ ७

९ — सम्भवतः पित्त की ऊष्मा से पिघल कर इधर उधर इट जाने के कारण ऐसा होता है।

ऋर्य—इ: उपर्युक्त "लिंगनारा" तथा छ: नीचे लिखे "पित्तविदग्धदृष्टि" ऋादि रोग मिलाकर बारह दृष्टि के रोग कहे जाते हैं।

िष्तविद्यम्बद्ध्वेत्त्रणानि । पित्तेन दुष्टेन सदा तु दृष्टिः पीता भवेद्यस्य नरस्य किंचित् ॥५५॥ पीतानि रूपाणि च तेन पश्येत् स वै नरः पित्तविद्य्यदृष्टिः । प्राप्ते तृतीयं पटलं तु दोषे दिवा न पश्येन्त्रिश्च चेक्षते सः ॥५६॥ रात्रो च श्रीतानुगृहीतदृष्टिः पित्तान्यभावाद्षि तानि पश्येत् ।

अर्थ — दूषित पित्त के कारण मनुष्य की दृष्टि कुछ पीली हो जाती हैं। अतएव उसे सभी दृश्य पीले ही दिखाई पड़ते हैं। इस रोगी को "पित्तविद्ग्धदृष्टि" (अर्थान् पित्त से विकृत हो गई है दृष्टि, जिसकी) कहा जाता है। जिस रोग में दोष (पित्त) तीसरे परदे में रहता है और यह रोगी दिन में नहीं देख सकता किन्तु रात्रि में देखता है। रात्रि में स्वाभाविक शीत उसकी दृष्टि पर कम्गण करता है और पित्त कुछ घट जाता है। इसी लिये रोगी रात्रि में देखने लगता है।

श्लेष्मविदग्धदष्टेर्लज्ञणानि ।

तथा नरः रलेष्मिवदग्धदृष्टिस्तान्येव शुक्कानि तु मन्यते सः ॥५७॥ त्रिषु स्थितोऽत्यः पटलेषु दोषो नक्तान्य्यमापाद्यति प्रस्द्धा दिवा स सूर्यानुगृहीतदृष्टिः पश्येतु रूपाणि कफाल्पभावात् ॥५८॥ सु॰ उ० सु॰ ७ स्थिति हो। वह रोगी स्थीतहर्गे को प्रकार मनुष्य "रलेष्मिवदग्धदृष्टि" भी होता है। वह रोगी स्थीतहर्गे को प्रकार मनुष्य

अथ—इसा प्रकार मनुष्य "श्लेष्मविद्ध्यहाँ?" भी होता है। वह रागी सभी द्रव्यों को श्वेत ही देखता है। तीं नों ही परदों में जब थोड़ा सा दोष (कफ) आ जाता है तो "नकान्ध्य" या "राज्यन्ध्य" या रतीं घी को सहसा (कभी २ विलम्ब से भी) उत्पन्न कर देता है। यह रोगी दृष्टि पर सूर्य भगवान की कृपा होने से एवं कफ के घट जाने से दिन में देखने को समर्थ होता है।

धूमदशिनो लत्तरणानि ।

शोक-ज्वरा-ऽऽयास-शिरोऽभितापैरभ्याहता यस्य नरस्य दृष्टि:।

भूमांस्तथा पश्यति सर्वभावान् स भूमदंशीति नरः प्रदिष्टः ॥५६॥ सु॰ उ॰ अ॰ ७

श्रर्थ—शोक, ज्वर, परिश्रम (नेत्रसम्बन्धी) एवं शिर<sup>े</sup> पर सन्ताप (धूप लगने या गर्म वस्तु को शिर पर उठाने से) लगने से जिस मतु-ष्य की दृष्टि दृषित हो जाती है वह सभी दृट्यों को धृमिल देखता है। श्रतएव उसे "धूमदर्शी" कहा जाता है।

#### ह्रस्वजाड्यरोगस्य लच्चणम् ।

यो हस्वजाड्यो दिवसेषु कृच्छाद हस्वानि रूपाणि च तेन पश्येत्। अर्थ-एक "हस्वजाड्य" नामक रोग होता है इस रोग के कारण प्राणी दिन में भी छोटी वस्तुओं को बड़ी कठिनता से देख सकता है।

नकुलान्ध्यरोगस्य लत्त्रणम् ।

विद्योतते यस्य नरस्य द्रष्टिदोंपाभिपन्ना नकुलस्य यद्वत् ॥ ६० ॥ चित्राणि रूपाणि दिवा स पश्येत् स वै विकारो नकुलान्ध्यसंज्ञः।

श्चर्य—दोषों से दृषित हो जाने के कारण जिस मनुष्य की दृष्टि नेजले की दृष्टि के समान (पीली) चमकने लगती एवं उस रोगी को दिन में सभी दृज्य विचित्र दिखाई पड़ते हैं। वह रोग ''नक्कलान्ध्य" कहा जाता है।

## गम्भीरिकाया लत्त्रणम्।

दृष्टिर्विरूपा श्वसनोपसृष्टा संकोचमभ्यन्तरतस्तु याति ॥ ६१ ॥ रुजावगाढा च तमक्षिरोगं गम्भीरिकेति प्रवदृन्ति तज्ज्ञाः ।

ऋर्थ-वायु से विकृत होकर दृष्टि भीतर से सिकुड़ जाती है तथा उसमें गहरी पीड़ा होती है। विद्वान् इस रोग को "गम्भीरिका"कहते हैं।

अथागन्तुजलिङ्गनाशस्य लत्त्रणम् ।

बाह्याँ ' पुनर्द्वाविह सम्प्रदिष्टौ निमित्ततथाप्यनिमित्ततथ ॥ ६२ ॥

१-इस रोग से पीडित रोगी रात्रि में नहीं देख सकता ।

२—इस रोग में ब्राँख के किसी भी श्रवयव को हानि पहुँचे बिना ही दर्शन-शक्ति नष्ट हो जाती है। पता नहीं कि पूर्वाचार्यों ने दूसरे को "श्रनिमित्त"संका क्यों

निमित्ततस्तत्र शिरोऽभितापाद्धं श्रेयस्त्वभिष्यन्दनिदर्शनः सः । सुगर्षि-गन्धर्व-महोरगाणां संदर्शनेनापि च भास्करस्य ॥ ६३ ॥ इन्येत दृष्टिर्मनुजस्य यस्य स लिङ्गनाशस्त्वनिमित्तसंशः । तत्राक्षि विस्पष्टमिवावभाति वैदुर्यवर्णा विमला च दृष्टिः ॥६४॥

श्रर्थ—दो श्रोर भी श्रागन्तु "लिंगनारा" होते हैं (१) निर्मित्त से अर्थान् प्रत्यत्त कारणों से । त्रि श्रीनिमत्त से अर्थान् प्रत्यत्त कारणों से । निर्मित्त से जो होता है वह शिर में सन्ताप लगने एवं श्रीमध्यन्द से होता है। देवता, ऋषि, गन्धर्व एवं बड़े २ साँपों तथा ध्यूर्व की श्रोर देखने से जिस मनुष्य की दृष्ट नष्ट हो जाती है वह लिंगनारा श्रानिमित्त से होता है। इस रोग में श्रांख सर्वथा साफ एवं दृष्ट वैदूर्य्यमिण् के समान (स्वामाविक वर्णवाली) निर्मत्त दिखाई पड़ती है।

शुक्तभाग के रोग-

अथामरोगस्य पञ्चभेदास्तत्र प्रस्तार्यर्मणो लज्ञणानि । पस्तार्यर्म तनु स्तीर्णं श्यावं रक्तनिभं सिते ।

अर्थ—ग्राँख के रवेत भाग में पतला, विस्तृत, क्रुझ नीला एवं इ.छ लाल जो श्रम् (चिह्न या बिन्दु-सा) हो जाता है, उसे "प्रस्तारीश्रम्" कहा जाता है।

शुक्लाम्यो लचणम्।

सरवेतं मृदु शुक्कार्म शुक्ते तद्भ वर्धते चिरात् ॥ ६५ ॥ ऋर्थ—ऋाँख के शुक्लभाग में श्वेत, कोमल एवं चिरकाल में बढ़ने-वाला "शुक्लार्म" होता है ।

दी है जब कि वे ही लोग श्ठीक ६३ के द्वारा तेजस्वी या चमकदार वस्तुर्योको दृष्टि-नाश का निमित्त मानते हैं।

9—मूल सुश्रुत के "भासुराणाम्" इस ऋत्युत्तम पाठ को वदलकर "भास्क-रस्य" पाठ व्यथ ही रखा गया है । क्योंकि "भासुराणाम्" पाठ से सूर्य के ऋतिरिक्त विजली ऋादि का भी बोध हो सकता है । इन पाठों के नीचे सुश्रुत के निम्न पाठ पर ध्यान देना चाहिये—विदीर्यते सीदित हीयते वा नृणामभीषातहता तु दृष्टिः । रक्तामणो लक्तणम्।

पद्माभं मृदु रक्तार्म यन्मांसं चीयते सिते ।

श्चर्थ- रवेत भाग में जो लाल कमल के वर्णवाला (गुलाबी) एवं कोमल मांस उभर खाता है, उसे "रक्तार्म" कहते हैं।

श्रथाधिमांसार्मणो लच्चणम्।

पृथु मृद्धिमांसामं बहलं च यक्किभम् ॥

त्र्यर्थ—चौड़ा, कोमल, मोटा एवं यकृत् के वर्णवाला (कुछ काला) "ऋधिमांसार्म" होता है।

स्नाय्वर्मणो लत्तराम्।

स्थिरं पस्तारि मांसाट्यं शुक्कं स्नाय्वर्म पञ्चमम् ॥ ६६ ॥ ऋर्थ—कठिन, विस्तृत, मांसयुक एवं रवेत "स्नाय्वर्म" होता है । यह पाँचवाँ है ऋर्थात् इस पकार पाँच "ऋर्म" होते हैं ।

शुक्त्याख्यनेत्ररोगस्य लद्गराम् ।

श्याव: स्यु: पिशितनिभाश्र विन्दवी ये

शुक्त्याभाः सिननियताः स शुक्तिसंज्ञः ॥

श्रर्थ—श्वेत भाग में कुछ काले श्रथवा मांस के सदृश श्रथांत् कुछ लाल एवं सीपी के श्राकार के जो कई बिन्दु हो जाते हैं उन्हें "शुक्ति" कहा जाता है।

श्रथाजुनस्य लच्चणम् ।

एको यः शश्रुरुधिरोपमश्र विन्दुः शुक्रस्थो भवति तमर्जुनं वदन्ति॥६७॥

श्रर्थ—एक ही जो खरगोश के रक्त के समान वर्णवाला ( कुछ लाल या गुलाबी ) विन्दु शुक्लभाग में होता है उसको "श्रर्जुन" कहते हैं। पिष्टकस्य लच्चराम ।

श्लेष्म'-मारुत-कोपेन शुक्ते पिष्टं समुझतम् ।

१—सुश्रुत में इसके स्थान पर निम्न पाठ है—

<sup>&</sup>quot;उत्सन्नः सलिलनिभोऽथ पिष्टशुग्लो बिन्हुर्यो भवति स पिष्टनः सुदृतः" देखिये कितना श्रन्छा पाठ है । श्रमंसम्बन्धी सब पाठ परिवर्तित हैं ।

जालाख्यनेत्ररोगस्य लच्चणम्।

जालाभः कठिनसिर। महान् सरक्त सन्तानः स्मृत इह जालसंज्ञितस्तु ।

त्रर्थ—श्वेतभाग में जाल के सदश, कठिन सिरात्रों से व्याम, बड़ा सा, कुछ लाल एवं अपने उतने स्थान को छानेवाला जो बिन्दु होता है उसे "सिराजाल" कहा जाता है।

सिराजपिडकाया लच्चणम्।

शक्रस्थाः सितपिडकाः सिराष्ट्रता या-

स्ता ब्रयाटसितसमोपजाः सिराजाः । सु॰ उ॰ ध॰ ४

श्चर्य—शुक्तभाग में काले भाग के समीप सिराश्चों से व्याप्त जो फुन्सियाँ हो जाती हैं उन्हें "सिराजपिडका" या (सिराश्चों में उत्पन्न होनेवाली फुन्सियाँ) कहा जाता है।

बलासप्रथितस्य लच्चणम्।

कांस्याभोऽमृदुरथ वारिविन्दुकल्पो

विज्ञेयो नयनसिते बलाससंज्ञः ॥६९॥ सु॰ उ॰ व॰ ४

श्चर्य-कांसा धातु के वर्णवाला, कुछ कठिन, एवं जल के बिन्दु जैसा खेतभाग में "बलास" नामक रोग होता है।

पूयालसस्य लत्तराम्।

पकः शोधः सन्धिजो यः सतोदः स्रवेत्पूयं पूति पूयालसाख्यः।

श्राँख की सन्धियों के रोग—

ऋर्थ—कनीनिका ऋर्यात कोया में व्यथापूर्वक शोध हो जाता है। जब वह पक जाता है तो उसमें से दुर्गन्धयुक्त गाढ़ा पीव निकलने लगता है। इसे "पूयालस" कहते हैं।

#### श्लेष्मोपनाइस्य लच्चणम् ।

ग्रन्थिर्नाल्पो दृष्टिसन्धावपाको कण्डूमायो नीवजस्तुपनाहः ॥७०॥

श्रर्थ — कृष्णमण्डल श्रीर दृष्टि की सन्धि में जो बड़ी सी गाँठ उत्पन्न हो जाती है एवं उसमें कुछ पाक, खुजली श्रधिक तथा थोड़ी-सी पीड़ा होती है । इस व्याधि का नाम "उपनाह" है ।

चतुर्णां स्नावाणां ( नेत्रनाडीनाम् ) लत्त्रणानि । गत्वा सन्धोनश्रुमार्गेण दोषाः कुर्युः स्नावान् लक्षणेः स्वैरुपेतान् । तं हि स्नावं नेत्रनाडीति चैके तस्या लिङ्गं कीर्तयिष्ये चतुर्घा ॥७१॥ स॰ उ॰ अ॰ १

अर्थ—दोष (कफ, रक्त, पित्त पृथक् २ एवं उनका सिन्नपात) आंसुओं के मार्ग से (जिस मार्ग से आँसू निकलते हैं) नेत्रगत चारों सिन्धयों में पहुँच कर अपने २ लक्त्तणों (निम्नलिखित) से युक्त चार प्रकार के सावों को निकालते हैं। इन्हें "नेत्रनाडी" भी कहते हैं। इन चारों सावों के मित्र भिन्न लक्षण नीचे कहे जायँगे।

चतुरर्गां स्नावाणां मध्ये पूयस्नावस्य लच्चणम्।

पाकात् सन्धौ संस्रवेद्द यस्तु पूर्य पूर्यास्नावोऽसौ गदः सर्वजस्तु ।

श्चर्थ—संधि के पक जाने से जो पीब निकलती रहती है, उसे "पूर्वास्नाव" कहते हैं; यह सन्निपात से होता है।

कफस्रावस्य लन्नग्रम् ।

श्वेतं सान्द्रं पिच्छिलं यः स्रवेत्तु

श्लेष्मास्त्रावोऽसौं विकारो मतस्तु ॥७२॥ सु॰ ड॰ अ॰ ३

ऋर्थ — जो खेत गाढ़ा एवं चिपचिपा पानी निकलता है, यह रोग "श्रेष्मास्नाव" माना जाता है।

रक्तस्रावस्य लच्चणम् ।

रक्तस्रावः शोणितोत्थो विकारः स्रवेद्व दुष्टं तत्र रक्तं प्रभूतम् । छ॰ उ॰ ७० २ श्चर्य-रक्त के कारण "रक्तसाव" होता है, इसमें बहुत तथा दूषित रक्त निकलता है।

ं जलस्रावपरपर्यायस्य पित्तस्रावस्य लच्चग्रम् । इरिद्राभं पीतमुष्णं जलाभं

पित्तात् स्नाव: संस्नवेत् सिन्धमध्यात् ॥७३॥ छ० उ० अ० २ ऋर्थ —सिन्ध के मध्य में से हलदी के पानी का सा, (कुछ लाल) श्रथवा पीला, गर्म एवं जल के समान तरल जो स्नाव निकलता है, उसे "पित्तसाव" कहते हैं। '

पर्वणीरोगस्य लज्ञ्यम् । ताम्रा तन्वी दाहस्यूलोपपन्ना रक्ताज्ज्ञेया पर्वणी दृत्तज्ञोथा । जाता सन्धौ कृष्णशुक्लेऽलजी स्यात्,

तिस्मिन्नेव ख्यापिता पूर्वितिङ्गैः ॥७४॥ तु॰ उ॰ अ० २

श्रर्थ—कृष्ण्मरूडल तथा शुक्ल भाग की सन्धि में लाल, ब्रोटी-सी, दाह, तथा शूल से युक्त जो गोल सूजन हो जाती है उसे "पर्वणी" कहा जाता है तथा उसी स्थान में पूर्वोक्त प्रमेहिपडकाओं में कही गई "श्रलजी" के श्रलावा उपर्युक्त "पर्वणी" के ही लक्त्यों से युक्त किन्तु पर्वणी से कुछ बड़ी "श्रलजी" कही जाती है।

किमित्रन्थेर्त्तच्राम्।

क्रिमिग्रन्थिर्वर्त्मनः पक्ष्मणश्च कण्डं कुर्युः क्रिमयः सन्धिजाताः । नानारूपा वर्त्मशुक्लान्तसन्धौ चरन्त्यन्तर्लोचनं दूपयन्तः ॥७५॥

श्चर्य-बरौनी (नेत्रच्छद्) तथा पच्म (नेत्ररोम) की सन्धियों में उत्पन्न होने वाले श्चनेक प्रकार के क्रिमि उक्त स्थानों में पहिले तो

९— ऋषिकतर निम्न स्नाव देखा जाता है: — ऋशु स्नावः सिरागत्वा नेत्रसन्धिषु तिष्ठति । ततः क्रनीनकं गत्वा चाशु कृत्वा क्रनीनकं । ततः स्नवत्यथासावं गया दोष-मवेतनम् । (विदेह ) इसे "ढलका" कहा जाता है ।

खुजली उत्पन्न करते हैं तत्पश्चान बरोनी तथा शुक्लभाग की सन्धि में पहुँच कर नेत्र को दूषित या विकृत करते हुए धूमते हैं। फिर उसे खा जाते हैं। इसे ''क्रिमियन्थि'' कहा जाता है।

श्रथोत्सङ्गपिडकाया लन्नग्रम्। श्रभ्यन्तरमुखी ताम्रा वाह्यतो वत्मनश्र या ।

सोत्सङ्गोत्सङ्गपिडका सर्वजा स्थूलकण्डुरा ॥ ७६ ॥ सु॰ उ० अ०३

बरौनी ( नेत्रबुद्बुदच्छद एवं निमेषोन्मेष होता है ) के रोग—

श्चर्य—वर्त्म के बाहरी खार किन्तु भीतर की खार मुखवाली, लाल वर्णवाली, पुष्ट, खुजली से युक्त, छोटी २ खन्यान्य पिडकाखों से चिरी हुई "उत्संग" पिडका होती हैं । यह सिन्नपात से उत्पन्न होती हैं ।

क्रुम्भीकाया लत्तरणम् । वर्त्मान्ते पिडका ध्याता भिद्यन्ते च स्रवन्ति च ।

कुम्भीकाबीजप्रतिमा: कुम्भीका: सिन्नपातज: ॥७७॥ सु॰ ड॰ ब॰ ६

श्रर्थ—सन्निपात से बरौनी के किनारे कुम्भीका श्रथवा श्रनार के बीज जैसी कई फुन्सियाँ हो जाती हैं। यह मोटो होकर पूट जाती हैं तो पीब बहने लगता है; इनका नाम "कुम्भीका" है।

पोथकीनां लच्चणम् ।

स्राविण्यः कण्डुरा गुच्यों रक्तसर्पपसन्निभाः।

रुजावत्यश्च पिडका: पोथक्य इति कीर्तिता: ।।७८।। सु॰ उ॰ अ॰ ३

श्चर्थ—लाल सरसों के दानों की सी, स्नाव युक्त, खुजलीवाली, भारीपन से युक्त एवं वेदना करनेवाली फुन्सियाँ "पोथकी" कही जाती हैं। यह रोग भी बरीनी पर ही होता है ।

वर्त्मशर्करात्रा लच्चणम् । पिडका या खरा स्थूला सूक्ष्माभिरभिसंदृता ।

9-यदि इसी दशा में **उ**चित चिकित्सा न की जाय तब ।

२—इसके श्रास-पास छोटी २ फ़ुन्सियाँ कभी २ ही होती हैं; नहीं तो प्रायः श्रवेली ही होती है। इसे वरौनी या यामिनी कहते हैं।

वर्त्मस्था शर्करा नाम स रोगो वर्त्मदूषकः ॥७९॥ छ॰ व॰ व॰ व

श्रर्थ — बरौनी पर खर्दरी एवं बड़ी-सी एक फुन्सी हो जाती है, उसके श्रास-पास बहुत सी छोटी २ फुन्सियाँ निकल श्राती हैं, इन्हें "शर्करा" कहा जाता है। इनसे बरौनी खराब हो जाती है।

श्रथार्शोवत्मंनो लच्चणम्।

एर्वारुवीजप्रतिमाः पिडका मन्द्वेदनाः ।

श्चक्ष्णाः खराश्च वर्त्मस्थास्तदर्शोवर्त्म कीर्त्यते ॥८०॥ सु० उ० अ० ३

श्चर्य—बरोनी पर ककड़ी के बीज जैसी, थोड़ी पीड़ा से युक्त, स्पर्श में चिकनी श्रथवा खरदरी जो बहुत सी फुन्सियाँ या श्रंकुर निकल आते हैं, उन्हें "श्रशोंवर्स" कहा जाता है।

शुष्कार्शसो लच्चणम्।

दीर्घाङ्करः खरः स्तब्धो दारुणोऽभ्यन्तरोद्भवः ।

व्याधिरेषोऽभिविख्यातः शुष्कार्शा नाम नामनः।।८१।। सु॰ उ॰ अ॰ ३

श्रर्थ—बरौनी के भीतरी छोर लम्बा, खरदरा, कड़ा एवं दुखदायी श्रांकुर उत्पन्न हो जाता है । यह न्याधि "शुष्काश्" नाम से विख्यात है । श्रथाञ्चननामिकाया लच्चणम् ।

दाइ-तोद-वती ताम्रा पिडका वर्त्मसंभवा।

मृद्री मन्दरुजा स्रक्ष्मा ज्ञेया साऽञ्जननामिका ।।८२।। सु॰ उ॰ अ॰ ३ ऋर्थ —बरौनी में दाह एवं व्यथा से युक्त, लाल वर्णवाली, कोमल, थोड़ी-थोड़ी पीड़ा से युक्त छोटो-सी फुन्सी ( अंक्रुर सी ) हो जाती है। उसे ''अञ्जननामिका" कहा जाता है।

बहुलवर्त्मनो लत्तराम् ।

वत्मीपचीयते यस्य पिडकाभिः समन्ततः।

सवर्णाभि: स्थिराभिश्च विद्याद्भ बहुलवतमं तत् । ८३।। सु॰ ठ॰ अ॰ ६ अथ — जिस रोग में बरौनी बरौनी के ही समान वणवाली एवं बहुत दिनों तक स्थायी रहनेवाली पिडकाओं से चारों ओर से व्याप्त हो जाती है, वह रोग "बहुलवर्स" कहलाता है।

वर्त्मबन्धकस्य लच्चगाम् ।

कण्ड्रमताऽल्पतोदेन वर्त्मशोथेन यो नरः।

न स संद्घाद्येद्क्षि यत्रासौ वर्त्मवन्यकः ॥ ८४ ॥ सु॰ उ॰ अ॰ ३ अर्थ-जिस मनुष्य की बरौनी खुजली, व्यथा एवं शोथ से युक्त हो जाती है तथा वह रोगी नेत्रयुद्युद्द को ढाँक नहीं सकता, इस रोग को "वर्त्मबन्धक" कहा जाता है ।

क्रिष्टवर्त्मनो लन्नग्रम ।

मृद्रल्पवेदनं ताम्रं यद् वर्त्म सममेव च।

अकस्माच भवेद्व रक्तं क्लिष्टवर्सिति तद्व विदुः ॥८५॥ सु॰ उ॰ अ॰ ३

श्रर्थ—जो बरौनी सबकी सब कोमल, थोड़ी वेदना से युक्त एवं लाल हो जाय श्रथवा कभी-कभी (प्रायः) लाल हो जाया करे, उसे "क्लिप्ट-वर्स" कहते हैं।

वर्गिकर्दमस्य लच्चाम् । क्रिष्टं पुनः पित्तयुतं शोणितं विदहेद्व यदा ।

तत: क्रिन्नत्वमापन्नमुच्यते वर्त्मकर्दम: ।। ८६ ॥ सु॰ उ॰ भ॰ ३ अर्थ—उपर्युक्त "क्लिप्टवर्त्म रोग" से युक्त बरौनी को जब पित्त से मिला हुद्या रक्त विदग्ध कर देता है और वह सड़ जाती है तो इस रोग को "वर्त्मकर्दम" कहा जाता है।

श्याववर्त्मनो लच्चण्म् ।

यद् वर्त्म वाह्यतोऽन्तश्च श्यावं शूनं सवेदनम् ।

तदाहु: श्माववर्त्मेति वर्त्मरोगिवशारदा: ॥८७॥ छ ॰ उ॰ अ॰ ३ द्यर्थ—जो बरौनी बाहर एवं भीतर से कुछ काली, शोथयुक्त तथा व्यथा से युक्त हो जाती है, उसे विद्वान् "श्याववर्त्म" कहते हैं।

प्रक्लिन्नवर्त्मनो लच्चणम् ।

अरुजं बाह्यतः शूनं वर्त्म यस्य नरस्य हि ।

प्रिक्तिस्रवर्त्म तद्व विद्यात् विलन्नमत्पर्थमन्ततः ॥८८॥ सु॰ उ॰ अ॰ ३

श्रर्य—जिस मनुष्य की बरौनी बाहर की श्रोर से सूज जाती है तथा उसमें थोड़ी पीड़ा भी हुआ करती है श्रन्त में बरौनी श्रत्यन्त मड़ जाती है, उस रोग को "प्रक्लिश्रवर्त्म" कहा जाता है।

त्रथापरिक्लिन्नवर्त्मनो लच्चणम् । यस्य धौतान्यधौतानि सम्बध्यन्ते पुनः पुनः ।

वर्त्मान्यपरिपक्कानि विद्यादिक्षित्रवर्त्म तत् ।।८९।। बु॰ उ॰ अ॰ ३ अर्थ - जिस रोग में रोनों आँखों की दोनों अथवा चारों बरौनियाँ किसी प्रकार की पूय आदि चिपचिपाहट के बिना ही आपस में सट जाती हैं और आँखों को जल से भली प्रकार धो लेने अथवा न धो लेने पर भी ऐसा ही होता है, उसे "अपरिक्षित्रवर्त्म" कहते हैं।

वातहतवर्त्मनो लच्चणम् ।

विम्रुक्तसन्धि निश्रेष्टं वर्त्म यस्य न मील्यते ।

एतद्भ वातहतं वर्त्म जानीयादक्षिचिन्तकः ॥९०॥ सु॰ उ० अ० ३

श्चर्य—जिस मनुष्य की बरौनी निमेषोन्मेषिणी कण्डरात्र्यों के शिथिल हो जाने के कारण चेष्टारहित हो जाती है तथा निमेषोन्मेष नहीं हो सकता उसे शालाक्यशास्त्र के विचारशील विद्रान् ''वाताहतवत्मे'' कहते हैं।

ऋथार्बुदस्य लत्त्रणम् ।

वर्त्मान्तरस्थं विषमं ग्रन्थिभूतमवेदनम् ।

त्राचक्षीतार्बुर्दामित सरक्तमिवलिम्बतम् ।।६१।। सु॰ उ॰ अ॰ ३३ द्यर्थ—बरौनी के भीतर थोड़ी वेदनावाली एवं ऊँची-नीची सी, कुछ लाल एवं न लटकनेवाली ( श्रर्थात् महामृल ) गाँठ हो जाती है, उसे "श्रर्बुद" कहना चाहिये।

निमेषस्य लच्चणम्।

निमेषिणीः सिरा वायुः प्रविष्टो सन्धिसंश्रयाः । प्र चालयति वर्त्मानि निमेषं नाम तद्ग विदुः ॥९२॥ छु॰उ॰ष॰ ३

१-इससे रोगी को आंख खोलने के लिये बार बार प्रयत्न करना पहता है।

श्चर्य—जिस रोग में वायु निमेषोन्मेष करानेवाली सिराश्चों के मूल में जाकर बरौनियों को श्रत्यधिक चछल कर देता है, उसे "निमेष" कहते हैं।

शोणितार्शसो लच्चणम्।

यः स्थितो वर्त्ममध्ये तु लोहितो मृदुरङ्कुरः ।

तद्भ रक्तजं शोणितार्शिस्त्रनं छिनं प्रवर्धते ॥९३॥ छ॰ ०० ०० ६ अर्थ — बरौनी के भीतर लाल एवं कोमल मांसांकुर उत्पन्न हो जाता है। इसे "शोणितारा" कहा जाता है। यह रक्तविकार से होता है। इसको यदि कटवा भी दिया जाय तो भी यह फिर बढ़ आता है। अतएव यह असाध्य है।

लगणस्य लच्चणम् ।

अपाकी कठिनः स्थुला ग्रन्थिवर्त्मभवोऽरुजः।

लगणो नाम स व्याधिर्तिङ्गतः परिक्रीतितः ॥९४॥॥७०० ।

श्चर्य—बरौनी में एक गाँठ हो जाती है वह कभी पकती नहीं । वह कठिन एवं मोटी होती है। उसमें किसी प्रकार की पिड़ा भी नहीं होती। इसका नाम "लगरा" कहा गया है।

विसवर्त्मनो लज्ञणम् ।

त्रयो दोषा बहिः शोथं कुर्युश्छद्राणि वर्त्मनोः।

पस्तवन्त्यन्तरुदकं विसवद्ग विसवत्मं तत् ॥९५॥ सु॰ उ० वा श द्यर्थ--तीनों दोष बरौनियों के बाहर सूजन तथा भीतर छिद्र कर देते हैं। उन छिद्रों में से आँख के भीतर पानी आता रहता है । जैसे कमल नाल में से। इसे "विसवर्त्म" कहा जाता है।

कुञ्चनस्य लत्तरणम् ।

वाताद्या वत्मेसंकोचं जनयन्ति मला यदा।

तदा द्रष्टुं न शक्रोति कुञ्चनं नाम तद्ग विदुः ॥ ९६ ॥

१-इस रोग का रोगी बार २ ख्राँख भपकाया करता है।

श्चर्य-जब बातादि दोष बरौनियों में संकोच ( सिकुड़न ) उत्पन्न कर देते हैं तो मनुष्य देख नहीं सकता। इसे विद्वान "कुञ्चन" कहते हैं। पद्मकोपस्य लच्चणम् ।

'प्रचालितानि वातेन पक्ष्माण्यक्षि विशन्ति हि । घृष्यन्त्यक्षि मुहुस्तानि संरम्भं जनयन्ति च ॥ ९७ ॥ ऋसिते सितभागे च मूलकोषात् पतन्त्यपि ।

पक्ष्मकोपः स विज्ञेयो व्याधिः परमदारुणः ॥९८॥ सु॰ द॰ अ॰ ३ द्यर्थ-वायु की विकृति से पदम (बरौनियों के बाल या रोम) अपने उचित मार्ग से न निकल कर भीतर की ओर जा निकलते हैं तथा बार २ ( अर्थात जब २ निमेषोन्मेष किया जाता है ) नेत्र बुद्बुद के

श्वेत या काले भाग पर चुभते हैं। उसमें सूजन हो जाती है श्रीर कुछ बाल मुलकोष (रोमकूप) से भड़ भी जाते हैं। इस अत्यन्त भीषण

व्याधि को "पदमकोप" कहते हैं।

पदमशातस्य लत्तराम् । वर्त्मपक्ष्माश्चयगतं पित्तं रोमाणि शातयेत् ।

कण्डूं दाहं च कुरुते पक्ष्मशातं तमादिशेत् ।।९९।। छ॰ उ० अ० ३

श्चर्य-पित्त बरौनियों के बालों की जड़ में जाकर उन वालों को उखाड़ देता है तथा दाह एवं खुजली को भी उत्पन्न कर देता है। उसे ''पदमशात'' कहना चाहिये

<sup>9—</sup>इस रोग को "पड़बाल" कहते हैं। मोचने के द्वारा इस बाल को रोगी उखद्वा देता है तो तब तक सुखी रहता है, जब तक की पुनः नोक नहीं निकलती है।

र---नेत्र रोगों की संख्या इस प्रकार है-नव सन्ध्याश्रयास्तेषु वर्त्मजास्त्वेकविंशतिः। शक्रभागे दशैक्ष चत्वारः कृष्णभागजाः ॥ १ ॥ सर्वाश्रयाः सप्तदश दृष्टिजा द्वादशैव तु । बाह्यजी द्रौ समाख्यातौ रोगौ परमदारुणौ ॥ २ ॥

#### शिरोगंगनिदानम् ।

शिरोरोगस्य भेदाः।

क्षिरोरोगस्तु जायन्ते वात-पित्त-कफैस्त्रिभिः।

सन्निपातेन रक्तेन क्षयेण क्रिमिभिस्तथा ॥

सूर्यावर्तानन्तवातार्धावभेदकशङ्खकैः ॥१॥ स॰ उ॰ भ॰ २४

श्रर्थ—वायु, पित्त, कफ, सित्रपात, रक्त, त्त्रय, एवं किमियों से सात प्रकार के शिरोरोग होते हैं तथा सूर्यावर्त, श्रनन्तवात, श्रद्धांवभेदक एवं शिक्ष्वक ये भी चार रोग होते हैं। (इस प्रकार कुल मिलाकर ११ हो जाते हैं)।

वातिकशिरोरोगस्य लच्चणम्।

यस्यानिमित्तं शिरसो रुजश्च भवन्ति तीत्रा निश्चि चातिमात्रम् । बन्धोपतापै: प्रशमक्ष यत्र शिरोऽभिताप: स समीररोन ॥ २ ॥

स० उ० अ० २५

अर्थ—जिस रोग में किसी प्रत्यत्त कारण के बिना ही सिर में पीड़ा होती है और वह रात्रि में और भी अधिक हो जाती है तथा बाँधने (कपड़ा आदि से) अथवा संकने से शान्त हो जाती है, उसको वायु का "शिरोरोग" कहा जाता है।

पैत्तिकृशिरोरोगस्य लच्चणम् ।

यस्योष्णमङ्गार्शचतं यथैव भवेत् शिरो धृष्यति चाक्षिनासम् । शीतेन रात्रौ च भवेत् शमश्र शिरोऽभितापः स तु पित्तकोपात्।।३।।

सु॰ उ० अ० २५

ऋर्थ—जिस रोग में अंगारों से ढंके हुये के समान सिर गर्म रहता है। आँख तथा नाक से धूँआ सा निकलता है। शीतोपचार से तथा रात्रि में आराम रहता है उसको पित्त का "शिरोरोग" कहते हैं।

<sup>9</sup> सिर के भीतरी श्रवयव (मस्तिष्क । एवं बाहरी केश तथा केशमूमि से इस रोग का कोई सम्बन्ध नहीं होता । यह नहीं रोग है जिसे "सिरदर्द" कहा जाता है ।

श्लैष्मिकशिरोरोगस्य लच्चणम् । शिरो भवेद् यस्य कफोपदिग्धं गुरु प्रतिष्टव्यमथो हिमं च । श्रमालिकटं वदनं च यस्य शिरोऽभितापः स कफपकोपात् ॥४॥

सः अ• अ• २५

श्चर्य—जिस रोगमें सिर कफ से भरा-सा ज्ञात होता है तथा भारी, जकड़ा हुश्चा एवं ठरडा रहता है श्चोर श्चांख के किनारे तथा मुख कुड़ सुज जाता है, उसे कफ का "शिरोरोग" कहते हैं।

सान्निपातिकशिरोरोगस्य छत्त्रग्रम् ।

शिरोऽभितापे त्रितयप्रष्टत्ते सर्वाणि लिङ्गानि समुद्भवन्ति ।

सु॰ उ॰ अ॰ २५ ऋर्थ—सन्निपात के शिरोरोग में तीनों दोषों के सभी लच्चण पाये

जाते हैं।

रक्तजशिरोरोगस्य लक्त्यम्।

रक्तात्मकः पित्तसमानलिङ्गः स्पर्शासहत्वं शिरसो भवेच ॥५॥

सु० उ० अ० २५

श्रर्थ — रक्तज शिरोरोग में पित्त के सभी लच्चणों के श्रांतिरिक्त किसी प्रकार का स्पर्श नहीं सहा जाता।

चयजशिरोरोगस्य लच्चणम् ।

वसावलासक्षतसम्भवानां शिरोपतानामह संक्षेत्रेण ।

क्षयप्रदृत्तः शिरसोऽभितापः कष्टो भवेदुग्ररुजोतिमात्रम् ।

संस्वेदन-च्छर्दन-धूम-नस्यैरसम्विमोत्रैश्च विष्टद्धिमेति ॥ ६ ॥

१० उ० अ० ११

श्रर्थ—सिर में रहने वाले वसा, कफ (स्नेहन कफ) एवं रक्त के च्यर से "चयज शिरोरोग" होता है। यह कप्टसाध्य होता है श्रीर इसमें बड़ी उम्र वेदना होती है। यह स्वेद, वमन, धूमपान, नस्य तथा रक्त-मोच्चग कराने से श्रीर भी बड़ जाता है।

<sup>9—</sup>यह स्मरण रिखये कि यह स्वेदादि कियायें सभी शिरोरोगों में कराई २५ मा०

किमिजशिरोरोगस्य लत्त्रस्यम् । निस्तुद्यते यस्य शिरोऽतिमात्रं संभक्ष्यमास्यं स्फुरतीव चान्तः । घासाच गच्छेत् सलिलं सपूर्यं शिरोभितापः क्रिमिभिः स घोरः॥७॥ सु० ३० ३० २४

श्रर्थ—जिस रोगी के सिर में अत्यन्त व्यथा हो श्रौर उसे ऐसा ज्ञात हो कि भीतर कुछ काट रहा है श्रौर फड़कन भी ज्ञात हो एवं नाक से पीब से युक्त पानी निकत्ने तो उसे क्रिमिज शिरोरोग समम्मना चाहिये।

सूर्यापवर्तरोगस्य लच्चणम्।

सुर्योदयं या प्रति मन्दमन्दमिक्षश्चवं रुक् सम्रुपैति गाढा । विवर्षते चांशुमता सहैव सूर्यापृष्ठतौ विनिवर्तते च । सर्वात्मकं कष्टतमं विकारं सूर्यापवर्तं तमुदाहरन्ति ।।८।।॥ ७ ७० अ० २४

श्चर्य—प्रातःकाल से ही श्चाँख एवं भों में पीड़ा होने लगती है और ज्यों २ सूर्य ऊपर चढ़ता है त्यों र्श्त्रत्यन्त भीषण होती जाती है। दोपहर के श्चतन्तर ज्यों २ सूर्य उतरता श्चर्यात् पश्चिम की श्चोर जाता है त्यों २ पीड़ा घटती जाती हैं। सायंकाल में रोगी स्वस्थ हो जाता है।। रोगी को कभी २ शीतोपचार तो कभी २ उच्चोपचार से शान्ति लाभ होता है। इस सान्निपातिक कष्टसाध्य शिरोरोग को "सूर्यापव े या सूर्यावर्त्त" कहते हैं।

जाती हैं. किन्तु इसमें नहीं। ''श्रम्धावसा श्रादि'' पाठ की श्रसंगत मान कर भी म∘ को॰ कार ने नहीं बदला। इसका कारण हमारी समक्त में नहीं श्राता।

<sup>9—</sup>देखा गया है कि इस पानी में अत्यन्त दुर्गान्ध एवं रक्त मिला रहता है। इसमें बार बार छींक के साथ अथवा यों ही एक एक करके नाक और मुख के रास्ते श्वेत किमि निकलने लगते हैं। यदि शीघ्र ही उचित चिकित्सा न की जाय तो ये किमि तालु को भी खा जाते हैं और उसमें छिद्र हो जाता है। जिसके कारण रोगी मिन्मिना कर बोलता है। आप आधर्य करेंगे कि किमियों के निकल जाने पर छिद्र बहुत ही (दो ही चार दिनों में बिना किसी उपचार के) शीघ्र भर जाता है।

श्रथानन्तवातरोगस्य लत्तराम् ।

दोषास्तु दुष्टास्त्रय एव मन्यां संपीड्य घाटासु रुजां सुतीवाम्। कुर्वन्ति योऽक्षिश्रुवि शङ्खदेशे स्थितिं करोत्याशु विशेषतस्तु ॥९॥ गण्डस्य पार्श्वे तु करोति कम्पं हनुग्रहं लोचनजांश्र रोगान्। श्रमन्तवातं तसुदाहरन्ति दोषत्रयोत्थं शिरसो विकारम्॥ १०॥

श्रर्थ—तीनों दोष कुपित होकर मन्या नामक नाड़ियों में पीड़ा करके गर्दन के पिछले भाग (गाटा या कुन्नी ) में श्रत्यन्त भीषण पीड़ा करते हैं। यह पीड़ा वहाँ से चलकर श्राँख, भीं एवं शंख या पुड़पुड़ी में विशेष-रूप से होती हैं। गएडश्थल (गाल) के श्रासपास कम्प (थरथराहट), अनुमह एवं श्राँखों की व्याधियों को उत्पन्न करते हैं। इस त्रिदोषज शिरोरोग को "श्रनन्तवात" या "उद्धाँ" कहते हैं।

श्रर्धावभेदकस्य लक्त्णानि ।

स्क्षाञ्चनात्यध्यज्ञनप्राग्वातावश्यमेथुनैः। वेगसन्धारणयासाव्यायामैः कुपितोऽनिलः ॥११॥ केवलः सकफो वाऽर्षं गृहीत्वा शिरसो वली। मन्याप्रूशङ्खकर्णाक्षिललाटार्षेऽतिवेदनाम् ॥१२॥ शस्त्रारणिनिभां कुर्यात् तीव्रां सोऽर्धावभेदकः। नयनं वाऽथवा श्रोत्रमतिष्ठद्यो विनाशयेत्॥१३॥

श्रर्थ—रू मोजन, श्रत्यन्त श्रष्यरान, पूर्व दिशा की वायु, श्रोस, मैथुन, वेगनिरोध, परिश्रम एवं व्यायाम से कुपित श्रकेला श्रथवा कफ-युक्त श्रत्यन्त बलवान् वायु सिर के श्राघे भाग, मन्या, भौं, शंख, कान, श्रांख एवं ललाट (माथा) में शस्त्राधात श्रथवा श्ररणीकाछ के मथने की-सी श्रत्यन्त घोर पीड़ा कर देता है। यह रोग "श्रद्धांवभेदक, (श्राधो सीसी) कहा जाता है। यदि दुर्भाग्य से यह श्रधिक बढ़

१-इसका कुछ दिनों पर दौरा भी हुआ करता है।

जाय तो द्याँख (दर्शनशक्ति) द्ययवा कान (श्रवणशक्ति) को नष्टकर देता है।

शङ्खकस्य लज्ञ्णानि
रक्तपित्तानिला दुष्टाः शङ्खदेशे विमृच्छिताः ।
तीत्ररुग्-दाह-रागं हि शोथं कुर्वन्ति दारुणम् ॥१४॥
स शिरो विषवद् वेगी निरुध्याशु गलं तथा ।
तिरात्राज्जीवितं हन्ति शङ्खको नामतः परम् ।
त्रयहाज्जीविति भेपज्यं प्रत्याख्याय समाचरेत् ॥१५॥

श्रर्थ—दूषित रक्त, पित्त एवं वायु परस्पर मिलकर शंख या पुड़पुड़ी में तीव्र पीड़ा, दाह एवं लालिमा से युक्त दुखदायी सूजन उत्पन्न कर देते हैं। वह विष के समान वड़े नेग से शिर तथा गले को रोककर तीन रात के भीतर ही रोगी को मार डालता है। इस रोग को "शंखक" कहते हैं। यदि तीन दिन के पश्चात् भी रोगी जीता रहे तो रोगी के हितैंपियों को रोग के श्रसाध्यत्व का सूचना देकर चिकित्सा करे।

असुर्दर निदानम् । पदररोगस्य सहैतुका संश्यारूपा सम्प्रातिः। विरुद्ध-मद्याध्यक्षनाद्वर्जीर्णाद्व गर्भप्रपाताद्विमेथुनाच । यानाध्वकोकाद्विकर्पणाच भाराभिघातात् शयनाद्विया च । (असम्यक् प्रष्टतं गर्भाशयाद्व यद्व रजः प्रदुष्टं विविधमकारम्।) तं श्लोष्पपित्तानिलसन्त्रिपातैश्रतुष्पकारं प्रदरं वदन्ति ॥ १ ॥

श्रथं—विरुद्ध भोजनों तथा पानों, मद्य एवं श्रध्यशन के सेवन से श्रजीणं, गर्भपात श्रथवा स्नाव, श्रांतमेश्वन, घोड़े श्रादि की सवारी, मार्गगमन, शोक, भारवहन, श्रांभिषात (गर्भाशय श्रांदि पर एवं दिन में श्रांषिक लेटने श्रथवा सोने से श्रांर भी श्रनेक प्रकार के श्रपथ्यों से जो दूषित रज (श्रथवा कभो र जाव शोशित भी, किन्तु इसे रक्तिपत्त

१-इसका सीधा सम्बन्ध गर्भाशय से है।

मानना ऋधिक उचित हैं ) गर्भाशय से स्वाभाविकता के प्रतिकूल निक लने लगता है। उसे कफ, पित्त, वायु एवं सन्निपात के भेद से चार प्रकार का "प्रदर" या "पैड़ा" कहते हैं।

प्रदररोगस्य सामान्यलज्ञणम् ।

अस्रादरं भवेत सर्व साङ्गमर्दं सवेदनम् । सु॰ शा॰ अ॰ २ अर्थ—सभी प्रदरों में नीचे लिखे लत्त्रण अवश्य पाये जाते हैं। यथा—अंगों में मर्दन की-सी (श्रंगफृटन ) पीड़ा एवं दोषों के अनुकूल कएडू, दाह एवं शुल आदि विविध प्रकार की वेदना।

श्रातिप्रवृत्तस्यार्तवस्योपद्रवाः।

तस्यातिष्टत्तौ दौर्बल्यं भ्रमो मूर्च्छा मदस्तृषा ।

दाह: प्रलाप: पाण्डुत्वं तन्द्रा रोगाश्च वातजा: ॥२॥ सु॰ का॰ अ॰ २

श्रर्थ—उक्त रोग के श्रधिक बढ़ जाने से दुर्वलता, चक्कर (भ्रम), मूच्छां, मद, प्यास, दाह (श्रधिकतर हाथ पैरों में), प्रलाप, पाएडुरोग (प्रायः हत्कम्प), तन्द्रा एवं वायु के श्रपतन्त्रक (हिस्टिरिया) श्रादि रोग हो जाते हैं।

श्लैष्मिकादिभेदेन प्रदरस्य विशेषलत्त्रणानि । त्र्यामं सिपच्छाप्रतिमं सपाण्डु पुलाकतोयप्रतिमं कफात्तु । सपीत-नीलासित-रक्तमुष्णं पित्तार्तियुक्तं भृशवेगि पित्तात् ॥३॥ रूक्षारुणं फेनिलमल्पमल्पं वार्ताति वार्तात् पिशितोदकाभम् ।

श्रथं—श्रामरस से युक्त श्रथवा केवल श्राँव (जैसी पेचिस में गुद-मार्ग से निकलती है), चिपचिपा, इन्ज श्वेत एवं मांस के घोवन का सा श्राव कफज प्रदर में निकला करता हैं। इन्छ पीला, नीला, काला, लाल, गर्म, पित्त की पीड़ा श्रथांत दाहादि से युक्त एवं श्रत्यन्त वेग के साथ पित्तप्रदर में स्नाव निकला करता हैं। हस्, लाल, माग से युक्त,

१-- स्वेत प्रदर यही है।

२—सचमुच इसे हो 'श्रास्प्रदर'' कहना चाहिये। क्योंकि इसमें रक्तकण भी निकलते हैं।

थोड़ा-थोड़ा, वायु की पीड़ा से युक्त एवं मांस के घोवनका-सा स्नाव वायु के प्रदर में निकला करता हैं'।

सक्षांद्र-सिर्पहिताल-वर्षा मज्जमकाशं कुरणपं त्रिदोषात्॥४॥ तं चाष्यसाध्यं प्रवदन्ति तज्ज्ञा न तत्रकुर्वीतभिषक् चिकित्साम्।

श्रर्थ—मधु के वर्ण एवं रस ( मधुरता ) से युक्त, घृत-जैसा, हरिताल के समान पीला, मज्जा-जैसा, मुरदे की-सी गन्धवाला स्नाव त्रिदोषज प्रदर में निकला करता है । इसे सभी वैद्य श्रसाध्य समक्षते हैं । श्रतः वैद्य इसकी चिकित्सा के लिये श्रसफल प्रयत्न न करे ।

शश्चत् स्रवन्तीमास्राघं तृष्णा-दाइ-ज्वरान्विताम् ॥ ५ ॥ क्षीणरक्तां दुर्बलां च तामसाध्यां विनिर्दिशेत ।

त्रर्थ—जिस रोगिणी के उपर्युक्त प्रकार के स्नाव निरन्तर निकल रहे हों; साथ ही प्यास, दाह एवं ज्वर भी हो ख्रीर रक्त घट गया हो श्रतएव अत्यन्त दुर्वेलता श्रागई हो, उसे असाध्य समझना चाहिये।

विशुद्धार्तवस्य लत्त्रण्म् ।

मासान्निष्पच्छदाहार्ति पश्चरात्रानुबन्धि च ॥ ६ ॥ नैवातिवहुत्तात्यल्पमार्तवं शुद्धमादिशेत् । अञ्चासकप्रतिषं यस्त स्टान्सास्योगाम् ।

शशास्त्रभृतिमं यत्तु यद्वा लाक्षारसोपमम्।

तदार्तवं प्रशंसन्ति यचाप्सु न विर्ज्यते। सु॰ उ॰ अ॰ २

श्रर्थ--प्रत्येक मास (२७-२७ दिन का चान्द्रमास ) के पश्चातः चिपचिपाहट, दाह एवं शूल से रहित, न बहुत श्रिधिक श्रौर न बहुत कम<sup>1</sup> जो रजन्माव श्रिधिक से श्रिधिक पाँच दिन तक होता है उसे

१---इसे "रजःकृच्छु" कहा जाता है।

२—इसमें शर्करा, वसा, पित्त मिश्रित मेदा एवं मज्जा जेंसे शरीरोपयोगी या जीवनोपयोगी पदार्थों के निकल जाने के कारण रोग भी श्रसाध्य हो जाता और रोगिणी की जीवनलीला शीघ्र ही समाप्त हो जाती है।

इसका निर्णय प्रत्येक स्त्री ऋपने लिये स्वयं कर लेती है।

"शुद्ध श्रात्तंव" जानना चाहिये। इस श्रात्तंव का वर्ण खरगोश के रक्त का सा (फीका लाल या गुलावी) श्रथवा लाही (लाख) के रस का सा (गहरा लाल) होता हैं पवं इस रज से भींगा हुआ कपड़ा जल से धोने पर साफ हो जाता है अर्थात् उस पर धब्बा नहीं पड़ता (इससे विपरीत 'प्रदर' समभा जाता हैं)।

## योनिव्यापान्नदानम् ।

योनिज्यापद्रोगस्य हेतवः।

विंशतिर्व्यापदो योनौ निर्दिष्टा रोगसंग्रहे ।

मिथ्याचारेण ताः स्त्रीणां पदुष्टेनार्तवेन च ।। १ ।।

जायन्ते वीजदोषाच दैवाच शृगु ता: पृथक् । च॰ चि॰ अ॰ ३०

अर्थ—चरकसंहिता के अष्टोत्तरीयाध्याय (मृत्रस्थान अ०१९) में योनिरोगों की संख्या २० लिखी गई हैं। ये रोग मिध्याहार-विहार, आर्तव की विकृति, माता-पिता के रज-वोये की दुष्टि एवं प्रारब्ध के दोष से स्त्रियों को हो जाते हैं। इनके पृथक् २ लक्त्या आगे लिखे जाते हैं।

वातिकानामुदावर्तादियोनिव्यापत्तीनां लच्चणानि ।

सा फेनिलग्रदावर्ता रज: क्रच्छ्रेण मुख्रति ॥ २ ॥

वन्ध्यां नष्टार्तवां विद्यात् विष्तुतां नित्यवेदनाम् ।

परिष्तुतायां भवति ग्राम्यधर्मेण रुग् भृशम् ॥ ३ ॥

वातला कर्कशा स्तब्धा श्रूलिनस्तोद-पीडिता।

चतसुष्विप चाद्यासु भवन्त्यिनिलवेदनाः ॥ ४ ॥ सु॰ उ॰ अ॰ ३८ ऋर्थ-बड़े कष्ट से भागवाला रस निकलता है । उसे उदावर्ता या

१--इन दोनों नर्णों का रज क्रमशःगौर एवं कृष्ण वर्णकी स्त्रियों को होता है।

२—मैथुनोपयोगी श्रंग तथा गर्भाशय की विविध प्रकार की व्यापत् आर्यात् विकृति का निश्वय इस प्रकरण में किया जायगा।

३--श्रार्तव शब्द का श्रर्थ "डिम्ब" लगाना उत्तम ज्ञात होता है। क्योंकि

उदावृत्ता कहते हैं। श्रात्तंव सर्वथा नष्ट हो जाता उसे "बन्ध्या", सर्वदा वेदना होती रहती हैं उसे "विज्ञुता", मैथुन करने में श्रत्यन्त वेदना होती है उसे "परिष्ठुता", योनि कर्कश (रूज्त) कड़ी (सस्त) श्रुल एवं व्यथा से पीड़ित रहती हैं उसे "वातला" कहते हैं और उपर्युक्त उदावृत्ता श्रादि चारों व्याधियों में वायु के लज्ञ्गण पाये जाते हैं।

रक्तज्ञयादीनां पैतिकव्यापत्तीनां लत्त्वणानि ।
सदाइं क्षीयते रक्तं यस्यां सा लोहितक्षया ।
सवातमुद्गगिरेद्ग बीजं वामिनी रजसा युतम् ॥ ५ ॥
प्रस्नंसिनी संसते च क्षोभिता दुष्पजायिनी ।
स्थितं स्थितं हन्ति गर्भं पुत्रश्ली रक्तसंक्षयात् ॥ ६ ॥
अत्यर्थं पित्तला योनिर्दाह-पाक-ज्वरान्विता ।
चतस्य्वपि चाद्यासु पित्तलिङ्गोच्छ्यो भवेत् ॥७॥ सु॰ंड० व० ६८
श्रायं—जिसमें दाहपूर्वक रक्त या रज्ञ निकलता है उसे "लोहित्

श्रयं—जिसमें दाहपूर्वक रक्त या रज निकलता है उसे "लेंगिहत-चया", गर्माधान के कुञ्ज दिनों या सप्ताहों के पश्चाल वायु एवं रज से युक्त वीर्य को उगल देती हैं उसे "वामिनी", जो बहुत या थोड़ी श्रपने स्थान से हुलक जाती हैं श्रथवा जिससे प्रसव के समय श्रत्यन्त वेदना होती हैं उसे "प्रसंसिनी", जिसमें रक्त की कमी के कारण बार-बार गर्मस्राव या गर्भपात हो जाया करता हैं श्रथवा ठीक समय पर उत्पन्न होकर भी सन्तान भर जाती हैं "पुत्रन्नी", जो दाह, पाक (योनि में) एवं ज्वर से युक्त होती हैं उसे "पित्तला" कहते हैं। श्रीर उपर्युक्त लोहितच्चया श्रादि चारों व्यावियों में पित्त के लच्नणों की श्राधकता पाई जाती हैं।

ऋत्यानन्दादिश्लैष्मिकयोनिःयापदां लत्त्त्सानि । ऋत्यानन्दा न सन्तोषं ग्राम्यधर्मेण गच्छति ।

रजःस्नाव उचित प्रकार से होने पर भी बहुत सी स्त्रियाँ ऐसी हैं जिन्हें गर्भाधान नहीं होता। उन्हीं को 'वन्ध्या' कहा भी जाता है।

कर्णिन्यां कर्णिका योनौ श्लेष्मासम्भयां प्रजायते ॥८॥ मैथुनेऽचरणा पूर्व पुरुषाद्विदिच्यते । बहुअश्चातिचरणा तयोबींजं न विन्द्वि ॥९॥ श्लेष्मला पिच्छिला योनिः कण्ड्रयस्ताऽतिश्चीतला । चतसम्बपि चाद्यासु श्लेष्मिलिङ्गोच्छ्यो भवेत् ॥१०॥

सु० उ• अ० ३८

चर्य — जिसे मैंथुन से सन्तोष या ति का लाभ नहीं होता उसे "'श्रत्यानन्दा", कफ-रक्त की विकृति से योनि के भीतर गाँठ हो जाती है उसे "किएती", मैथुन करते समय पुरुष की सन्तुष्टी के पूर्व ही जो सन्तुष्ट हो जाती उसे "अचरणा" ( इसकी मैथुनाभिलाषा शीघ शान्त हो जाती है), जो बहुत श्रिथिक मैथुनाभिलाषिणी होती है उसे "'श्रुतिचरणा", जो चिपचिपी, कर्ण्ड्रयुक्त, श्रत्यन्त शीत होती है उसे "रले-भाला" कहते हैं। उपर्युक्त अत्यानन्दा श्रादि चारों व्याधियों में कफ के लच्नणों की श्रिधिकता पाई जाती है।

सान्निपातिकानां योनिःयावत्तीनां लच्चणानि । अनार्तवाऽस्तनी षण्ढी खरस्पर्शा च मैथुने । अतिकायग्रहीतायास्तरुण्यास्त्वण्डलो भवेत् ॥११॥ विद्यता च महायोनिः मूचीवक्त्राऽतिसंद्यता । सर्वालङ्गसग्रुत्थाना सर्वदोषप्रकोपजा ॥१२॥ चतस्रुष्विप चायासु सर्वालङ्गोच्छ्यो भवेत् ।

पञ्चासाध्या भवन्तीह योनयः सर्वदोपजाः ॥१३॥ सु०उ० अ० ६८ व्यर्थ—व्यार्त्तव रहित, व्यत्यन्त छोटे स्तनोवाली एवं मैथुन में स्त्रियो-चित गुर्खो से शून्य स्त्री की योनि को "षण्डी", व्यत्यन्त स्थृललिंगवाले

१—इस रोग से पीडित स्त्रियों लोकलज्जा व्यादि का परित्याग कर बहु-पुरुषगामिनी हो जाती हैं।

२--यह रोग भी कुलांगनाश्चों को कुलटा बना देता है

पुरुष के साथ छोटी आयु अथवा छोटे कदवाती श्ली का संयोग होने से "अण्डली" अत्यन्त खुली "महायोनि" अत्यन्त संकीर्ण या ढँकी हुई "सूचीवक्त्रा", और सत्र दोषों के लक्षणों से युक्त "सर्वजा" जानना चाहिये। और उपर्युक्त षण्ढी आदि चारों व्याधियों में सन्निपात के लक्षण पाये जाते हैं। एवं वे श्रसाध्य मानी जाती हैं।

योनिकन्दानिदानम् ।

योनिकन्दाख्यरोगस्य सम्प्राप्तिः।

दिवास्वमादतिकोधाद् व्यायामादतिमेथुनात् ।

क्षताच नखदन्ताचैर्वाताचाः कुपिता यदा ॥ १ ॥

पूय-शोणित-संकाशं लक्कचाकृतिसंनिभम्।

जनयन्ति तदा योनी नाम्ना कन्दः स योनिजः ॥ २ ॥

श्चर्य—दिन में सोने से, श्चित कोध से, व्यायाम से, श्चित मैथुन से, दन्त-नख श्चादि के द्वारा चत होने से जब वायु श्चादि दोष कुपित हो जाते हैं तो योनि में पीब तथा रक्त के वर्ण (श्वेतरक्त) वाले एवं बड़हर के फलके समान उभारदार गाँठ उत्पन्न कर देते हैं। इसे "योनि-कन्द" कहा जाता है।

रक्तवातजादिभेदेन लच्चणानि । रूक्षं विवर्णं स्फुटितं वातिकं तं विनिर्दिशेत् । दाइ-राग-ज्वर-युतं विद्यात् पित्तात्मकं तु तम् ॥ ३ ॥

१---यह रोग छोटी श्रायुवाची श्रथवा नाटे कद की लियों को श्रथवा वास्स्यायन महर्षि के वतलाये हुए जोड़े न मिलने से हो सकता है।

२—''सूचीवक्त्राऽितसंहता'' योनिच्छद की दहता के कारण पूर्णतया न फटने से गर्मीधान तो हो जाता है, किन्तु गर्मजनन में बड़ी कठिनाई पड़ती है। योनिमार्ग इतना (विट्यास्थि के संकोच के कारण) छोटा होता है कि गर्म उस मार्ग से बाहर निकल ही नहीं सकता। ऐसी दशा में उदर विदारण करके बच्चा निकाला जाता है। सम्भव है इन दोनों दोंधों का निर्देश ''सचीवक्त्रा'' से किया हो।

नीलपुष्पप्रतीकाशं कण्डूमन्तं कफात्मकम् । सर्वालिङ्गसमायुक्तं सन्निपातात्मकं विदुः ॥ ४ ॥

त्र्यथं—जो उक्त कन्द रून्त, मिलन एवं फटा फटा सा हो उसे "वातज-कन्द" कहना चाहिये। जो दाह, लाल वर्ण एवं ज्वर से युक्त हो उसे "पित्तज कन्द" जानना चाहिये। जो आसमानी पुष्प के वणवाला एवं खुजली से युक्त हो उसे "कफज कन्द" जानना चाहिये। सभी दोषों के उपर्युक्त लागों से युक्त कन्द को सिन्नपातज कहा जाता है।

## मृहगर्भानदानम् ।

गर्भपातस्य निदापृतिका सम्प्राप्तिः। भयाभिधातात् तीक्ष्णोश्णपानाशननिषेत्रणात्। गर्भे पतति रक्तस्य सशूलं दर्शनं भतेत्॥ १॥।

अर्थ-भय से, गर्भाशयादि पर आघात पहुँचने से (मानसिक आघातों से भी ), तीहण एवं उष्ण पान भोजनों के सेवन से जब गर्भ

गिरने को होता है तो शूल के साथ रक्त दिखाई पड़ने लगता है।

गर्भस्य स्नाव-पातयोः कालभेदात् भेदः। त्र्याचतुर्थात् ततो मासात् प्रस्नवेत् गर्भविद्रवः।

ततः स्थिरश्ररीरस्य पातः पश्चमषष्ट्रयोः । २।। सु० नि० अ० ८

श्चर्य — चौथे महीने तक यदि गर्भ गिर जाता है तो उसे "गर्भ-स्नाव" श्चथवा पाँचवें श्चीर छठें महीने में कठिन काय गर्भ गिरता है तो उसे "गर्भणत" कहा जाता है ।

गर्भस्याकालपाते सहेतुकं निदर्शनम् । गर्भोऽभिघातविषमाञ्चनपीडनार्यः पक्कं द्रमादिव फलं पतित क्षणेन ।

<sup>9—</sup> गर्भाधान से गर्भ जन्म पर्यन्त सम्भाव्य रोगों का वर्णन इस प्रकरण में किया गया है।

२--स्मरण रिबने-सातर्वे मास में जन्मनेवाले वच्चे जी जाते हैं। श्राट्वें

# मूढः करोति पवनः खलु मूढगर्भ

शूलं च योनिजटरादिषु मूत्रसङ्गम् ॥ ३ ॥

श्रर्थ—शारीरिक श्रथवा मानसिक श्रभिषात से, विषम भोजन एवं पीड़न (पेट का मर्दन श्रथवा उसका श्रत्यन्त दवना) से गर्भ वृत्त से पके फल के समान शीघ ही गिर जाता हैं ' किन्तु कभी-कभी इस गिरते हुए गर्भ को प्रतिलोम वायु निकलने भी नहीं देता; वस, इस फँसे गर्भ को "मूढगर्भ" कहा जाता है। इससे योनि एवं उदर श्रादि में भीषण श्रत्ल एवं मूत्र का निरोध हो जाता है।

मृढगर्भास्याष्ट्री गतयः

भ्रुप्रोऽनिलेन विगुऐन ततः स गर्भः

संख्यामतीत्य बहुधा सम्रुपैति योनिम् । स्य विकास जनसेल समित

द्वारं निरुध्य शिरसा जटरेण कश्चित

कश्चिच्छरीरपस्वितितकुब्जदेहः ॥ ४ ॥

एकेन कश्चिदपर्स्तु भुजद्वयेन

तिर्यग्गतो भवति कश्चिदवाङ्गुखोऽन्यः।

पार्श्वापद्यत्तगतिरेति तथैव कश्चि-

दित्यष्टधा गतिरियं ह्यपरा चतुर्धा ॥ ५ ॥

ऋर्य—यद्यपि वायु की विकृति के कारण उक्त मृढगर्भ ऋनेक प्रकार से योनि में फँस जाता है तो भी निम्नलिखित आठ प्रकार के मृढगर्भ कहे जाते हैं; यथा—१—शिर के बल योनि में रुक जाता है, २—कोई पेट की श्रोर से, ३—कोई शरीर के घूम जाने के कारण कुबड़ा होकर,

में खोज के स्थिर न होने के कारण माता पुत्र दोनों में से एक मर जाता है।

9—पके फल की उपमा देकर प्रत्थकार ने यह बतलाया है कि गर्भिणियों को सर्वथा सावधान रहना चाहिए। परख यदि श्रकान में ऐसा होता है जो पके फल नहीं श्रपितु कर्चे फल के समान प्रसव से भी श्रथिक वेदना के साथ गिरता है। कियों में कहावत है कि सुआ से तुआ ( श्रकालिक प्रसव ) बुरा होता है। ४—िकसी की केवल एक बाहु तो ४—िकसी की दोनों बाहु बाहर निकल आती हैं (शेष रुक जाता है), ६—टेढ़ा होकर (कन्वे आदि की श्रोर से), ७—नीचे को मुख किये, ८—तथा कोई पसलियों की ओर से आकर फँस जाता है। इनसे भिन्न और भी चार प्रकार के मृढगर्भ होते हैं वे नीचे लिखे जाते हैं।

श्रपरासु चतुर्विधगतिषु संकीलकादीनां लज्ञणानि । संकीलक: प्रतिखुर: परिघोऽथ बीन-

स्तेषूर्ध्व-वाहु-चरणैः श्विरसा च योनिम् । सङ्गी च यो भवति कीलकवत् स कीलो

दश्यैः खुरैः प्रतिखुरं स हि कायसङ्गी । गच्छेद्र भुजदूयशिराः स च बोजकारूयो

योनौ स्थितः स परिघः परिघेण तुल्यः ॥ ६ ॥

श्रथं—१—संकीलक, र—प्रतिखुर, ३—पिरघ, ४—बीज। इनके लच्चण इस प्रकार हैं—बाहु, पैर एवं सिर उपर की किये श्रयांत चूत्ड़ों की श्रोर से कील के समान योनि में जो फँसता है उसे "कीलक" कहते हैं। जो हाथ पाँच के निकलने पर श्रविशिष्ट शारीर से रकता है उसे "प्रतिखुर" कहते हैं। जिसमें दोनों बाहु एवं सिर निकल कर श्रविशिष्ट भाग फँस जाता है उसे "बोज" कहा जाता है। जो परिच श्रयांत् श्ररत्ती (जो किवाड़ों के पीछे फँसाई जाती है) के समान तिरह्या श्राकर रकता है उसे "परिच" कहते हैं।

श्रसाध्य<sub>र्</sub>ढगर्भ-गभिएयोर्छच्चगम्।

श्चपविद्धशिरा या तु शोताङ्गो निरपत्रपा ।

नीलोद्गुगर्तासरा इन्ति सा गर्भ स च तां तथा ॥७॥ छ॰ नि॰ ध• ८३

श्रर्थ—जिसका शिर लटक गया हो, शरीर ठएडा हो गया हो, जिसको श्रपना तन ढँकने की भी होश न हो तथा शरीर पर नीली २ सिराएँ दिखाई पड़ने टर्गे, वह गमिणी गर्भ को तथा गर्भ गमिणी को मार डालता है श्रर्थात् माता पुत्र दोनों की मृत्यु हो जाती है।

## मृतगर्भस्य लच्चणम् ।

गर्भास्पन्दनमावीनां प्रणाशाः श्यावपाण्डुता ।

भवेदूच्छ्वासप्तित्वं श्र्नताऽनन्तर्मृते शिशौ ॥८॥ सु॰ नि॰ न॰ ४

अर्थे—गर्भ की स्वामाविक फड़कन (इसका गर्भिणी को अनुभव हुआ करता है) बन्द हो जाय, प्रसवकाल की वेदना भी बन्द हो जाय, शरीर पर कालापन अथवा पीलापन छा जाय, गर्भिणी के श्वास में दुर्गन्धि एवं उदर पर सूजन आ जाय तो समक्ष लेना चाहिये कि भीतर बचे की मृत्यु हो गई है।

गर्भस्य मरणकारणानि ।

मानसागन्तुभिर्मातुरुपतापैः प्रपीडितः ।

गर्भो व्यापद्यते कुक्षौ व्याधिभिश्च निपीडित: ॥६॥ सु• नि॰ अ॰ ४

अर्थ—माता के मार्नासक एवं आगन्तुक सन्तापों से अथवा अन्य शारीरिक व्याधियों से पीडित होकर गर्भाशय में ही गर्भ की सृत्यु हो जाती हैं।

गर्भिएया अपराएयप्यसाध्यलद्मणानि ।

योनिसंवरणं ' सङ्गः कुक्षौ मक्छ एव च ।

१—इस दशा में यदि शल्यचिकित्सक (डाक्टर) मृत शिशुको काटकर शीघ्र निकाल सेता है तो माता के प्राणों की रक्षा हो जाती है।

२ — योनि संवरणादि के लक्षण इस प्रकार हैं —

वातलान्यकपानानि आम्ययर्भ प्रजागरम् । श्रात्यर्थं सेवमानाया गर्भिण्या योनिमार्गगः ॥ मातरिश्वा प्रकृषितो योनिद्वारस्य संवृतिम् । कुरुते रुद्धमार्गवात् पुनरन्तर्गतोऽनिलः ॥ निरुणद्वयाशयद्वारं पीडयन् गर्भसंस्थितिम् । निरुद्धवदनो च्छ्वासो अगर्भस्याशु विषयते ॥ बद्धां संरुद्धहृदयां नाशयत्याशु गर्भिणीम् । योनिसंवरणं विद्याद् व्याधिमेनं सुदारुणम् ॥ श्रमन्तकप्रतितं घोरं नारमेत चिकित्सितुम् । वायुः प्रकृतितः कुर्यात् संरुध्य रुधिरं सृतम् ॥

स्ताया हृच्छिरो-बस्तिश्रूलं मक्कन्नसंज्ञितम् ।

\* यह पाठ श्रनार्ष है क्यों।क गर्भ में शिशु साँस नहीं स्रेता ৷ देखिये सुश्रुत शा॰ অ॰ ২ ৷ इन्युः स्त्रियं मृढगर्भां यथोक्ताश्राप्युपद्रवाः ॥१०॥

अर्थ —योनि अर्थात् गर्भमार्ग का संकुचित होना तथा गर्भाशय का मुख बन्द हो जाना एवं मकल्लशूल और अन्यान्य आन्तेपक श्वासादि उपद्रव मृढगर्भवाली स्त्री को मार डालते हैं।

## स्रुतिकारोगनिदानम् ।

सृतिकारोगस्य लच्चणम् ।

अङ्गमर्दो ज्वरः कम्पः पिपासा गुरुगात्रता ।

शोथः श्रुलातिसारी च स्नुतिकारोगलक्षणम् ॥१॥

ऋर्थ-ऋंगों का दुखना, ज्वर, कम्प, प्यास, शरीर का भारीपन, शोथ, शूल एवं ऋतिसार यह "सृतिकारोग" का लक्त्रण है।

सृतिकारोगस्य हेतवः ।

मिथ्योपचारात् संक्रेशाद्द विषमाजीर्णभोजनात् ।

स्तिकायाश्र ये रोगा जायन्ते दारुणास्तु ते ॥२॥

ज्वरातीसारशोथाश्र श्रुलानाहबलक्षयाः।

तन्द्राऽरुचि-प्रसेकाद्याः कफवातामयोद्भवाः ॥३॥

कुच्छुसाध्या हि ते रोगाः क्षीण-मांस-बलाग्नितः।

ते सर्वे सृतिकानाम्ना रोगास्ते चाप्युपद्रवाः ॥४॥

श्रर्थ—प्रसवसमय के उपचारों में गलतियाँ होने से, प्रसवकालीन कृष्ट श्रथवा श्रन्य प्रकार के कहां से, विषम एवं श्रजीर्ण भोजन से प्रस्ता को जो रोग हो जाते हैं वे प्रायः कष्टसाध्य होते हैं। ज्वर, श्रतिसार, शोथ, गूल, श्रानाह, दुर्बलता, तन्द्रा, श्रक्ति, मुखस्राव श्रथवा योनिस्राव एवं श्रीर भी कफ वायु के रोग हो जाते हैं। मांस, बल एवं श्रिप्त के घट जाने से ये सभीकष्टसाध्य रोग या उनके उपद्रव "सृतिकारोग" कहे जाते हैं।

१ प्रसव के बाद (४०-४५ दिन के भीतर) होनेवाले रोगों को ''स्तिकारोग'' कहा जाता है।

## स्तनरांगनिदानम्।

स्तनरोगस्य सम्प्राप्तिः।

सक्षीरों वाऽप्यदुग्धौ वा प्राप्य दोषः स्तनौ स्त्रियाः ।

पद्ष्य मांसरुधिरं स्तनरोगाय कल्पते ॥१॥

श्चर्य — स्त्री के दूधवाले श्चथवा दुग्धरहित स्तनों ( एक स्तन में भी ) में जाकर दोष मांस-रक्त को दूषित कर "स्तनरोग" कर देते हैं।

श्रस्यातिदेशिकं लच्चराम्।

पञ्चानामपि तेषां हि रक्तजं विद्रिधं विना ।

त्तक्षणानि सामानानि वाद्यविद्रधित्तक्षणैः ॥२॥

श्रर्थ—इस स्तनरोग के सब लत्त्रण रक्तविद्रधि के श्रतिरिक्त बाह्य-विद्रधि के लत्त्रणों के समान होते हैं।

> स्तन्यदुष्टि।नदानम् । स्तन्यदुष्टेः सम्प्राप्तिः।

स्तन्यदुष्टेः सम्प्राप्तिः । गुरुभिर्तिविधैरनैर्दृष्टैदापैः पद्भितम् ।

9—थनइली श्रयन थनइला-इस नाम का रोग भी स्तनों में हा जाता है। इससे स्तनों में वेदना, शोथ एवं ज्वर हो आता है। जरा-सा भी सार्थ करने से पीडा हो उठती है। इसमें स्तन की मांसपेशी में शोथ हो आता है। इसमें पाक नहीं होता और सावारण संकोचक औषियों के ले। से तीन चार िन आराम हो आता है किसी-किसी को यह वारम्यार हुआ। करता है। यह किसी भी प्रकार के आधात से हो सकता है।

२--- प्रसव के २-४ दिन वाद दुग्ध की प्रवृति होती है। केवल माता के दुध पर निर्भर रहने वाले पर्चों के रोगों का कारण दूषित दुग्ध ही होता है। श्रतः इसका विशेष ध्यान रखना चाहिंगे। दुध उतरने में सचा प्रम ही कारण होता है। यही कारण है कि श्रप्रमृता एवं बृद्धाओं को भी दूध उतर श्राता है। यथा--

विशर्केष्वि गात्रेषु यथा शुकं न दृश्यत । सर्वदेहाश्रितत्वाच शुक्रतक्षणमुच्यते ॥ तदेव चेष्ट्युवतेर्दर्शनात् स्मरणादपि । शब्दसंश्रवणात् सार्शात् संदृषाच प्रवर्तते ॥ क्षीरं मातुः कुमारस्य नानारोगाय कल्पते ॥ १ ॥

अर्थ—अनेक प्रकार के गुरु पदार्थों के सेवन से दुष्ट दोष माता का दृध विगाड़ देते हैं। इस दूषित दूध के पीने से बने को अनेक प्रकार के रोग हो जाते हैं।

स्तन्यदुष्टेर्ब्हणानि । कषायं सिलालप्लावि स्तन्यं मास्तद्षितम् । कट्वम्ललवर्णं पीतराजीमत् पित्तसंज्ञितम् ॥ २ ॥ कप्रदुष्टं घनं तोये निमज्जति सपिच्छलम् ।

द्विलिङ्गं द्वन्द्वजं विद्यात् सर्वेलिङ्गं त्रिदोषजम् ॥ ३ ॥

श्रर्थ—कसेला एवं पानी पर तैरनेवाला दुग्ध वायु से दूषित सममा जाता है। कहुआ, खट्टा, नमकीन तथा पीली २ धारियों से युक्त पित्त से दूषित सममा जाता है। गादा, पानी में हुब जानेवाला एवं चिपचिपा कफ से दूषित सममा जाता है। दो दोषों के लक्त्यों से युक्त द्विदोष-दूषित तथा त्रिदोष के लक्त्यों से युक्त त्रिदोष-दुष्ट दूध जानना चाहिये। विशुद्धस्तन्यस्य लक्त्यानि।

अदुष्टं चाम्बुनिक्षिप्तमेकीभवति पाण्डरम् । मधुरं चाविवर्णं च प्रसन्नं तत् प्रशस्यते ॥ ४ ॥

अर्थ-उपर्युक्त लच्चगों से रहित, जल में शीघ चुलनेवाला, रवेत, मीठा, स्वाभाविक वर्णवाला एवं साफ दुग्ध प्रशंसा के योग्य होता है।

## बालरोगनिदानम्'।

वातादिदुष्टस्तन्यपानजातानां बालरोगायां लज्ञ्यानि । वातदुष्टं श्रिश्चः स्तन्यं पिवन् वातगदातुरः ।

स्रप्रसम् मनस्तत्र हर्षणे हेतुकच्यते । श्वाहाररसयोनित्वादेषं स्तन्यमपि स्त्रियाः ॥ तदेवागरयसंस्पर्शात् दर्शनात् स्मरणादपि । प्रहणाच शरीरस्य शुक्रवत् संप्रवर्तते ॥ स्तेहो निरन्तरस्तत्र प्रस्रवे हेतुकच्यते ॥

१—बालरोगों का निदान करते समय माता के दुग्ध की परीक्षा परमावश्यक है। २६ मा०

क्षामस्वरः क्रशाङ्गः स्याद्ध वद्ध-विष्ण्-मूत्र-मास्तः ॥
स्विन्नो भिन्नमलो वालः कामला-पित्त-रोगवान् ।
तृष्णालुरुष्णसर्वाङ्गः पित्तदुष्टं पयः पिवन् ॥२॥
कफदुष्टं पिवन् क्षीरं लालालुः श्लेष्मरोगवान् ।
निद्रान्वितो जडः श्चनवित्राक्षश्रद्धनः शिशुः ॥३॥
द्वन्द्वजे द्वन्द्वजं रूपं सर्वजे सर्वलक्षणम् ।

श्रथं—वायु से दूषित दुग्ध को पीनेवाला बालक वायु के रोगों से पीड़ित हो जाता है। उसका स्वर वैठ जाता है, शरीर क्रशं हो जाता है श्रीर विष्ठा, मूत्र एवं अधोवायु रुक जाता है अथवा रुक कर आने लगता है। पित्त से दूषित दुग्ध को पीने वाले बच्चे को पसीना अधिक आया करता है और मल-भेद, कामला एवं पित्त के रोग हो जाते हैं, प्यास अधिक लगती है और सम्पूर्ण शरीर गर्म रहता है। कफ से दूषित दुग्ध पीनेवाला बालक लार एवं कफ रोगों से पिड़त हो जाता है। नींद अधिक आती है, वालक सुस्त या ढीला-ढाला रहता है, मुख और आँख पर सुजन हो जाती है एवं के हुआ करती है। दो दोषों से दूषित दूध पीने से तीनों दोषों के लच्चण उत्पन्न हो जाती हैं।

विकुमशक्तस्य बालस्योभ्यन्तरिकदुःखविज्ञानम् ।
'शिश्तोस्तीत्रामतीत्रां च रोदनाल्लक्षयेद्रुजम् ॥४॥
स यं स्पृशंद्व भृशं देशं यत्र च स्पर्शनाक्षमः ।
तत्र विद्याद्व रुजं, मूर्धिन रुजं, चाक्षिनिमीलनात् ॥५॥
कोष्ठे विवन्ध-वमथु-स्तनदंशान्त्रक्रजनैः ।

<sup>9—</sup>यही ''बालरोष'' या ''स्र्ला'' नामक रोग है। इसमें कभी २ प्रइदोष भी होता है। क्योंकि दैन-व्यपाश्रय-चिकित्सा से काफी सफलता देखी जाती है। २—जो विधा बतला नहीं सकता उसके रोगों को जानने का यह श्रच्छा

उपाय है।

श्राध्मान-पृष्ठनमन-जटरोन्नमनैरपि ॥ ६ ॥ बस्तौ गुग्चे च विण्-मूत्र-संग-त्रास-दिगीक्षणैैः । स्रोतांस्यङ्गानि सन्धींत्र पश्येद्यत्नान्मुदुर्मुद्रुः ॥ ७ ॥

श्रर्थ—बच्चे की भीषण एवं साधारण पीड़ा को उसके रोने के श्रमु-सार सममना चाहिए। बच्चे के उस श्रंग में पीड़ा समझना चाहिये जिस श्रंग को वह बराबर छूए श्रथवा छूने न दे। श्रीर श्राँखे मीचे रहे तो शिर में, मल मूत्रादि के बन्ध, वमन, स्तन काटने, श्रातों के बोलने, श्रफरा, पीठ की श्रोर मुकने एवं पेट को ऊँचा करने के यत्न से कोष्ठ श्रर्थात् श्रामाशयादि में श्रीर बस्ति एवं लिंग, योनि तथा गुदा में मल-मूत्र के रुकने, तड़पने श्रीर इधर उधर देखने से पीड़ा का निश्चय करना चाहिए । शेष व्याधियों को जानने के लिये चिकित्सक को चाहिये कि बालक के स्रोतों श्रंगों एवं सन्धियों को बारबार मली प्रकार देख लेवे। क्रुक्रणकरोगस्य लन्त्याम्।

कुक्रणकः क्षीरदोषात् शिश्चनामेव वर्त्मनि । जायते तेन तन्नेत्रं कण्ड्रं च स्रवेन्द्रहुः ॥ ८ ॥ शिश्चः क्रुयांछलाटाक्षिक्र्ट-नासा-ऽवधर्षणम् । शक्तो नार्कप्रभां द्रष्टुं न वर्त्मोन्मोलनक्षमः ॥ ९ ॥

श्रर्थ— दृध के विकार से बालकों की बरोनी में "कुकू गुक" नामक रोग हो जाता है। इससे उसकी श्राँखों में खुजली चलती है श्रौर पानी जाता है। बालक हाथों से श्रपने माथे, श्राँख एवं नाक को रगड़ता है और वह सूर्य के प्रकाश की श्रोर देख भी नहीं सकता श्रथवा कदाचित् श्राँखें सव्या बन्द किये रहता है।

पारिगभिकस्य लच्चणानि । मातुः कुमारो गर्भिण्याः स्तन्यं शयः पिवन्नपि ।

१—इसे "रोहा" कहा जाता है। वर्स के भीतरी भाग में लाल र श्रङ्कर हो जाते हैं।

कासाविसाद-वमथु-तन्द्रा-काश्यांचिच-भ्रमेः ॥ १० ॥ युज्यते कोष्ठदृद्धचा च तमाहुः पारिगर्भिकम् । रोगं परिभवाख्यं च युञ्ज्यात्तत्राविदीपनम् ॥ ११ ॥

श्रर्थ—गर्भवती माता का दुग्ध पीने वाले बच्चे को प्रायः खाँसी, श्रिप्रमान्य, कै, उँघाई, कृशता, श्रारुचि एवं भ्रमरोग हो जाता है और उसका पेट भी बढ़ जाता है। इसमें श्रिप्रदीपन श्रीपधिश्रों का प्रयोग करना चाहिये।

तालुकरटकस्य लत्त्तपानि । तालुमांसे कफ: कुद्ध: क्रस्ते तालुकण्टकम् । तेन तालुप्रदेशस्य निम्नता मूर्ध्न जायते ॥ १२ ॥ तालुपात: स्तनद्वेष: कृच्छात् पानं शक्दद्रवम् । तृडक्षि-कण्टा-ऽद्ध्य-रुजा ग्रीवादुर्धरता विमः ॥ १३ ॥

श्रर्थ—तालु में कफ कुपित होकर "तालुकंटक" नामक रोग को उत्पन्न कर देता है। इस रोग से ठीक तालु के ऊपर सिर में गड्ढ़ा सा पड़ जाता है। वालु नीचा हो जाता है। वचा दूध पीना छोड़ देता है अथवा बड़ी कठिनता से पीता है। दस्त लग जाते हैं, प्यास श्रिधिक लगती है, श्राँख, करूठ, एवं मुख के रोग हो जाते हैं। बचा सिर उठाने में श्रसमर्थ हो जाता है श्रीर के होने लगती है।

महापद्मविसर्पस्य लज्ञ्णानि।

विसर्पस्तु शिशोः पाणनाशनो वस्तिशोर्षजः।

श्चर्य-बित्पदेश पर एवं सिर पर होनेवाला विसर्प (पूर्वोक्त) विसे को मार डालुता है।

'पद्मवर्णो महापद्मनामा दोषत्रयोद्भवः ॥ १४ ॥

<sup>9—</sup>एक गुलाबी राष्ट्र का दाग चार छः श्रह्मल चौडा पार्स्वप्रदेश में होता देखा गया है, किन्तु वह किसी स्रोर को गया कि नहीं पता नहीं। वह बच्चा दूसरे ही दिन मर भी जाता है।

शङ्खाभ्यां हृद्यं याति हृद्याद् वा गुदं व्रजेत्।

अर्थ-लाल ( गुलाबी ) रंगवाला "महापद्म" नामक त्रिदोषज रोग होता है। यह पुटपुटी पर उत्पन्न होकर हृदय की स्रोर स्रोर हृदय से गुद की श्रोर चलता है यह भी श्रसाध्य है।

श्चद्ररोगोक्ताजगल्ल्यहिपूतनयोर्बालकेषु प्रभाववत्त्वम् । न्नद्ररोगे च कथिते त्वजगल्ल्यहिपूतने ॥ १५ ॥

अर्थ-बालकों के अजगल्ली एवं अहिपूतना नामक रोग क्षुद्ररोगा-अप - गुरु हैं। धिकार में कह चुके हैं। श्रथान्येषामपि रोगागां बालेप्बतिदेशः॥

ज्वराद्या व्याधयः सर्वे महतां ये पुरेरिताः ।

बालदेहेऽपि ते तद्वद्व विज्ञेयाः कुशलैः सदा ॥ १६ ॥

श्रर्थ-ज्वर श्रादि जो सभी रोग बड़ी श्रवस्थावाले प्राणियों के सम्बन्ध में पहिले कहे जा चुके हैं, वे बालकों के शरीर में भी हो जाते हैं। यह बात कशल चिकित्सक को समरण रखनी चाहिये।

स्कन्दादिबालप्रहगृहीतानां शिश्यनां सामान्यलत्त्रणानि । 'क्षणादुद्विजते बालः क्षणात् त्रस्यति रोदिति ।

नखैर्दन्तैर्दारयति धात्रीमात्मानमेव वा ॥ १७ ॥

ऊर्ध्वं निरीक्षते दन्तान् खादेत् क्रूजति जृम्भते ।

भूवौ क्षिपति दन्तौष्टं फोनं वमित चासकृत् ॥ १८ ॥

क्षामोऽति निश्च जागर्ति शूनाक्षो भिन्न-विट्-स्वरः । मांस-शोणित-गन्धिश्च न चाश्नाति यथा परा ॥ १९ ॥

सामान्यं ग्रहजुष्टानां लक्षणं समुदाहतम् ।

श्चर्य-चण भर में बालक घबराता है, तड़प उठता है, रोता है, नाखून एवं दाँतों से धात्री को स्त्रीर ऋपने को काटता है, ऊपर देखता है, दाँत काटता (दाँत लग जाना या सिकुड़ पड़ना) है, कराहता

१--बालकों की प्रहपीडा में बलि मंगलादि पर विशेष ध्यान देना चाहिये।

( ऊँ: ऊँ: करता ) है, जँभाई लेता है, भौं चढ़ाता है, दाँत कटकटाता है, स्रोठ फड़काता है, छरा हो जाता है, रात में जागता है (सोता नहीं)। उसकी स्राँखें स्ज जाती हैं। स्रांतिसार एवं स्वर-भेद हो जाता है। उसके शरीर से मांस तथा रक्त की-सी गन्ध स्राने लगती है एवं बालक पूर्ववत् खाता-पीता नहीं है। यह बालप्रहों का सामान्य (बहुज्यापी) लच्च कहा गया है।

श्रथैषां विशेषलत्त्रणानि ।
एकनेत्रस्य गात्रस्य सादः स्पन्दनकम्पनम् ॥ २० ॥
ऊर्ध्वं दृष्ट्या निरीचेत वक्रास्यो रक्तगन्थिकः ।
दन्तान् खादति वित्रस्तः स्तन्यं नैवाभिनन्दति ॥ २१ ॥
स्कन्दग्रहगृहीतानां रोदनं चाल्पमेव च ।

अर्थ—स्कन्द नामक प्रह से आविष्ट बालकों में निम्न लत्त्त्ए पाये जाते हैं—एक नेत्र से पानी जाना, एक अंग का धड़कना अथवा काँपना, ऊपर को देखना, मुख का टेढ़ापन (अर्दित-लकवा) शरीर से रक्त की गन्ध आना, दाँत लगना, तड़पना, माता के दूध को न चाहना एवं थोड़ा रोना।

स्कन्दापस्मारस्य लच्चणानि । नष्टसंज्ञो वमेत् फेनं संज्ञावानितरोदिति ।

पूय-शोणित-गन्धित्वं स्कन्दापस्मारतक्षणम् ॥ २२ ॥

श्रर्थ—स्कन्दापस्मार का लज्ञाग यह है कि—संज्ञा-नाश, मुख से काग निकलना, होश होने पर श्रत्यन्त रोना एवं शरीर से पीब तथा रक्त कीसी गन्ध श्रामा।

शकुनीमहगृहीतस्य शिशोर्लच्चणानि । स्नस्ताङ्गो भयचिकतो विहङ्गगुन्धिः

सास्रावत्रणपरिपीडितः समन्तात् ।

स्कोटैश्र मचिततनुः सदाहपाकै-

र्विक्षेयो भवति शिशुः क्षतः शकुन्या ॥ २३ ॥

श्रर्थ—िनम्न लच्चणों से युक्त बालक को "शक्कुनि" नामक मह से पीड़ित समझना चाहिये। यथा—अंग का ढीलापन, डरकर चौंकना, पत्ती (गिद्ध) की सी गन्ध श्राना, सम्पूर्ण शरीर पर स्नाव युक्त अर्थों का हो जाना श्रथवा दाह एवं पाक से युक्त फफोले निकलना।

रेवत्यादिवालप्रहगृहीतानां शिश्नुनां लच्चणानि । वृष्णैः स्फोटेश्वितं गात्रं पङ्गगन्धं स्रवेदस्रक् ।

भिन्नवर्चा ज्वरी दाही रेवतीग्रहलक्षणम् ॥ २४ ॥ अर्थ—"रेवती" प्रहका लक्षण यह है—त्रण अथवा फफोलोंसे सम्पूर्ण शरीरका भर जाना, कीचड़ (सड़े हुए) की सी गन्धवाले (त्रणों या फफोलोंमेंसे) रक्तका निकलना, श्रतिसार, ज्वर एवं दाह होना।

अतीसारो ज्वरस्तृष्णा तिर्यक्षेश्रणरोदनम् ।

नष्टनिद्रस्तथोद्विशो ग्रस्तः पूतनया शिशुः ॥२५॥

श्रर्थ—िनम्न लच्चर्यों को देखकर वालक को "पूतना" प्रह से प्रस्त सममना चाहिये—श्रतिसार, ज्वर, प्यास, टेढ़ा देखना (टीरा हो जाना), रोना, नींद न श्राना एवं डरना ।

छर्दिः कासो ज्वरस्तृष्णा वसागन्थोऽतिरोदनम् ।

स्तन्यद्वेषोऽतिसारश्च अन्धपूतनया भवेत् ॥ २६ ॥

अर्थ-- "अन्धपूतना" प्रस्त बालकके लज्ञ ये हैं-कै, खांसी, ज्वर, ज्यास, वसाकी सी गन्ध, अत्यन्त रोना, दूध न पीना एवं अतिसार।

बेपते कासते क्षीणो नेत्ररोगो विगन्धिता । छर्घतीसारयुक्तश्च शीतपूतनया शिशुः ॥ २७ ॥

ऋर्थ—"शीतपूतना" से पीड़ित बचा काँपता है, खाँसता है, छूरा हो जाता है, नेत्ररोगी हो जाता है, शरीर से विशेष प्रकार की गन्ध आती है, के और दस्त होने लगते हैं।

पसन्न-वर्ण-वदनः सिराभिरभिसंदृतः । मूत्रगन्थी च बहाशी मुखमण्डिकया भवेत् ॥ २८ ॥ ऋथं—"मुखमण्डिका" के लच्चण ये हैं—मुख प्रसन्न तथा कान्ति- मान् हो जाता है। शरीर पर शिराएँ दिखाई देने लगती हैं, मूत्र की सी गन्ध आती है और बचा पहिले से अधिक खाने-पीने लगता है।

छर्दि-स्पन्दन-कण्ठाऽऽस्य-शोष-मूर्च्छा-विगन्धिताः।

ऊर्ध्व पश्येद्व दशेइन्तान् नैगमेयग्रहं वदेत् ॥ २९ ॥

अर्थ—निम्न तच्चणों से "नैगमेय" यह की पीड़ा जाननी चाहिये— के, कम्पन, करठ तथा मुख का सूखना, मूच्छी, शरीर में दुर्गन्ध, अपर को देखना और दाँत काटना।

पस्तब्धाक्षः स्तनद्वेषो मुद्यते चानिशं मुहुः।

तं बालमचिराद्व हन्ति ग्रहः संपूर्णलक्षणः ॥ ३० ॥

श्चर्य—उपर्युक्त प्रह ऐसे बालक के शीघ मार देते हैं। यथा— जिसकी आँसे स्तब्ध हो गई हों अर्थात् टकटकी लग गई हो, सर्वश्चा दूध न पीता हो, बार २ मृच्छित हो जाता हो एवं मह के अपने सभी लच्चण उरपन्न हो गये हों।

## विषरोगनिदानम् ।

विषस्य द्वैविष्यम् ।

स्थावरं जङ्गमं चैव द्विविधं विषमुच्यते।

मृलाद्यात्मकमाद्यं स्यात् परं सर्पादिसंभवम् ॥१॥ छ० क० अ० २

भर्य—विष दो प्रकार का होता है १—स्थावर, २—जङ्गम । इनमें पहिला अर्थात् स्थावर विष मूल या फल आदि के रूप में प्राप्त होता है और दूसरा ( जंगम ) साँप-बिच्छू आदि जन्तुओं से उत्पन्न होता है।

जङ्गमविषस्य सामान्यलज्ञणानि । निद्रां तन्द्रां कृमं दाहमपाकं लोमहर्षणम् ।

शोर्थं चैतावातिसारं च जङ्गमं कुरुते विषम् ॥ २ ॥

श्चर्य-जङ्गम विष किसी प्रकार शरीर में प्रवेश पाकर नींद, तन्द्रा,

१—संसार के वे द्रव्य को प्राणी के शारीर में प्रविष्ट हो जाने पर जीवनी शांकि को नष्ट करने का यत करते ( सफल हों या श्रसफल ) हैं, उन्हें विष कहा जाता है; किन्तु वे श्रीष्यके रूप में लाभदायक भी होते हैं।

सुस्ती, दाह, श्रपच, रोमहर्ष, शोथ एवं श्रतिसार को उत्पन्न कर देता है। स्थावरविषस्य सामान्यलत्त्राणानि ।

स्थावरं च ज्वरं हिक्कां दन्तहर्षं गलग्रहम् । फोनच्छर्यरुचिश्वासं मूच्छां च कुरुते भृत्रम् ॥ ३ ॥

अर्थ-स्थावर विष जबर, हिचकी, दन्तहर्ष, गलरोध, काग की कै, अरुचि एवं श्वास को जत्पन्न कर देता है।

विषदातुः पुरुषस्य लज्ञ्णम् ।

इङ्गितज्ञो । मनुष्याणां वाक्-चेष्टा-मुख-वैक्वतेः । जानीयाद्व विषदातारमेभिर्लिङ्गेश्व बुद्धिमान् ॥ ४॥ न ददात्युत्तरं पृष्टो विवज्जमीहमेति च । अपार्थं बहु संकीर्णं भाषते चापि मृढवत् ॥ ५॥ हसत्यकस्मात् स्कोटत्यङ्गुलीर्विलिखेन् महीम् । वेपथुश्वास्य भवति त्रस्तश्चान्योऽन्यमीक्षते ॥ ६॥ विवर्णवक्त्रो ध्यामश्च नखैः किंचिच्छिनत्त्यपि । आलमेतासनं दीनः करेण च शिरोष्हम् ॥ ७॥ वर्तते विपरीतं च विषदाता विचेतनः । ॥ ७ • • • • • •

श्रर्थ—छोगों के संकेतों (इशारों) को भली प्रकार सममनेवाला बुद्धिमान वैद्य या कोई भी व्यक्ति श्रास-पासवाले स्त्री-पुरुषों की बातचीत, चेष्टा, (कर्तव्य) एवं मुख के उतार-चढ़ाव को सममकर विष देनेवाले

<sup>9—</sup>प्रायः लोग अपने रात्रु को स्वयं विष नहीं देते या दे नहीं सकते—ऐसी दशा में वे उसके आस-पास रहनेवालों को मिलाकर उनके द्वारा भी यह निक्कष्ट कार्य सिद्ध करते हैं। किसी प्रकार के प्रलोभनादि से वह कर तो गुजरता है, किन्तु फिर घवराकर इन कुचेष्टाओं को करने लगता है। जिनके कारण वह पापी पकड़ा। भी जाता है और अपने किये दुष्फल को भोगता है, किन्तु वह स्मरण रखना चाहिये। कि इन लक्षणों से घोषा भी हो सकता है। अतः सावधानी से काम करना चाहिये।

को पहचानने का यन्न करे। विष देनेवाले में प्रायः यह लच्च्या पाये जाते हैं जैसे—कुछ पृछने पर उत्तर नहीं देता, कुछ बोलना चाहता है तो मृच्छित या ज्यम हो जाता है अथवा मूर्ल के समान ज्यर्थ, आवश्यकता में अधिक एवं गड़बड़ सड़बड़ बोलता रहता है। वेमीके हँस देता है, अङ्गुलियों को मटकाता है, भूमि को कुरेदता है, काँपता है, दूसरों की खोर घबड़ा कर देखता है, मुख की कान्ति विगड़ जाती है, मैला-कुचैला रहने लगता है, नखों से तृत्य आदि को काटता रहता है, मुस्त होकर आसन अथवा सिर के बालों को तोड़ता रहता है अधिक क्या विषदाता पागल के समान उलटे ही काम करता रहता है।

मूलादिविषाणां लत्त्रणानि ।
 उद्देष्टनं मूलविषैः मतापो मोह एव च ॥ ८ ॥
 जृम्भणं वेपनं श्वासो मोहः पत्रविषेण तु ।
 मुष्कशोथः फलिविषैर्दाहोऽस्त्रदेष एव च ॥ ९ ॥
 भवेत पुष्पविषैन्छिदिराध्मानं श्वास एव च ।
 त्वक्सार-निर्यास-विषैष्णपुक्तैर्भवन्ति हि ॥ १० ॥
 श्रास्यदौर्गन्ध्य-पारूय-शिरोस्क्क्फसंस्रवाः ।
 फेनागमः क्षोरविषैर्विड्मेदो गुरुगात्रता ॥ ११ ॥
 हत्यीडनं धातुविषैर्मृच्छां दाहश्च तालुनि ।
 प्रायोण कान्त्रप्रविद्धि विष्णाने स्ति विष्टिशेष ॥१२॥

प्रायेण कालघातीनि विषाण्येतानि निर्दिशेत्।।१२।।॥० क० अ० २ अर्थ—मूलविषों के अज्ञुण से शरीर में ऐंठन, प्रलाप एवं मोह । पत्रविषों से जम्भाई, कम्पन, रवास एवं अरुचि । फल विषों से अंडकोश में सूजन, दाह एवं अरुचि पुष्पविषों से कै, अफरा तथा श्वास । झाल, सार (मध्यकाष्ठ) गोंद विषों के उपयोग से मुख में दुर्गन्य, शरीर में रुखापन, सिर में पीड़ा एवं कफ जाना । चीरविषों से मुख से माग आना, अतिसार तथा शरीर में भारीपन । धातुविषों (संखिया इड़ताल आदि) से हृदय में पीड़ा, मूच्छी एवं तालु में दाह । प्रायः

येसभी अपनी तीच्णता अथवा मृदुता के अनुसार भिन्न २ समयों में भारक होते हैं"।

विषाकराखाधातस्य जज्ञणानि।
सद्यः क्षतं पच्यते यस्य जन्तोः स्रवेद् रक्तं पच्यते चाष्यभीक्ष्णम्।
कृष्णीभूतं क्रिन्नमत्यर्थपूति क्षताद्व मांसं शीर्यते चापि यस्य॥१३॥
तृष्णा मूच्छां ज्वरदाही च यस्य दिग्धाहतं तं पुरुषं व्यवस्येत्।
लिङ्गान्येतान्येव कुर्यादमित्रेर्वणे विषं यस्य दत्तं प्रमादात्॥१४॥
स्वर्षकः

अर्थ—जिस व्यक्ति का घाव शीघ पक जाय, अधिक रक्त निकले, बार २ पके, काला हो जाय, सड़ जाय, अत्यन्त दुर्गन्ध युक्त हो अथवा जिसके घाव में से कट २ कर मांस गिरे एवं प्यास, मूच्छीं, ज्वर तथा दाह हो, उसे विष में बुमाए शख से घायल समभ लेना चाहिये और जिसके धाव में शत्रुओं ने अथवा किसी ने मृल विष दे दिया हो उसके भी यही लक्तरा हैं ।

विषपीतस्य लच्चणम् । सपीतं ग्रहधूमाभं पुरीपं योऽतिसायते । फेनम्रुद्धमते चापि विषपीतं तमादिशेत् ॥१५॥

अर्थ — जिसको कुछ पीला तथा घर के पूएँ का सा दस्त हो और काग की के हो, उसने विष पिया है ऐसा समक्षता चाहिये।

जंगम विषों का विवरण्— सर्पाणां कतिचिद् भेदाः।

## वात-पित्त-कफात्मानो भोगि-मण्डलि-राजिला:।

<sup>9—</sup>कन्दविष (वस्सनाभ, सिंगिया आदि ) प्रायः तीच्ग होते हैं । रसशाज से "विष" राब्द में इन्हीं का प्रहण होता है ।

२ — जो शंक्ष तत्त्वार-भाता त्रादि तम कर विष के द्रव में बुम्मा तिये जाते हैं, उन्हें, "दिम्ध" कहा जाता है। ऐसे शक्षों से यदि शत्रु के शरीर में थोड़। भी बाव हो जाता है तो वह बहुत दिनों तक युद्ध के योग्य नहीं रहता अथवा मर ही जाता है और शत्रु बहुधा चिकित्सकों से मिलकर त्रणों में विष दिलवा देते हैं।

यथाक्रमं समाख्याता द्वचन्तरा द्वन्द्वरूपिएा: ॥१६॥

श्रर्थ—भोगी (क्षणियर या फनवाले), मण्डली (कौंडियों बाले) एवं राजिल (धारियोंवाले) सांप कमशः वातप्रकृति, पित्तप्रकृति एवं कफ्प्रकृतिवाले होते हैं तथा वर्णसंकर साँपों में मिले-जुले पाये जाते हैं। सपेंदरीषु वातादीनां लच्चणानि।

दंशो भोगिकृत: कृष्णः सर्ववातविकारकृत् । पीतो मण्डलिजः शोथो मृदुः पित्तविकारवान् ॥१७॥ राजिलोत्थो भवेद्व दंशः स्थिरशोथश्व पिच्छिलः ।

पाण्ड: स्त्रिग्धोऽतिसान्द्रास्टक् सर्वश्लेष्मविकारकृत् ॥१८॥

अर्थ—भोगी का दंश (काटा हुआ स्थान) काला तथा वायु के रोगों (श्वाचेपक आदि) को उत्पन्न करता है। मण्डली का दंश पीला, शोबयुक्त, कोमल तथा पित्त के रोगों (दाहादि) को करता है। राजिल का दंश स्थायी शोध से युक्त एवं चिपचिपा, कुछ रवेत तथा चिकना होता है। उसमें से गाढ़ा रक्त निकलता है और कफ के सभी रोग (वमन आदि) को करता है।

विशिष्टदेशादिषु दष्टस्यासाध्यलत्त्रस्यानि । श्रह्यत्थ-देवायतन-श्मशान-वल्मीक-सन्ध्यासु चतुष्पथेषु । याम्ये च दष्टाः परिवर्जनीया ऋचे सिरामर्मसु ये च दष्टाः ॥१९॥

स०क० अः ३

श्रर्थ--पीपल के वृत्त पर, देवमन्दिर में, श्मशान में, बाम्बी पर, सन्ध्याकाल में, भरणी नत्त्र के दिन श्रथवा सिरा एवं मर्म स्थानों में इसे या काटे हुए प्राणी श्रसाध्य होते हैं।

फर्णिविषस्य कालवशादाग्रधातित्वम् । दर्वीकराणां विषमाशुघाति सर्वाणि चोष्णे द्विगुणीभवन्ति ।

१—इन लक्षणों के द्वारा दंश देखकर ही काटनेवाले सर्प को प्रकृति का पता चल जाता है और चिकित्सा करने में सरलता होती है।

त्रजीर्ण-पित्ताऽऽतप-पीडितेषु वालेषु दृद्धेषु बुसुक्षितेषु ॥ २० ॥ क्षीरणक्षते मेहिनि कुष्ठयुक्ते रुचेऽवते गर्भवतीषु चापि । सु॰ उ॰ व॰३

श्रथं—दर्वीकर (फिर्णियर) साँपों का विष बहुत शीघ मार देता है श्रोर उष्णकाल में सभी विष दूना प्रभाव दिखाते हैं। श्रोर इसी प्रकार श्रजीर्ण, पित्त एवं धूप से पीड़ित बालक, वृद्ध, भूखे, इस के रोगी श्रथवा कृश, दुर्बल, प्रमेह के रोगी, कोढ़ी, रूच, तथा गर्भिणियों में भी दूना प्रभाव दिखाते हैं।

सर्पदृष्टस्य सर्वथा वर्जनीयलद्मगानि ।

शस्त्रक्षते यस्य न रक्तमेति राज्यो लताभिश्च न संभवन्ति ॥२१॥ शीताभिरद्भिश्च न रोमहर्षो विषाभिभूतं परिवर्जयेत्तम् ।

श्रर्थ—सर्प के काटे जिस रोगी के शरीर पर शस्त्र द्वारा किये घाव में से रक्त नहीं निकलता श्रथवा जिसके शरीर पर वेत श्रादि मारने से लोथड़ा (साटी) नहीं उभरता श्रथवा जिसके शरीर पर शीतल जल छिड़कने से रोमांच नहीं होता, उसे श्रसाध्य होने के कारण छोड़ देवे श्रथीत चिकित्सा न करे।

जिह्नं मुखं यस्य च केशशातो नासावसादश्च सकण्ठभङ्गः ॥२२॥ कृष्णः सरक्तः श्वयथुश्च दंशे इन्वोः स्थिरत्वं च विवर्जनीयः।

श्रर्थ—सर्पदष्ट जिस रोगी का मुख टेढ़ा हो जाय, (थोड़ा भी खींचने से) केरा उखड़ जायँ, नाक बैठ जाय या गन्धज्ञान का नारा हो जाय या मिन्मिनाया हो जाय, स्वरभेद या भीवा धारण में श्रसमर्थता, दंश के स्थान पर काला या कुछ लाल सूजन हो तथा हुनुस्तम्भ (दांत लगना या दॅद सिक्कड़ पड़ना) श्रयवा (मुख खुला रह जाय) हो जाय तो उसे त्याग देना चाहिये।

वर्तिर्घना यस्य निरेति वक्त्राहु रक्तं स्रवेदूर्ध्वमधश्च यस्य ॥२३ ॥ दंष्ट्रानिपाताश्चतुरश्च यस्य तं चापि वैद्यः परिवर्जयेच ।

ऋर्य-जिसके मुख में से बत्ती-सी गाढ़ी लार निकल रही हो, मुख, नासा ऋादि ऊपरी तथा गुद ऋादि निचले स्रोतों के रास्ते रक्त निकल रहा हो तथा जिसके शरीर पर सांप के चारों दांतों के पाव हों उसे भी त्याग देना चाहिये।

जन्मत्तमत्यर्थम्रपद्धतं वा हीनस्वरं वाऽप्यथवा विवर्णम् ॥ २४ ॥ सारिष्टमत्यर्थमवेगिनं च ज्ञात्वा नरं कर्म न तत्र कुर्यात् ।

सु॰ स॰ अ॰ ३

श्रर्थ—जो श्रत्यन्त पागल हो गया हो, ज्वरातिसारादि उपद्रवों से पोड़ित हो, स्वरभेद से युक्त हो, कान्तिहीन हो गया हो, उपर्युक्त श्रसाध्य लचाणों से युक्त हो तथा जिसके विषवेग सर्वथा शान्त हो गये हों, ऐसे रोगी को देखकर उसकी चिकित्सा न करे।

किचिद्वस्थान्तरगतस्यास्यैव विषस्य दृषीविषसंज्ञा । जीर्णं विषद्मौषिभिर्हतं दा दावाग्नियातातपशोषितं वा ॥२५॥ स्वभावतो वा गुणविषदीनं विषं हि दृषीविषताम्रुपेति ।

सु० क० अ० २

श्रर्थ—स्थावर (कन्द आदि) जङ्गम (सांप श्रादि का) विष ही पुराना, विपनाशक श्रोषधियों द्वारा हीनवीर्य, वनाग्नि, वायु तथा धूप के द्वारा सूखा हुआ श्रथवा स्वभाव से गुग्रहीन "दूषीविष" हो जाता है। दुषीविषस्य लच्चग्रानि।

वीर्याल्पभावाद्गः न निपातयेत् तत् कफान्वितं वर्षगणानुबन्धि ॥२६॥ तेनार्दितो भिन्न-पुरीष-वर्णो वैगन्ध्य-वैरस्ययुतः पिपासी । मुच्छौ श्रमं गद्गगदवाण्वमि च विचेष्टमानोऽरतिमाप्नुयाद्वा ॥२७॥

् का व

श्चर्य—दूषीविष शक्ति घट जाने के कारण प्राणी को मार नहीं सकता, किन्तु कफ के साथ मिलकर वर्षों तक कष्ट देता रहता है। यथा—दूषीविष से पीड़ित रोगी को श्चितसार होते रहते हैं, उसकी कान्ति नष्ट हो जाती है, शरीर या मुख से दुर्गन्ध श्चाती रहती है, मुख बेस्वाद रहता है, प्यास श्चिक लगती है, मुच्छ्रां, भ्रम, हकलापन, के, हाथ-पांव पटकंना तथा वेचैनी होती रहती है।

म्रथैतस्य स्थानविशेषस्थित्या विशिष्टलक्रणानि । श्रामाश्चयस्थे कफवातरोगी पकाश्चयस्थेऽनिल्पित्तरोगी। भषेत् समुद्रध्वस्तिशरोरुहाङ्गो विलूनपक्षस्तु यथा विहङ्गः ॥२८॥

अर्थ-यदि विष आमाशय में रहता है तो रोगी कफ वायु के रोगों से पीड़ित रहता है श्रौर यदि पक्वाशय में रहता है तो रोगी वायु-पित्त के रोगों से पीड़ित रहता है तथा उसके केश उखड़ जाते हैं, अंग ढीले पड़ जाते हैं, पंख नोच लेने पर जो पत्ती की दशा होती है ठीक वही दशा इस रोगी की हो जाती हैं। अर्थात् बाल (पंख) भड़ जाते हैं श्रौर रोगी उठने ( उड़ने ) में श्रसमर्थ हो जाता है।

रसादिधातुगतदूषीविषस्य लत्तर्गानि ।

स्थितं रसादिष्वथवा यथोक्तान् करोति धातुप्रभवान् विकारान् । कोपं च शीतानिलदुर्दिनेषु यात्याशु पूर्वं शृणु तस्य रूपम् ॥२९॥

श्रर्थ-जब वही विष रस श्रादि धातुत्रों में चला जाता है तो उस २ धात में ' होनेवाले रोगों को कर देता है तथा वह शीत काल, अधिक वायु चलते समय, एवं दुर्दिन ( जिस दिन बादल घिरे हों ) में ऋधिक कष्ट देता है। उक्त समयों में होनेवाले रोगों को सुनिये-निद्रां गुरुत्वं च विजृम्भणं च विश्लेषहर्षावथवाङ्गमर्दम् । ततः करोत्यन्नमदाविपाकावरोचकं मण्डलकोठजन्म ॥३०॥ मांसक्षयं पाद-कर-प्रशोथं मूर्च्छां तथा छर्दिमथातिसारम् । दूषीविषं श्वास-तृषा-ज्वरांश्च कुर्यात् मद्दद्धिं जठरस्य चापि ॥३१॥

अर्थ-वे कष्टप्रद रोग यह हैं । यथा-अधिक नींद आना, शरीर में भारीपन, जम्भाई आना, अंगों में शिथिलता, रोमाक्क, अंगों में मर्दन की सी पीड़ा, इसके अनन्तर भोजन करने पर मद, आहार का

१---सु॰ सु॰ ग्र० ३४ ( व्याधिसमुद्देशीय ) देखिये ।

न पचना, श्रहचि, गोल २ चकत्तों का उभरना, मांस का सूखना, हाथ-पाँव पर सूजन, मूर्झा, कै, श्रतिसार, श्वास, प्यास, ज्वर तथा उदर का बढ़ना या जलोदर । बस, दूषीविष इन रोगों को उत्पन्न कर देता है ।

नानाविधविषस्यानेकविकारकर्तृत्वम् ।

उन्मादमन्यज्जनयेत्तथाऽन्यदानाहमन्यत् क्षपयेच शुक्रम् । गाद्ग्यमन्यज्जनयेच कुष्ठं तांस्तान् विकारांश्च बहुप्रकारान् ॥३२॥

श्चर्य-कोई दूषीविष उन्माद को तो कोई श्चानाह को उत्पन्न कर देता है। कोई शुक्र में कमी करता है तो कोई हकलेपन को तथा कोई कुष्ठ को उत्पन्न करता है अथवा कोई उन २ विसर्पिनस्कोट आदि बहुत से रोगों को उत्पन्न कर देता है।

दूषीविषराज्यस्य निरुक्तिः । दूषितं देशकालात्रदिवास्वप्नरभीक्षणज्ञः ।

यस्मात् संदूषयेद् धात्न् तस्माद्भदूषीविषं स्मृतम् ॥३३॥

अर्थ-क्योंकि उक्त प्रकार का विष देश (आनूपादि) काल (शीत प्रवात दुर्दिन आदि ) अत्र ( तिल कुलत्थादि ) तथा दिवास्वपन आदि कारणों से दूषित होकर बार २ धातुत्र्यों को दूषित कर देता है अत: उसे "द्षीविष" कहा जाता है।

साध्यमात्मवतः सद्यो याप्यं संवत्सरोत्थितम् । दूषीविषमसाव्यं स्यात् क्षीणस्याहितसेविनः ॥३४॥

श्रर्थ-दूषीविष का दोष आत्मवान ( सत्त्वगुण युक्त या पथ्यादि का उचित व्यवहार करनेवाले ) मनुष्य का साध्य होता है यदि शीघ उसकी उचित चिकित्सा की जाय। वर्ष भर का पुराना याप्य होता है तथा बल-मांस हीन एवं मिध्याहार विहार करनेवाले का असाध्य हो जाता है।

कृत्रिमविषस्य लज्ञाणानि ।

सौभाग्यार्थं स्त्रियः स्वेदं रजो नानाङ्गजान् मलान् ।

शत्रुमयुक्तांश्व गरान् पयच्छन्त्यन्नमिश्रितान् ॥३५॥ तैः स्यात् पाण्डः कृशोऽल्पाग्निर्गरश्वास्योपजायते । मर्मप्रधमनाध्मानं इस्तयोः शोथलक्षणम् ॥३६॥ जटरं ग्रहणीदोषो यक्ष्मा गुल्मः क्षयो ज्वरः । एवंविधस्य चान्यस्य व्याधेर्लिङ्गानि दर्शयेत् ॥३७॥

ऋर्थ—िक्षयाँ सीभाग्यवती बनने के लिये (किसी के बहकावे में आकर) पसीना, रजः (ऋतु-काल का स्नाव), भिन्न-भिन्न अंगों के मल अथवा शत्रुओं द्वारा दिये हुए गरसंज्ञक विवों को अन्न (भोजन) में मिलाकर दे देती हैं। उनके कारण वह मनुष्य पीला तथा क्रश हो जाता है, ऋप्रिमान्य एवं निम्निलिखित लव्गों वाला गर नामक रोग हो जाता है। यथा—बस्ति-नाभि आदि मर्मस्थान फूल जाते हैं। हाथ-पांव पर सूजन आ जाती है अथवा उदररोग, यहणीदोष, यदमा, वायुगोला, धानुचय तथा ज्वर अथवा इसी प्रकार के दूसरे रोगों के लच्चण भी दिखाई पड़ने लगते हैं।

लुताविषस्योत्पत्तिः ।

यस्माल्लूनं तृर्णं प्राप्ता मुनेः प्रस्वेदविन्द्वः ।

तस्माल्लूतास्तु भाष्यन्ते संख्यया ताश्र घोडश ॥३८॥ स क० व० ८

त्र्यर्थ — महिष विसिष्ठ के पसीने की वृंदें काटकर रखी हुई घास पर गिर पड़ीं, उन्हीं से सोलह प्रकार की "लुताएँ" उत्पन्न हो गई।

ल्रुतादंशस्य सामान्यलज्ञणानि ।

ताभिर्द्षष्टे दंशकोथः प्रहत्तिः क्षतजस्य च ।

ज्वरो दाहोऽतिसारश्च गदाः स्युश्च त्रिदोषजाः ॥३९॥

१—"संयोगजं" च द्विविधं तृतीयं विषमुच्यते । गरः स्यादिविधं तत्र सविधं कृत्रिमं मतम् । बृद्धकारयपः । गर से होनेवाले ये वही पूर्वोंक रोग हैं, जिनके कारण अभागा मनुष्य सुल-खलकर मरता है ।

२७ मा०

पिडका विविधाकारा मण्डलानि महान्ति च । शोथा महान्तो मृदवो रक्ताः श्यावाश्चलास्तथा ॥४०॥ सामान्यं सर्वलूतानामेतह दंशस्य लक्षणम् । ॥ क क व ०

श्रर्थ—उक्त ल्लाओं के काटने पर दंश (डंक) स्थान सड़ जाता है। उसमें से रक्त निकलता है। उत्तर, दाह, श्रितसार एवं त्रिरोषज रोग हो जाते हैं। श्रमेक प्रकार की किंक्तियां तथा बड़े र धप्पड़ निकल श्राते हैं। कोमल, लाल, काले एवं फैलनेवाले बड़े र शोथ हो जाते हैं। यह समी ल्लाओं का सामान्य लज्जा है।

दृषीविषाख्यल्तानां दंशलच्यानि ।

दंशमध्ये तु यत् कृष्णं श्यावं वा जालकाचितम् ॥४१॥

क्रध्विकृति भृत्रं पाकं क्रोद-शोध-ज्वरान्वितम्।

द्षीविषाभिल्ताभिस्तइष्टर्मित निर्दिशेत् ॥४२॥ च० चि० व० २३

अप्रथ—दंशस्थान ( डंक ) यदि काला, कुछ काला, सिराजाल से से न्याप्त, ऊँचा, अधिक पाक युक्त तथा सड़न, शोथ 'एवं ज्वर से युक्त हो तो सममना चाहिये कि दूषीविषवाली अर्थात् धातुओं को दूषित करनेवाली विष से युक्त लूताओं द्वारा काटा गया है ( मारक विषवाली लूताओं द्वारा नहीं )।

प्राग्तहरत्तृतानां दंशतत्त्रणानि ।

शोथा: श्वेता: सिता रक्ता: पीता वा पिडका ज्वर: ।

प्राणान्तिकाश्च जायन्ते श्वास-हिक्का-शिरोग्रहाः ॥४३॥

च० चि० अ० २३

श्रर्थ—श्वेत वर्ण के शोथ हो गये हों, श्वेत, लाल श्रथवा पीली २ फुन्सियाँ निकल श्राई हों, ज्वर, श्वास, हिचकी एवं शिर में पीड़ा हो तो प्रायानाशक लुताओं का काटा जानना चाहिये।

श्रथाखुदूषीविषस्य लज्ञ्णानि ।

श्रादंशात् शोणितं पाण्डुमण्डलानि ज्वरोऽरुचिः।

लोमहर्षश्च दाहश्चाप्यासुदूपोविषार्दिते ॥४४॥ ब वि अ दिश् अर्थ—ऱूषी विषवाले मूसे (चूहे) के काटने से दंशस्थान में से रक्त निकलता है, कुत्र पीले धप्पड़ पड़ जाते हैं, ज्वर, अरुचि, रोमाख्च एवं दाह होता है ।

्राण्हरम्षिकविषस्य लत्ताणानि । मृच्छाङ्ग-शोथ-वैवण्य-क्तेद-त्रब्दाश्रुति-ज्वराः ।

ित्ररोगुस्त्वं लालासक्छिर्दिश्वासाध्यमृषिकै: ॥४५॥ च० च० अ० २३ अर्थ-असाध्य अर्थात् मारक मूसे के काटने से यूर्ज्या, रारीर में मूजन, विवर्णता, सड़न, वहरापन, ज्वर, सिर में भारीपन, लार जाना, एवं रक्त की के यह लच्चण होते हैं (रोगी मर जाता है)।

क्रकतासदृष्टस्य तत्त्रणानि । काञ्ज्यं श्यावत्वमथवा नानावर्णत्वमेव वा ।

मोहोऽथ वर्च सो मेदो द्ष्टे स्यात् कुकलासकै: ॥४६॥ च॰ वि॰ व॰ २३

श्चर्य—िकरले (गिरगिट) के काटने से दंशस्थान श्रथवा शरीर पर कालापन श्रथवा कुळ, कालापन श्रथवा कई प्रकार के रंग दिखाई पडते हैं श्रौर मोह एवं श्रतिसार हो जाता है।

वृश्चिकिवषस्य लच्चुणानि ।

दहत्यग्निरिवादौ च भिनत्तीवोध्वमाग्र च । दृश्चिकस्य विषं याति दंशे पश्चातु तिष्ठति ॥ ४७ ॥ दृष्टोऽसाध्यश्च हृद्व-घाण-रसनोपहतो नरः ।

मासै: पतिद्भरत्यर्थं वेदनात्तीं जहात्यसून्।।४८॥ च॰ चि॰ अ० २३ अर्थ—बिच्छू का विष पहिते तो आप्ति के समान दाह करता है, तदनन्तर फाड़ने की सी पीड़ा करता हुआ ऊपर (वेग के साथ) को (हाथ में काटने से काँख तक पैर से कुल्ले तक) जाता है। इसके पश्चान् (३-४ कमी ४-७ घण्टे के बाद) केवल दंश स्थान में ही रह जाता है अर्थान् वहीं दाह और पीड़ा (दो-तीन दिन तक) होती रहती

है। यदि बिच्छू के काटे मनुष्य के हृदय, नाक एवं जीभ की किया बन्द हो जाय श्रर्थात् रक्तसञ्चालन, गन्धप्रहृ या बोलना बन्द हो जाय तो श्रसाध्य समभना चाहिये श्रोर यदि शरीर का मांस कट २ कर गिरने लग जाय एवं श्रत्यन्त वेदना हो तो रोगी शीच ही मर जाता है।

कण्भदृष्टस्य लज्ञ्णानि ।

विसर्पः श्वयथुः शूलं ज्वरश्छर्दिरथापि च ।

लक्षणं कणभैर्द प्टे दंशश्रीवावसीदति ॥ ४९ ॥ च० च० व० २३

श्चर्य क्याभ नामक कीड़े के काटने से विसर्प, सूजन, शूल, ब्वर एवं के होती है श्रीर दंश स्थान गलने लग जाता है।

श्रथोच्चिटिङ्गदष्टस्य लच्चग्रम्।

हृष्टलोमोचिटिङ्केन स्तब्धलिङ्को भृशार्तिमान् ।

दृष्टः श्रीतोदकेनेव सिक्तान्यङ्गानि मन्यते ॥ ५० ॥ च०चि० म०२६

श्चर्य-उच्चिटिंग नामक कीटविशेष के काटने से रोमाख्न एवं 'रोगी का लिंग कड़ा हो जाता है तथा अत्यन्त वेदना होती है । रोगी अपने शरीर को शीत जल से सींचा हुआ सा समकता है।

सविषमण्डूकदष्टस्य लक्त्राग्म्।

एकदृष्ट्रार्दितः शूनः सरुजः पीतकः सतृद् ।

छर्दिनिद्रा च सनिषैर्मण्ड्केदिष्टलक्षणम् ॥ ५१ ॥

श्रर्थ—विपैले मेंढक ( डएडू ) के काटने से पीड़ा युक्त पीला शोध हो जाता है, प्यास, के एवं नींद श्राती है तथा केवल एक दाँत का घाव होता है।

मत्स्यास्तु सविषाः कुर्युर्दाइं शोथं रुजं तथा।

कर्ण्डू शोर्थं ज्वरं मूर्च्छाँ सविपास्तु जलौकसः ॥५२॥ च॰च॰अ॰२३

श्रर्थ— विषेती मछतियों के काटने से दाह, शोथ एवं पीड़ा होती है श्रीर विषेती जॉक के काटने या भूत से लगाने से खुजली, शोथ, जबर एवं मूर्च्छा होती है। गृहगोधिकाशतपद्योर्द्षष्टस्य लज्ञणम्।

विदाइं श्वयथुं तोदं स्वेदं च ग्रहगोधिका।

दंशे स्वेदं रुजं दाहं कुर्यात शतपदीविषम् ॥५३॥ ७० वि० अ० २३

त्रर्थ—ह्रिपंकली के काटने से भीषण दाह, स्जन, स्ई के चुभने की सी पोड़ा एवं पसीना होता है त्रौर गोजर (कानखजूरा) के काटने से दंशस्थान पर पसीना, पीड़ा एवं दाह होता है।

मशकदष्टस्य लच्चग्रम् ।

कण्ड्मान् मशकैरीषत् शोथः स्यान्यन्दवेदनः।

त्रसाध्यकीटसदशमसाध्यं मशकक्षतम् ॥ ५४ ॥ च० च० ४० २१

श्चर्थ —मच्छड़ के काटने से कएडू तथा थोड़ी सी वेदना युक्त छोटा सा थपड़ पड़ जाता है और पहाड़ी मच्छड़ के काटने से असाध्य लूता आदि के समान लच्चरा होने के कारण रोगी असाध्य हो जाता है।

सविषमचिकादष्टस्य लक्तराम्।

सद्यः प्रस्तारिणी श्यावा दाह-मूर्च्छा-ज्वरान्विता । पिडका मिककादंशे तासां तु स्थिगिकाऽसुहृतु ॥५५॥

च० चि० अ० २३

नख-दन्तयोः सामान्यविषतज्ञणम् ।

चतुष्पद्गभिर्द्विपद्गभिश्च नख-दन्त-विषं च यत् ।

श्र्यते पच्यते वापि स्रवति ज्वरयत्यपि ॥५६॥

श्चर्य-चौपाये ( व्याव्र सिंह श्चादि ), दोपाये ( मनुष्य, वनमानुष

<sup>9—</sup>इसके मूत्र लगने छे भी फफोले पड़ जाते हैं। उसमें भी दाह होता है। यह सभी विषेते की हों को तो खा ही जाती है, किन्तु बिच्छृ को भी पकड़ कर मार बालती श्रीर खा जाती है।

श्रादि ) के दाँत तथा नख का विष जो होता है, उससे सूजन, पाक, पन्छा एवं ज्वर हो जाता है।

व्याबादिहिंस्रजन्तूनां विषत्तच्यानि ।

श्व-शृगाल-तरध्वर्ध-व्याद्यादीनां यदाऽनिलः ।
श्लेष्मपदुष्टो मुष्णाति संज्ञां संज्ञावहाश्रितः ॥५७॥
तदा-प्रसम्त-लाङ्गूल-हतु-स्कन्योऽतिलालवान् ।
श्रव्यक्तविधरान्यश्च सोऽन्योन्यमभिधावति ॥५८॥
प्रमुढोऽन्यतमस्त्वेषां खादन् विपरिधावति ।
तेनोन्मत्तेन दष्टस्य दंष्ट्रिणा सविषेण तु ॥५९॥
सुप्तता जायते दंशे कृष्णं चातिस्रवत्यस्रक् ।
दिग्यविद्धस्य लिङ्गेन प्रायश्चोपलक्षितः ॥६०॥
येन चापि भवेद्दष्टस्तस्य चेष्टां रुतं नरः ।
बहुशः प्रतिकुर्वाणः क्रियाहीनो विनश्यति ॥६१॥

श्रथं—कुत्ता, सियार (गीदड़), तरख, भालू (रीख़) तथा बाघ आदि की संज्ञा (पूर्ण ज्ञान) को जब संज्ञावाही स्रोतों में स्थित कफ दूषित वायु हर लेता है तो उन (कुत्ता खादि) की पूंछ हनु एवं कन्धा शिथिल हो जाता है अर्थात् पूंछ सीधी हो जाती है, सुख को इच्छान्तुसार खोल नहीं सकता और गर्दन मुक जाती है, अर्यन्त लार जाती है, कुछ बहरा तथा कुछ अन्धा (कभी २ सुनता तथा देखता भी है) हो जाता है। जो भी सामने आता है उसी की ओर दौड़ता है। अधिक पागल होने पर दूसरों को काटता हुआ इधर उधर दौड़ता रहता है। पागल कुत्ते सियार आदि के काटने से दृष्टस्थान शून्य हो जाता है। काला रक्त निकलता है तथा प्रायः दिग्धविद्ध के लक्षण उत्पन्न होने लगते हैं। जिनके द्वारा काटा जाता है रोगी उसो (कुत्ता सियार) की चेष्टाएँ करता है तथा उसी के समान रोता है। जब बार २ उसी का

अनुकरण करता है और श्रपनी मनुष्योचित क्रियाएँ छोड़ देता है तो मर जाता है।

दं प्रिणा येन दृष्ट्य तदूषं यस्तु पश्यित । अप्सु चादर्शविम्वे वा तस्य तद्व रिष्टमादिशेत् ॥६२॥ अर्थ-यदि रोगी जल में या शीशे (दर्षण) में उसी की आकृति देखता है, जिसके द्वारा वह काटा गया है तो मर जाता है ।

त्रस्यत्यकस्माद्ध् योऽभीक्ष्णं दृष्ट्वा स्पृष्ट्वाऽपि वा जलस्। जलत्रासं तु तं विद्याद्ध रिष्टं तद्पि कीर्तितस्।।६३॥ अदृष्टो वा जलत्रासी न कथंचन सिद्धचिति। प्रसुप्तो वोत्थितो वापि स्वस्थस्नस्तो न सिद्धचिति।।६४॥

ष्ट्रथ—यदि कोई किसी कारण के बिना ही जल को देखकर या कुकर डरता या तड़पता है तो इस रोग को "जलत्रास" कहते हैं। यह भी श्रारष्ट होता है। कुत्ते श्रादि के काटे बिना ही जो जलत्रासी होता है श्रायवा स्वस्थ मनुष्य सोकर जागने पर जलत्रासी होता है तो वह भी मर जाता है।

निर्विषमनुष्यस्य लज्ञणानि ।

प्रशान्तदोषं प्रकृतिस्थधातुमन्नाभिकामं सममूत्र-विट्कम् । प्रसन्न-वर्णेन्द्रिय-चित्त-चेष्टं वैद्योऽवगच्छेद्विषं मनुष्यम् ॥६५॥

श्रर्थ—दोष शान्त हो जायँ, धातुयें निर्विकार हो जायँ, भोजन में रुचि हो, उचित रीति से मलमूत्र का त्याग हो तथा वर्ण (कान्ति), इन्द्रियाँ, मन एवं चेष्टा साफ हो तो जानना चाहिए कि यह मनुष्य निर्विष हो गया है।

## विषयानुक्रमणिका ।

ज्वरोऽतिसारो ग्रहणी चार्ञोऽजीर्णं विस्वचिका । त्र्यलस्त्रं विलम्बो च क्रिमिस्क्-पाण्डु-कामलाः ॥ १ ॥

इलीमकं रक्तपित्तं राजयक्ष्मा उरःक्षतम्। कासो हिक्का सह श्वासै: स्वरमेदस्त्वरोचक: ॥ २ ॥ छर्दिस्**र**ण्णा च मूर्च्छाचा रोगाः पानात्ययादयः । दाहोन्मादावपस्मारः कथितोऽथानिलामयः ॥ ३ ॥ वातरक्तमुरुस्तम्भ त्र्यामवातोऽथ शूलरुक् । पक्तिजं शूलमानाइ उदावर्तोऽथ गुल्मरुक् ॥ ४ ॥ हद्रोगो मुत्रकुच्छुं च मृत्राघातस्तथाऽश्मरी । प्रमेहो मधुमेहश्च पिडकाश्च प्रमेहजाः ॥ ५ ॥ मेदस्तथोदरं शोथो दृद्धिश्व गलगण्डकः। गण्डमालाऽपची ग्रन्थिरर्बुद: श्लीपदं तथा ॥ ६ ॥ विद्रधिर्त्रणशोधश्र द्वौ त्रणौ भग्ननाडिके। भगन्दरोपदंशौ च शुकदोषस्त्वगामयः ॥ ७ ॥ शीतपित्तमुदर्दश्च कोठश्चैवाम्लपित्तकम् । विसर्पश्च सविस्फोटः सरोमान्त्यो मसुरिकाः ॥ ८ ॥ न्नुद्राऽऽस्य-कर्ण-नासा-ऽक्षि-शिर:-स्त्री-वालकामयाः । विषं चेत्ययमुद्दिष्टो रुग्विनिश्चयसंग्रहः ॥ ९ ॥ अर्थ--सगम ही सुभाषितं यत्र यदस्ति किंचित् तत् सर्वमेकीकृतमत्र यत्नात्। विनिश्चये सर्वरुजां नराणां श्रीमाधवेनेन्द्रकरात्मजेन ॥१०॥

अर्थ—"श्री इन्दुकर" के पुत्र श्री माधवजी ने इस प्रन्थ में उन सब रोगनिर्णायक वचनों का संप्रह बड़े ही यत्न से किया है जो कि भिन्न २ प्रन्थों के भिन्न २ स्थलों में लिखे हुए थे।

यत् कृतं सुकृतं किंचित् कृत्वैवं क्रिविनश्चयम् ।

मुश्चन्तु जन्तवस्तेन नित्यमातङ्कसन्तितम् ॥११॥ अर्थ-इस प्रन्थ का निर्माण करके यदि मैंने कुछ भी पुष्य किया है तो उस पुष्य से प्राणिमात्र रोगों से मुक्त हो जायँ। वक्तव्य-प्रन्थकर्त्ता ने यह प्रन्थ के श्चन्त में मंगलाचरण किया है।

## स्नायुक्तनिदानम् ।

शास्तासु कुपितो दोप: शोथं छत्वा विसर्पवत् ।
भिनत्ति तत्क्षते तत्र सोष्म स्नायुं विश्लोष्य च ॥१॥
कुर्यात् तन्तुनिमं जीवं छत्तं श्वेतग्रुति विद्यः ।
शनैः शनैः क्षताद्व याति छेदात् कोपम्रुपैति च ॥२॥
तत्पातात् शोथशान्तिः स्यात् पुनः स्थानान्तरे भवेत् ।
स स्नायुकेति विख्यातः क्रियोक्ताष्त्र विसर्पवत् ॥३॥
बाह्योर्यदि प्रमादेन त्रुट्यते जङ्खयोर्पि ।
संकोचं खञ्जतां चैव च्छिन्नतन्तः करोत्यसौ ॥४॥

अर्थ—टाँगों अथवा बाँहों में कुपित दोष विसर्प रोग के समान (वस्तुतः मिथ शोथ के समान ) सृजन उत्पन्न करके उसे फोड़ देता है, उस घाव में बही दोष स्नायु को सुखाकर धागे-जैसे गोल एवं श्वेतवर्ण के जीव (प्राया) को उत्पन्न कर देता है। वह जीव उस घाव में से धीरे-धीरे (महीनों में) निकल जाता है। यदि अट्ट (सावधानी के कारण पूर्णरूप से) निकल जाने से शोथ (या यह रोग ही) शान्त हो जाता है और दृट जाने से फिर दूसरे स्थान में उसी प्रकार हो जाता है। इसे "स्नायुक" या "नहरुवा" कहा जाता है। यदि उक्त तन्तु असावधानी के कारण टूट जाता है तो (यदि बाँहों में हो तो) संकोच (लुआपन) और यदि टाँगों में हो तो खड़ता (लँगड़ापन) कर देता है।

१-- कितनी बड़ी सङ्गावना है इसके लिए धन्यवाद ।

वातेन श्यावरूक्षः सरुगथ दहनात्रीलपीतः सदाहो-ऽथ श्वेतः श्लेष्मणा स्यात्पृथुगरिमयुतोऽथ द्विदोषो द्विलिङ्गो । रक्तेनारक्तकान्तिः समधिकदहनोऽथाखिलैः सर्वलिङ्गी रोगोऽसावष्ट्रथेत्थं ग्रुनिभिरभिद्दितः स्नायुकस्तन्तुकीटः ॥५॥

श्रर्थ—वायु से कुछ काला, खुरक एवं पोड़ायुक्त; पित्त से नीला, पीला एवं दाहयुक्त; कफ से श्वेत, चौड़ाई (इड़ ) एवं भारीपन से युक्त; द्विदोषज दो दो दोषों के लच्चगों से युक्त; रक्त से लाल एवं श्वत्यन्त दाहयुक्त तथा त्रिदोषज तीनों दोषों के लच्चगों से युक्त होता है। इस प्रकार मुनियों ने इस "झायुक" को श्वाठ प्रकार का कहा है।

वक्तव्य—पर्वतों की तराई में तथा जहाँ कुओं के अभाव के कार्ण पीने के लिये तालों (जो कि बरसात के पानी से भर लिये जाते हैं) के पानी का प्रयोग होता है। ऐसे प्रदेशों (परगनों) यहमें रोग अधिक होता है। एक घाव में से एक साथ ही एक से अधिक भी कृमि निकलते हैं। इन्हें रई की बती पर लपेट (जितना निकलता रहे) कर वहीं पर खुब सावधानी के साथ पट्टी से बाँधते रहना चाहिये (ऐसा करने से टूटने का भय नहीं रहता)।

## फिरङ्गरोगनिदानम्।

फिरक्नसंज्ञके देशे वाहुल्येनैव यद भवेत ।
तस्मात् फिरक्न इत्युक्तो व्याधिव्यधिविशारदैः ॥ १ ॥
गन्धरोगः फिरक्नोऽयं जायते देहिनां ध्रुवम् ।
फिरिक्निनोऽक्नसंसर्गात् फिरिक्निण्याः प्रसंगतः ॥ २ ॥
व्याधिरागन्तुजो ह्येष दोषाणामत्र संक्रमः ।
भवेत् , तळुक्षयेत् तेषां लक्षणौर्भषजां वरः ॥ ३ ॥
व्यर्थ—फिरंग नामक देश में यह रोग च धक होताहै । अत एव

विद्वानों ने इसका नाम "फिरंगें" रख दिया है। यह फिरंगरोग संक्रामक है अर्थान् फिरंगरोग के साथ स्पर्श करने (मेथुन अथवा अगेर किसी प्रकारसे उसके अणुका मवाद लगने) से श्ली को एवं फिरंगरोगवाली श्ली के स्पर्श से पुरुष को (पुरुष से पुरुष को एवं श्ली से श्ली को भी) अवश्य ही हो जाता है। अतएव इसे आगन्तुज रोग कहा जाता है। दोषों का पीछे से सम्बन्ध होता है इस्लिये वैद्य को चाहिये कि लच्चणों के अतुस्सार दोषों का निश्चय कर ले।

फिरङ्गस्त्रिविधो ज्ञेयो बाह्य आभ्यन्तरस्तथा।

बहिरन्तर्भवश्रापि तेषां लिङ्गानि च ब्रुवे ।। ४ ।।

श्चर्य — फिरंग रोगतीन प्रकार का होता है। यथा १ — बाह्य (बाहरी), २ — श्चाभ्यन्तर (भीतरी) तथा ३ विहरन्तर्भव। इनके लत्तर्यों को कहता हूँ।

तत्र बाह्यः फिरङ्गः स्याद्ग विस्फोटसदृशोऽल्परक् । स्फुटितो त्रणवद्ग वैद्यैः सुखसाध्योऽप्यसौ मतः ॥ ५ ॥

श्चर्य-जनमें बाह्य फिरंग होता है जो कि फुन्सी के सदश थोड़ी

१—यूरोप में एक "पुर्तमाल या पोर्जुगाल" नामक प्रान्त है । कहा बाता है कि पहिले –पहिल वहीं के निवासियों में यह रोग पाया गया था श्रीर भारत में उन्हीं के साथ इस दुष्ट रोग का भी प्रवार या प्रसार हुआ। या (तीन चार सी वर्ष पूर्व श्रीर आज भी यूरोपियन मात्र को "किरंगी" कहा जाता है जैसे मुसलमान मात्र को "तुर्क" । देखिये गुरु नानक जी की वाणी। वहाँ के निवासियों को लोग "किरंगी" कहा करते थे श्रीर उनके इस रोग को फिरंग। यही 'श्रातशक" या "गर्मी" है। इसे "पहाड़ी" रोग भी कहा जाता है । इस रोग का क्लोकबद्ध वर्णन भावप्रकाश के श्रतिरिक्त उपलब्ध पुरातन प्रन्थों में नहीं मिलता। इसलिये भाविमश्र ही इन क्लोकों के निर्माणकर्ता माने जाते हैं।

२—यह फुन्सी लिंग क्योर योनि के क्यतिरिक्त अन्यान्य स्थानों पर भी हो जाती है। क्यार्य जहाँ कहीं भी फिरंग-विष लग जाय और शरीर में प्रविष्ट हो जाय। यथा-ओठों, स्तनों, गुद एवं अन्यान्य स्थानों में।

पीड़ा से युक्त होता है। जब वह फुट जाता है तो अनय अर्गो के समान चिकित्सा करने से अच्छा हो जाता है। अतएव इसे सुख-साध्य कहा है।

सन्यिष्वाभ्यन्तरः स स्यादामवात इव व्यथाम् ।

शोफं च जनयेदेष कष्टसाध्यो बुधैः स्मृतः॥ ६ ॥

अर्थ-आभ्यन्तर फिरंग वह होता है, जो अध्यियों में आमबात के समान पीड़ा तथा सूजन कर देता है; यह कप्टसाध्य है।

काश्यं वलक्षयो नासाभङ्गो बहेश्र मन्दता।

अस्थिशोषोऽस्थिवक्रत्वं फिरङ्गोपद्रवा अमी ॥ ७ ॥

श्चर्य-ऋशता, बल का घटना, नाक का बैठ जाना, श्चग्नि की दुर्ब-लता, हड्डियों का सूखना और टेड़ी हो जाना यह फिरंगरोग के उपद्रव हैं।

बहिर्भवो भवेत् साध्यो नवीनो निरुपद्रवः।

त्राभ्यन्तरस्तु कष्टेन साध्यः स्यादयमामयः॥ ८ ॥ बहिरन्तर्भवश्चापि क्षीणस्योपद्ववैर्यतः।

व्याप्तो व्याधिरसाध्योऽयमित्याहर्म्यनयः पुरा ॥ ९ ॥

श्रर्थ—बाह्य फिरंग, नया एवं उपद्रवों से रहित; सुखसाध्य, श्राभ्य-न्तर केष्टसाध्य तथा बहिरन्तर्भव चीए रोगी का उपद्रवों से युक्त एवं सम्पूर्ण शरीर में व्यात फिरंगरोग श्रसाध्य होता है। इस प्रकार मनन-शील (विचारशील) विद्वान कहते हैं।

१—प्रायः पारद (यथा—रसकर्पूर)के यौगिकों (नुसर्खों के विनायह ऋष्ट्यानहीं होता।

२—यही नहीं, कुछ के समान रकरोगों को (यथा—भीषण सद्दनयुक्त वण) भी कर देता है। एक स्मरण बात यह है कि गठिया (आमवात) तथा कुछ के रोगियों में अधिकांश को आंतशक हो खुका होता है।

र--- शुक्त पर्यन्त धातुओं पर इसका दुरा प्रभाव पहता है। यही कारण है कि रुग्णों की सन्तान गर्भाशय में ही रुग्ण हो जाती है और रुग्ण हो जन्मती है। खेद है कि माता-पिता की भूतों का फल सन्तित को भोगना पहता है।

## सोमरोगनिदानम्।

'स्रीणामतिमसङ्गेन शोकाच्चापि श्रमादिष ।
श्रातिसारकयोगाद वा गरयोगात तथैव च ॥१॥
श्रापः सर्वशरीरस्थाः चुभ्यन्ति प्रस्नवन्ति च ।
तस्यास्ताः प्रच्युताः स्थानान्मृत्रमार्गं त्रजन्ति हि ।
प्रसन्ना विमलाः शीता निर्गन्धा नीरुनः सिताः ।
स्वन्ति चातिमात्रं ताः सा न श्रकोति दुर्वला ॥३॥
वेगं धारियतुं तासां न विन्दित सुखं कचित् ।
श्रिरःशिथिलता तस्या सुखं तालु च शुष्यित ॥४॥
मुच्छां जृम्भा मलापश्च त्वग् रूक्षा चातिमात्रतः ।
भक्ष्यभीं ज्येश्च पेयेश्च न तृप्तिं लभते क्वचित् ॥५॥
सन्यारणाच्छरीरस्य ता श्रापः सोमसंज्ञिताः ।
ततः सोमक्षयात् स्त्रीणां सोमरोग इति स्मृतः ॥६॥

श्रथं—श्रत्यन्त मेशुन से, शोक से, पिरश्रम से, मूत्रल श्रयवा दस्तावर श्रीषधों के श्रिषक सेवन से श्रयवा विषययोग से खियों के सम्पूर्ण शरीर की जलीय धातु विचलित होकर वृक्षों द्वारा छनती रहती हैं (मूत्राशय में श्रा जाती हैं "); मृत्राशय से साफ, निर्मल, शीत, गन्ध-रिहत, किसी भी प्रकार की पीड़ा से रहित एवं श्वेत मृत्र श्रत्यन्त श्राने लगता है। वह खी इतनी दुर्वल हो जाती हैं कि मृत्र के वेग को थोड़ी देर के लिए भी नहीं रोक सकती श्रीर न किसी दशा में उसे श्राराम ही मिलता है। सिर में शिथिलता श्रा जाती है। मुख और तालु सूखता

१ — यह पाठ भैवज्यरत्नावली में भी है श्रीर "श्रतिसारकयोगाद्" के स्थान में "अभिवारिकदोषाद्वा" पाठ है

२—क्यायह "उदकमेह" ही तो नहीं है ? अथवारोग का प्रभाव ही ऐसा है कि यह कियों को ही होता है ? अस्तु ।

रहता है। द्यागे चल कर मूच्छां, जम्भाई, प्रलाप एवं त्वचा पर द्यायन्त रुखापन हो जाता है। किसी भी प्रकार की खाने पीने की वस्तुत्रों से उसकी तृष्टि नहीं होती। शरीर के धारण करने के कारण उस जल-धातु को "सोम" कहा जाता है। उस सोम के हास के कारण स्त्रियों के इस रोग को "सोमरोग" कहते हैं।

## शीतलारांगनिदानम् ।

देन्या शीतलयाऽऽकान्ता मसूर्यः शीतला बहिः। ज्वरयेयुर्यथा भूताधिष्ठितो विषमज्वरः॥ १॥ ताश्च सप्तविधाः ख्यातास्तासां भेदान् प्रचक्ष्महे ।

श्रथ—भगवती शीतला (माता ) के श्रावेश से युक्त पूर्वाक्त मसूरि का (मसूरिका एवं विस्फोटनिटान देखिये ) ही "शीतला" कहलाती है । इनके साथ २ भूताभिषगज ज्यर के समान भीषण ज्वर होता है । वे सात प्रकार की होती हैं-जनके भेदों को कहते हैं—

ज्वरपूर्वा बृहत्स्फोटै: शोतला बृहती भवेत् ॥ २ ॥ सप्ताहात्रिःसरत्येव सप्ताहात् पूर्णतां व्रजेत् । ततस्तृतीये सप्ताहं शुष्यति स्वलति स्वयम् ॥ ३ ॥

अर्थ—षड़ी फुन्सियों वाली शीतला को "बृहती" या "बड़ी माता" कहा जाता है। इसका पूर्वरूप होता है ज्वर (३-४ दिन पहिले से)। यह सात दिन में निकलती है, सात दिन में पूर्ण होती है (भरती है या पकती है) और तीसरे सप्ताह में सूखती है और खकँड (खरींड) उतर जाते हैं।

वातश्लेष्मसमुद्भूता कोद्रवा कोद्रवाकृति:।

१-- किसी किसी की ज्वर नहीं भी होता ।

<sup>्—</sup>दाग सदा के लिये रह जाते हैं। किसी २ की आँखें भी नष्ट हो जाती हैं या फूला पड़ जाता है जो अपसाध्य होता है। २०४ दानों से खेकर हजारों तक निकलते हैं।

तां कश्चित् माह पकेति सा तु पाकं न गच्छति ॥ ४ ॥ जलगर्कवदङ्गानि सा विध्यति विशेषतः ।

सप्ताःहाद्व वा दशाहाद्व वा शाति याति विनौषधम् ॥ ५ ॥

श्रर्थ—पित-कफज, कोदो की-सी पुन्सियों वाली शीतला को "को-द्रवा" या "कोदवं" कहा जाता है । इसे लोग सममने हैं कि पक गई है, किन्तु यह पकती नहीं। जलश्र्क के समान अंगों में वेदना होती है। सात अथवा दस दिन में श्रीपधियों के बिना ही शान्त हो जाती है।

जन्मणा तूष्मजारुपा सकण्डः स्पर्धनिषया।

नाम्ना पाणिसहा रूयाता सप्ताहाच्छुव्यति स्वयम् ॥ ६ ॥

त्रर्थ-पित्तजनित, स्रमोरी या पित्ती की सी, करुडूयुक स्रतएव स्पर्श करने से इत्तप्रद जो शोतला होती है, उसे "पाणिसहा" कहते हैं। यह सात दिन में स्वयं मुख जाती है।

चतुर्थी सर्पपाकारा पीतमर्पपवर्शिती।

नाम्ना सर्पिका ज्ञेयाऽभ्यङ्गमत्र विवर्जयेत ॥ ७ ॥

श्रर्थ—सरसों की सी छोटी २ तथा पीली सरसों के समान पीली २ जो शीतला होती है उसे "सर्घिपका" कहा जाता है । यह चौथी है। इसमें तेल श्रादि की मालिश नहीं करनी चाहिये।

किञ्चिद्ष्मनिमित्तेन जायते राजिकाकृतिः।

एषा भवति बालानां सुखं शुष्यति च स्वयम् ॥ ८ ॥

श्चर्य-थोड़ी गर्मी के कारण राई की-सी शीतला बच्चों को श्चा जाती है श्रोर स्वयं सुखपूर्वक सुख जाती है ।

कोष्ठवज्ञायते पष्ठी लोहितोन्नतमण्डला ।

ज्वरपूर्वा व्यथायुक्ता ज्वरस्तिष्ठेद्दिनत्रयम् ॥ ९ ॥

श्रर्थ—शीत-पित्त के समान लाल एवं ऊँचे-ऊँचे चकतों (धप्पड़) वाली छठवीं शीलता होती है। इसका पूर्वरूप ज्वर होता है, व्यथा होती है एवं तीन दिन तक ज्वर रहता है।

स्फोटानां मेलनादेषा बहुस्फोटापि दृश्यते । एकस्फोटेच कृष्णा च बोद्धव्या चर्मजाभिधा ॥१०॥ भावमकास । अर्थ—उपर्युक्त बड़ी माता में बहुत सी फुन्सियाँ तो होती ही हैं किंदु कभी कभी केवल एक ही काली फुन्सी भी निकलती है तो उसे "चर्मजा" कहा जाता है ।

#### अज्ञीतिवातरोगनामानि ।

अशीतिर्वातजा रोगाः कथ्यन्ते मुनिभाषिताः। त्राचेपको इनुस्तम्भ ऊरुस्तम्भः शिरोग्रहः ॥ १ ॥ बाह्यायामोऽन्तरायामः पार्श्वशूलं कटिग्रहः । दण्डापतानकः खल्ली जिहास्तम्भस्तथाऽर्दितम् ॥ २ ॥ पक्षाचातः क्रोष्ट्रशीयो मन्यास्तम्भश्च पंगता । कलायखञ्जता तूनी प्रतितूनी च खञ्जता ॥ ३ ॥ पादहर्षो मृत्रसी च विश्वासी चापबाहुकः। श्चपतानो व्रणायामो वातकण्टोऽपतन्त्रकः ॥ ४ ॥ अक्रभेदोऽक्रशोषथ मिन्मिनत्वं च कछता। प्रत्यष्टीलाऽष्टीलिका च वामनत्वं च कुब्जता ॥ ५ ॥ श्रङ्गपीडाऽङ्गशृलं च संकोचस्तम्भरुक्षताः। श्रक्कभक्कोऽक्कविभ्रंशो विडग्रहो बद्धविट्कता ॥ ६॥ मूकत्वमतिजृम्भा स्यादत्युद्गारोऽन्त्रक्रजनम् । वातप्रहत्तिः स्फुरणं सिराणां पूरणं तथा ॥ ७ ॥ कम्पः कार्र्यं श्यावता च प्रलापः क्षिप्रमूत्रता। निद्रानाशः स्वेदनाशो दुर्बलत्वं बलक्षयः ॥ ८ ॥ अतिप्रदृत्तिः श्रकस्य कार्र्यं नाशश्च रेतसः ।

अनवस्थितचित्तत्वं काठिन्यं विरसास्यता ॥ ९ ॥ कषायवक्त्रताऽऽध्यानं त्रत्याध्यानं च श्रीतता । रोमद्दर्वेत्र भीरुत्वं तोदः कण्डू रसाव्रता ॥ १० ॥

१---निमाइ वाले रोगों को वातव्याधिनिदान में तथा पुस्तक में ब्रन्यत्र देखिये।

७--वातज "निमोनिया" में प्रधानतया रहता है ।

८—६से "बुक" या "चणक" या "हुक" कहते हैं, पैरों के बल जनमे हुए मनुष्यों के पैर के अंगूठे को छुआने से तुरन्त लाभ हो जाता है।

२६-अभिघातन आसेपक ही वनायाम है।

२८--बर्क "हिष्टीरिया" है।

३२-- "गवूगदत्व" यही है।

३५-श्रीनापन ।

४४---मलाशब में मल का दकना ।

४५-मल की गाँठ बँचना या सुदा पदना ।

२८ मा०

४०-वातप्रवृत्ति, ५१-स्कृरण्, ५२-सिरापूर्ग्ग्, ६३-कम्प, ५४—कारर्थ, ४४-श्यावता, ४६-प्रलाप, ४७-चित्रमूत्रता, ४८-निद्रानाश, ४९-स्त्रेदनाश, ४०-दुर्बलता, ४६-प्रलाप, ४७-चित्रमूत्रता, ४६-ग्रुकंकारर्थ, ६४—ग्रुकंकार्यः, ६४—ग्रुकंकार्यः, ६४—ग्रुकंकार्यः, ६४—ग्रुकंकार्यः, ६४—ग्रुकंकार्यः, ६४—विरसास्यता, ६६-काण्यवक्त्रता, ६६-च्राध्मान, ७०-प्रत्याध्मान, ७१-ग्रीतता, ७२-रोमहर्षः, ७३-गोरुत्वः, ७४-तोदः, ७५-क्ष्यः, ७६-रंसाझता, ७४-शब्दाझता, ७५-प्रसाझता, ७५-शब्दाझता, ७५-प्रसाझता, ७५-शब्दाझता, ७५-प्रसाझता, ७५-शब्दाझता, ७५-प्रसाझता, ७५-ग्रुप्ति, ७९-ग्राह्माझत्वः क्रीस् ६०-दृष्टिञ्चयः।

बक्त त्र्य — उपर्युक्त म० रोग अथवा लक्त वायु के विना करापि हो नहीं सकते इसी प्रकार निम्नलिखित ४० तथा २० रोग अथवा लक्त पित्त एवं कफ के विना उपन्न नहीं हो सकते, इन्हें भली भाँति स्मरण कर लेने पर दोषों की विवेचना करने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं हो सकती। च० म० अ० २० भी देखिये।

## समाप्तोऽयं ग्रन्थः।

and alle

५० — अधोवायुका अधिक निःसरण ।

५२ — श्रंगों का या श्रांखों का फरकना।

६०--शक्तिकाहास।

६१ — श्रोजः का हातः।

६३ — शुक्रकी श्रकाता।

६५--- उन्मादादि ।

४६ — रसप्रार्हा संस्थान की, ७४ — श्रवण शक्ति की, ७८ — स्पर्श आपने की, ७९ — प्राण की एवं ८० — दर्शन शक्ति की दुर्वलता श्रयवा नास ।

## चत्वारिंदातिपत्तरोगनामानि ।

श्रर्थ--१-उद्गार में धूश्राँ सा श्राना, २-जलन होना, २-शरीर में गर्मी का श्रनुभव, ४-वुद्धिविश्रम, ४-कान्ति का हास, ६-गला सूखना, ७-मुख स्खान, ८-शुक्र की कमी, ९-मुख में कडुवापन, १०-मुख में खद्दापन, ११-पसीना श्राना, १२-श्रंगों का पकना, १३-कम, १४-त्वा श्रादि पर हरापन, १४-तृति न होना, १६-शरीर श्रादि पर पीलापन, १७-रक्त में पतलापन, १८-श्रंगों का फटना, १६-मुख में से लोहे की सी गन्ध श्राना, २०-शरीर श्रादि में से दुर्गन्ध श्राना, २१-मूत्र में पीलापन, २२-वेचैनी, २३-पुरीप में पीलापन, २४-सभी वस्तु पीला दिखाई पड्ना, २४-श्रांखों में पीलापन, २६-दांतों में पीलापन, २७-शीत की श्रभिलाषा, २८-नाखुनों में पीलापन, २६-प्रकाश का न सुद्दाना,

३०-नीद कम आना, ३१-कोघ, ३२-शिषितता, ३३-मलभेद, ३४-अ-न्धापन, ३५-श्वास में उच्चाता, ३६-मूत्र में उच्चाता, ३७-मल में उच्चाता, ३८-आँखों के सामने अन्धकार, ३६-पोले-पीले मयडलों का दिखाई पढ़ना और ४०-पित्त' का निकलना।

## र्विशातिश्लेष्मरोगनामानि ।

कफस्य विश्वतिः मोक्ता रोगास्तन्द्राञ्जितिनिद्रता ।
गौरवं ग्रुखमाधुर्यं ग्रुखलेपः मसेकता ॥ १ ॥
श्वेतावलोकनं श्वेतविद्कत्वं श्वेतमृत्रता ।
श्वेताङ्गवर्णता शैत्यग्रुक्णेच्छा तिक्तकामिता ॥ २ ॥
मलाधिक्यं च शुक्रस्य बाहुल्यं बहुमृत्रता ।
श्रालस्यं मन्द्रबुद्धित्वं तृप्तिर्घर्षरवाक्यता ॥ ३ ॥
श्रक्तैतन्यं च गदिता विश्वतिः श्लेष्मजा गदाः। ॥० म० च० म० ७

डार्थ—कफ के बीस रोग होते हैं—१-ऊँघाई, २-डातिनिद्रा, ३-भारीपन, ४-मुख में मधुरता, ४-मुख." में चिपचिपाहट, ६-मुख से पानी जाना, ७-डाँखों में श्वेतता, ६-मुरीष में श्वेतता, ९-मूत्र में श्वेतता, १०-शरीर भर की श्वेतता, ११-शीत लगना, १२-गर्भ पदार्थों की इच्छा, १३-कडुवे पत्तर्थों की इच्छा, १४-मल की डाधिकता, १४-शुक की डाधिकता, १६-मूत्र की डाधिकता, १७-डालस्य, १८-बुद्धि की दुर्वस्ता, १९-डाइचि, २०-डोसने में घरघराहट, ९१-डाचेतनता"।

चिपाहर या गीलापन ।

<sup>9 —</sup> मूत्र, पुलैच एवं वसन के ब्रातिरिक्त पसीने के साथ भी पित्त निकलता है। २ — मुख में ही नहीं, ब्रापितु ब्रान्यान्य स्रोतों में तथा स्वचा पर भी चिप-

३—इस प्रकार कफ के २१ रोग हो जाते हैं । सम्भवतः मन्दबुद्धि (१८) की चरमावस्था हो स्रवेतन्य (२१) है ।

## लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी, पुस्तकालय Lal Bahadur Shastri National Academy of Administration Library

#### <del>चच</del>ूरी MUSSOORIE

अवाष्ति सं•	
Acc. No	 

कृपया इस पुस्तक को निम्न लिखित दिनांक या उससे पहले वापस कर दें।

Please return this book on or before the date last stamped below.

दिनांक Date	उधारकर्ता की संख्या <sup>Borrov⊶</sup> r's	दिनांक Date	उधारकर्ता की सख्या Borrower's No.
	-		
	) m		

H				
	15.536	अवादि	त सं०	
म	<b>ाध्य</b>	ACC	No-14	104
वर्गस			तक मं.	••••
Class लेखक	No	Bo	ok No	•••••
Autho		••••		
शीर्षक	माघ्वी	नदानम्	1	••••••
Title		**********	******	

## 615.536 RARY 14104

### LAL BAHADUR SHASTRI

# National Academy of Administration MUSSOORIE

Accession No. 125787

- Books are issued for 15 days only but may have to be recalled earlier if urgently required.
- 2. An over-due charge of 25 Paise per day per yolume will be charged.
- 3. Books may be renewed on request, at the discretion of the Librarian.
- Periodicals, Rare and Reference books may not be issued and may be consulted only in the Library.
- Books lost, defaced or injured in any way shall have to be replaced or its double price shall be paid by the borrower.

Help to keep this book fresh, clean & moving